# आचार्य विद्यानन्द
# निबन्धावली

सम्पादक

**प्रो. वीरसागर जैन**

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
मानित विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110016
ई-मेल : veersagarjain@gmail.com
फोन : 011-26177207, 9868888607

प्रकाशक

**कुन्दकुन्द भारती**

18-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067

## आचार्य विद्यानन्द निबन्धावली

**लेखक** : आचार्य विद्यानन्द मुनिराज
**प्रस्तावना** : आचार्य श्रुतसागर मुनिराज
**सम्पादक** : प्रो. वीरसागर जैन (श्री ला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली-16)
**प्रकाशक** : कुन्दकुन्द भारती न्यास, नई दिल्ली-110067
**मुद्रक** :
**संस्करण** : अक्टूबर, 2019 ई., 1000 प्रतियाँ
**अर्थ-सौजन्य** : श्री नरेश चन्द जैन (कामधेनु सरिया), वसंत विहार, नई दिल्ली
**मूल्य** : 100/- रूपये

© प्रकाशक के पास सर्वाधिकार सुरक्षित

## प्राप्ति-स्थल

(1) **कुन्दकुन्द भारती न्यास**
18-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067
दूरभाष : 26564510, 46062192, 46062139

---

## ACHARYA VIDYANAND NIBANDHAWALI

*Editor* : Prof. Veersagar Jain
*Publisher* : Kund Kund Bharti Trust
18-B, Special Institutional Area, New Delhi-110067
*Edition* : October, 2019, 1000 Copies

# अनुक्रम

प्रस्तावना .....आचार्य श्रुतसागर मुनिराज (v)
सम्पादकीय.....प्रो. वीरसागर जैन (xiii)

**प्रथम खंड : धर्म, दर्शन, अध्यात्म**

1. मूल-महामन्त्र ..... 1
2. निर्मल आत्मा ही समयसार ..... 5
3. ईश्वर कहाँ है? ..... 35
4. आदि कृषिशिक्षक भगवान आदिनाथ ..... 45
5. तीर्थंकर महावीर ..... 55
6. सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ..... 71
7. जगद्गुरु ..... 82
8. जिनदर्शन-जिनपूजा ..... 87
9. जैनशासन का पंचरंगी ध्वज ..... 106
10. अनेकान्त और स्याद्वाद ..... 114
11. उत्तम संयम और महाव्रत ..... 130
12. आचरितुं योग्यः आचार्यः ..... 133
13. अहिंसा एवं गांधीदर्शन ..... 136
14. जैनधर्म, अहिंसा एवं महात्मा गांधी ..... 141
15. दैव और पुरुषार्थ ..... 155
16. अग्नि और जीवत्वशक्ति ..... 163
17. वैदिक व श्रमण साहित्य में न्यास ..... 175
18. क्षुल्लक को अर्घ्य देना चाहिए? ..... 187
19. 'स्वाहा' पद का गूढार्थ ..... 189
20. भूतार्थ का औचित्य ..... 195
21. मिश्र गुणस्थान वाला भी एकदेश जिन है ..... 199

**द्वितीय खंड : संस्कृति, समाज, राष्ट्र और इतिहास**

22. श्रमण-संस्कृति और उसकी उपलब्धियाँ ..... 201
23. गोरक्षा से अहिंसक संस्कृति की रक्षा ..... 205

24. आर्ष परम्परा में आर्यिका दीक्षा ..... 211
25. मुनिभक्त क्षेत्रपालों का शास्त्रोक्त स्वरूप ..... 242
26. विश्व अहिंसा दिवस ..... 246
27. अपरिग्रह से भ्रष्टाचार-उन्मूलन ..... 253
28. जैन समाज और वात्सल्य भाव ..... 261
29. पुरुष और स्त्रियों का समाज में स्थान और कर्त्तव्य ..... 266
30. पावन पर्व : रक्षाबन्धन ..... 275
31. राष्ट्रीय पर्व : दीपावली ..... 282
32. सोने का पिंजरा ..... 293
33. सुपुत्रः कुलदीपकः ..... 300
34. विश्वकर्मा एवं वास्तु-विद्या ..... 309
35. मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण ..... 321
36. कल्याण मुनि और सम्राट् सिकन्दर ..... 338
37. बाहुबली की राजधानी तक्षशिला ..... 363
38. धर्म-निरपेक्ष नहीं, सम्प्रदाय-निरपेक्ष ..... 376
39. श्रावकों व विद्वानों को त्यागियों/श्रमणों की समीक्षा का अधिकार .... 380

**तृतीय खंड : ध्यान, साधना और व्यक्तित्व विकास**

40. प्रतीकोपासना और निर्विकल्प ध्यान ..... 385
41. कायोत्सर्ग : परमात्मा बनने का विधान ..... 390
42. शब्द-साधना ..... 394
43. अकारादि अक्षर : वर्ण तथा फल ..... 416
44. मुखशुद्धि : वाग्दीक्षा ..... 423
45. पहिले तोलो, फिर बोलो ..... 426
46. स्वाध्याय ..... 431
47. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ..... 438
48. जल का आधार घट, ज्ञान का आधार सरस्वती ..... 450
49. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ..... 465
50. तत्त्वज्ञान और मुनि ..... 468
51. समय का मूल्य ..... 472

**परिशिष्ट**

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची ..... 483

**प्रस्तावना**

# आचार्य विद्यानन्द निबन्धावली सार

**—आचार्य श्रुतसागर मुनिराज**

आचार्य श्रीविद्यानन्दजी मुनिराज चलते-फिरते विश्वविद्यालय हैं। आपने सम्पूर्ण जीवन ज्ञान-ध्यान में व्यतीत किया है। शास्त्रों के अभ्यास के साथ उनमें आये हुए महत्त्वपूर्ण श्लोक, गाथा, गद्यांश एवं पद्यों को लिखकर आपने शताधिक नोट बुक्स (डायरी) तैयार की हैं, इसके अलावा सौ से भी अधिक तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण निबन्धों की रचना की है। इन सब निबन्धों को सुचारु रूप से संपादन करके धर्मानुरागी प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन ने अपने अथक प्रयास से 'आचार्य विद्यानन्द निबन्धावली' नामक ग्रन्थ का संपादन किया है, जो अत्यन्त सराहनीय कार्य है। 'आचार्य विद्यानन्द निबन्धावली' एक बहुत ज्ञानवर्द्धक तथा सरल बोधगम्य ग्रन्थ बन गया है। इसके सम्पादकीय वक्तव्य में बीस बिंदुओं द्वारा इस ग्रन्थ पर प्रकाश डाला गया है जो बिन्दु में सिंधु की तरह सारांश स्वरूप है। पाठकों की सुविधा के लिए इन निबन्धों को तीन खण्डों में वर्गीकृत किया है– यह भी बहुत अच्छी बात है।

प्रथम खण्ड में धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म से संबंधित इक्कीस निबन्धों का समावेश किया गया है, द्वितीय खण्ड में संस्कृति, समाज, राष्ट्र एवं इतिहास से संबंधित अट्ठारह निबन्धों को लिया गया है एवं तृतीय खंड में ध्यान, साधना और व्यक्तित्व विकास से संबंधित बारह निबंध लिए गये हैं। इसप्रकार यह एक सर्वोपयोगी निबन्ध-संग्रह बन गया है। इसके कुल 5 निबन्धों में जैनधर्म, दर्शन का सार एवं तत्त्वविज्ञान का वर्णन आ गया है।

### प्रथम खण्ड : धर्म, दर्शन और अध्यात्म

इसका पहला निबन्ध है **मूल-महामंत्र**। इसमें 'णमो अरिहंताणं' पाठ को ही महत्त्व दिया गया है। षट्खण्डागम धवला का उदाहरण–

> **अरिहननाद् अरिहंता, रजोहननाद् वा अरिहंता,**
> **रहस्याभावाद् वा अरिहंता, अतिशयपूजार्हत्वात् वा अर्हन्ता:।**
>
> –षट्खण्डागम, भाग 1, पृष्ठ 42

दिया है तथा प्रज्ञापनासूत्र आदि का भी उदाहरण दिया है। इसके अलावा

अरहंत, अर्हंत, अरुह आदि शब्द पाठों की भी चर्चा विस्तार से की है। प्राकृत में 'अरिहं' तथा संस्कृत में अर्हं बीज अक्षर का वर्णन कर माघनन्दि आचार्य कृत शास्त्रसारसमुच्चय का उदाहरण दिया है–

**अकारः परमो बोधो, रेफो विश्वावलोकदृक्।**
**हकारोऽनन्तवीर्यात्मा, बिन्दु स्यादुत्तमं सुखं॥**

–आचार्य माघनन्दि, शास्त्रसारसमुच्चय, 38

अर्हं— इस बीज पद में अकार अनन्तज्ञान का, रकार अनन्तदर्शन का, हकार अनन्तवीर्य अर्थात् अनन्तशक्ति का तथा बिन्दु अनन्तसुख का प्रतीक माना गया है।

दूसरा निबन्ध है— 'निर्मल आत्मा ही समयसार है'। रयणसार ग्रन्थ की एक गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है–

**समओ खलु णिम्मलो अप्पा।** –रयणसार, 158

**अर्थ**– निश्चयनय से निर्मल आत्मा ही समयसार है।

तीसरा निबंध है— 'ईश्वर कहाँ है'। इस आलेख में ईश्वर की चर्चा करते हुए चार्वाक मत का भी वर्णन किया है–

**यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।**
**भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥**

–आचार्य माघनन्दि, शास्त्रसारसमुच्चय, 38

जब तक जीओ सुख से जीओ ऋण लेकर घी पीओ, शरीर के भस्म होने पर पुनः इस जीव का आना कहाँ है अर्थात् मृत्यु ही मोक्ष है। ऐसे मानने वाले चार्वाक वास्तव में नास्तिक दर्शन है, फिर भी ये अपने राजा को ईश्वर मानते हैं। योगदर्शन में महर्षि पतंजलि के अनुसार–

**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**

अर्थात् क्लेशों, कर्मविपाकों से जो परामृष्ट नहीं है, वही विशेष पुरुष ईश्वर है। चार्वाक मत का राजा क्लेश एवं कर्मविपाक से मुक्त नहीं है इसलिये वह ईश्वर नहीं है। अथर्ववेद में कहा है–

**विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यन्ते।**

–अथर्ववेद, 11/8/32

अर्थात् विद्वान् पुरुष को ब्रह्म स्वरूप में मान्यता है। पुरुष पुरुषार्थ करने में समर्थ है। जैनदर्शन में इससे भी सूक्ष्म चर्चा करते हुए मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने वाले परमेष्ठी को ब्रह्म कहते हैं। महाभारत में शांतिपर्व 299 अध्याय में कहा है– पुरुष से श्रेष्ठ कोई भी नहीं है। कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं– **अप्पा सो परमप्पा**, आत्मा ही परमात्मा है। मोक्षपुरुषार्थ में परमेष्ठी आत्मा घातिया कर्म नाश कर

अरिहंत परमात्मा एवं अघातिया कर्म नाश कर सिद्ध परमात्मा बनते हैं। 'भगवद्गीता' में भी कहा है कि ईश्वर कर्ता और स्रष्टा नहीं है–

**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।**
**न कर्मफलसंयोगे स्वभावस्तु प्रवर्तते॥** –गीता, 5/14

ईश्वर लोक के कर्ता और स्रष्टा नहीं हैं। वह लोक में कर्मफल का संयोग भी नहीं करता है, पदार्थ केवल अपने स्वभाव के अनुसार स्वयं परिणमन करता है। सब दर्शनों का सार जैनदर्शन है, इसमें सम्यक् नयों के द्वारा अनेकान्त-स्याद्वाद से ईश्वर का विवेचन किया है, बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा के ऐश्वर्य को प्राप्त करना ही लक्ष्य है। रत्नत्रय स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति पुरुषार्थ से ही संभव है।

चौथा निबन्ध है– 'आदि कृषक भगवान् आदिनाथ'। भगवान आदिनाथ ने जीविकोपार्जन के लिए षट्कर्म का उपदेश दिया–

**असिर्मषी कृषिविद्या, वाणिज्यं शिल्पमेव च।**
**कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः॥**

–आदिपुराण, 16/179

**अर्थ**– असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प— ये छह कर्म प्रजाओं के जीवनयापन का साधन है। 'राजवार्तिक' में आचार्य अकलंकदेव कहते हैं–

**अघ्नन्नपि भवेत् पापी, निघ्नन्नपि न पापभाक्।**
**परिणामविशेषेण यथा धीवरकृषकौ॥**

जैसे मछली को मारे बिना भी मनुष्य हिंसक भाव के साथ जाल फैलाता है फिर भी मछली नहीं मिलती है, तो भी वह हिंसा का भागी बनता है। कृषि कार्य में किसान के हाथों से जीव हिंसा होने पर भी उसको दोष नहीं लगता है, क्योंकि उसके भाव जीव हिंसा के नहीं, जीवों पर दया के हैं। असि, मसि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प— ये सभी कृषि पर आधारित हैं।

पाँचवाँ निबन्ध है— 'तीर्थंकर महावीर'। आज से 2600 वर्ष पूर्व वैशाली गणतन्त्र शासन के अंतर्गत विदेह कुण्डपुर कुण्डग्राम जो आज वासोकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ राजा सिद्धार्थ एवं रानी त्रिशला के राजमहल में तीर्थंकर बालक वर्द्धमान महावीर का जन्म हुआ। उन्होंने अट्ठारह वर्ष तक कुमार-काल राजवैभव में रहते हुए धर्मध्यानपूर्वक व्यतीत किया। वे जन्म से ही मति, श्रुत, अवधि —इन तीन ज्ञानों के धारी थे। उनके नानाजी महाराजा चेटक वैशाली गणराज्य के राष्ट्राध्यक्ष (राष्ट्रपति) थे। उन्होंने प्रजातन्त्र की चुनाव-प्रक्रिया के द्वारा वर्द्धमान महावीर को प्रधानमंत्री चुन लिया। वे कुमार आमात्य के रूप में 12 साल तक विश्व के प्रथम गणतन्त्र (प्रजातन्त्र) शासन के प्रधानमंत्री रहे। 30 वर्ष की उम्र में उन्होंने

संसार की असारता को जानकर दिगम्बर जैन दीक्षा ली। 12 वर्ष तप किया। ऋजुकूला तट पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तदनन्तर 72 वर्ष की आयु में पावापुरी के पद्म सरोवर के मध्य भाग से मोक्ष प्राप्त किया।

छठा निबन्ध है– 'सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव'। वीतराग संस्कृति का जन्मदाता जैनधर्म है। तीर्थंकरों द्वारा निरूपित सर्वोदय तीर्थ ही समस्त प्राणिमात्र के कल्याण के लिए है। श्रमण-संस्कृति समता भाव से सहित है। विश्व मानव की सम्पूर्ण रक्षा का सूत्र जैनदर्शन में है। दिगम्बरत्व महान साधना है। आजकल इतनी जल्दबाजी बढ़ गई आपाधापी में सब कुछ छूट जाता है। अहिंसा जिनशासन का मूलमंत्र है। स्वस्थ जीवन के लिए पांच अणुव्रतों का पालन करें। सामाजिक समरसता, शुचिता के लिए उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य —ये दस धर्म श्रेष्ठ हैं। सब प्रकार के मद अहंकार से रहित जीवन होना चाहिए। संसार असार है, आत्मा समयसार है।

सातवाँ निबन्ध है— 'जगद्गुरु'। जगत् के प्राणियों के अज्ञानरूपी अंधकार को ज्ञानरूपी अंजन-शलाका से दूर कर ज्ञानरूपी चक्षु खोल देवें वे जगद्गुरु हैं। आठवाँ निबन्ध है— 'जिनदर्शन जिनपूजा' जिनदर्शन निजदर्शन के लिए और सम्यक्दर्शन के लिए है। जिनपूजा से अष्ट कर्म नष्ट होता है, अन्तरात्मा से परमात्म दर्शन होता है। नौवां निबन्ध है— 'जैनशासन की पंचरंगी ध्वजा'। लाल वर्ण संपूर्ण कर्मों पर विजय प्राप्त सिद्धों का प्रतीक है, पीला वर्ण समस्त संघ एवं जीव मात्र के वात्सल्य के धनी आचार्य परमेष्ठी का प्रतीक है। सफेद अनन्त ज्ञान, दर्शन, शक्ति और अनन्त सुख के स्वामी अरिहंत परमेष्ठियों का प्रतीक है, हरा ग्यारह अंग चौदह पूर्व ज्ञान अनाहत योगी उपाध्याय परमेष्ठी का प्रतीक है। गहरा नीला वर्ण साधना में लीन साधु परमेष्ठी का प्रतीक है।

दसवां निबन्ध है— 'अनेकांत और स्याद्वाद'। यह वस्तु के संपूर्ण गुणधर्मों को जानने की कला है, समस्त पक्षों की अपेक्षाओं को समझ कर निर्णय लेने की पद्धति है। ग्यारहवाँ निबन्ध है— 'उत्तम संयम और महाव्रत'। निश्चय से सभी जीव आत्मा में संयम और भाव विशुद्धि चाहते हैं। बारहवाँ निबन्ध है— 'आचरितुं योग्यः आचार्यः'। जो पंचाचार स्वयं पालन करते हैं एवं अपने शिष्यों से भी पालन कराते हैं वे ऐसे योग्य साधक आचार्य हैं। तेरहवाँ निबन्ध है— 'जैनधर्म अहिंसा एवं महात्मा गांधी'। इसमें महात्मा गांधी पर जैनधर्म का प्रभाव बताया गया है। चौदहवाँ निबन्ध है 'अहिंसा एवं गाँधी दर्शन'। अहिंसा विश्व की माता है। जैन साधक श्रीमद् रायचन्द्र जी से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— इन पाँच अणुव्रतों को अंगीकार करके गांधीजी ने भारत को स्वतन्त्र कराया। पन्द्रहवाँ निबन्ध है— 'दैव और पुरुषार्थ'। पूर्वकृत पुरुषार्थ का फल ही दैव अर्थात् भाग्य

है। जैसे पहले आम का पेड़ लगाया आज वह फल दे रहा है।

सोलहवाँ निबन्ध है— 'अग्नि और जीवत्वशक्ति'। जैसे वनस्पति में जीवन-शक्ति है वैसे ही अग्नि में भी जीवन-शक्ति है। वह 'तेल और ईंधन' का भक्षण करती है, प्राण वायु को पीती है। हाथ लगने पर जलाना क्रोध है, हमेशा उसकी लौ सीधा अकड़ के रहती है —यह मान-कषाय है, राख से ढका हुआ अंगारे पर पैर रखने से जला देती है, —यह मायाचारी है, जितना भी तैल और ईंधन डालो शांत नहीं होता है —यह लोभ कषाय है। इस तरह अग्नि में जीवत्व शक्ति है।

सत्रहवाँ निबन्ध है— 'वैदिक व श्रमण साहित्य में न्यास'। 'न्यास' शब्द के अनेक अर्थ हैं– रखना, फेंकना, गिराना-बिखराना, धरोहर रूप में रखना आदि। आदर भाव से शिला को स्थापित करना शिलान्यास है। ऐसे ही नाम, स्थापना द्रव्य, भाव हैं। जिनेन्द्र भगवान् का नाम, नाम जिनेन्द्र है, उनकी प्रतिमा स्थापना जिन है, उनका जीव द्रव्य जिन है और साक्षात् समवशरण में उपदेश देते हुए जिनेन्द्र भावजिन न्यास हैं। वैदिक और जैन साहित्य में 'न्यास' शब्द का अत्यन्त महत्त्व है। अठाहरवाँ निबन्ध है— 'क्षुल्लक को अर्घ्य देना चाहिए'। इस आलेख में सामूहिक रूप से कहा है कि ग्यारहवें प्रतिमाधारी को व्रत का आदर हेतु अर्घ्य देना चाहिए न कि अहंकार-पुष्टि के लिए। उन्नीसवाँ निबन्ध है— 'स्वाहा पद का गूढ़ार्थ' स्वाहा पद चतुर्थी विभक्ति है। सम्पूर्ण रूप से समर्पण को स्वाहा पद से उच्चारण करते हैं। जैसे श्रमण मुनि को आहार देते हैं परन्तु दिए आहार को वापस नहीं लेते हैं। धोबी को कपड़े देते हैं, उसमें चतुर्थी विभक्ति नही लगती है, क्योंकि देकर वापस लेते हैं। दान एवं समर्पण में 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग होता है। बीसवाँ निबन्ध है– 'भूतार्थ का औचित्य'। यहाँ भूतार्थ का अर्थ सत्यार्थ है। भूतार्थ सत्य वस्तु तत्त्व का कथन करता है, भूतार्थ कथन ही औचित्य पूर्ण है। इक्कीसवाँ निबन्ध है– 'मिश्र गुणस्थानवाला भी एकदेश जिन है'। प्रवचनसार की 201वीं गाथा की टीका में श्री जयसेन आचार्य भी कहते हैं— सासादन गुणस्थान से क्षीणकषाय पर्यन्त सभी जीव एकदेश जिन है।

## द्वितीय खण्ड : संस्कृति, समाज, राष्ट्र और इतिहास

बाईसवाँ निबन्ध है– 'श्रमण संस्कृति और उसकी उपलब्धियाँ'। 'संस्कृति' शब्द सम्पूर्ण शास्त्रों का सार है। भौतिक संपदा से ऊपर उठकर अत्यन्त मूल्यवान धरोहरों में अमृत समान आचरण ही संस्कृति है। अहिंसा श्रमण-संस्कृति का सार है, मानवता के लिए श्रेष्ठ मार्ग स्वरूप व्रत, तप, साधना, सामायिक, योग, ध्यान, समाधि द्वारा अन्तरात्मा से परमात्मा तक की यात्रावृत्त का नाम श्रमण संस्कृति है। इस विश्व के लिए भौतिकता से अधिक अनमोल उपलब्धि अध्यात्मविद्या है।

तेईसवाँ निबन्ध है– 'गोरक्षा से अहिंसक संस्कृति की रक्षा'। इस निबंध में गो-

माता कामना कलश से सम्पूर्ण जीवन को दूध, दही, घी देती है। कहा भी है– **'तृणं भुक्त्वा पयः सूते कोऽन्यो धेनुसमः शुचिः'** अर्थात् तृण को खाकर क्षीरसागर प्रदान करनेवाली गाय के समान और कौन पवित्र हो सकता है। जैन संत आहार के लिए जाते हैं, उन्हें गोचरी कहते हैं। दो कोश दूरी को गब्यूति एवं खिड़की को गवाक्ष, सूक्ष्मदृष्टि को गवेषणा, सुबह एवं सायं की संध्या को गोधूली वेला आदि अनेक नाम गौमाता से संभव हैं। भारतीय संस्कृति गाय के बिना असंभव है।

चौबीसवाँ निबन्ध है– 'आर्ष परम्परा में आर्यिका दीक्षा'। भगवान् ऋषभदेव के समय में ब्राह्मी-सुन्दरी आदि से लेकर भगवान महावीर स्वामी के समय में मौसी चन्दनबाला पर्यंत हजारों ने आर्यिका दीक्षा ली। आज भी हजारों की संख्या में आर्यिकाएँ दीक्षा लेकर तप कर रही हैं। जैन शास्त्रों में आर्यिकाओं की अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। पंचमकाल के अन्त तक आर्यिकाएँ रहेंगी।

पच्चीसवाँ निबन्ध है– 'मुनिभक्त क्षेत्रपालों का शास्त्रोक्त स्वरूप'। इस निबन्ध में अनेक शास्त्रों से उद्धरण लेकर क्षेत्रपालों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

छब्बीसवाँ निबन्ध है– 'विश्व अहिंसा दिवस'। **अहिंसैव जगन्माता** –ज्ञानार्णव 8/32 अहिंसा विश्व की माता है। जैसे माँ बच्चों का पालन-पोषण करती है, वैसे ही अहिंसा माँ के समान है। दो अक्तूबर को 'विश्व-अहिंसा दिवस' के रूप में मनाया जाता है। सत्ताईसवाँ निबन्ध है– 'अपरिग्रह से भ्रष्टाचार-उन्मूलन'। जब परिग्रह नहीं रहेगा तो लालच, लोभ, इच्छा एवं आसक्ति नहीं होने पर भ्रष्टाचार जड़ से समाप्त होगा।

अट्ठाईसवाँ निबन्ध है– 'जैन समाज और वात्सल्य भाव'। जैसे तुरंत जन्मे बछड़े से गाय निःस्वार्थ प्रेम करती है, ठीक उसी प्रकार धर्मात्मा का अपने साधर्मियों से निःस्वार्थ प्रेम करना वात्सल्य भाव है, यही प्रवचनवात्सल्य है।

उनतीसवाँ निबन्ध है– 'पुरुष और स्त्रियों का समाज में स्थान और कर्त्तव्य'। समाज का अर्थ 'सम' और 'आज' से स्पष्ट है अर्थात् पुरुष और स्त्री दोनों आज समान हैं। उनके कर्त्तव्य भी भिन्न-भिन्न होते हुए भी दोनों समान ही हैं।

तीसवाँ निबन्ध है– 'पावन पर्व रक्षाबंधन'। विष्णुकुमार मुनि द्वारा सात सौ मुनियों का उपसर्ग दूर कर उनकी रक्षा की गई थी, इसीलिये यह वात्सल्य-पूर्णिमा के रूप में मनाया जाता है। भाई द्वारा बहनों की रक्षा का पर्व है। यह राष्ट्र का मैत्री पर्व है। इकतीसवाँ निबन्ध है– 'राष्ट्रीय पर्व दीपावली'। जैनधर्म के अनुसार **'अद्य दीपोत्सवदिने वर्धमानस्वामी मोक्षं गतः।'** –आलापपद्धति, पृष्ठ 169 आज दीवाली के दिन वर्द्धमान महावीर ने मोक्ष प्राप्त किया था। दीप-पंक्तियों द्वारा आनन्द उत्सव का प्रतीक एवं सम्पूर्ण राष्ट्र में अज्ञान-अंधकार को दूर कर ज्ञान-प्रकाश फैलाना ही राष्ट्रीय पर्व दीपावली है।

बत्तीसवाँ निबन्ध है– 'सोने का पिंजरा'। इसमें पराधीनता को दुःखरूप और स्वाधीनता को सुखरूप सिद्ध किया गया है। तेतीसवाँ निबन्ध है– 'सुपुत्रः कुलदीपकः'। सुपुत्र कुल का दीपक होता है। घर को, समाज को, राष्ट्र एवं विश्व को प्रकाशित करता है। ऐसा पुत्र देश, राष्ट्र एवं विश्व का भी दीपक होता है।

चौंतीसवाँ निबन्ध है– 'विश्वकर्मा एवं वास्तुविद्या'। भगवान ऋषभदेव ने अपने चौथे पुत्र विश्वकर्मा को सूत्रधार का सौ अध्याय में वास्तुविद्या तथा मंदिर, मूर्तिकला और मकान बनाने का वास्तुशास्त्र का उपदेश दिया। –आदिपुराण 16/267 विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र और यंत्रशास्त्र के आदि देव हुए।

पैंतीसवाँ निबन्ध है– 'मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण'। मोहन-जो-दड़ो का अर्थ मृतकों का टीला है। यह स्थान पाकिस्तान के लरकाना जिले (सिंध) में स्थित है। यहाँ सील एवं मूर्तियाँ, जैन पुरावशेष के साक्ष्य मिले हैं। इससे जैन परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है।

छत्तीसवाँ निबन्ध है– 'कल्याण मुनि और सम्राट् सिकन्दर'। इतिहास साक्ष्य है कि सम्राट् सिकन्दर दिगम्बर जैन मुनि को अपने साथ यूनान लेकर गये थे। वहाँ हजारों जैन मुनि बने। आज भी यूनान में जैन मुनियों की चरण छत्री बनी हुई हैं। सैंतीसवाँ निबन्ध है– 'बाहुबली की राजधानी तक्षशिला'। इसमें आचार्यश्री का गंभीर पुरातात्त्विक ज्ञान प्रतिबिम्बित हुआ है। अड़तीसवां निबन्ध है– 'धर्म-निरपेक्ष नहीं, सम्प्रदाय-निरपेक्ष'। उनतालीसवां निबन्ध है– 'श्रावकों व विद्वानों को त्यागियों/श्रमणों की समीक्षा का पूर्ण अधिकार है'। यह निबन्ध आज की परिस्थिति में बहुत उपयोगी है।

## तृतीय खण्ड— ध्यान, साधना और व्यक्तित्व विकास

चालीसवाँ निबन्ध है– 'प्रतीकोपासना और निर्विकल्प ध्यान'। जैसे आकाश स्वयं अमूर्तिक है, फिर भी पुरुष स्वयं की छाया का ध्यान कर आकाश में देखने से सूर्य प्रकाश से भी तेजस्वी अपनी ही पुरुषाकार कार्माण तेजस शरीर सहित आत्मा का प्रतीक दर्शन होता है, तब कुछ समय निर्विकल्प ध्यान होता है। यही प्रतीकोपासना है। उस ध्यान में अनन्त कर्मों की निर्जरा है।

इकतालीसवाँ निबन्ध है– 'कायोत्सर्ग : परमात्मा बनने का विधान'। सत्ताईस श्वास और उच्छ्वास में शरीर और अन्तरात्मा के जोड़ को तोड़कर परमात्म तत्त्व की भावना से परम आनन्द का अनुभव करते हुए द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म शरीर या मोह, राग, द्वेष को छोड़कर ध्यानस्थ आत्मसात् होना ही कायोत्सर्ग है।

बियालीसवाँ निबन्ध है– 'शब्द साधना'। शब्द साधना से अर्थसाधना, अर्थसाधना से भावसाधना, भावसाधना ही परमात्मतत्त्व-साधना है।

तियालीसवाँ निबन्ध है– 'अकार आदि अक्षर : वर्ण तथा फल'। संपूर्ण अक्षर स्वर और व्यंजन सभी शब्द तन, मन, चेतन को पवित्र करने से मंत्र स्वरूप हैं, इस निबन्ध में प्रत्येक अक्षर का रंग एवं शक्ति और फल का वर्णन किया है।

चौवालीसवाँ निबन्ध है– 'मुखशुद्धि : वाग्दीक्षा'। अर्थात् क्षमाशील और अध्ययनशील नवदीक्षित शिष्य की मुखशुद्धि को वाग्दीक्षा कहा जाता है। जब तक गुरु की आज्ञा न हो तब तक उसे प्रवचन आदि नहीं देना चाहिए।

पैंतालीसवाँ निबन्ध है– 'पहले तोलो फिर बोलो'। अच्छे कुल में उत्पन्न व्यक्ति की हथेली में कमल नहीं होता और अकुलीन व्यक्ति के मस्तक पर सींग नहीं होता। वाणी से पता चलता है कि कौन कुलीन है, कौन नहीं है। कौआ और कोयल का ज्ञान उनकी बोली से पता चलता है।

छियालीसवाँ निबन्ध है– 'स्वाध्याय'। स्वयं अपनी आत्मा की विशुद्धि के लिये शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए। स्वाध्याय परम तप है। अंतरंग तप से अन्तरात्मा परम विशुद्ध होता है। सैतालीसवाँ निबन्ध है– 'अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग'। पुनः-पुनः ज्ञान उपयोग में ही लीन रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान से भिन्न आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। केवलज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व की प्राप्ति अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग से ही संभव है।

अड़तालीसवाँ निबन्ध है– 'जल का आधार घट, ज्ञान का आधार सरस्वती'। द्वादशांगस्वरूप जिनेन्द्र भगवान की वाणी जिनवाणी सरस्वती है। वह केवलज्ञान स्वरूप हिमाचल से सरकती आती है और श्रुतज्ञान में समा जाती है, इसलिए सरस्वती है। उनचासवाँ निबन्ध है– 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' शरीर ही सबसे पहले धर्म का साधन है, इसलिए शरीर का नीरोग होना आवश्यक है। जब शरीर स्वस्थ न हो तो मन और आत्मा भी अपने में स्थिर होना कठिन है। पचासवाँ निबन्ध है– 'तत्त्वज्ञान और मुनि' भेदविज्ञान ही मुनित्व का मूल आधार है। परमात्मतत्त्व का अनुभव अमृत ही मुनि स्वरूप का सार है, अन्यथा सब बेकार है। इक्यावनवाँ निबन्ध है– 'समय का मूल्य'। समय काल को कहते हैं, जिस वर्तमान समय में आत्मा परमात्मतत्त्व स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में लीन है, वही स्वसमय है। वही समय मूल्यवान है जो समयसार में लीन है।

अन्त में परिशिष्ट है– सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची। इसमें इस निबन्धावली में प्रयुक्त सन्दर्भ-ग्रन्थों को सूचीबद्ध किया गया है। इसे देखकर इस निबन्धावली की गंभीरता और प्रामाणिकता का अनुभव होता है।

सभी लोग इस निबन्धावली को पढ़कर सम्यक् ज्ञान-आनन्द (विद्यानन्द) प्राप्त करें– यही मेरी मंगल भावना है।

# सम्पादकीय

आचार्य विद्यानन्दजी मुनिराज ने शताधिक निबन्ध लिखे हैं जो साहित्यिक, सामाजिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक आदि अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं; किन्तु खेद है कि यदि आज कोई व्यक्ति, शोधार्थी उनका अध्ययन करना चाहे तो वे सहज उपलब्ध ही नहीं होते हैं। वे कभी अपने-अपने समय पर किसी पत्रिका में प्रकाशित हुये थे अथवा एक-एक लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए थे और जनता में वितरित होकर समाप्त हो गये थे। आज वे जुगुनू की तरह कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। प्रस्तुत निबन्धावली एक प्रयास है कि उनके वे सभी निबन्ध एक साथ ठीक से प्रकाशित होकर सबको सहज सुलभ हो जाएं और शिक्षा जगत् में भी उनको उचित स्थान प्राप्त हो।

आचार्य विद्यानन्दजी मुनिराज के निबन्धों का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह पहले 'पिच्छी-कमण्डलु' के नाम से प्रकाशित हुआ था, जो अत्यंत लोकप्रिय भी हुआ था, परन्तु पता नहीं वैसे प्रयोग किसी ने और क्यों नहीं किये? अवश्य करने चाहिए थे। खैर, प्रस्तुत निबन्धावली में हमने उस संग्रह के निबन्धों को सम्मिलित नहीं किया है, क्योंकि उस संग्रह का पुनर्मुद्रण भारतीय ज्ञानपीठ से हो गया है। इसी प्रकार आचार्यश्री के 6 निबन्ध सल्लेखना या समाधिमरण विषय से सम्बन्धित हैं, अतः उनका एक अलग संकलन 'मृत्यु-महोत्सव' के नाम से कुन्दकुन्द भारती से प्रकाशित हो गया है, अतः उन निबन्धों को भी इस निबन्धावली में छोड़ दिया गया है।

इसके अतिरिक्त, इस संग्रह में हमने प्रयास किया है कि आचार्यश्री के शेष सभी निबन्ध यहाँ संगृहीत हो जाएँ, किन्तु फिर भी लगता है कि अभी उनके कुछ निबन्ध इधर-उधर छूट गये होंगे। यदि किसी सज्जन के पास आचार्यश्री के दुर्लभ निबन्ध हों तो वे कृपया उनकी जानकारी हमें भेजें, ताकि अगले संस्करण/संग्रह में उनका समावेश किया जा सके।

आचार्यश्री के निबन्धों की विविध विशेषताओं को मैं क्या गिनाऊँ, कभी कोई विद्वान् समीक्षक या शोधार्थी ही उन्हें ठीक से प्रस्तुत करेगा; तथापि बहुत संक्षेप में बिन्दुवार ढंग से कुछ विशेषताओं को मैं इसप्रकार कहना चाहता हूँ–

1. सभी निबन्ध ज्ञान के अद्भुत भंडार हैं। ज्ञानाराधना ही इन निबन्धों की प्रमुख

विशेषता है। लेखक ने कोलकाता के राष्ट्रिय पुस्तकालय जैसे अनेक स्थानों से जो भारी ज्ञान अपने अभीक्ष्णज्ञानोपयोग द्वारा प्राप्त किया है, वह इन निबन्धों की पंक्ति-पंक्ति में प्रतिबिम्बित हो रहा है।

2. निबन्धों में केवल धर्म, दर्शन और अध्यात्म ही नहीं है, अपितु साहित्य, संस्कृति, व्याकरण, ज्योतिष, वास्तु, पुराण, भाषा, लिपि, पुरातत्त्व, अर्थ, समाज, राजनीति आदि अनेक शास्त्रों के रहस्य प्रतिपादित हो गये हैं।
3. निबन्धों में स्थान-स्थान पर उपशीर्षकों का भी प्रयोग लेखक ने किया है, जिससे अभिव्यक्ति को स्पष्टता एवं सरलता प्राप्त हुई है।
4. भाषा-शैली की दृष्टि से भी ये निबन्ध उच्च कोटि के हैं। इनकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत और साहित्यिक है। यही कारण है कि इन्हें पढ़ते हुए हिन्दी साहित्य के अनेक स्तरीय निबन्धकार स्मृति-पटल पर प्रकट हो जाते हैं। संधि-समास और लोकोक्ति-मुहावरों के प्रयोग से भी इन निबन्धों की भाषा दुल्हन-जैसी सज गई है।
5. सभी निबन्ध उद्धरणों से लबालब भरे हैं। लगता है लेखक कोई भी बात अपनी तरफ से नहीं कहना चाहता, अपितु हर बात शास्त्रप्रमाण से प्रस्तुत करना चाहता है। उद्धरण भी एकदम प्रामाणिक हैं; पुस्तक, लेखक, प्रकाशक, संस्करण आदि की पूरी जानकारी के साथ। निबन्धावली में उद्धृत/प्रयुक्त ग्रंथों की सूची के लिए देखें परिशिष्ट-1।
6. निबन्धों में कहीं-कहीं तो उद्धरण या शास्त्रवाक्य इतने अधिक हैं कि पूरा निबन्ध ही उद्धरण-संग्रह बन गया है। जैसे– 'अकारादि अक्षर : वर्ण तथा फल'। दरअसल, लेखक इस बात का बहुत पक्षपाती है कि 'नामूलं लिख्यते किंचित्' अर्थात् निराधार कुछ भी न लिखा जाए।
7. कहीं-कहीं तो निबन्ध का शीर्षक ही संस्कृत के मूल उद्धरण को बना लिया गया है। जैसे– 'सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव', 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्', 'आचरितुं योग्यः आचार्य'।
8. निबन्धों में जैन धर्म-दर्शन की प्राचीनता और व्यापकता को अनेकानेक साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। ऐसे निबन्धों में लेखक का इतिहास-पुरातत्त्व-सम्बन्धी सूक्ष्म एवं व्यापक अध्ययन आश्चर्यचकित करता है। जैसे–'मोहनजोदड़ो : परम्परा और प्रमाण; 'कल्याण मुनि और सिकन्दर'।
9. निबन्धों में समकालीन स्थितियों का भी चित्रण है। न केवल चित्रण है, समाज की विषम स्थितियों के सुंदर समाधान भी हैं। 'अपरिग्रह से भ्रष्टाचार-उन्मूलन' आदि निबन्ध इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।
10. राष्ट्रिय भावना की दृष्टि से भी कुछ निबन्ध बड़े अद्भुत हैं जो लेखक के गहरे राष्ट्रप्रेम को अभिव्यक्त करते हैं। यथा– 'सोने का पिंजरा'।

11. स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध और उनकी सामाजिक स्थिति पर भी लेखक ने अपने समाजकल्याणकारी विचार पाठक के समक्ष रखे हैं, जो आधुनिक जीवन में उत्पन्न हुई पारिवारिक विषमता को देखते हुए बड़े प्रासंगिक भी लगते हैं। ऐसे निबन्धों में 'समाज में स्त्रियों एवं पुरुषों का स्थान एवं कर्त्तव्य' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।
12. भारतीय पर्व या उत्सवों के सम्बन्ध में भी लेखक का गहरा चिन्तन है, जो अनेक निबन्धों में व्यक्त हुआ है। यथा– रक्षाबन्धन, दीपावली आदि।
13. वक्तृत्वकला पर तो कहना ही क्या? यदि कोई लेखक का एक 'शब्द-साधना' निबन्ध ही ठीक से पढ़ ले तो वह उच्च कोटि का वक्ता बन सकता है। ऐसे निबन्धों में 'मुखशुद्धि' और 'पहले तोलो फिर बोलो' भी महत्त्वपूर्ण हैं।
14. जैन तत्त्वज्ञान की अनेक उलझनों को सुलझाने में भी इन निबन्धों का उल्लेखनीय योगदान है। जैसे– 'मिश्रगुणस्थान वाला भी एकदेश जिन है', 'क्या क्षुल्लक को अर्घ्य देना चाहिए', इत्यादि।
15. अध्यात्म की अतल गहराइयों में पाठक को निमग्न करना भी निबन्धों की एक प्रमुख विशेषता है। ऐसे निबन्धों में 'निर्मल आत्मा ही समयसार है' निबन्ध विशेष उल्लेखनीय है।
16. कुछ निबन्ध जैन दर्शन की ध्यान योग-परम्परा पर भी विशद एवं शोधपूर्ण प्रकाश डालते हैं। जैसे– 'प्रतीकोपासना और निर्विकल्प ध्यान'।
17. कुछ निबन्ध दर्शनशास्त्र की अतल गहराइयों में गोते लगवाते हैं। जैसे– 'दैव और पुरुषार्थ', 'ईश्वर कहाँ है', 'वैदिक व श्रमण साहित्य में न्यास' आदि।
18. कुछ निबन्ध जैन संस्कृति के प्रमुख तत्त्वों की प्रामाणिक व्याख्या उपस्थित करते हैं। जैसे– 'जैन शासन का पंचरंगी ध्वज', 'स्वाहा का गूढार्थ', 'मूल महामंत्र' आदि।
19. कुछ निबन्ध लेखक की वैज्ञानिक आविष्कारों जैसी प्रस्तुति के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। जैसे– 'अग्नि और जीवत्वशक्ति'। इस निबन्ध में लेखक ने वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र वसु की भाँति आधुनिक प्रयोगों से अग्नि को भी जीव सिद्ध करने का प्रयास किया है।
20. कुछ निबन्ध प्रमादादि दोषों का त्याग कर व्यक्तित्व के विकास की अनुपम कला सिखाते हैं। जैसे– 'समय का मूल्य', 'पहले तोलो फिर बोलो' आदि।

इसी प्रकार की और भी अनेक विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं, जिन्हें सूक्ष्म अध्ययन करके जाना जा सकता है। यहाँ अवकाश नहीं है। सभी लोग आचार्यश्री के निबन्धों से लाभान्वित हों, उनका सभी दृष्टियों से शोधपूर्ण अध्ययन करें– यही मेरी पवित्र भावना है। मैंने स्वयं इन निबन्धों को बारम्बार पढ़कर अद्‌भुत लाभ प्राप्त

किया है, अतः मेरी भावना हुई कि इनको आप सब तक पहुँचाने का प्रयास करूँ। मैंने इसमें बहुत अच्छे भावों से परिश्रम किया है। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि जो व्यक्ति इन निबन्धों को मन लगाकर पढ़ेगा, इनकी विषयवस्तु पर चिन्तन करेगा, उसे अवश्य ही गूढ़ तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा।

आचार्यश्री के इन निबन्धों को मैंने पाठकों की सुविधा के लिए तीन खण्डों में वर्गीकृत कर दिया है–

**प्रथम खंड** – धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म।

**द्वितीय खंड** – संस्कृति, समाज, राष्ट्र एवं इतिहास।

**तृतीय खंड** – ध्यान, साधना एवं व्यक्तित्व-विकास।

परन्तु इस वर्गीकरण को बहुत कट्टरवादी नहीं समझना चाहिए, यह मात्र मुख्यता-गौणता के आधार पर सामान्य पाठकों की सुविधा के लिए किया गया है।

**—वीरसागर जैन**

# मूल-महामन्त्र

णमो अरिहंताणं,[1] णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

णमोकार मन्त्र में जो प्रथम पद 'णमो अरिहंताणं' आया है उसके स्थान पर कहीं-कहीं 'अरहंताणं' पाठ भी पाया जाता है और प्राकृत भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु षट्खण्डागम के समान प्रज्ञापनासूत्र के आदि में भी यही पाठ 'अरिहंताणं' पाया जाता है। उसके टीकाकार हरिभद्र और मलयगिरि ने वही ग्रहण किया है। धवलाकार वीरसेन स्वामी तथा विशेषावश्यकभाष्यकार ने यही पाठ लेकर उसकी निरुक्ति अनेक प्रकार से समझायी है और उसी से अन्त में उन्होंने उसके संस्कृत-रूपान्तर 'अर्हत्' की भी व्याख्या की है। धवलाकार के मत से–

**अरिहननाद् अरिहन्ता, रजोहननाद् वा अरिहन्ता,**
**रहस्याभावाद् वा अरिहन्ता, अतिशयपूजार्हत्वाद् वा अर्हन्तः।**

इस प्रकार धवलाकार के सम्मुख तो विकल्प से भी 'अरहंत' पाठ नहीं है

---

1. अर्हंत —ऋग्वेद 4-3-9
   अर्हन्तः पूज्याः —सायण भाष्य
   (i) मागधी में णमो अलिहंताण। —मुद्राराक्षस 4-18
   (मागधी भाषा में 'र' होता नहीं)
   (ii) अपभ्रंश में अलहंतु। —पुष्प. महापुराण 37-21
   (iii) ओड्रमागधी में णमो अरिहंतानं।
   (iv) अर्धमागधी में नमो अरिहंताणं।
   (v) द्रविड भाषा में णमो अरुहंताणं।
   (अरुहश्री चरणव, स्तुति है)
   (vi) पालि में नमो अरहंतो। —धम्मपद, 98-9
   (vii) कन्नड़ में णमो ळोए सव्वसाहूणं।
   (दक्षिण महाराष्ट्र में भी)
   (viii) गुरुमुखी में अर्हन्नदेव। —गुरु ग्रन्थसाहब, पृष्ठ 175
   (ix) साहित्य में णमो अरहंताणं।
   (साहित्य में इसप्रकार के पाठ मिल जाते हैं, पर मन्त्र में ऐसा नहीं चलता)

(षट्खण्डागम, भाग 1, पृष्ठ 42 आदि)। अतः दिगम्बर-श्वेताम्बर दीर्घकालीन सैद्धान्तिक परम्परा 'अरिहंताणं' पाठ के पक्ष में ही है– यह सिद्ध होता है।[2]

**अरुहश्री चरणव नेनेवेनु अनुदिन।**

एक पाठ 'अरुहा' भी बनता है, क्योंकि 'रुह' धातु का अर्थ अंकुर उगना है, अर्थात् जिसका भवरूप अंकुर नष्ट हो गया है वे 'अरुहा' कहलाते हैं, यानी कर्मरूपी बीज के जल जाने पर पुनः संसाररूप अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

**दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।**
**कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥**

शिष्य को गुरु ने कहा था–

**बुद्धिविहीने श्रोतरि, वक्तृत्वमनर्थकं भवति पुंसाम्।**
**नेत्रविहीने भर्त्तरि, विलासलावण्यमिव स्त्रीणाम्॥**

–पंचसंग्रह, पृष्ठ 585, धवला, पु. 4, पृष्ठ 414

**अर्थ**– जिस प्रकार पति के नेत्रहीन होने पर स्त्री का विलास व सौन्दर्य व्यर्थ (निष्फल) है, उसी प्रकार शिष्य—श्रोता के ज्ञानहीन होने पर गुरु का उपदेश (वक्तापना) व्यर्थ है।

## प्राकृत में अरिहं[3] संस्कृत में अर्हं

(1) **अ** अक्षर अनन्त ज्ञान का वाचक है।
(2) **रि** रेफ समस्त विश्व का अनन्त दर्शक है।
(3) **ह** अनन्त बल का सूचक है।
(4) **अं** बिन्दु अनन्त सुख का प्रतीक है। –'विरामे वा' –कातन्त्र 1-4-15-92

अरिहं[4] में अनन्त चतुष्टय का गूढ अर्थ छिपा है–

**अकारः परमो बोधो, रेफो विश्वावलोकदृक्।**
**हकारोऽनन्तवीर्यात्मा, बिन्दुः स्यादुत्तमं सुखम्॥**

–आचार्य माघनन्दि, शास्त्रसारसमुच्चय, 38

---

2. षट्खण्डागम, पृष्ठ 6
3. अर्हं
तुंबुरुं तृणकाष्ठं च, तैलं जलमुपागतम्।
स्वभावादूर्ध्वमायाति, रेफस्यैतादृशी गतिः।। 1।। –कातन्त्ररूपमाला, पृष्ठ 10
जलतुम्बिका न्याय से संस्कृत में रेफ वर्ण के ऊर्ध्व (मस्तक) पर लगता है।
4. अरिहं– अरिहा एष संयुक्तस्यान्त्यव्यंजनात्पूर्वं इकारो भवति।
–हेम. प्राकृत-व्याकरण, 8-2-24
अरिहा – यहाँ 'अर्ह' के संयुक्त अन्त्य व्यंजन से पूर्व इकार होता है। अरिह— पुं. 1. जिनदेव, 2. पूजा के योग्य। –पाइअसद्दमहण्णव, पृष्ठ 72

## सारांश

शब्दब्रह्म भी आत्मब्रह्म में हेतु है। शब्दब्रह्म में पारंगत व्यक्ति परब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। यह सिद्धान्त इस बात की सूचना देता है कि साधक को पहिले शब्द-शक्ति और उसकी मर्यादा तथा भाव का ज्ञान आवश्यक है। यदि उसे शब्द के वाच्यार्थ, भावार्थ और तात्पर्यार्थ की प्रक्रिया का बोध नहीं है तो वह भटक भी सकता है। कोश ही शब्द के अर्थ को जानने का एक मात्र उपाय है–

**शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।**
**वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥**

**अर्थ**– व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और प्रसिद्ध शब्द के सान्निध्य से संकेत ग्रहण होता है। इनमें व्याकरण से यौगिक शब्दों का व्युत्पत्ति द्वारा संकेत-ग्रहण हो भी जाए, पर रूढ़ और योगरूढ़ शब्दों का संकेत-ग्रहण व्याकरण से नहीं हो सकता। अन्ततः कोश ही एक ऐसा उपाय बचता है जिससे सभी प्रकार के शब्दों का संकेत-ग्रहण हो जाता है।

## प्राकृत भाषा में 'अरिहंत' शब्द की व्युत्पत्ति और सम्पूर्ण परिभाषा

**अरिहंति वंदणनमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।**
**सिद्धिगमणं च अरिहा अरिहंता तेण वुच्चंति॥**

–अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 1, पृष्ठ 760

**अर्थ**– जो वन्दन-नमस्करण के योग्य अरिहन्त हैं, जो पूजा-सत्कार के योग्य अरिहन्त हैं, जो सिद्धि-गमन के योग्य अरिहन्त हैं, उनको 'अरिहन्त'– ऐसा कहते हैं।

**नामनिक्षेपोदाहरणान् दर्शयति-**

**मोह-रज-अंतराय-हणणगुणादो य णाम अरिहंतो।**
**अरिहो पूयाए वा सेसा णामं हवे अण्णं॥**

–णयचक्क, 273, पृष्ठ 137

**अर्थ**– मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का घात करने से 'अरिहंत' नाम है और पूजा के योग्य होने से 'अरिहंत' नाम है। इन गुणों के बिना किसी का 'अरिहंत' नाम रखना नाम-निक्षेप का उदाहरण है।

**घणघादिकम्मरहिदा केवलणाणादिपरमगुणसहिदा।**
**चोत्तिस अदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति॥** –नियमसार 76

**आम्नायः सम्प्रदायः, इति गुरुपरम्परागतस्य समुपदेशस्य।**

–इत्यमरः 2/4/2264

**अर्थ**– आम्नाय ही सम्प्रदाय है और वह गुरु-परम्परा से आगत उपदेश है। वही स्वीकार करने योग्य है।

**णमोकार महामन्त्र में चौदह पूर्व का ज्ञान भरा है-**

**जिणसासणस्स सारो चउदसपुव्वाणं समुद्धारो।**
**जस्स मणे णमोकारो संसारो तस्स किं कुणदि॥**

—आइरिय वसुणंदि, तच्चवियारो, 1/28

**अर्थ**— जो सम्पूर्ण जिनशासन का सार है, चौदह पूर्वों का निचोड़ है, ऐसा णमोकार मन्त्र जिसके हृदय में रहता है, संसार उसका क्या बिगाड़ सकता है?

**अंगपौर्वमयार्थसंग्रहमधीत्याधीत्य शास्त्रान्तर:।** —सागारधर्मामृत 2/21

**अर्थ**— प्रथम कोमलमति बालकों को प्राकृतभाषायुक्त णमोकार महामन्त्र पढ़ाकर बाद में अन्य (लौकिक भाषा गणितादि) विषय का ज्ञान कराना चाहिए।

यही कारण है कि आज भी जब शिशु प्रथम बार जिनदर्शन (देवदर्शन) करता है तब गुरु उसे णमोकार महामन्त्र सुनाते हैं।

**महामन्त्र का फल-**

**जे के वि गया मोक्खं गच्छंति य जे के वि कम्ममलमुक्का।**
**ते सव्वं वि य जाणसु जिणणमोक्कारप्पभावेण॥**

—तच्चवियारो 1/20

**अर्थ**— जो कोई भी आज तक मोक्ष गये हैं, कर्ममल से मुक्त हुए हैं, वह सभी णमोकार महामन्त्र का प्रभाव जानो।

**एक-एक पद 32 दोष रहित होना चाहिए-**

**तत्र व्यंजनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितसूत्राणि कृतानि तेषां तथैव पाठ:।** —भगवती आराधना, गाथा 192, पृष्ठ 144

**अर्थ**— गणधरादि ने बत्तीस दोष रहित सूत्र कहे हैं उन्हें उसी प्रकार मानना व्यंजनशुद्धि है।

**प्रमाणपद[5] (अनुष्टुप् छन्द)**

**एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।**
**मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं होइ[6] मंगलं॥**

**अर्थ**— यह पंच नमस्कार महामन्त्र सर्व पापों का नाश करनेवाला है। सबके लिए मंगलमय है, तथा सभी मंगलों में प्रथम मंगल है।

❖❖

---

5. अष्टाक्षरादिसंख्यया निष्पन्नोऽक्षरसमूहः प्रमाणपदं। —गोम्मटसार जीवकाण्ड, 336
6. 'होइ' पाठ शुद्ध है। 'हवदि', 'हवइ' अशुद्ध हैं।

# निर्मल आत्मा ही समयसार

**नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।**
**चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥**

—समयसार कलश, 1

स्वानुभूति से चकासित, चैतन्य स्वभाव, सत्तात्मक एवं सम्पूर्ण इतर भावों के उच्छेदक समयसार (निर्मल आत्मद्रव्य) को नमस्कार है।

**एक अन्तिम शिखर-केतु**— यह आत्मस्तुति है, आत्मवन्दना है, स्व की अर्चा है; नमस्यों की परम्परा में एक अन्तिम शिखर-केतु है। इस आत्मपरिणति की अवस्था को प्राप्त करने के पूर्व अनेक परद्रव्यों को नमस्कार करते जन्म बीता। अनेक स्थानों पर स्वाध्यायमुख से, देवार्चन विधि से, गुरु-उपासना से, तीर्थ-पर्यटन से, बुद्धि-कौशल से परम नमस्य किसी गूढ़ तत्त्व का अन्वेषण करते रहे। ग्रन्थों के अक्षरों में उसे स्वाध्याय की चलनी से छानकर देखने का अभीक्ष्ण प्रयास किया और तब एक दिन किसी प्रबल प्रशस्त योग से सूर्य-शलाकाओं से रात्रि के तिमिर के सम्पूर्ण घटाटोप का विध्वंस कर निर्मल, निरवद्य आत्मदेव का प्रादुर्भाव हुआ। उसका साक्षात्कार होते ही ग्रन्थ खुले-के-खुले रह गये, प्रवचन के श्लोक अर्धोक्ति में समाप्त हो गये और सम्पूर्ण आत्मभिन्न पटल दिवास्वप्न हो गये। प्रतिक्षण अन्य द्रव्यों को नमस्कार करनेवाले पाणियुगल आज अपने अन्तःस्थ को प्रणामांजलि समर्पित करने के लिए उत्कण्ठित हो उन्मत्त ताल में गाने लगे— **नमः समयसाराय, नमः समयसाराय, नमः समयसाराय।**

**उत्तम रसास्वाद**— यह विलक्षण अनुभव है, अद्‌भुत अमृत स्पर्श है। अमृतस्यन्दी इन्दु-किरणों का स्पर्श क्या इतना आह्लादक हो सकता है? क्या परद्रव्यों का अनन्त समवाय युगपत् मिलकर भी ऐसा अलौकिक आनन्द-मन्दिर निर्माण कर सकता है? इसका उत्तर निषेध-भारती में ही दिया जा सकता है। संसार का कोई शब्द, कोई रस, कोई वर्ण, कोई गन्ध इस रसगन्धवर्णादि-रहित आत्मा से प्रसूत उत्तम रसास्वाद का, अनुपम सुरभि और अवर्णनीय वर्ण का वर्णन नहीं कर सकता। यदि अन्य द्रव्यों में इसकी समता का अथवा अतिशायिता का सामर्थ्य होता तो इसे सर्वभावान्तरच्छित् कैसे कहा जा सकता?

**बहिर्द्रव्यों में रति कैसे ठहरती**– स्वानुभूति तो आज हुई। इससे पूर्व में हुई अनुभूतियों में तन्मय अवस्था की प्रतीति कहाँ हुई थी? यदि तन्मयता की प्रतीति हुई होती तो अतन्मय बहिर्द्रव्यों में रति कैसे ठहर सकती थी?

अहो! संसार-परिभ्रमण में रात्रिन्दिव प्रसक्त रहने वाले काँच-खंडों का संचय कर उन्हें 'मणि-रत्न' संज्ञा प्रदान करते हैं, कतिपय गन्धबहुल लता-वृक्षावली को स्थान-विशेष में आरोपित कर उसे 'नन्दनवन' कहने लगते हैं, स्त्री के लावण्य पर मुग्ध हो उसे 'लक्ष्मी' अभिधान से विभूषित करते हैं और इस प्रकार इसका उत्तर 'धन कन कंचन राजसुख' जैसे सुलभ पदार्थों में रतिमुग्ध होकर उन्हें ही उपास्य, सेव्य और आवश्यक (उपादेय) मानने की भूल कर बैठते हैं; परन्तु संसार की यह भोगावली श्रम से, विनिमय से, बुद्धि से, बल और छल से मिलती रहती है। शास्त्रकारों ने इसे महान् नहीं माना। यदि ये विभूतियाँ तीर्थंकरों के भी हों, तो भी उन्हें इन नश्वर लोकसम्पदाओं से महनीय पदवी नहीं।[1]

**कुबेर-कोष से भी अक्रय्य**– यहाँ 'दुर्लभ' पद का प्रयोग यदि किया गया है तो वह एकमात्र यथार्थ ज्ञान के लिए; क्योंकि वह कुबेर-कोष-सम्पदा से भी क्रय्य नहीं तथा किसी बलाढ्य के बलदर्पविकत्थन से वशीकरणीय भी नहीं।

यदि ऐसा होता तो संसार के धनिक और बलवान् सर्वाधिक आत्मवान् होते। उसकी प्राप्ति के लिए ऋषि-मुनि महाव्रती न होते। आत्मदर्शियों ने ऐसे वचन, मेधा और बहुश्रुत के दम्भ-पर्वतों को ध्वस्त करते हुए स्पष्ट कह दिया–

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**

–कठोपनिषद् 1/2/22

इस आत्मा को प्रवचन से, मेधा से अथवा बहुश्रुत होकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। तब इसे प्राप्त करने का मार्ग कौन-सा है? मानो इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए समयसार-टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा– **चित्स्वभावस्य स्वयमुपलभ्यमानत्वात्।**

**वस्तु कहीं, ढूँढ़ें कहीं**– हे आत्मार्थिन् ! किन प्रपंचों में पड़ गये हो? कहाँ वाद-कोलाहल और कहाँ आत्मा! यह तो वही उक्ति हुई– वस्तु कहीं, ढूँढ़े कहीं अथवा **आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे** आम पूछ रहे हैं और कोविदार को बता रहे हो। आत्मा की शोध करने जा रहे हो और उसे पुद्गल-पर्यायों में खोज रहे हो। पूर्व की ओर जाना चाहते हो और पश्चिम की ओर दौड़ लगा रहे हो। यह तो वांछितोपलब्धि का पथ नहीं। सुनो, विलक्षण उपलब्धि का मार्ग भी विलक्षण

---

1. देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः। मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्।।
–आप्तमीमांसा

होता है। तुम यह सब प्रवचन, मेधा-बल तथा श्रुत-दर्प छोड़ो। कुछ काल मौन रहो तथा अपने में ही उस अन्वेष्टव्य का अन्वेषण करो। धैर्य रखो और प्रतीक्षा करो कि परिणाम क्या निकलता है?

## आत्मा का शान्ति-वन

**विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,**
**स्वयमपि निभृतःसन् पश्य षण्मासमेकम्।**
**हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,**
**ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥**

—समयसार कलश, 34

कोलाहल से दूर आत्मा का वह शान्तिवन है जहाँ आत्मा वक्ता, आत्मा श्रोता और आत्मा ही उस उक्त और श्रुत का ध्याता है। वहाँ का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अपूर्व है। उसे **उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले**— इस पंक्ति द्वारा कथंचित् स्पष्टीभूत कहा जा सकता है। कोलाहल तो मुखरभाव है और मुखरता अन्तःस्थ संगीत को बाहर करने का बलप्रयोग है, जब कि इस आत्मसिद्धि के लिए बाह्यभाव-परिहाणपूर्वक अन्तर्मुख होना आवश्यक प्रतिपादित किया गया है। उपनिषदों में इस आत्मस्थिति का वर्णन करते हुए ऋषियों ने कहा है कि जो आत्माराम हैं, उन्हें स्वव्यतिरिक्त अन्य का सत्ता-बोध ही नहीं। जैसे जल से उत्पन्न बुद्बुद जल में ही खो जाते हैं, वैसे आत्मलीन आत्मा से उठकर आत्मा में ही समाधिस्थ हो जाते हैं। उनको देखने, सुनने, वार्तादि करने के लिए किसी प्रकार के अन्य योग की अपेक्षा नहीं– **यस्य सर्वमात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र कः कं पश्येत् कः कं पृच्छेत् कः कं शृणुयात्।** वहाँ तो ज्ञान-दर्शन-चेतना इतनी स्फीत हो जाती है; कि उसमें अखिल विश्व की वेद्यता का समाहार हो जाता है। वहाँ पहुँचा हुआ पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है; बुद्ध, वर्द्धमान, शिव कहाने लगता है जिसकी स्तुति में तदनुगामियों के प्रार्थना-स्वर अमन्द हो उठते हैं।[2]

**योगी एकाकी विचरण करे**– साधनावस्था में स्वाध्याय, पृच्छा, विचारणा, ऊहापोह, जिज्ञासा आदि को आवश्यक अवश्य कहा गया है। साधु-संगति का भी वहाँ महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह तिमिर में दीपकवत् अथवा पंगु को यष्टि-आलम्बनवत् साधन हैं। एक पर्वतारोही को आरम्भ में आरोहणात्मक श्रम आवश्यक है और आरूढ़ होने पर उस श्रम से विरति अपेक्षित है। अतः उस महत् ज्ञानमय

2. यो विश्वं वेदवेद्यं जननजलनिधेर्भंगिनः पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषंतं,
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा।।

ज्योति को प्राप्त करने के लिए सम्प्रश्नादि पूर्वावस्था में (अनिष्पन्न पर्याय में) आवश्यक हैं। निष्पन्नावस्था में तो **एक एव चरेद् योगी कुमार्या इव कंकणम्** –योगी एकाकी विचरण करे; क्योंकि **द्वयोर्वार्ता भवेन् मिथः** यदि युगल विहार करेंगे तो परस्पर वार्तालाप होगा। वार्ता के लिए वाणी तथा जिह्वा-यंत्र को प्रबुद्ध करना होगा तथा मनोव्यापार को प्रेरक बनाना पड़ेगा। वह मनोव्यापार वार्ता के लिए किन्हीं प्रसंगों का चिन्तन करेगा। वे प्रसंग सदा आत्मिक ही होंगे, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तब चित्त में विकल्पों का प्रादुर्भाव होगा, संशय उठेंगे और गन्तव्य पथ दिग्भ्रान्ति में पड़ जाएगा।[3] इसलिए आत्मार्थी को बहुत अवधानपूर्वक अपना मार्ग, अपनी चर्या, स्थिर करनी चाहिए। यदि ऐसा अपेक्षित प्रतीत हो कि अभी संगतिकरण आवश्यक है तो उसके एक-एक पल को जिज्ञासा की सम्पूर्ति में लगाना चाहिए–

**अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।**
**तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥** –इष्टोपदेश, 49

**गये और आये तो बहुत**– आत्मस्थिति की इस प्रक्रिया की स्थापना में प्रश्न, एषणा आदि उपकारक हैं। आत्मा का दृढ़ श्रद्धान प्राप्त करने के लिए भी तो मार्गबोध चाहिए; नहीं तो– **चलन चलन सब कोई कहे, चलना है किस गाँव,** यह स्थिति महान् अनर्थों का सर्जन कर देगी; क्योंकि यह तो संसार है, संसरणशील है। जगत् है, गतिमय है। यहाँ उपस्थित लोग कुछ जा रहे हैं, कुछ जा चुके हैं। **लोकोऽयं नाट्यशाला** रंगमंच पर कौन अधिक समयपर्यन्त टिक सका है। एतावता जाना अनिवार्य है; परन्तु कहाँ? **सुर नारक नर तिर्यक् मँझार। भव धर धर मर्‌यो अनन्त बार।** गये और आये तो बहुत, परन्तु कहाँ गये, कहाँ तक गये —**अंतिम ग्रैवेयक लौं की हद** तथा जाना कहाँ है— यह परिज्ञान तो अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना निरुद्देश्य अन्ध-भ्रमण क्या वांछनीय होगा?

समय के दर्पण में इस गंतव्य गतिविलास का निरीक्षण करना चाहिए। जो वास्तविक गंतव्य को जा चुके हैं, वे सिद्ध हैं, परमात्मा हैं। उन्होंने मार्ग का स्वयं अनुसंधान किया है। उन्होंने ही समीचीन पथ का बोध दिया है। उनमें कतिपय स्वयंबुद्ध हैं, कतिचन प्रत्येकबुद्ध हैं और अन्य कतिचन बोधितबुद्ध हैं। भगवान् आदिनाथ को नीलांजना नामा दिव्य नर्तकी के आकस्मिक निधन से सांसारिक क्षणभंगुरता का बोध हुआ, अतः वे प्रत्येकबुद्ध परमात्मा हैं। भगवान नेमिनाथ ने पशुओं को एक स्थान पर निगडित देखा और वह विवाह-मण्डप में न जाकर ऊर्जयन्त गिरि पर तपश्चर्यार्थ चले गये, वह बोधितबुद्ध परमात्मा हैं। इसी प्रकार

---

3. जनेभ्यो वाक्ततःस्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात् संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।। –समाधितन्त्र, 72

निमित्त के बिना भी स्वयं आत्मा में उत्कट विराग भावना समुत्पन्न होने से अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर वर्द्धमान ने निवृत्ति-मार्ग स्वीकार किया, वे स्वयंबुद्ध सर्वज्ञ भगवान् हैं। इन्होंने जाना है किस ठौर?— इस प्रश्न का समाधान प्राप्त किया और विश्व को वह परम मार्ग बताया। वे नमस्य हैं, नित्य प्रणम्य हैं।

**पत्तेयसयंबुद्धा बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा।**
**पत्तेयं पत्तेयं समये समयं पडिवदामि सदा॥** —सिद्धभक्ति, 7

उन्होंने समय को अपना बना लिया, स्वाधिकार में ले लिया। अब समय उनकी सम्पत्ति हो गया। वे स्वयं समयमय अथवा समय हो गये। समय का कालपरक अर्थ गौण हो गया और समय के समय रूप में परमात्मा का अभिधान अन्वित होकर यशोभाजन हो उठा– **परमप्पो खलु समओ।**

**समीचीन पथ-बोध**– तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानियों की इस विधि में आकर समय ने अपने आपको पर्याप्त समुन्नत किया। वह अब कालाणुमात्र नहीं रहा जैसा कि 'प्रवचनसार' का वचन है–

**वदिवदितो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।**
**जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी॥** —2/47
**एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।**
**दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स॥** —2/49

आकाश के एक प्रदेश में मन्द गमन से गति करनेवाले पुद्गल-परमाणु को जितना कुछ सूक्ष्म काल लगे तत्सम कालपदार्थ समयनाम पर्याय कहा जाता है। उस पर्याय से पर और पूर्व जो नित्य पदार्थ है, वह कालनाम पदार्थ है। कालद्रव्य के बिना शेष पाँच द्रव्यों के निर्विभाग अंशरूप प्रदेश एक, दो, बहुत, असंख्यात तथा अनंत सदा रहते हैं। कालद्रव्य का समय पर्याय रूप एक प्रदेश निश्चय कर जानना चाहिए।

**नये अर्थ की प्रतिष्ठा**– समय की इस आत्मानुभूति-रसमयी परिणति पर, उसके विशिष्टार्थपरक होने पर हठात् एक धर्मसूक्ति का स्मरण हो उठा है। श्री वादिराज एकीभाव-स्तोत्र में मानस्तम्भ पर एक सदुक्ति का गुम्फन करते हुए कहते हैं कि यदि मनुष्य-भव के दुरभिमान का स्तम्भन अथवा शमन करने में मानस्तम्भ की समर्थता है तो वह इसलिए नहीं है कि स्तम्भ की तुंगता अधिक है किंवा उसके शिल्प में मणि-राशियों का प्रचुरता से उपयोग किया गया है; क्योंकि रत्नादि जड़ द्रव्य तो अन्यत्र भी पुष्कल मिल जाएँगे तथा एक मात्र ऊँचाई को ही उसका हेतु मानें तो पर्वतादि का उच्छ्राय उससे कहीं अधिक है, अतः मानस्तम्भ की रत्नमयता और तुंगता मनुष्यों के लिए अभिमान-रोग-शमन-हेतुभूत नहीं हैं। उसमें मुख्य हेतु जिनेन्द्र भगवान् की सन्निधि है। उस सन्निधि ने ही मानस्तम्भ को मानस्तम्भत्व

प्रदान किया है–

**पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्ति-**
**र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः।**
**दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां,**
**प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः॥** –एकीभावस्तोत्रम्, 9

शिव और शव में प्राणशक्ति की उपस्थिति-अनुपस्थिति का ही तो भेद है। यावत् प्राणों की विद्यमानता है तावत् यह जड़, पुद्गलस्कन्ध शरीर में शिव है और जिस क्षण इससे प्राणवियुक्ति हो जाती है, यह शव हो जाता है। उत्तम के सन्निधान से वस्तु में उत्तमत्व का आविर्भाव हो जाता है। पाषाण भी प्रतिष्ठाविधि के अनन्तर देवत्व ग्रहण कर लेता है। समय शब्द के साथ परमात्मार्थ का आविर्भाव करनेवालों ने इसकी निरुक्तियों में अनुपम सुखसंवर्धक भावराशियों की सृष्टि की है।

**समयो खलु णिम्मलो अप्पा**– आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समय' का अर्थ निर्मल आत्मा (परमात्मा) किया है। रयणसार की 163वीं गाथा कि रत्नत्रय ही गण है, मोक्षमार्ग ही गच्छ है, गुणों का संघात ही संघ है तथा निर्मल आत्मा ही परमात्मा है[4]–

**रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्ख-मग्गस्स।**
**संघो गुणसंघादो, समओ खलु णिम्मलो अप्पा॥** –रयणसार, 158

वस्तुतः निर्मल आत्मा की प्राप्ति को ही सर्वोपरि ध्येय मानने वालों को इतर हेयद्रव्यों के समान गण, गच्छ और संघ भी अन्ततः त्याज्य हैं। जहाँ निर्ग्रन्थ अवस्था अशेष ग्रन्थिविमोक्षकारिणी है, वहाँ निर्मल आत्मद्रव्य के अतिरिक्त कौन स्वकीय है? गण, गच्छों का भेद लेकर उन्हीं के साथ अपना अभेदान्वय रखनेवाले आत्मा में निर्मलता कैसे ला पायेंगे? क्योंकि उनके आत्मा में तो गण, गच्छ, संघ और उनके नियमादि ओतप्रोत हैं। सम्भव है, आत्मा से भी अधिक गण-गच्छादि में व्यवहार करनेवाले परसमय-निष्ठों को लक्ष्य करते हुए ही आचार्य ने उक्त पारमार्थिक नवीन निश्चयात्मिका व्याख्या की हो तथा परसमयों पर मधुर कटाक्ष किया हो।

**समय ही सामायिक**– भावसामायिक का निरूपण करते हुए मूलाचार में प्रतिपादित किया गया है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तपों से जीव के एकीभाव को समय कहते हैं। इस इत्थंलक्षण समय को ही सामायिक समझो–

**सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं जं पस्सत्थसमगमणं।**
**समयं तु तं तु भणिदं तमेव सामाइअं जाणे॥** –7/23

---

4. णाणम्हि दंसणम्हि य चरणम्हि य तीसु समयसारेसु।
सक्कोदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधणी सो।। –भगवती आराधना, 91
–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप समयसार-आत्मा है। आचार्य वही है जो समयसारभूत आत्मा में संघ को स्थापित कर सके।

यह समय में स्थित होना ही सामायिक है। जो प्रतिक्षण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं संयम-तपों से अपने साथ ऐक्य की प्रतीति करता है तथा परीषहों को जीतकर, दुर्लेश्या, दुर्ध्यान आदि से अबद्ध रहता हुआ आत्मध्यान-मग्न है, वह सामायिकवान् है। वही वास्तविक मोक्षपथिक है। मोक्षार्थी का स्थितिकेन्द्र आत्मा, ध्येय आत्मा, अनुभवनीय आत्मा तथा विहरणीय-विचारणीय भी आत्मा। इस आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य श्वपचवत् अस्पृश्य। आत्मा राजा और आत्मा प्रजा। आत्मा ही राष्ट्र और आत्मा ही लोक। आत्मा ही पाचक और आत्मा ही भोक्ता। आत्मा ही दृश्य और आत्मा ही दर्शक। ऐसा एकान्त प्रदेश, जहाँ अन्यों का प्रवेश निषिद्ध।

आचार्य पूज्यपाद ने 'समय' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए लिखा है– **समेकीभावे वर्तते। तद् यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः। समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।** सम् यह संगतिपरक शब्द है। जैसे संगतं घृतम् का अर्थ एकीभूत घृत है। समय शब्द का पूर्वार्द्ध यही एकीभावद्योतक सम् उपसर्ग है। इसका उत्तरपद अय है। अय का अर्थ गति, गमन है। **समुदायो ह्यर्थवान् समुदायस्यैकदेशो निरर्थकः** इस वैयाकरणोक्ति के अनुसार सम् और अय से निष्पन्न समय का अर्थ एक हो जाना है। यह एकीभाव सजातीय में ही घटित होता है, विजातीय में नहीं। जैसे तिल-तण्डुलों को एकत्र करने पर भी वे पृथक्-पृथक् प्रतीत होते रहेंगे; अतः आत्मद्रव्य एकाकी होने से उसका किसी इतर के साथ एकीभाव नहीं हो सकता। यह आत्म-पुद्गल के मिश्रण का प्रत्याख्यान ही आत्मा का समय है। इस समय की साधनावस्था सामायिक है। सामायिक ही समय-धर्म है। जितना समय समय-चिंतन (आत्मस्थिति) में उपयोगबद्ध है, उतना ही सामयिक भी कहा जा सकता है, जिसका अर्थ प्राप्तकाल है। **समयस्तदस्य प्राप्तम्** (जैनेन्द्र व्याकरण, 3/4/98) का तात्त्विक विमर्श यही संकेत ध्वनित करता है। अतः जितना समय, समय को दिया गया वह सामयिक है और सामायिक भी, किन्तु समयतन्मयता से बहिर्भूत समयोपयोग असामयिक और असामायिक ही है। श्री समन्तभद्रस्वामी ने समयज्ञ उन्हें ही माना है जो समय (आगम तथा आत्मा) को जानते हैं— **समयं जानंति समयज्ञाः** (रत्नकरण्ड श्रावकाचार 4/8) यहाँ धर्म प्रेरणा को उपोद्वलित करनेवाले करुणाशील आचार्य समय में स्थितीकरण के लिए यदि अधिक काल कोई न दे सके, उसे अत्यल्प समय भी निकालकर सामायिक करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं कि वह भी सामायिकवान् है जो अपने केशबन्ध, मुष्टिबन्ध, वस्त्रबन्ध और पर्यंकासनबन्ध परिमाण समय को भी स्वोपयोग में स्थिर करता है। इस विलक्षण साधर्मीस्नेह के सुभाषित हैं–

**मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्यंकबन्धनं चापि।**
**स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः॥** –रत्नकरण्ड 4/8

**अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्,**
**अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्।**
**पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन,**
**त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥** –समयसार कलश 23

हे भव्य! तत्त्व की जिज्ञासा के लिए किसी प्रकार से भी मृतक अवस्था का अनुभव करते हुए भी अपने चैतन्य पुरुष को इस जड़ पुद्गलावच्छिन्न देह से पृथक् देखने का प्रयत्न मुहूर्त भर के लिए ही करो। ऐसा प्रयत्न करने से अपने स्व को शरीर से अलग जानकर तत्क्षण ही तुम इस मूर्ति के साथ कल्पित अपने एकत्व-मोह से मुक्त हो जाओगे।

**सव्वे जीवा णाणमया, जो समभाव मुणेइ।**
**सो सामाइय जाणि फुडु, जिणवर एम भणेइ॥** –योगसार, 99

सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय हैं (लब्धि-अक्षर से केवलज्ञानपर्यन्त)— इस प्रकार का जो समभाव हैं, वह सामायिक है– ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन है।

**अयनमयः सम् एकत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समयः। समय एव सामायिकम् स्वार्थे इकण्। अथवा समयः प्रयोजनमस्येति सामायिकम्। प्रयोजनार्थे इकण्। कोऽर्थः देववन्दनायां निःसंक्लेशं सर्वप्राणिसमताचिंतनं सामायिकमित्यर्थः।**

–तत्त्वार्थवृत्ति 7/21

'समय' शब्द के साथ इकण् प्रत्यय से स्वार्थ में 'सामायिक' पद सिद्ध किया गया है, जिसका अर्थ हुआ एकरूप से परिणमन करना। यह समय ही सामायिक है। अथवा प्रयोजन अर्थ में इकण् प्रत्यय करने पर समय अर्थात् एकत्वपरिणति ही जिसका प्रयोजन हो, वह सामायिक है। तात्पर्य यह कि देव-वन्दना आदि काल में विना संक्लेश के सब प्राणियों में समता आदि का चिंतन करना सामायिक है।

**एकत्वेन गमनं समयः। प्रतिनियतकायवाङ्मनस्कर्मपर्यायार्थं प्रतिनिवृत्तत्वा-दात्मनो द्रव्यार्थेनैकत्वगमनमित्यर्थः।** –तत्त्वार्थराजवार्तिक 7/21

अर्थात् मन, वचन और काय की क्रियाओं से निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्य में लीन हो जाना समय है।

**अनन्ताः सामायिकसिद्धाः इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति। कथम्? ज्ञस्वभाव-स्यात्मनस्तत्त्वं श्रद्दधानस्य सामायिकचारित्रोपपत्तेः। समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम्। समय एव सामायिकं चारित्रं सर्वसावद्यनिवृत्तिरिति अभेदेन संग्रहादिति।**

–तत्त्वार्थराजवार्तिक, 49

सामायिक से सिद्धि प्राप्त करनेवाले अनन्त सिद्ध भगवान् हुए हैं— यह कथन भी सम्यक्त्रयी समर्थक है; क्योंकि ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मा जब तत्त्वश्रद्धान-प्रवृत्त

होता है तब उसे चारित्ररूप उपपत्ति होती है; अतः समय, अभेद और एकत्व तीनों शब्द समानार्थक हैं। समय ही सामायिक है, चारित्र है, सर्वसावद्यनिवृत्ति है– इत्यादि अर्थ अभेद से संगृहीत हैं। इस आशय पर समयसार-कलश में अमृतचन्द्रसूरि की एक सदुक्ति पठनीय है–

**एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-**
**स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।**
**तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्,**
**सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति॥ 240॥**

इस आत्मतन्मय स्थिति को आचार्य माघनन्दी ने समयसार-स्वरूप कहा है— **समयसारस्वरूपोऽहम्** (–ध्यानसूत्र, 45), परन्तु यह उपलब्धि नितान्त वाचिक नहीं है। एक असत्यभाषी अपने विषय में यदि उच्चस्वर में अपने सत्यवक्ता होने की घोषणा करे तो वह परिचितों में परिहास-पात्र ही होता है, क्योंकि वास्तविकता से असंस्पृष्ट शब्दों का अर्थ व्याहत हो जाता है। ऐसे पुरुषों को लक्ष्य करते हुए आचार्यों ने कहा है कि वास्तविक तत्त्वज्ञान से अपरिचित निर्मल समयसार का दर्शन नहीं कर पाते। समयसार-कलश में आचार्य कहते हैं–

**ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना,**
**लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।**
**नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा,**
**प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते॥ 241॥**

तत्त्वावबोध का यह मार्ग भिन्न है और द्रव्यलिंग-ममकार-मीलितों का मार्ग अलग है। द्रव्यलिंगी बाह्यचेतनासक्त होता है तो भावलिंगी अन्तश्चक्षु। समयसार की स्थिति आत्मा है और अन्यासक्त का रतिकेन्द्र पुद्गल-परिवार है। आत्मभावी ध्यानस्थ होकर सोचता है। योगवासिष्ठ में लिखा है–

**नाहं रामो न मे वांछा भोगेष्वपि न मे मनः।**
**शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥**

मैं राम नहीं, भोगों में मेरा मन नहीं। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ और जिनेन्द्र प्रभु के समान आत्मा में ही स्थिति चाहता हूँ; क्योंकि राम यह नाम तो मेरे इस पुरुषपर्याय का संकेतपद है, यह नश्वर है। इस नाम के साथ अपने सम्पर्क की भावना करना बहिर्दृष्टि है, मोह-भावना है, अहंकार-प्रबोध है। रामोऽहम् कहते ही सारे लौकिक दर्प उपस्थित हो जाते हैं कि मैं राम हूँ—अयोध्यापति, रावणजेता, रक्षःसंहारकारी, पितृआज्ञापालक, लोकनमस्कृत और और जाने क्या-क्या? जितना बड़ा व्यक्ति उतने दीर्घ-दीर्घतर उसके विभाव-संयोग और जितने दीर्घ-दीर्घतर विभाव-संयोग उतना अधिक बन्धन, मोह, ममता तथा आर्त्त-रौद्र। इन सम्पूर्ण

उपाधि-विभावों से आत्मचेतना का क्या सम्बन्ध? **आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः**— आत्मा अन्य है और पुद्गल अन्य है। पुद्गल स्थूल है, कृश हैं, कृष्ण है, शुक्ल है, मरणधर्मा है, क्षयी है। ये बाह्य विकल्परूप आत्मा में नहीं हैं। वह इस दैन्य से बहुत ऊपर है— अमर, अमृतमय, आनन्दस्वरूप, ज्ञानमय, चैतन्य। इसीलिए मुनिवृत्ति अपनाने वालों ने दिगम्बर होकर, क्षुत्पिपासादि सहन कर, अनिकेत व्रत लेकर, इन्द्रियों का दमन कर देह को अकिंचन बनाया और आत्मा को परमवैभव (मुक्तिश्री) प्रदान किया। देह अकिंचन है और आत्मा परम सम्राट् –यह निर्ग्रन्थमुद्रा आत्मनिष्ठों की वह सांकेतिक भाषा है जिसमें अपरिमित आनन्द के छन्दों की सृष्टि हुई है–

**णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।**
**कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥** –प्रवचनसार 2/68

यह देह, मन, वाणी आत्मा नहीं है, समय नहीं है। न यह उनका कारण है और न कर्ता, कारयिता तथा अनुमन्ता है; क्योंकि आत्मा पुद्गल से भिन्न कहा गया है। न्यायशास्त्र कहता है– **घटो न भवति पटः, पटो वा न भवति घटः,** घट है वह पट नहीं होता और पट है वह घट नहीं होता। जब दो पुद्गल द्रव्य सहसा परस्परिणति नहीं करते तब विशुद्ध आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्यों में परिणमन कैसे करेगा? आत्मा के नाम रूप से अतीत वैशिष्ट्य का ज्ञान रखनेवालों ने इसी आशय को सहस्रधा परिस्फुट करते हुए आत्मा को चिदानन्द वीतराग कहा है– **चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्।**

जब जीवात्मा शुद्ध निश्चयनय से पृथक् होकर व्यवहारनय में प्रवृत्त होता है तब अपने को **रामोऽहं कृष्णोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहं पुमानहं स्त्री-अहं** इत्यादि कहता है, परन्तु पारमार्थिक निश्चय भाषा में अहं के साथ ये पुद्गलविभाव सम्बद्ध नहीं रहते। जब कुम्भ का निर्माण होता है तब उसके उपादान और निमित्त कारण अपेक्षित रहते हैं। उस समय मिट्टी का पिण्ड, चक्र, चीवर, दण्ड, कुलाल एवं सूत्र आवश्यक हैं; परन्तु अग्नि-पक्व होने पर घट को जब पानी भरने के प्रयोग में लिया जाता है तब उन कुलाल-चक्रादि की अपेक्षा नहीं रहती। आत्मा जब अपने शुद्ध द्रव्य का चिन्तन करता है, तब वह भी अपने स्थूल नाम-रूपों की संज्ञा से अलग रहता है। आत्मचिन्तन में **क्षत्रियकुमारो रामोऽहं ध्यायामि**— मैं क्षत्रिय-पुत्र ध्यान करता हूँ —ऐसा कथन सम्यक् नहीं है, क्योंकि ध्याता आत्मा है, वह चेतन है। 'क्षत्रिय-पुत्र वीर' नाम से परिचित पिण्डात्मक देह जड़ है, वह ध्यान कैसे कर सकता है? अतः **आत्मा आत्मानं ध्यायामि** यह कथन युक्त है–

**मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते।**
**उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते॥**

–तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 2/48

जाति, लिंग, नाम, द्रव्य आदि में समय (आत्मा) का आग्रह करनेवाले बहिरात्मा हैं, उन्हें मूढ़दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। आत्मप्रदेश से बाहर परिभ्रमण करते रहने से उन्हें आत्मपद में प्रतिष्ठित होने का लाभ नहीं मिलता–

**जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।**
**तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥** –समाधिशतक, 89

इस परपरिणति और स्वपरिणति को शास्त्रकारों ने अनेक विधियों द्वारा समझाने का अपूर्व प्रयास किया है। जैसे मधुर पकवान में अनेक नाम-रूप जातियाँ होती हैं; परन्तु सबमें मिष्टत्व शर्कराजन्य ही होता है वैसे शास्त्रोपदेश के विविध सन्दर्भ अनेक वर्णन-शैली में भिन्न प्रतीत होते हुए भी **जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः** का उपबृंहण मात्र हैं। परिणामतः स्वपरिणति श्लाघ्य है और पररति त्याज्य है। इसे स्वसमय और परसमय नाम से निरूपित करते हुए प्रवचनसार की गाथा है–

**जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।**
**आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥** –2/2

**शास्त्र नहीं, शास्त्राभास**– परिणामों में परत्व को स्व में अध्यवसित करनेवाले परसमयिक हैं तथा जो आत्मा के शुद्ध स्वभाव में स्थित हैं वे स्वसमय हैं। संसारी जीवों की परसमय-रति प्रायः अधिक होती है। संसार के चाकचिक्य उत्पन्न करनेवाले पदार्थ उन्हें सहसा आकर्षित कर लेते हैं और परिणामस्वरूप ऐसे पुरुष धनपतित्व, नरपतित्व, चक्रवर्तित्व आदि लोक में देहसुख प्रदान करनेवाले पौद्गलिक चक्रव्यूहों में घिर जाते हैं। उन्हें ऐसा मति-विभ्रम होने लगता है कि देवता धन-सम्पत्ति देते हैं, शास्त्रों में लौकिक सुखों का वर्णन है और गुरुदेव का पुरुषार्थ हमें संसार-सागर से पार उतारने वाली नौका है; परन्तु सत्य इससे भिन्न होता है। शास्त्रों का विषय तत्त्वज्ञान-संग्रह है, गुरुदेव मार्गोपदेष्टा हैं और सुखदाता अथवा दुःखप्रसविता देव नहीं, अपने कर्म हैं। **परो ददातीति विमुंच शेमुषीम्।** यह सम्यग्दृष्टि की दर्शनलब्धि है। जहाँ धनादि नश्वर पदार्थों की स्तुति है, वे शास्त्र नहीं, शास्त्राभास हैं और जहाँ सुख-दुःख-प्रदाता देव बताये गये हैं, वह कर्म-मीमांसा से अनभिज्ञ विषय देवाभास है। ऐसे गुरु जो सर्व शिष्य-समूह के लिए मोक्षाधिकार लिये हुए हैं, वे कोई मिथ्यागुरु होंगे– सम्यग्दृष्टि भव्यों को इन तीनों क्षेत्रों में अपनी ही अमूढ़दृष्टि का सहयोग लेना चाहिए। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में चेतावनी के स्वर स्मरणीय हैं–

**लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।**
**नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्॥ 26॥**

किं च– **इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।**
**एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत्॥ 24॥**

**नय-नदियाँ**– परसमय का परिज्ञान यदि परसमयनिवर्तक और स्व-समयप्रवर्तक होता है तो यह बाधक नहीं, प्रत्युत तत्त्वज्ञान में सहायक है। ब्रह्म को धारण करने के लिए अब्रह्म का ज्ञानपूर्वक परित्याग व्रती को ब्रह्म के मिथ्यापक्ष (अब्रह्मचर्य) से परित्राण ही प्रदान करता है, परन्तु परसमय के साथ मैत्री करना शोचनीय है, आत्मघात-सदृश है। जानने मात्र पर्यवसितवृत्ति तो सर्वज्ञ भगवान् में भी है। वे परसमयों को तथा स्वसमय को जानते हैं; परन्तु तन्मयता उनकी स्वसमय में ही है–

**जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।**
**केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥** –नियमसार, 158
**दव्व-गुण-पज्जयेहिं जाणदि पर-सग-समयादि-विभेदं।**
**अप्पाणं जाणदि सो सिव-गदि-पहणायगो होदि॥** –रयणसार, 139
**दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो।**
**ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो॥** –समयसार, 143

केवली भगवान् श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार और निश्चयनय-पक्ष को जानते अवश्य हैं; क्योंकि सर्वज्ञ हैं, किन्तु सहज उल्लसित अमन्दआनन्द-कल्लोल-संकुल अपने अखिल ज्ञानसिन्धु में नित्य निमग्न रहने से किसी नयपक्ष का तन्मयत्वेन ग्रहण नहीं करते हैं; क्योंकि नयवाद व्यवहार है और व्यवहार परसमय है–

**जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति णयवाया।**
**जावइया णयवाया तावइया चेव हुंति परसमया॥** –सन्मतिसूत्र 3-47

इन अपरिशुद्ध नयों की परिसंख्या नहीं है। ये तो निश्चयसिंधु को प्राप्त करानेवाली नदी की सहस्र धाराएँ हैं। धाराओं से समुद्र में पहुँचा जा सकता है, परन्तु धाराएँ समुद्र नहीं हो सकतीं। आचार्य सिद्धसेन द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में इन नय और निश्चय का विभेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

**उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः।**
**न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥** –4/15

**साक्षात् समयसार**– निश्चय के एकान्त प्रदेश में वीतरागभाव की अव्याहत स्थिति है। वहाँ नयपक्ष की संकल्पविकल्पचातुरी का प्रवेश निषिद्ध है। इन्हें, वहाँ पहुँचा हुआ पुरुष इन्द्रजालवत् समझता है, सिन्धु-लहरियों-सा अनुभव करता है। वह अन्तर्बहिः समरस होने से इन एकदेशव्यापी परसमयों से नितान्त असंस्पृष्ट रहता है। आत्मा के सम्यग्दर्शनज्ञानरूप शुद्ध उपयोग में स्थित रहनेवाला नयपराङ्मुख होकर साक्षात् समयसार हो जाता है। समयसार और सम्यग्दर्शनज्ञान एकानुप्रविष्ट समानार्थी शब्द-युगल हैं। जो समयसार है, वही सम्यग्दर्शनज्ञान है। यह समयसार केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का पुंज है। यहाँ निश्चय का एकमात्र नित्यरम्य प्रदेश है; किन्तु नयपक्ष का लेश भी नहीं। विकल्पों के गहन वन को पार

करने पर विज्ञानघनस्वभाव इस समयसार रूप आनन्दभूमि की प्राप्ति होती है–

**कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं।**
**णयपक्खादिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो॥**
**सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।**
**सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो॥**

–समयसार, 142, 144

**आत्मा की शोभा : स्व-परिणति**– प्रत्येक वस्तु स्वस्वरूप में अवस्थित शोभायमान होती है। अग्नि का दाहकत्व उसका स्वधर्म, स्वगुण होने से शोभनीय है। जल का शीतत्व-पावनत्व गुण उसकी श्लाघा है। इसी प्रकार आत्मा की शोभा उसकी स्वपरिणति अथवा मुक्तावस्था है। उत्तम-मध्यम-अधम पर्यायधारी होकर देव-मनुष्य-तिर्यक् योनियों का सहचारित्व आत्मा के स्वाभाविक गुणों का आवरण करता है, अल्प बनाता है। आचार्यों ने समय की व्याख्या करते हुए कहा है– **समयते इति समयः** अर्थात् एकीभाव से अपने गुणपर्यायों में जो अपना परिणमन करे, वह समय है। एतावता धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य स्वस्वधर्मस्थिति से सुन्दरता प्राप्त करते हैं। यह सत्य और सुन्दर होते हुए भी जीव अनादि काल से पुद्गल के साथ साहचर्य करने से असुन्दर होकर बन्धदशा को प्राप्त हो रहा है। यह इसका परसमय है, परपरिणति है, मोक्षक्षय है, संसारपरावर्तन है।

## वह स्व-सुख नहीं

**एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे।**
**बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि॥** –समयसार, 3

एकत्व-निश्चय में प्राप्त समय सब लोक में सुन्दर है, इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा निन्दा करानेवाली है। आशय यह है कि सामान्यतया सभी पदार्थ 'समय' शब्द से कहे जाते हैं; क्योंकि 'समय' शब्द का अर्थ है– **समयते इति समयः** अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त हुआ जो परिणमन करे, वह समय है। इसलिए धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य स्वरूप लोक में जो कुछ पदार्थ हैं वे सभी यद्यपि अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न हुए अपने अनन्त धर्मों का स्पर्श करते हैं, तथापि परस्पर में एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते। यद्यपि वे अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाह रूप स्थित हैं तथापि सदाकाल निश्चय से अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। अतएव विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्य (स्वभाव से विपरीत कार्य और स्वभावरूप कार्य) दोनों में सदा सब परस्पर उपकार करते हैं; परन्तु निश्चय से एकत्वनिश्चय प्राप्त होने से ही सुन्दरता प्राप्त करते हैं। यदि वे द्रव्य अन्य द्रव्यरूप परिणमनशील हो जाएँ तो संकर-व्यतिकर आदि सभी दोष उनमें आ जाएँ। इसप्रकार सब पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व सिद्ध होने पर

'जीव' नामक समय को बंध की कथा से विसंवाद की आपत्ति होती है; क्योंकि बन्ध कथा का मूल कारण पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित रूप पर-समयता से उत्पन्न जीव में पर समय-स्वसमयरूप द्विविधता आती है। अतः समय का एकत्व होना ही सिद्ध होता है। सारांश यह कि निश्चय से सब पदार्थ स्व-स्वभाव-स्थित होने से शोभा पाते हैं, परन्तु जीव नामक पदार्थ अनादि काल से पुद्गल कर्म के साथ बंध प्राप्त है, उससे इस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, इसलिए शोभा नहीं पाता; अतः एकत्व होना इसके लिए शोभा-जनक है।

यह एकत्व-निश्चय-प्राप्त समय सब लोक में सुन्दर है। वस्तु यथा-जात-रूप ही उसका सौंदर्य होता है। परानुप्रविष्ट होने पर उसमें कृत्रिमता तथा परगुण का समावेश हो जाता है जो उसके मूल सौंदर्य को संकीर्ण तथा गौण बना देता है। अपने स्वाभाविक रूपाभिजात्य का विस्मरण कर उसे परकीय गुणसन्निवेश से उत्कृष्ट मानना स्वगुण-गौरव का तिरस्कार नहीं तो क्या है? एक भारतीय जब अपनी मातृ-भाषा का परित्याग कर 'मेकाले' की भाषा में गर्वानुभूति करता है; तब वह अपनी भाषा को हीन, अपने वेष को अभद्र मानकर उस परच्छन्द के साथ होने में कथंचित् अपने को सुखी मानता है। उसका वह सुख स्वसुख नहीं, परसुखसंकर दोषमात्र है। परसमय को अंगीकार करने से स्वसमय का तिरस्कार होता है। यह उपेक्षा जीव के लिए अधोगतिकारिणी होती है।

**परम वैभव की यशःपताका**– इस संदर्भ में समय के तीन भेद किये जा सकते हैं– कुसमय, सुसमय और स्वसमय। इन्हें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा भी कह सकते हैं। ये ही आत्मा के अशुभ परिणाम, शुभ परिणाम तथा शुद्ध परिणाम हैं। अशुभ परिणाम कुगतिदायी हैं तथा शुभ परिणाम सुगतिप्रद हैं; किन्तु मुक्ति शुद्ध परिणाम का ही परिणाम है। स्वतंत्रता की प्राप्ति, आत्मतंत्र पर स्वाधिकार अथवा सर्वबंधराहित्य स्वसमय का वरदान है। जीव जब तक अशुद्ध दशाओं में संचरण करता है तब तक विशुद्धि नहीं पा सकता–

**काजल की कोठरी में केतो हू सयानो जाय,**
**काजल की एक रेख लागी है पै लागी है।**

कज्जल के अंगण और कज्जल की भित्तियों में बंदी हुआ व्यक्ति उसकी कालिमा से कहाँ बच पाता है? जो विकृतियों की उपासना करेगा, उसे विकृतियाँ मिलेंगी और जो सुकृतमार्गी होगा, उसको सुकृतों की उपलब्धि से कौन वंचित कर सकता है; क्योंकि **कर्माधीनमिदं जगत्** —यह संसार कर्म की शलाका से लिखा हुआ चित्रपट है। यदि इस लोक में किसी का मुख वक्रविद्रूप है तो वह कर्म-दर्पण की छाया ही है। कु और सु पद कुत्सा और प्रशंसा के वाचक हैं तथा कुत्सा और प्रशंसा के भाव नितान्त जागतिक हैं। इनसे ऊपर उठकर ही लोकाकाश तथा

धर्मास्तिकाय की चरम सीमाओं पर स्थिर आसन लगाया जा सकता है। वह स्थिरासन स्वसमय की परिणति है, आत्मा के परम वैभव की यशःपताका है, घोर संसारवारिधि-सन्तरण का पौरुषाभिलेख है। इसी परिणाम-त्रयी की व्याख्या में कहा गया है–

**सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणिदमण्णेसु।**
**परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥** –प्रवचनसार 2/89

**अन्तिम गन्तव्य**– परमागम में पुण्य को शुभ परिणामी एवं पाप को अशुभकारी बताया गया है; किन्तु सर्वदुःखक्षयकारी परिणाम तो आत्मा का अनन्य परिणाम ही है। जब तक जीव बहिरात्मा रहता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। जैसे चलती हुई दीवार-घड़ी का पेण्डुलम भी चलता रहता है, वैसे ही बहिरात्मा का मन भी चलायमान रहता है। चंचलता की यह स्थिति तब तक बनी रहती है, जब तक बाहरी भटकावों की परिसमाप्ति नहीं होती और बाहरी दुष्पर्यटन का अवसान तब तक नहीं होता जब तक यह जीव स्वस्थित नहीं हो जाता। शुभ और अशुभ परिणाममय औदयिक भावों की सत्ता के रहने तक जीव सातावेदनीय तथा असातावेदनीय कर्मों के बन्धयुगल से मुक्त नहीं हो सकता। उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिक भावों से ही बंध की निर्जरा सम्भाव्य है। कर्मों की निर्जरा होने पर मोक्षगामी को रागद्वेष-रहित परम पारिणामिक भाव की सम्प्राप्ति होती है जो शुभाशुभ एवं बंध-मोक्षपरिणतियों से असंस्पृष्ट है। जीवात्मा का अन्तिम गन्तव्य मोक्ष है, जिसे स्वसमय कहा गया है एवं उसकी अन्तिम भावानुभूति परम-पारिणामिक भाव हैं, जो उसके अपने परिणाम हैं। यह उपलब्धि दृष्टि-भेद से सम्भव होती है। जो आत्मा तथा पुद्गल के भिन्नत्व को उनके पृथक्-पृथक् धर्मानुबंध से जानता है कि आत्मा नित्य है, जड़ से भिन्न है तथा परद्रव्य अनित्य है, उसकी दृष्टि को सम्यक् (समीचीन) कहा गया है। यह सम्यक्त्व यथार्थग्राही और यथास्थित का ज्ञाता है। जब तक रज्जु में सर्प की भ्रान्ति है, इन्दु-ज्योत्स्ना में परिलक्षित शुक्ति में रजत-प्रत्यय है, तब तक वह दृष्टि, वह ज्ञान निर्भ्रान्त नहीं। शरीर में आत्मा का एकीभाव भी ऐसी ही भ्रान्ति, मूढ़ता है जिसमें सम्यक्त्व नहीं।

**णाणा धम्मेहिं जुदं अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो।**
**जं जाणेदि सजोगं तं णाणं भण्णदे समये॥** –कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 253
**परदव्वं देहादि कुणइ ममत्तं च जाव तस्सुवरिं।**
**परसमयरदो तावं बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं॥** –तत्त्वसार 34

**पिंजरा मोह का, तोता परिग्रह का**– इस परसमय को लाक्षणिक भाषा में मूर्च्छा कहा गया है। मूर्च्छा विसंज्ञा का नामान्तर है। जिसे संज्ञा नहीं, चेतना नहीं, वह विसंज्ञ है, मूर्च्छित है। यह मूर्च्छा मोहावस्था है। सराग परिणति है। जो जितना

परिग्रहानन्दी है, वह उतना ही मूर्च्छित है। प्राचीन काल में वृद्ध नानियाँ बच्चों को किसी एक डायन की कथा सुनाया करती थीं कि उस डायन के प्राण सात समुद्र पार एक महल में पिंजरे में बन्द तोते में है। यदि उस शुक को कोई मार दे तो वह डायन तत्क्षण मर जाएगी। मूर्च्छा भी जीव के साथ लगी हुई एक डायन है जिसके प्राण परिग्रह-शुक की सुरक्षा से की जा रही है। संसारियों के प्राण प्रायः अपने देह में नहीं होते; वे इन्हीं भूमि, हिरण्य परिवार आदि परिग्रहों में होते हैं। ऐसे बहिरात्मा इस देह को ही सर्वस्व मानकर उसकी रक्षा के अचिन्त्य उपाय करते रहते हैं। यह जीव तो मुक्तावस्था से पूर्व तक वैसे ही बँधा हुआ है; किन्तु अज्ञानविमूढ़ उसको परिग्रहादि में और अधिक बाँधकर रखना चाहता है। वह देह की रक्षा के उतने उद्दाम उपाय करता है, जितने कोई काच-पात्र की रक्षा में करता है; परन्तु गिरते ही चकनाचूर हो जाने वाला काच क्या सर्वकाल में सुरक्षित रह सकता है?

**दृढ़ात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।**
**मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम्॥** —समाधितन्त्र, 76

**परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिसु जस्स पुणो।**
**सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि॥** —भावना, 20

समय का ज्ञाता तो वह है जिसने **नाहं देहः कुतो मृत्युः** रहस्य को जान लिया है। वह कहता है— मैं मोहरहित हूँ। मेरे उपयोग में आ सके, ऐसा कोई द्रव्य इन आत्मभिन्न पदार्थों में नहीं है। ये सब परभाव हैं—

**णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।**
**तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति॥**

—समयसार 36

**रागी को त्याग नहीं रुचता**— समयोपयोग का उपशिक्षण करने वाले ये बोधिसूक्त आगम-शास्त्रों की रंगावली हैं, शिवपथ के सर्वतोभद्र स्वस्तिक हैं, मुक्तिलक्ष्मी के संचार-कमल हैं; किन्तु क्या इतने पर भी सम्पूर्ण संसार रागपरिग्रह का परित्याग कर सका? क्या इस अनुभव-मथित पीयूष का पान करने में समर्थ हो सका? क्या आज इन मुक्तिसूक्तों की रचना के पश्चात् बहिरात्माओं का अभाव हो सका? नहीं, क्योंकि गोक्षीर सुलभ होने पर भी लोग मद्यपान करते हैं, अन्न-फल मिलने पर भी अभक्ष्य-भक्षण करते हैं, पुण्य करने की क्षमता रखते हुए भी पापमग्न रहते हैं। समस्त हेय-उपादेय का परिज्ञान रखते हुए भी उपादेय का तिरस्कार तथा हेय का सत्कार करते हैं; क्योंकि उपदेश सभी को अमृत प्रतीत नहीं होता। रागी को त्याग नहीं रुचता और भोगी को योग विद्या से प्रीति नहीं होती। अपने औदयिक कर्मों के पाश से उन्हें छुटकारा नहीं मिलता। यदि शास्त्र और तीर्थंकर सभी को समान रूप से प्रबोध दे पाते तो आज कुसमयों एवं मिथ्यादृष्टियों

का अस्तित्व नहीं रह जाता। अतः आत्मकल्याणाभिलाषी को अपने गन्तव्य की दूरी न्यून करने का प्रयत्न करना उचित है, न कि लोकसुधार के स्तूप खड़े कर अपनी दिशा को भूल जाना।[5]

## आत्मा ज्ञेय, ज्ञाप्य नहीं

**णाणा जीवा, णाणा कम्मं, णाणाविहा हवे लद्धी।**
**तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥** —नियमसार, 156

स्वपरसमयविज्ञ होकर आत्मानुचिन्तन करना श्रेयस्कर है; परन्तु स्वज्ञान की उस विशिष्ट सम्प्राप्ति को प्रवचन-कोलाहल का रूप दे देना अनावश्यक है। स्व-परसमय का ज्ञान और स्वपरसमय पर वाद, कोलाहल नितान्त भिन्न वस्तु हैं। एक आत्मकल्याणपरक है तथा अन्य अपरसमयों को बलात् वशीकरण का वृथा प्रयास है। समाधिशतक में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि आत्मा ज्ञेय है, स्ववेद्य है, ज्ञाप्य नहीं; अतएव इसे दूसरों को ग्रहण करा सकना अशक्य है—

**यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।**
**ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये॥** —समाधितन्त्र, 59

**आवश्यकता स्व-सत्य की**— आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार-कलश में जो **स्वयमपि निभृतः सन्** कहा है[6] उसके मूल में भी यही हार्द है कि भगवान् आदिनाथ और अन्य केवलियों ने आत्मोपलब्धि की— यह इतिहास तो प्राणी ने जान लिया; परन्तु उसके मोक्षविषयक प्रकरण की चर्चामात्र तो अलं नहीं। इससे तो श्रुतसत्य की तथा परसत्य की जानकारी हुई है, आवश्यकता तो स्वसत्य की है। भर्तृहरि ने जिस स्वानुभूत्यैकमान शान्त तेज को नमन किया है— **स्वानुभूत्यैकमानाय नमः शान्ताय तेजसे**— वह तो आत्मना अनुभाव्य है। उस पर विवाद न करना ही परसमयों से बचना है। वही उपलब्धि का मार्ग है। कुसमयों का विशासन करानेवाले जिनेन्द्र भगवान् के शासन से उस अनुपम सुख उपयोग के स्थान को पहचानना चाहिए—

**सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।**
**कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं॥** —सन्मतिसूत्र, 1

**परसमय : अविद्या में निमग्नता**— समस्त नयवाद परसमय हैं, व्याख्यानकोलाहल

---

5 स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं परम्प्रति विवादो न कर्तव्यः। कस्मात् विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यति। —जयसेन-तात्पर्यवृत्तिः, प्रवचनसार, 278

6 विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसां पुद्गलादिभिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति न द्वैतमेव।। —समयसार कलश, 34

और स्वपर-विवाद भी परसमय हैं। स्वचित्स्वभाव की भावना से अन्यत्र परिणमन परसमय है। द्रव्यात्मक एवं गुणात्मक पर्यायी पदार्थों में आत्मबुद्धि रखना परसमय है। द्रव्य और लिंग में ममकार परसमय है। मिथ्यादृष्टि परसमय है। बहिरात्मा और अन्तरात्मा परसमय है। पुद्गल-कर्मप्रदेश-स्थित होना परसमय है। अविद्या में निमग्न रहना परसमय है। इन सम्पूर्ण परसमयों से पृथक् शुद्धनिश्चयनय के अंगीकर्ता ही उस समयसार के सारवित् हैं–

**अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नं,**
**ऐकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।**
**रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः,**
**पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम्॥** –समयसार-कलश, 120

**जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाणे।**
**पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं॥** –समयसार, 2

**सुख की खोज**– समयवेदी को ही कालज्ञ कहते हैं। जो **अंगाः कथं वंगाः कथं** ऐसी परचर्चा में ही समय का अवसान कर देता है वह असमयज्ञ है, अबुध है। कालज्ञ जहाँ कर्मक्षय कर सर्वकालज्ञ (सर्वज्ञ) हो जाता है, वहाँ अकालज्ञ कालकवलित होकर अपने को प्राप्त हुए सुयोग से भी वंचित रह जाता है। समयज्ञ स्व-समय में स्थित होने के लिए व्रत ग्रहण करता है, महाव्रती होता है और अपनी निःसंग-निरवद्यचर्या में कर्म-कश्मलविमुक्त हो श्रेयःसनाथ हो जाता है–

**चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं,**
**देव! त्वां यः समयनियमादादरेण स्तवीति।**
**श्रेयोमार्गः स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा,**
**कल्याणानां भवति विषयः पंचधा पंचितानाम्॥** –एकीभाव, 25

अहो! स्वस्वभाव में स्थित आत्मा ही ज्ञेयप्रमाण ज्ञान को एक समय में जानता है। दर्शन और ज्ञान एक समय में आत्मा के ये ही दो उपयोग हैं। इस स्वस्वभाव में स्थित आत्मा को ही परमात्मभाव की प्राप्ति होती है और उस परम पारिणामिक भाव में इतना अनन्त सुख है जिसे देव-मनुष्य त्रिकाल में भी नहीं पा सकते किन्तु जो परमात्मा को एक समय में प्राप्त है–

**अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्।**
**एकस्मिन् समये भुंक्ते तत् सुखं परमेश्वरः॥** –ज्ञानार्णव, 62/68

स्वसमय में स्थित होना अपार सुखप्रद है। सम्पूर्ण विश्व सुख की खोज में लगा है; परन्तु सुख क्या वैभव-विलास में है? अथवा क्या वह विषयोपभोग में है? क्या वह स्वादु मिष्टान्न में है? क्या वह मित्र-कुटुम्बादि में है? यदि यहाँ सुख होता तो आदिनाथ प्रव्रज्या क्यों लेते? नेमिनाथ ऊर्जयन्तगिरि पर क्यों तपते? महावीर

गृहस्थ क्यों न हो जाते? कोटि-कोटि भव्यात्मा मुनीश्वरत्व क्यों स्वीकारते? उन्होंने अनुभव किया— **त्यागात् शान्तिः** —त्याग से शान्ति मिलेगी। **वैराग्यमेवाभयम्**— अभय होना है तो वैराग्य लो। चलो, दूर हो जाओ इन परसमयों से। कितने जन्मों तक उठाये फिरोगे इस परिग्रह-भार को? शुद्ध आत्मा पर यह पुद्गल का पाश क्या शोभनीय है? शान्ति की इच्छा है तो बन्धनों को झटक दो और अपने-आप में स्थित हो जाओ।

## कर्म झर जाते हैं

**छिन्दन् शेषानशेषान्निगलबलकलींस्तैरनन्तस्वभावैः,**
**सूक्ष्मत्वाग्र्यावगाहागुरुलघुकगुणैः क्षायिकैः शोभमानः।**
**अन्यैश्चान्यव्यपोहप्रवणविषयसंप्राप्तिलब्धिप्रभावै ,**
**र्ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावात् समयमुपगतो धाम्नि संतिष्ठतेऽग्र्ये॥**

—सिद्धभक्तिः, 5

कर्ममलविमुक्त आत्मा कभी अधःपतित नहीं होता। वह स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है। अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न है वह। जब क्षायिक गुणों से उसके कर्म झर जाते हैं, तब वह अविभाज्य पुद्गल परमाणु के मंदगति से एक प्रदेश संक्रमण काल परिणामरूप एक समय में ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित होता है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उससे ऊपर सिद्धात्माओं का गमन नहीं होता–

**अवरोधविनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः।**
**धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते॥** —ज्ञानार्णव, 42/60

अनादिकाल से आत्मा पर परपदार्थों का भार है। यह भार गुरुतर होता जाता है। जितना गुरुतर यह होता जाता है उतना नीचे दबता जाता है। चतुर्गति-परिभ्रमण इसी भार के गुरु-लघु होने का परिणाम है। यद्यपि मूलतः आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगतिशील है जैसा कि **ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावात्**— इस सिद्धभक्ति-पद में वर्णन किया गया है, तथापि कर्मजुष्ट होने से पुद्गल भारायमाण यह जीवात्मा उस आत्मधर्म को सर्वथा प्राप्त नहीं कर पाता। देखा जाए तो पुद्गलावच्छिन्न होने से इसे नाना भवक्लेश भुगतने पड़ते हैं। बहुत पीटा गया है यह। जैसे डाक में छोड़े गये पत्र पर मुद्रा लगानेवाला कर्मचारी ठोककर डाकघर की मुहर लगाता है और उसे संकेतित गली-घर-गाँव पहुँचाता है, वैसे परभाव के समाचारों को वहन करनेवाले आत्मा को कर्म ठोक-पीटकर यहाँ-वहाँ पहुँचा रहे हैं। कर्म वाचक होकर इस पर लिखे हुए परपरिणामों को पढ़ते रहते हैं। जब तक यह पत्र अपने ऊपर अंकित इस पराश्रयी कृष्णमषी के अभिलेखों से मुक्त नहीं हो जाता, इसी प्रकार किसी नर, सुर, तिर्यक् नाम-पते पर पहुँचता रहेगा और अनेक डाकघरों की अनेक मुहरें इसके मुख पर लगती रहेंगी। संसार-परिभ्रमण की इस कथा को योगसार

में बहिरात्मा का धर्म कहा है–

**मिच्छादंसणमोहियउ, परु अप्पा ण मुणेइ।**
**सो बहिरप्पा जिण भणिउ, पुण संसार भमेइ॥** –योगसार, 7

**आत्मा कैसा है**– जब मनुष्य ज्ञानावरण से मोहमूढ़ होता है तब असत् में सत्-प्रतीति करने लगता है। **श्रावणान्धो हरितं पश्यति**–एक व्यक्ति श्रावण में अन्धा हो गया। उस समय पृथ्वी हरी-भरी थी। कालान्तर में जब हरितशस्य सूख गये, तब भी पृथ्वी कैसी है–पूछा जाने पर वह उसे हरित ही बताता था। मिथ्या ज्ञान से दिङ्मूढ़ों की भी यही स्थिति है। उसे पूछा जाए कि आत्मा कैसा है तो वह उसे शरीर-निरूपण द्वारा बताएगा। उपनिषदों में इसी बहिरात्मा का प्रतीकाख्यान विरोचन असुर के माध्यम से आया है। इन्द्र और विरोचन प्रजापति की सेवा में ज्ञानार्थ उपस्थित हुए। प्रजापति ने उपदेश किया कि जल में देखने पर तुम्हें आत्मा दिखाई देगा। दोनों लौट आये। मार्ग में इन्द्र ने अपना बिम्ब किसी जलाशय में देखा और यह तो नाशवान् है, विकारी है– कदाचित् आँख, नाक, कान से विहीन, विद्रूप हो सकता है अतः यह बिम्ब (यह देह) आत्मा नहीं हो सकता–यह सोचकर देवराज पुनः आत्मज्ञानार्थ प्रजापति के पास लौट गये; परन्तु विरोचन असुर ने जब जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो यह शरीर ही आत्मा है–ऐसा प्रजापति ने कहा है, मान लिया। वह प्रसन्न भाव से अपने सजातीय असुरों में पहुँचा और शरीर ही आत्मा है— यह प्रजापति का उपदेश उन्हें बता दिया। इस प्रकार जिज्ञासावृत्ति के अभाव में असुरों ने शरीर को आत्मा मान लिया। वे आज भी मरणोपरान्त शरीर- रक्षण करते हैं और जीवित अवस्था में खाओ, पियो, मौज करो– इन तीन भौतिक सूत्रों का अनुवर्तन करते हैं। उन भौतिकवादियों की आसुरी प्रकृति का प्रकोप युद्ध, हिंसा, वैर, कलह, उन्माद, विभीषिका इत्यादि लोकपीड़क विविध रूपों में रात्रिन्दिव व्यक्त हो रहा है, होता रहा है। तन्दुलमत्स्य उसी आसुरी प्रकृति का प्रतीक है। सम्पूर्ण संसार को निगलने का पापचिन्तन दारुण आसुरीभावों की देन है, क्योंकि ऐसे लोग भूतवादी होने से भौतिक द्रव्यों पर स्वत्वकामना रखते हैं। इष्टोपदेश में इसी आशय को सुव्यक्त करते हुए कहा गया है कि यदि कर्म प्रबल हैं, तो वे अपने हित का (अधिकाधिक कर्मसंचय का) प्रयत्न करेंगे और यदि जीव बलवत्तर है, तो वह स्वहित की स्पृहा करेगा, क्योंकि सभी अपने-अपने स्वार्थ का पोषण करते देखे जाते हैं–

**कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।**
**स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति॥** –इष्टोपदेश, 21

इन देहात्मक दृष्टियों को यह जगत् ही एक मात्र रमणीय और विश्वास-स्थान प्रतीत होता है और इसी के लिए वे रात्रिन्दिव युद्ध और अधिकार की घोषणा करते हैं– **जगत्देहात्मदृष्टीनां विश्वासो रम्यमेव वा।** –समाधिशतक 49

**आत्मभाव परम लाभ**– मृत्यु के तत्काल पश्चात् जहाँ शरीर विकृत, गलित, दुर्गन्धित होना आरम्भ कर देता है जिसे जल-प्रवाहित करने, काकादि के भक्षणार्थ अनावृत प्रदेश में छोड़ देने अथवा अग्निसमर्पित करने से अन्यत्र कोई उपाय नहीं है, उसे भी ये देहवादी अनन्त काल पर्यन्त सुरक्षित रखने के लिए यत्नशील देखे जाते हैं; मानो, इसी पृथ्वी पर उनका मरणोत्तर अस्तित्व बनाये रखना चाहते हों। यह अज्ञानोपासना है। भारतीय मनीषियों का चिन्तन इससे भिन्न ही नहीं, विशिष्ट भी है। वे देहत्याग से पूर्व ही यह भावना रखते हैं कि यह शरीर मिट्टी है, इसके द्वारा कृत-सुकृत ही प्रयोजनीय है, **अथ भस्मान्तं शरीरम्। कृतं स्मर**—जगद्व्यापार को वे इन्द्रजाल समझते हैं। आत्मलाभ को परम लाभ मानते हैं तथा अन्यत्र परिणति होने पर अनुताप का अनुभव करते हैं। उपनिषदों में वर्णित नचिकेता एक बालक है और आत्मज्ञान के लिए यम से जिज्ञासा करता है। यम द्वारा लौकिक प्रलोभन के वरदान लेने का आग्रह करने पर वह कहता है–

**श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तके तत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।**
**अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥**

–कठोपनिषद् 26

हे यमराज! ये वैभव-भोग अनित्य हैं। आज हैं, कल नहीं। ये सम्पूर्ण इन्द्रियों का तेजोहरण कर लेते हैं और मनुष्य को जीर्ण कर देते हैं। यह जीवन भी अल्प है, अतः सांसारिक प्रलोभन ये रथ-गज-वाजि और ये नृत्य-गीत आप अपने पास रखें। आगे नचिकेता ने कहा– **वरस्तु मे वरणीयः स एव** –मुझे तो वही (आत्मप्राप्ति-विषयक) वरदान चाहिए। यह असाधारण कथा है। भारतीय बालक भी तत्त्व-जिज्ञासा रखता है; उसके लिए मृत्यु के द्वार पर निर्भय होकर चला जाता है और भौतिक प्रलोभन दिये जाने पर अनुतप्त होकर कहता है– इन भोगविभ्रमों को अपने पास रखो।

## लहसुन का खेत, कपूर की बाड़

**निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।**
**स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते॥** –इष्टोपदेश, 29

परन्तु जिनके दुष्कर्मों का अन्त नहीं, उन्हें बारंबार यह संसार ही सार प्रतीत होता है। वे आत्मा की उपेक्षा और शरीर-सुखों की अपेक्षा रखते हैं। मानो, अमूल्य मणि का विस्मरण कर काच पर रति करते हैं, लहसुन के खेत को कपूर की बाड़ लगाते हैं। बदरी फल के लिए आम्रवन का उच्छेद करते हैं।

## अन्यथा दर्शन

**तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुष्कर्मणो,**
**व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम्।**

**निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं,**
**जन्मिन् ! जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत्॥**

—आत्मानुशासन 58

आचार्य ने कितना साधु प्रबोध दिया! इन शरीरों के साथ किस अनन्यता से लोग संश्लिष्ट हो रहे हैं। यह शरीर बार-बार छोड़ रहा है और कर्मबद्ध जीव रो-रोकर उसके वियोग में आतुर हो रहा है, उसे पुनः-पुनः आमंत्रण दे रहा है। रोग, जरा और आयुःक्षय पीड़ित कर रहे हैं, तथापि माधुर्यमिश्रित इन विष-गुटिकाओं का आस्वादन करने के लिए जीव लालायित हो रहा है। अहो, इस मोह का, अज्ञान का अन्त नहीं। उन्हें आस्रवों का आना रुचिकर लगता है। कषायों की तीव्रता से प्रसन्नता होती है। संवर के पाठ और निर्जरा के अध्याय मिथ्या भासित होते हैं। आगमस्वाध्याय, देवदर्शन, साधुसंगति अप्रयोजनीय लगती हैं; क्योंकि सर्पदंष्ट को निम्ब का कटुकत्व भी मधुर लगता है और पाण्डुरोगी को श्वेत पुष्प भी पीत प्रतीत होता है। जिन्हें सम्यक्दृष्टि नहीं है, वे वस्तु के स्वरूप का अन्यथा दर्शन करते हैं। वे परसमय को स्वसमय और स्वसमय को परसमय समझते हैं। स्वयं शीर्षासन किये हुए हैं और दूसरों को उल्टा टँका हुआ बताते हैं। धिग् व्यापकं तमः।

**स्व-समय : आँख की आँख**— जीव का सार समय है और समय का सार स्वसमय। वाणी का उपयोग समय का व्याख्यान है, श्रोत्र की सफलता समय-विषयक श्रुति है, नेत्रों का दृष्टिमत्व समय का सम्यग्दर्शन है। वह प्राणों का प्राण है, हृदय का हृदय है, चक्षु का चक्षु है। नरकान्धकूप-पतन से निवारण करनेवाला है, स्वर्ग के लिए मणि-सोपान है और निर्वाण-वीथि का दीपक है। सामायिक उसी का ध्यान है, उसी की अन्तःस्थिति से, अनुचिन्तन और चर्वण से सामायिक सामायिक है। प्रमाद, मूर्च्छा, विभावपरिणति, कर्मस्नेह इत्यादि महारोगों की वजह महौषध है। अनादि कर्मों की महाशृंखला को तोड़ने में महागज, दिग्भ्रम से संसार-कान्तार में भटकनेवालों को रत्नदीप और मूर्च्छितों का संजीवन यह स्वसमय है। जो समय का चिन्तन करने के लिए सामायिक-मग्न रहता है तथा प्रतिक्षण सामायिक करते हुए समयनिष्ठ रहता है; वह स्वसमय को प्राप्त करता है। समय में स्थिति करना ही तो सामायिक है। यह स्वसमय विषापहार स्तोत्र है, कल्याणमन्दिर है, यही महावीराष्टक है, स्वयम्भूस्तोत्र है। स्तुति स्तवनीय तथा स्तोता समय ही है। समय ही समय की सहायता से समय में स्थित हो रहा है। ऐसा यह समय स्वद्रव्य आत्मा ही है।

**स्वात्मयोग मोक्ष**— वाद, शास्त्रार्थ, तर्क, युक्ति तथा स्थापनाक्षरों में समय नहीं है। वह तो लब्धि-अक्षरों में है। जैसे नदी के उस पार पहुँचने के लिए नौका का आश्रय लिया जाता है। वहाँ पहुँचकर नौका को कोई नहीं पूछता, कोई उसे मस्तक पर उठाकर नहीं घूमता। वैसे शास्त्रों के स्थापनात्मक अक्षर हैं। इनमें

भेदविज्ञान का परिज्ञान प्रयोजनीय है। वे अक्षर, अध्याय, श्लोक-संख्या लब्धिवेदी से नीचे ही रह जाते हैं। जैसे **दण्डी पुरुषः** में दण्ड पुरुष का स्वलक्षण नहीं है, वैसे समयसार के लिए ग्रन्थसमयसार स्वलक्षण नहीं है। उसका स्वलक्षण तो उपयोग है, चित् स्वभाव है। वहाँ अन्ययोग बन्धन है, स्वात्मयोग मोक्ष है–

**चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।**
**बन्धपद्धतिमपास्य समस्तांश्चेतये समयसारमपारम्॥**

–समयसार कलश, 92

**पर तो पर ही है**– यदि नरकादि बन्ध अभीप्सित है तो बहिरात्मा रहो। यदि स्वर्ग-सुखों में रति है तो अन्तरात्मा बनो; किन्तु यदि अनन्त सुख की अभिलाषा है तो परमात्मतत्त्व में लक्ष्य रखो। सम्पूर्ण प्राप्तव्यों का परम प्राप्य बोधिलाभ है, लब्धि सुख है। पर तो पर ही है। उस परत्व की अनुभूति शत वर्ष पश्चात् तो सभी को प्रायः होती देखी जाती है, इससे पूर्व हो जाए तो उससे लाभ उठाया जा सकता है। यह मनुष्य-भव इस सिद्धि में सहायक है। ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा मानव ही उस स्वात्मपरिणाम को प्राप्त कर सकता है। यदि इस भव में भी स्खलित हो गये, चूक गये, तो फिर गये पतन के पारावार में जहाँ से ढूँढ़ निकालना अति दुष्कर है।

## उसका जन्म व्यर्थ हुआ

**परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।**
**अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥**
**इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्।**
**ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिनः॥** –इष्टोपदेश, 45, 20

यदि काच और चिन्तामणि श्रम के पुरस्कार हैं तो कौन ऐसा विवेक-विधुर होगा जो श्रम भी करे और काच लेना चाहे। चिन्तामणि की तुलना में काच की गणना ही क्या? मनुष्य-भव प्राप्त कर यदि विषयादि काच-खण्डों को ही संग्रहीत करते रहे तथा आत्म-चिन्तामणि की प्राप्तिचिन्ता नहीं की, समय को नहीं पाया तो **निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या, यया न दृष्टं किल भानुबिम्बम्** उस कमलिनी का जन्म व्यर्थ ही गया जिसने कभी सूर्य को नहीं देखा। और जिसने सर्वज्ञ भगवान् के समय को नहीं सुना, उसका मनुष्य जन्म भी व्यर्थ गया।

## राजमार्ग से चलो

**मानुष्यं विफलं वदन्ति हृदयं नूनं वृथा श्रोत्रयो-**
**र्निर्माणं गुणदोषभेदकलनां तेषामसम्भाविनीम्।**
**दुर्वारं नरकान्धकूपपतनं मुक्तिं बुधा दुर्लभां,**
**सार्वज्ञः समयो दयारसमयो येषां न कर्णातिथिः॥**

–सूक्तिमुक्तावली 18

अतः नय की लघु वीथियों से नहीं, शुद्ध निश्चय के राजमार्ग से चलो। नित्य शुद्ध क्षायिक दृष्टि रखो, अपने में ही तन्मय रहो। परमात्मा भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ हैं, निश्चयनय से तो आत्मज्ञ ही हैं। उस आत्मज्ञान की प्राप्ति में जितनी दूरी है, उसे पुरुषार्थ द्वारा समाप्त करो। नयों की नदियों में तैर चुके, अब शुद्ध निश्चय के समुद्र में अवगाहन करो। निर्वाण पाना है तो स्वभाव में स्थित होकर अपने को जानो, अपने को देखो, अपने से प्रेम करो। केवली भगवान् ने वह मार्ग दिखाया है, मुनियों और ज्ञानियों ने उस पथ का अनुसरण किया है, गणधर देवों ने उसका आगमिक निरूपण किया है; उस पर चलो। बोधिलाभ के लिए देव, गुरु, शास्त्र के भक्त रहो, संसार-भोगों पर हेय दृष्टि धारण करो और रत्नत्रय-संयुक्त महाव्रती बनो। देखो, शिवसुख तुम्हारे समीप है, तुम्हारी अपनी आत्मा में उसकी विद्यमानता प्रतीत हो रही है–

**परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।**
**तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥** –समयसार, 151
**देव-गुरु-समय-भत्ता, संसार-सरीर-भोग-परिचत्ता।**
**रयणत्तय-संजुत्ता, ते मणुया सिव-सुहं पत्ता॥**[7] –रयणसार, 9

महाकवि रत्नाकर ने पुद्गल और आत्मा के भिन्नत्व का प्रतिपादन करते हुए वर्णन किया है कि शब्दोच्चारण, जिह्वा-दन्त-ओष्ठ आदि उसके साधन, श्रोत्र तथा स्नेह-कोप और यह देह सभी पुद्गल हैं। दिगम्बर पुरुष इनसे भिन्न है—

**नुडिवुदु पुद्गल केळुवदु पुद्गल, कडेगे पुद्गल स्नेहकोपा।**
**जडदेहनुं कि नन्नेदेयोळिरय्या, बानोला चिदम्बरपुरुष॥**

–रत्नाकर, 99

हे सर्वज्ञदेव! शुद्धचिन्मय परमात्मन्! अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य को प्राप्त करने का साधन आपने स्वानुभूति से स्वसमय को बताया है। हे वीतराग! आपका निरूपित प्रज्ञापित सत्य त्रिकालाबाधित प्रमाण है। हे प्रभो! गति के लिए मार्ग चाहिए, मार्ग को प्रशस्त करने के लिए नेता चाहिए और उसका मार्गदर्शन भ्रम-मुक्त होना चाहिए। कदाचित् मार्गदर्शक स्वयं ही पथ-भ्रान्त हो तो अनुगामियों को भी संकटों एवं बाधाओं का साम्मुख्य करना पड़ेगा, अतः जिस किसी को अग्रगामी नहीं माना जा सकता। आपके मार्ग पर मेरी सुश्रद्धा है; क्योंकि आपको तीर्थंकर होने का लोभ नहीं, कहीं किसी से राग नहीं, द्वेष नहीं।

---

7 समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति। –रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 5/27
यदि समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयोज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति। –यदि आगम में विज्ञता प्राप्त करता है तो वह विज्ञ निश्चयेन श्रेय का ज्ञाता होता है।

आपके निर्मल आत्मस्वरूप को छत्र, चामर, अष्टसिद्धि तथा नवनिधियों की अपेक्षा नहीं। यह यथाजात सुन्दर है, लब्धिरमणीय है। उसकी चारु आभा ने सूर्यादि के तेज को अधरित कर दिया। आपका मार्गदर्शन निश्चयेन निर्भ्रान्त है, शिवपुरप्रापक है।[8] आप ही आप्त हैं, सम्पूर्ण प्राप्यों को प्राप्त कर चुके हैं। अब कुछ भी पाना आपके लिए शेष नहीं। आप ही समय हैं, स्वसमय हैं, परमात्मा हैं। **अन्यो न मम शरणं, शरणं स एव परमात्मा** –इस भावना के साथ मैं अपने आत्मा के अनन्तशक्तिपुंजस्वरूप परमात्मरूप की शरण ग्रहण करता हूँ–

**अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-**
**रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।**
**स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात्**
**न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति॥** –समयसारकलश, 244

**दिट्ठे तुमम्मि जिणवर! समयामयसायरे गहीरंमि।**
**रायाइदोसकलुसे देवे को मण्णइ सयाणो॥**
–पद्मनन्दिपंचविंशतिका, 14

**मर्मच्छेदकारी दिव्यायुध**– रसाल फल को प्राप्त करने के लिए आम्रवन में जाना होगा। चम्पा की सुवास उसके पुष्प में है, कण्टकों में नहीं। पाटल (गुलाब) के शूल स्पर्श करनेवालों को उलझा देते हैं, परन्तु सुरभि नहीं दे पाते। मृगनाभि का सौरभ यदि घास में होता तो हरिण को अन्वेषण करने पर मिल जाता। स्वभाव में भ्रम के वशीभूत होकर अन्धवत् इतस्ततः पर्यटन करने से निर्भ्रान्त सत्य की अवाप्ति नहीं होती। सत्य तो सत्य में ही मिलेगा। तैल की प्राप्ति चाहनेवाला तुष नहीं कूटता; क्योंकि तुष और मुसल तैल-प्राप्ति में न निमित्त हैं, न उपादान। अतः समय की अपेक्षा रखनेवाले समय-भिन्न द्रव्यों में तत्पर नहीं होते। उनका प्रयत्न अनिष्ट-निवृत्ति और इष्ट-सम्प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रक्रान्त रहता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र रूप त्रिशूल ही वह दिव्यायुध है जो आत्मा का परमास्त्र है और परद्रव्यों का मर्मच्छेदकारी है। यह समाधि-मित्र है, इष्टयोजक है और अनिष्टवियोजक भी है। आचार्य समन्तभद्र जब **स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्म-सात्क्रियाम्** कहते हुए आदिजिनेश्वर के निर्मल स्वरूप का व्याख्यान करते हैं, तब उनका आशय भगवान् के उसी आत्मस्थभाव से है, जिसमें कर्मकश्मल-दहन का सर्वातिशायी सामर्थ्य है और जिसको उद्देश्य कर **ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्**

---

8 हे प्रभो! जिनेन्द्रदेव! वह रागादिदोष मुक्त सकल और निकल परमात्मा जिन, अर्हन् और सिद्ध आप ही हैं। आप ही गम्भीर-अगाध, समयामृत-सागर हैं। रागरहित प्ररूपणा करने से आप ही सत्यमार्गोपदेष्टा हैं। कौन ऐसा सज्ञान होगा जो यह जानकर भी रागपरामृष्ट इतर देवों की मान्यता मानेगा?

**कुरुते**—कहा गया है। ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र आत्मा के त्रिभंग हैं, उसके उपयोग-विवर्त हैं। स्व-रूप इनका आराध्य एवं समीक्ष्य है। इस स्वरूपावस्थान नित्यता से विभाव रूपों में उपेक्षा एवं अनासक्ति आती है और अकिंचन परभाव आत्मा की इस स्वरूपस्थिति रूप उपेक्षा से ही म्लान, शीर्ण और मृत हो जाते हैं। आस्रवनिरोध तथा कर्मनिर्जरा का यह अद्‌भुत प्रकार है कि जैसे-जैसे साधक स्वभाव को उज्जीवित करता है, उसके परभाव स्वयं समाप्त, मृत होते जाते हैं। यह बुद्धिमानों का मार्ग है जिसमें चलते हुए वे इष्ट-नष्ट संयोग-वियोगता को एक क्रिया द्वारा निष्पन्न करते हुए शोभा पाते हैं। उनकी **एका क्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा**—एक ही क्रिया दो प्रयोजनों की साधिका होती है। जैसे भुक्त अन्न क्षुधा-निवृत्ति करता है और तृप्तिकारक भी होता है, वैसे स्व-समय में स्थितिबन्ध परसमय-निवर्तन में भी प्रभविष्णु होता है, इससे आस्रव स्वतः खण्डित हो जाते हैं।

**सम्यग्दर्शनं णाणं चारित्तं सुद्धात्मनं।**
**स्वस्वरूपं च आराध्यं त्रिभंगीसमयखंडनं॥** —त्रिभंगीसार, 248

इसी निर्विकल्प आत्मोपयोग को साक्षात्समयसार निर्दिष्ट करते हुए समयसार में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

**सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्-समयसारः सम्भवति।** —142

जीव को कर्मबन्ध हुआ है अथवा नहीं हुआ है— यह कहना तो विकल्पगोष्ठी के भिन्न नयपक्ष का पक्ष है, वस्तुतः निश्चय में तो नयों का प्रवेश अविहित है। निम्न गाथा में इसी नयातिक्रान्त निश्चयरूढ़ साक्षात्समयसार का सारोपदेश है—

**कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं।**
**णयपक्खादिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो॥** —समयसार, 142

## कार्य-कारण भाव सम्बन्ध

**आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत् पुराकृतम्** —जम्बूस्वामिचरित 13/127 —आत्मा के शुद्ध भाव से पूर्वकृत आस्रव गल जाते हैं— यह कहना वैसा ही है जैसा वसन्त-आगमन से वृक्षों पर नवीन पल्लव आविर्भूत हो जाते हैं। नवीन पत्र आने से पूर्व जीर्ण पत्र स्वयं क्षय हो जाते हैं। अपना उपयोग मोक्ष की ओर लगाओ, बन्ध विगलित होते जाएँगे। जब एक व्यक्ति पूर्व की ओर अभिमुख होकर यात्रा करता है तब उससे पश्चिम स्वतः दूर-दूरतर होता जाता है। उसे पूर्व की निकटता के लिए जो यत्न करना पड़ता है, वही उसे पश्चिम से अत्यन्त दूर ले जाता है। जब दधिमन्थन की एक रज्जु पीछे खिंचती है, तब दूसरे हाथ की रज्जु स्वयं आगे हो जाती है। **कारणविगमतः कार्यनाशप्रसिद्धिः** कारण का नाश होने पर कार्यनाश अवश्य हो जाता है, यह प्रसिद्ध न्याय है। भावसंवर और भावनिर्जरा को समझाते

हुए अध्यात्मकमलमार्तण्ड में बताया गया है कि भावास्रवनिरोध भावसंवर है तथा आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान से सम्पद्यमान स्वोपलब्धि भावनिर्जरा है। संचित और आगामी बन्धकारणभूत कर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव स्वतः हो जाएगा। यही कार्यकारणभाव सम्बन्ध न्याय है–

**त्यागो भावास्रवाणां जिनवरगदितः संवरो भावसंज्ञो,**
**भेदज्ञानाच्च स स्यात् स्वसमयवपुषस्तारतम्यः कथंचित्।**
**सा शुद्धात्मोपलब्धिः स्वसमयवपुषो निर्जरा भावसंज्ञा,**
**नाम्ना भेदोऽनयोः स्यात् करणविगमतः कार्यनाशप्रसिद्धेः॥**

–अध्यात्मकमलमार्तण्ड, 9

**येनांशेन कषायाणां निग्रहः स्यात् सुदृष्टिनाम्।**
**तेनांशेन प्रयुज्येत संवरो भावसंज्ञकः॥**
**आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत् पुराकृतम्।**
**वेगाद् भुक्तरसं कर्म सा भवेद् भावनिर्जरा॥**

–जम्बूस्वामिचरित, 13/123,127

**विषयों की शिविका उठाये चलता है**– चतुष्पथ पर खड़ा राजपुरुष हाथ के संकेत से मार्ग बताता है तथा रोकता भी है। आगमशास्त्र हेय और उपादेय के दो हाथ उठाकर असन्मार्ग से रोकते भी हैं तथा सन्मार्ग पर चलने की अनुमति भी देते हैं। उन्होंने परसमयों की रति का परिणाम और स्वसमय निष्ठा का उदर्क निःसंगभाव से समझाने का सहस्रमुखी सुयत्न किया है। चिक्कणता से मलिनता आती है और रूक्षता (साबुन आदि) से वह दूर हो जाती है, यह जानकर बुद्धिमान निःस्नेह होने का प्रयत्न करता है और रागाशयी स्वयं मालिन्य को आमंत्रित करता है। बालक अज्ञानवश मिट्टी खाता है और मन्दबुद्धि इन मिट्टी-समान अशुभ आस्रवों में स्वादुता का अनुभव कर अतिकठिन बन्धनों को पुकार-पुकार कर अपना आरोहण देता है। विषयों की शिविका को कन्धे पर उठाये चलता है, राग की नगरी में फेरी लगाता है। वह बन्धहेतु है। मिथ्यात्व का संग्रह एक दिन उसे ले डूबता है, आस्रवों के योजनमुख नक्र उसे उदरस्थ कर लेते हैं। उस दिङ्मूढ़ को प्रतिसमय नये-नये कर्म अतिथि होते रहते हैं। वह बन्धन-शृंखलाओं को अलंकार समझ धारण करता रहता है और अपनी इस दयनीय अवस्था को अभिमान के साथ वैभव कहकर व्यक्त करता है। विभावों को वैभव मानने वालों का व्यामोह क्या हास्यास्पद नहीं है? आत्मा को दीन बनाकर पुद्गल को पीन बनाने वाले त्यागवृत्ति के कोपीन को सदा हीन समझते आये हैं। पिंजरे का पक्षी उन्मुक्त गगन में संचार करनेवाले विहंगम की अनगारता पर उपहास के स्वर उठाता है। अपनी विपन्नता और अपने रोग को भोग कहता है–

**मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथम समय एवास्रवे हेतवः स्युः,**
**पश्चात्तत्कर्मबन्धं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित्।**
**नव्यानां कर्मणामागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रवः स्यात्,**
**आयत्यां स्यात् सबन्धःस्थितिमितिलयपर्यन्तमेषोऽनयोर्मित्॥**

—अध्यात्मकमलमार्तण्ड 4/4

हे आत्मन्! अनादिकाल से आस्रवों के साथ घनिष्ठ मित्रभाव रहा है तुम्हारा। इनके छन्द आपात-रमणीय हैं, ऊपरी दृष्टि से देखने वाले बहिरात्माओं को वे बहुत प्रिय लगते हैं; परन्तु बहिर्मनोरम होने मात्र से उसका अन्तःप्रच्छन्न विषय अमृतपरिणामी नहीं हो जाता। वैसे धतूरे का पुष्प भी तो सुन्दर पीत वर्ण होता है और अपने सुवर्ण के कारण कनक-पुष्प कहा जाता है; परन्तु क्या रूप-सादृश्य से उसमें गुणसाम्य भी संभव हुआ है? एतावता स्वच्छन्द रमणीय प्रतीति में एक अन्य हेतु भी है; वह यह कि जब कोई किसी के प्रथम सम्पर्क में आता है तब उसका कटुकत्व अथवा मधुरत्व जितना स्पष्ट प्रतीत होता है उतना वेलान्तर में नहीं होता। प्रथम बार प्रकाश से अन्धकाराच्छन्न प्रकोष्ठ में प्रवेश करने पर वह तिमिर अतिसान्द्र प्रतीत होता है, परन्तु कुछ क्षण के पश्चात् नेत्र उस अन्धकार में भी कुछ देख पाने में समर्थ हो उठते हैं। इस प्रकार प्रथम दृष्टि में जो अमित्रवत् था, वही तिमिर इतर क्षणों में मित्रवत् हो जाता है और उसमें प्रथम क्षण जैसी तीक्ष्ण विरोधानुभूति नहीं रह जाती। आस्रवों का मित्रत्व भी कुछ ऐसा ही है। अनादिकाल से मृग-सिंह के समान इनका सहचारित्व रहा है। जैसे मृग और सिंह का अन्योन्य सम्बन्ध भक्ष्य-भक्षक-भावपरक है तथापि दोनों एक ही वन-प्रदेश में निवास करते हैं और समय-कुसमय पाकर सिंह हरिण का आखेट करता रहता है, वैसे ही जीव और आस्रवों का सम्बन्ध है। आस्रवों के अनादि आक्रमणों ने जीवन को जर्जर कर दिया है। यह जीव जहाँ जाता है, आस्रव पक्व फल के समान उसमें लोभ उत्पन्न करने वहीं पहुँच जाते हैं। जैसे-जैसे यह जीव इन फलों का आस्वाद करता है, उनके विषाक्त परिणाम का लक्ष्य बन जाता है। चिरकाल का सामीप्य अनुभव करते रहने से जीव इतना अधिक प्रमत्त अथवा असावधान हो उठा है कि वह आस्रवों के दुःख-जनकत्व को लक्ष्य नहीं कर पाता। वह उन्हें सहज स्नेह से ग्रहण करता है और नाना व्याधियों का पात्र बन जाता है। यहाँ चुम्बक-लौह का दृष्टान्त उपयोगी रहेगा। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है क्योंकि वह उसका सजातीय है; परन्तु आश्चर्य होता है कि पुद्गल जीव को अपनी ओर खींचते हैं। आश्चर्य इसलिए कि पुद्गल जीव के सजातीय नही हैं। इस दृष्टि-विमर्श से कहना होगा कि पुद्गल चुम्बक से अधिक संक्रमणशील है। एतावता जीव जब पुद्गल प्रदेशों में रतिभाव करता है तब मलिन परिणामों को ही प्राप्त करता है। यह उसका कुसंगति-समुत्पन्न दोष है। इस कुसंगति का सदोष प्रभाव कभी-कभी इतना बढ़

जाता है कि जीव अपनी भिन्नता को ही विस्मृत कर बैठता है, उसे अपना जातिस्मरण भी नहीं रह पाता। एक कथा है कि कोई सिंहशिशु मातृवियुक्त होकर किसी शृगाली के शावकों के साथ रहने लगा और उस शृगाली को ही जननी मानकर उसका स्तन्य पीने लगा। कालान्तर में एक समय जब वह अपने कल्पित बन्धुओं के साथ किसी जलाशय में पानी पी रहा था, उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा और भिन्नता का स्वतः बोध प्राप्त किया कि मैं शृगाल नहीं हूँ, सिंह हूँ। यह भेद-प्रतीति होते ही उसने हुंकार किया। उस सिंह-गर्जना को सुनकर सम्पूर्ण वनप्रान्तर स्तब्ध हो गया। ऐसी ही कुछ, विजातीय में सजात्य-अनुभूति इस जीव को हो जाती है जब यह परभावों की अभेद्यस्निग्धता में अपना एकीभाव अनुभव करने लगता है। अध्यात्मकमलमार्तण्ड में इस अवस्था को मोहस्थिति कहा है। यह मोह संसार-वृक्ष को सिंचित करता है, उसे हरा रखता है, सूखने नहीं देता। तत्त्वज्ञान का विलोपक तथा सम्यग्दर्शनादि से च्युत करनेवाला है; किं बहुना, सम्पूर्ण अनर्थों का प्रसविता पिता है—

**मोहः सन्तानवर्ती भववनजलदो द्रव्यकर्मौघहेतु-**
**स्तत्त्वज्ञानघ्नमूर्तिर्वमनमिव खलु श्रद्दधानं न तत्त्वे।**
**मोहक्षोभप्रयुक्ता दृगवगमयुतात् सच्चरित्राच्च्युतिश्च,**
**गच्छत्वध्यात्मकंजद्युमणिपरपरिख्यापनान्मेचितोऽस्तम्॥**

यह मोह मेचितभाव है, अन्धकार है। अध्यात्म सूर्योदय से इसका अस्तमन होता है। अन्धकार में भेद-प्रतीति का विलोप होना सहज है। किसी प्रकोष्ठ में अनेक वस्तुएँ रखी हैं, किन्तु अन्धकार में वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं। इतना ही नहीं, वे भिन्न-भिन्न भी प्रतीत नहीं होतीं। प्रकाश में उन्हें पृथक्-पृथक् देखा जा सकता है। एतावता प्रकाश ही भेदज्ञान में सहायक है। सम्यक्त्व-सूर्योदय उसी प्रकाश का प्रदाता है। इस शुद्धचिन्मात्रमूर्ति आत्मा की परम विशुद्धि इस मेचित से पृथक् होने में है। यह पार्थक्य शाब्दिक नहीं, तात्त्विक होना चाहिए। शाब्दिक स्थितिपर्यन्त तो यह शुकपाठ है। जैसे कोई अमृतघट का मुख खोले विना अहो! यह अमृत है—कहता रहे, उसका स्वाद ग्रहण न करे, वैसे गाथाओं को कण्ठस्थ कर अपने को चिन्मात्र कहनेवाला अथवा सरागपरिणति का त्याग किये बिना **अहं ब्रह्मास्मि** का तारस्वर में चीत्कार करनेवाला अनुभवरहित परम्परापाठी मात्र है। मन में भुक्ति और वाणी पर मुक्ति कहने से वक्ता परवंचन तो करता ही है, स्ववंचनकारी भी होता है; क्योंकि मुक्ति शब्दगम्य नहीं है। मोदक का माधुर्य जिह्वा-प्रतीति का विषय है, दृष्टि-प्रत्यय का आलम्बन नहीं। जिस परसमरसीभाव का स्वानुभव आचार्यों ने निरूपित किया है, वह शब्दों का क्रीड़ा-कुतूहल नहीं, स्वात्मप्रत्यय का प्रत्यक्ष बोध है। वह आत्मप्रदेश-स्थित अशेष कर्मपर्याय श्लेषविरहावस्था है, यथायोग्य विमल गुणों के आविर्भाव की वेला है और अमृततुल्य-तृप्तिप्रद परम-समरसता की उपलब्धि है। अध्यात्मकमलमार्तण्ड में

लिखा है–

**मोक्षः स्वात्मप्रदेशस्थितविविधविधेः कर्मपर्यायहानि-**
**र्मूलात्तत्कालचित्ताद् विमलतरगुणोद्भूतिरस्या यथावत्।**
**स्याच्छुद्धात्मोपलब्धेः परमसमरसीभावपीयूषतृप्तिः**
**शुक्लध्यानादिभावापरकरणतनोः संवरान्निर्जरायाः॥**

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित संवर-निर्जरात्मक, उत्तम-क्षमादि दशलक्षणात्मक, परसमयनिषेधक, स्वसमयस्थितिस्थापक, द्वादशानुप्रेक्षाभावित, दिव्यध्वनिपरमावतार, स्याद्वादनयचक्र-चारुचमत्कृत होते हुए भी निश्चयनिष्ठ यह मोक्षधर्म ही आत्मा का स्वसमय है।

**निष्कर्ष**– आत्मा ही निश्चय नय से 'समय' पद वाच्य है। जीवादि पदार्थों को अविपरीत यथास्थित रूप आत्मा ही जनता है। जब यह आत्मा विभाव परिग्रहों का त्याग कर स्वभाव-रत्न-सम्पदा से विभूषित होता है, तब इसका उपयोग स्वसमयात्मक होता है तथा जब यह लौकिकता की ओर परिणतवृत्ति होता है, तब परसमयपर्यायी होता है–

**जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाणे।**
**पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं॥** –समयसार, 2

यह जीव जब सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होता है, वही इसका स्वसमय है तथा यही जब पुद्गल-पर्यायों में आसक्तिमान तथा कर्मबन्धन में अपने आपको निमग्न करे तब परसमय हो जाता है।

स्व-समय तथा पर-समय की यह विभाव-स्वभाव द्विधा विभक्त परिणति अनादिकाल से चली आ रही है। जीवों के **संसारिणो मुक्ताश्च** कहकर जो दो भेद किये गये हैं, वे इसी स्व-पर-समय के अवच्छेदक धर्म हैं। मुक्त जीव भी प्रथमावस्था में बन्धयुक्त अथवा संसारी होते हैं अन्यथा उन्हें मुक्त नहीं कहा जा सकता। जो पक्षी पंजर-बद्ध है वह पंजर से निकलने पर निर्बन्ध अथवा मुक्त कहा जाता है। पिंजरे में न आये हुए पक्षी को, जो स्वतः मुक्त है, कोई मुक्त नहीं कहता। अस्तु।

❖❖

# ईश्वर कहाँ है?

**''यो विश्वं वेदवेद्यं जननजलनिधेर्भंगिनः पारदृश्वा,**
**पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।**
**तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं,**
**बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा॥''**

—आचार्य अकलंकदेव

संसार में आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओं का अनुसरण करने वाले कोटि-कोटि जन हैं। नास्तिक विचारधारा के मनुष्य ईश्वर को नहीं मानते और इस लोक में जो दृश्य है वही मान्य एवं विश्वसनीय है, इस लोक से परे आत्मा, परलोक, ईश्वर, पुनर्जन्म कल्पनालोक की उपज है— ऐसा मानते हैं। इस विचार-वीथि में विचरण करने वालों में बृहस्पति और चार्वाक मुख्य हैं। पुनर्भव न मानने से इस वीथि के लोक स्वच्छन्द जीवन पसन्द करते हैं और बन्धनों को पसन्द नहीं करते। वे बन्धन यौन विहार सम्बन्धी हों अथवा आहार प्रकरण के हों। चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि– '**मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु**' तथा च—

**''यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।**
**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥''**

अर्थात् जन्मदायिनी माता को छोड़कर किसी से भी (औरस पुत्री और एकोदर भगिनी से भी) यौन सम्बन्ध किया जा सकता है तथा मानव को सुखपूर्वक जीने का प्रयत्न करना चाहिए 'ऋण लेकर भी घी पीना अच्छा है' क्योंकि उससे शरीर नीरोग तथा बलवान् रहता है। जब शरीर भस्म हो जाएगा तो लौटकर कौन आएगा? क्योंकि उनके मत में **चक्षुर्वै सत्यम्** 'आँखों देखा ही सत्य है'— यह उनका सिद्धान्त-वाक्य है। यदि अपने दृष्टिकोण से चार्वाक लोग ईश्वर का कथंचित् समर्थन भी करते हैं तो 'राजा' के रूप में। वे कहते हैं कि प्रजा को निग्रह अथवा अनुग्रह दान में 'भूपति' ही समर्थ है, अतः 'राजा' ईश्वर है।

परन्तु आस्तिकों की समीक्षा पर यह दर्शन युक्ति-प्रमाण और आगमोपलब्धि से वंचित प्रतीत होता है। 'दर्शन' तो इसे कहा ही नहीं जा सकता। नास्तिक विचारों से विरोधी दृष्टिकोण रखने वालों का मत है कि 'चक्षुर्वै सत्यम्'— यह

लक्षण ही सदोष है। यदि 'चक्षु' पद से उन्हें 'प्रत्यक्ष' कहना अभीष्ट है तो 'प्रत्यक्षं वै सत्यम्' लिखना चाहिए। किन्तु ऐसा लिखने पर उन्हें अपने पिता-पितामह-प्रपितामहादि के भस्मीभूत देह के लिए समर्थन देना कठिन हो जाएगा। क्योंकि 'प्रत्यक्ष' इंद्रियग्राह्य होता है और भस्मीभूत के लिए इन्द्रियग्राह्य सन्निकर्ष उनके पास है नहीं। यदि 'चक्षुर्वै सत्यम्' को मानें तो उन्हीं को गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि के लिए 'घ्राणं वै सत्यम्', 'गन्धो वै सत्यम्', 'स्पर्शो वै सत्यम्', 'श्रोत्रं वै सत्यम्' इत्यादि अनवस्था दोषान्तःपाति अनेक लक्षण बनाने होंगे। इन अनेक लक्षणों की प्रसक्ति सम्भावना में 'चक्षुर्वै सत्यम्' में 'वै' पद व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि 'वै' निश्चयात्मक होने से अन्य सत्यों का निषेध करता है। 'वै' यह अन्य व्यावृत्तिपरक है। यह 'वै' एकान्तपरक होने से भी लक्षण में सापेक्षता स्थापना नहीं कर सकता। अतः नास्तिकवादी चार्वाकों का दर्शन सत्य के अंश से युक्त तो कहा जा सकता है, सम्पूर्ण सत्य नहीं। उपनिषदों की शैली में एक प्रकरण 'चक्षुर्वै सत्यम्' के निकट जैसा है। किन्तु वह आस्तिक विचारधारा की ओर ले जाता है।

इस प्रकार चार्वाक 'नास्तिक दर्शन' होने पर भी 'राजा ईश्वरः' मानने से ईश्वरवादी हैं और पूर्णतः 'नास्तिक' नहीं कहा जा सकता। हाँ! उसका ईश्वर आस्तिक पतंजलि की परिभाषा से दूर जा पड़ता है। 'योगदर्शन' में पतंजलि महर्षि का कहना है कि **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** जो क्लेशों, कर्मविपाकों से परामृष्ट नहीं है, वह पुरुष-विशेष ही ईश्वर है। चार्वाक मतानुसारी 'राजा' तो क्लेश-कर्म-विपाकाशयों से अपरामृष्ट नहीं है। किन्तु पतंजलि के सूत्र से ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा 'पुरुष' में नहीं, पुरुष-विशेष में है— यह बात दधिमंथन से नवनीत के समान तैरकर ऊपर आ गई। वह 'पुरुष-विशेष' कलेश और कर्मविपाक से रहित होना चाहिए।

श्रमण संस्कृति-परम्परा में तीर्थकरों पर यह परिभाषा संगत होती है। वे संसार के सामान्य पुरुषों से भिन्न होने से 'पुरुष-सामान्य न होकर' 'पुरुष-विशेष' हैं, घातियाकर्मों का नाश करने से कर्मविपाकों से अपरामृष्ट भी हैं और निर्ग्रन्थ होने से क्लेशमुक्त भी हैं। पतंजलि के 'योगदर्शन' का यह सूत्र तीर्थकरों को ईश्वर कहता है। अथर्ववेद (11/8/32) के अनुसार **विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते** विद्वान् 'पुरुष' को ब्रह्म के रूप में मानते हैं। 'पुरुष' शब्द यहाँ 'पुरुषार्थक्षम मनुष्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने वाले परमेष्ठी 'ब्रह्म' हैं। महाभारत शान्तिपर्व में 299 वें अध्याय के विंशतितम श्लोक में लिखा है **'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'** मैं 'ब्रह्म' के इस गुप्त रहस्य को बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। अर्थात् मनुष्य ही अपने तप से ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकता है। 'गीता भाष्य' में एक महत्त्वपूर्ण पद्य आया है–

**उत्सृज्य स्वयमात्मानं ये ध्यायन्त्यन्यदेवताम्।**
**भिक्षित्वा भूरिवित्तास्ते भिक्षित्वापि बुभुक्षिताः॥**

अर्थात् आत्मध्यान को छोड़कर जो मनुष्य अन्य देवों का ध्यान करते हैं वे स्वयं धनवान् (आत्मधन से धनिक) होते हुए भी भिक्षा के लिए हाथ फैलाने वालों के समान हैं और भिक्षा की याचना करते हुए भी भूखे हैं, दरिद्र हैं। किसी नीतिकार ने सत्य ही लिखा है–

**सब के पल्ले लाल, बिना लाल कोई नहीं।**
**यातें भयो कंगाल, गांठ खोल देखी नहीं॥**

यह आत्मा रूपी लाल (मणि) सबके अंचल में बँधी हुई है। इससे वंचित कोई नहीं है, फिर भी लोग यदि कंगाल (निर्धन) दिखाई देते हैं तो उसका कारण यही है कि उन्होंने गाँठ खोलकर अपनी 'लाल' को देखने का कष्ट कभी उठाया नहीं। इस सोरठी दूहे का विशिष्ट अर्थ यह है कि आत्मदर्शन मनुष्य की सबसे बड़ी पूँजी है, किन्तु उसमें सांसारिकता की 'गांठ' पड़ी हुई है, उस गांठ को खोलकर 'निर्ग्रन्थ' हुए बिना इस निर्धनता से छुटकारा नहीं मिल सकता। बाहर-भीतर की सभी ग्रन्थियों को खोलकर ही उस लाल मणि को (आत्मा को, ईश्वर को) प्राप्त किया जा सकता है। इस विषय में 'कबीर' का दोहा क्या कहता है? पढ़िए–

**तेरा सांई तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास।**
**कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़े घास॥**

अरे! तेरा परमात्मा तो तेरे भीतर ही है। जैसे पुष्प में उसका सौरभ। किन्तु कस्तूरी मृग जैसे अपनी नाभि में स्थित कस्तूरी को नहीं जानकर घास सूँघता फिरता है, इसी तरह तुम भी उसे बाहर-बाहर ढूँढ़ते फिरते हो। अर्थात् **मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः**। परमात्मा मनुष्य देह में छिपा हुआ है।

**''पर को अपना मान बैठा निज को पहचाना नहीं।**
**भूल है यह आपकी जो आपको जाना नहीं॥**
**आप को जाने बिगर परमात्मपद पाना नहीं।**
**परमात्मपद पाकर पुनःसंसार में आना नहीं॥''**

इस प्रकार आत्मा के उत्थान को महत्त्व देते हुए आस्तिक विचारधारा के मनीषियों ने उसे मनुष्य के भीतर ही प्रतिष्ठित किया और आत्मध्यान को सर्वोपरि बताया। वैदिकों के आचार्य शंकर ने 'वेदान्तदर्शन' में लिखा है– **सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पना अनेकप्रकारा।** (2-2-37) अर्थात् वैदिकों से इतर मतावलम्बी भी 'ईश्वर' को मानते हैं और उनकी मान्यताओं के अनेक प्रकार हैं। यहाँ संक्षेप में यह बताना आवश्यक है कि वैदिक मत में ईश्वर अनादि है, अव्यय है, सच्चिदानन्दस्वरूप

अजन्मा है और निरंजन निराकार है, किन्तु जैन धर्म में आत्माएँ ही अपने कर्मक्षय से जन्म-मृत्यु का क्षय करके तीर्थंकर, सिद्ध और मुक्त होकर परमात्मपद को प्राप्त करते हैं। ये परमात्मा घातिया कर्मों का क्षय करने से 'अरिहंत और अहिंसक सर्वोदयी आत्मतीर्थ की स्थापना करने से तीर्थकर' होते हैं। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में लिखा है–

**क्षुत्-पिपासा-जरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।**
**न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्तितः॥**

'जिसके क्षुधा, पिपासा, जरा (वार्धक्य), भय, जन्म, मृत्यु, रोग, गर्व, राग, द्वेष और मोह तथा चिन्ता, मद, अरति, खेद, स्वेद, निद्रा और आश्चर्य नहीं है वही आप्त (भगवान्) कहा गया है।'

जैनों की ईश्वर-विषयक यह मान्यता पतंजलि के 'योग दर्शन' से मिलती है। यूनानी दार्शनिक 'अरस्तू' कहता है कि– 'ईश्वर को सभी वस्तुओं का स्वाभाविक ज्ञान है। आत्म-मनन के अतिरिक्त उसे और कोई कार्य नहीं है। यदि कोई कार्य माना जाएगा तो ईश्वर से भिन्न उसका उद्देश्य या लक्ष्य भी मानना पड़ेगा। इससे ईश्वर में परिमितता का दोष आ जाएगा।' अमूर्तिक, निरंजन, निराकार और ज्ञानगम्य ईश्वर का स्वरूप है। ईश्वर स्वतन्त्र आत्मा के रूप में सभी प्राणियों में विद्यमान है। और सभी मनुष्य आत्मविशुद्धि से उसे परमात्मपदेन प्राप्त कर सकते हैं। आत्मोपलब्धि के प्रति मनुष्य का स्वयं का पुरुषार्थ ही समर्थ है। पाणिनि के सूत्र 'स्वतंत्रः कर्त्ता' का यही अभिप्राय है। कर्त्ता व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्मों की क्रिया में स्वतन्त्र है। उसकी क्रियाओं का संचालन अथवा नियमन उसकी अपनी आत्मा के अधिकार में है। अपने सुखों से प्रसन्न और दुःखों से विषण्ण व्यक्ति 'सुख-दुःख का प्रदाता परमात्मा है'— ऐसा मानने लगता है, किन्तु यह उसका व्यामोह है। क्योंकि **'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा। अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः।** सुख और दुःख स्वयंकृत कर्म के परिणाम हैं। कोई दूसरा देता है— यह कुबुद्धि है, असम्यग्दर्शन है। मैं ही करता हूँ— यह भी अभिमान है। लोक अपने-अपने कर्म-बन्धन में बँधा हुआ है। **लोकोऽयं कर्मबन्धनः** जैसे दैवीसूत्र देनेवाली 'भगवद्गीता' में कर्तृत्व के पराक्षेप का निराकरण करते हुए लिखा है–

**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।**
**न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥** –गीता 5/14

## ईश्वर कर्ता और स्रष्टा नहीं

ईश्वर लोक के कर्तृत्व और कर्मों का स्रष्टा नहीं है। वह लोक के कर्म-फल-संयोग की रचना भी नहीं करता। केवल स्वभाव अर्थात् पदार्थ की स्वयं की प्रवृत्ति

ही कर्मत्व और कर्मफल में निमित्त होती है। इस आशय का संवादी स्वर मूलाचार की 'गाथा' में प्राप्त होता है—

**लोको अकिट्टिमो खलु अणादिणिहणो सहावणिप्पण्णो।**
**जीवाजीवेहिं भरो णिच्चो तालरुक्खो संठाणो॥**

यह लोक अकृत्रिम है, किसी के द्वारा निर्मित नहीं। यह अनादिनिधन है, आदि-अन्त से रहित है। स्वभाव से निष्पन्न है। जीव और अजीव से भरा हुआ है। तालवृक्ष के समान है। इसका आशय है कि सृष्टि में जितने पदार्थ सत्तावान हैं उनका मूलनाश कभी नहीं होता और जिसका अत्यन्ताभाव है उसका सद्भाव नहीं होता। तात्पर्य यह हुआ कि **नया कुछ जन्मता नहीं और जन्मे हुए का सर्वथा नाश कभी होता नहीं**। केवल द्रव्यों के पर्याय (दशा) बदलते रहते हैं। जैसे सुवर्ण द्रव्य है। इससे पात्र, आभरण अथवा आयुर्वेदिक भस्म-भेषज बना लेने पर उसको कटक, कुण्डल इत्यादि नाम से पुकारा जाने लगता है। यहाँ सुवर्णरूप द्रव्य तो वही है केवल एक विशेष आकृति उत्पन्न हो गई है; जिसे लोक आभूषणों के नाम से पुकारता है। इस प्रक्रिया को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नाम से जाना जाता है। सुवर्ण ध्रुव है। उसके द्वारा निर्मित कुण्डलपर्याय उस सुवर्ण का ही रूपान्तर 'उत्पाद' है। कुण्डल को अग्नि में गलाकर पुनः सुवर्णपिण्ड बना लिया गया तो 'कुण्डल' दशा का नाश होने से पदार्थ में 'व्यय' सत्ता का आभास हुआ और सुवर्ण हो गया। प्रत्येक द्रव्य इसी प्रकार पर्याय परिणमन करता है। मिट्टी में फूल खिला, फल पुनः मिट्टी हो गया।

'पंचास्तिकाय' 15वीं गाथा है कि– **'भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।'** भाव का (सत् का) नाश नहीं और अभाव का उत्पाद नहीं। इस आशय को 'गीता' के शब्दों में **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** कहा गया है। द्रव्यों के मूल का अनुसंधान करते हुए श्रमण संस्कृति के तलस्पर्शी मनीषियों ने उनके छह विभाग किये हैं। विश्व में इन 'षड्द्रव्यों' की ही सत्ता है। इससे भिन्न सातवाँ द्रव्य नहीं है। अनन्त द्रव्यों की जो प्रतीयमान सत्ता भासित होती है वह इन मूल 'षड्द्रव्यों' का ही पर्याय-परिणमन है।

षड्द्रव्य ये हैं– जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन षड्द्रव्यों के चेतन और अचेतन दो वर्ग हैं। ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना से युक्त जीव 'चेतन द्रव्य है और इससे भिन्न 'पुद्गल' आदि पाँच 'अचेतन द्रव्य' हैं। पुद्गल एक जड़पदार्थ है, रूप, रस, गंध, वर्ण से युक्त है। आकाश में अवगाहन शक्ति है। चेतन वर्ग के जीवों के संसारी और मुक्त रूप से दो भेद हैं। 'पुद्गल' के भेदों का निरूपण 'नियमसार' में निम्न प्रकार से किया गया है–

**अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।**
**सुहुमं अइसुहुमं इति घरादियं होइ छब्भेयं॥**

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | स्थूलस्थूल | – | लकड़ी और पाषाण। |
| 2. | स्थूल | – | तैल, जल, दूध आदि द्रव्य पदार्थ। |
| 3. | स्थूलसूक्ष्म | – | धूप, चांदनी, छाया। |
| 4. | सूक्ष्मस्थूल | – | शब्द, सुगन्धि और दुर्गन्धि। |
| 5. | सूक्ष्म | – | कर्म (पाप-पुण्य)। |
| 6. | सूक्ष्मातिसूक्ष्म | – | अविभागी परमाणु। |

इन चेतन और अचेतन द्रव्यों की सत्ता अनादि है। इन्हीं के अनुबन्ध से **लोको अकिट्टिमो खलु** कहा गया है। **लोकोऽयं कर्मबन्धनः** यह लोक कर्म से बँधा हुआ है। कर्मबन्धन से ही लोक अनेक योनियों में उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से कर्म का संवर और निर्जरा करते हुए आन्तर-बाह्य-ग्रन्थि-विमुक्त निर्ग्रन्थ मुनि मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं। सांख्य दर्शन में इसी को 'अत्यन्तपुरुषार्थ' कहते हैं। **त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थं** अर्थ दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों प्रकार के दुःखों से अत्यंत निवृत्ति होना ही 'अत्यन्त पुरुषार्थ' अर्थात् 'मोक्ष' है। ऐसा सांख्यों का मत है। ईश्वर या ईश्वरत्वप्राप्ति के लिए विश्व के सभी धर्मों ने, सभी दर्शनों ने, अपने-अपने ढंग से विचार-विमर्श किया है, उपाय चिन्तन किए हैं– 'योगदर्शन' के मतानुसार यम और नियमों का यथाविधि पालन करने से ईश्वर-प्राप्ति होती है। योग दर्शन के ये पांचों 'यम' जैनधर्म के पांचों 'महाव्रत' ही हैं। योगदर्शनकार पतंजलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'यम' संज्ञा दी है और जैनशास्त्र में इन्हें 'व्रत' कहा है। इन 'यमों' अथवा 'महाव्रतों' से विशुद्ध अन्तःकरण में आत्मदर्शन की क्षमता आती है। और 'आत्मदर्शन' ही ईश्वर का साक्षात्कार है। **स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते** उपनिषद् कहता है कि वह ब्रह्म अथवा ईश्वर आत्मा से ही ग्रहण किया जाता है।

पंच महाव्रतों में 'अहिंसा' मुख्य है। आचार्य समन्तभद्र को यह सम्पूर्ण विश्व 'अहिंसा' से ही परिचालित दिखाई दिया। अहिंसा के इस विराट दर्शन से प्रभावित होकर उन्होंने लिखा– **अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्**— मैंने जाना है कि सम्पूर्ण जगत में 'अहिंसा' सर्वोपरि है। इसे ही 'ब्रह्म' कहना चाहिए। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ विराट् और व्यापक है। चराचर विश्व में 'जीओ और जीने दो' अहिंसा का ही फलितार्थ है। 'हिंसा' नाश और 'अहिंसा' निर्माण का सूत्र है। सृष्टि का विराट् भाव 'अहिंसा से परिच्छिन्न है। अतः अपने भूमात्व में अहिंसा ही ब्रह्म है। **अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः** अहिंसा की प्रतिष्ठा करने वाले के समीप प्राणीमात्र का वैरभाव समाप्त हो जाता है, हिंसकत्व निरस्त हो जाता है।

इस प्रकार अहिंसा हिंसा को परास्त कर वात्सल्य की स्थापना करती है। भगवान् महावीर के इसी निर्वैर भाव से प्रभावित होकर उनके समवशरण में सिंह और गाय एक पात्र में पानी पीते हैं। अहिंसा में विश्व का विराट् भाव समाहित है। अहिंसा प्राणिमात्र के लिए अभयपत्र है। हृदय के भावों को सर्वप्रथम नेत्र ही पहचानते हैं। जिसके नेत्रों में प्रीतिवात्सल्य की पयस्विनी प्रवाहित होती है उसके समक्ष हिंसा के भाव टिक ही नहीं सकते। अहिंसा धर्म की इसी विशिष्टता पर किसी ने कहा है–

**प्राणानां परिरक्षणाय सततं सर्वाः क्रियाः प्राणिनां।**
**प्राणेभ्योऽप्यधिकं समस्तजगतां नास्त्येव किंचित् प्रियम्॥**
**पुण्यं तस्य न शक्यते गणयितुं यः पूर्णकारुण्यवान्।**
**प्राणानामभयं ददाति सुकृती येषामहिंसाव्रतम्॥**

प्राणियों की सभी क्रियाएँ प्राण-रक्षा के लिए होती है। सारे संसार में प्राणों से अधिक प्रिय कुछ और नहीं है। उस महानुभाव के पुण्यों की गणना नहीं की जा सकती, जो पूर्णरूप से करुणायुक्त है। अहिंसाव्रत का पालन करने वाला समस्त विश्व को अभय दान करता है।

## चारित्र ही ईश्वरीय रूप है

आस्तिक और ईश्वरपरायण होने का गौरव प्रायः सभी प्राप्त करना चाहते हैं, क्योंकि आस्तिक्य और ईश्वरपरायणता में व्यक्ति के सर्वोच्च गुणों का समावेश निहित है, किन्तु गौरव, गुरुता, गरिमा, बाह्य वस्तु नहीं है, वह तो अपने व्यक्तित्व की गरिमा का विकास है, अभ्यन्तर से बाहर की ओर स्वभावसिद्ध गुणावली का उत्पेक्षण है। एक बीज के समान जो उर्वर भूमि, पानी और प्रकाश प्राप्त कर अंकुरित होता है। चारित्र भी अपने सद्गुण समूह से प्रतिष्ठा के स्वयंसिद्ध आसन पर विराजमान होता है।' यदि व्यक्ति के पास चारित्र है तो उसके पास विश्व की सभी सम्पदाएँ हैं और यदि चारित्र नहीं है तो विश्व की सभी सम्पदाओं के सुलभ होने पर भी वह नितान्त दरिद्र है, दुर्गत है।

सत्, चित् और आनन्द, ईश्वरीय रूप के तीन विवर्त हैं। जिसके हृदय में सत्य, चेतना (विवेक) और आनन्द नहीं हैं, वह ईश्वरीय रूप से अपरिचित है। आनन्द की सृष्टि को चेतना में संक्रमित करने के लिए व्यक्ति को सत् की उपासना करनी चाहिए। इस संसार में 'सत्' को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपना जीवन दीक्षित अथवा व्रती बनाना आवश्यक है। व्रतों के आचरण से मन बुद्धि का परिमार्जन होता है। लौकिक भाषा में जिसे नियम कहते हैं अध्यात्म में उसे 'व्रत' कह कर संबोधित किया गया है।

सर्वत्र, अणु महत् में चेतना (**चेतनालक्षणो जीवः**) की स्थिति मानने वाले का

आचरण पूर्ण अहिंसक होना चाहिए। हिंसा वध का नामान्तर है। वध मृत्यु-परिणामी है। कोई भी जन्म ग्रहण करने वाला प्राणी वध (हिंसा, मृत्यु) नहीं चाहता। वधिक भी जो नित्य दूसरों का वध करता है, अपने वध की कल्पना से भी त्रस्त हो उठता है। अतः विश्व में निर्वैर होने के लिए, जीवन की सम्पूर्णता भोगने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसक होने की शपथ लेनी चाहिए। यह हिंसा किसी का प्राणान्त करने पर ही नहीं होती, अपितु मनःसंकल्प से, कठोर भाषित से और अनिष्ट चिन्तन से भी होती रहती है। यदि हम गाड़ी में बैठे हैं और आने वाले यात्री को बैठने के लिए स्थान नहीं देते हैं तो यह भी उसकी भावनाओं की हिंसा है। न केवल उस यात्री के भावों की, अपितु अपने मन में अवगाहना शक्ति का जो संकोच हुआ, अपनी आत्मा में जो संकीर्णताजन्य दुर्बलता आई, उससे आत्मा के अनन्त वीर्य को धक्का लगा है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि अनिष्ट का प्रथम उन्मेष अपने में होता है और उस अनिष्ट के आवेग में अस्थिर होकर हम दूसरों का अनिष्ट करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। दान देने वाला किसी याचक की दयनीयता पर द्रवित होकर दान नहीं देता है, अपितु दान करने से उसका उदात्त 'अहं' संतुष्ट होता है इसलिए दान देता है। किसी भी सुख-दुःखमयी प्रवृत्ति का उदय अपने भीतर होता है। बाहर जो व्यवहार देखने में आता है वह उसका परिणाम मात्र होता है। इस भावना को ध्यान में रखते हुए 'अजातशत्रु' होने के लिए व्यक्ति को किसी के प्रति भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसक भाव नहीं रखने चाहिए। इस एक को भी पूर्णतः पालन करने की भावना आने पर व्यक्ति वस्तुओं में मिलावट नहीं कर सकता, अनुचित लाभांश नहीं ले सकता और असत्य, चौर्य, व्यभिचार तथा परिग्रह का अपरिमित संचय नहीं कर सकता, क्योंकि उसे वैसा करने में स्पष्ट हिंसा की जाती हुई दिखाई देती है।

इस प्रकार की उदार अहिंसा के पालन से उसकी दृष्टि में व्यापक दर्शन की क्षमता आविर्भूत होती है और दृष्टिकोण की विशालता से चारित्र में उत्तमता आती है। लोग मिथ्या बोलते हैं, चोरी से, जारी से धनसंचय में लगे रहते हैं, इन्द्रियों के दास होकर 'अगम्या' गमन करते हैं, दूसरों को नोंच-खसोटकर धन-कुबेर होने के यत्न करते हैं और इस तृष्णा-नदी में बहते हुए मृत्यु-समुद्र में पहुँच जाते हैं। उस समय उनकी मुट्ठी में अपनी चिता की भस्म भी नहीं होती। यहाँ जिन अपराध-वृत्तियों से जो संचित किया उसका एक कण भी साथ नहीं ले जा सके। फिर भी लोग शिक्षा नहीं लेते और चारित्रमार्ग को नहीं अपनाते। अन्त में तो 'राम नाम सत्य है।' इन नश्वर उपादानों के पीछे जन्म नष्ट किया, इससे बढ़कर आत्महानि क्या हो सकती है? किन्तु यह निर्वेद जीवन में ही आये तो अच्छा, यमदूतों की छाया पड़ने के उपरान्त तो निर्वेद पश्चात्ताप बनकर रह जाता है।

## उत्तम चारित्र ही सच्चा आभूषण

महिलाएँ आभूषणों से विशेष प्रेम करती हैं। आभूषणों से उत्तम आभूषण तो उसका चारित्र ही है। सीता, ब्राह्मी और चंदना के पास उनका सर्वोत्तम आभूषण 'चारित्र' था। इसी से धर्मगाथाओं में उनका श्रद्धासहित स्मरण किया जाता है। उनका नाम स्त्रियों के चारित्र को दिशा प्रदान करता है। मनुष्य मद्य-मांस सेवन से, जूआ खेलकर सप्त व्यसनों में सुख मानता हुआ अपना अधःपतन कर लेता है। चारित्र भी कोई वस्तु है, उसे पता भी नहीं लगता। ऐसा जीवन पशु से भी अधम है। पशु तो अपनी प्रकृति बरतता है, किन्तु मनुष्य तो जानबूझ कर विकृति की शरण में जाता है। यदि सब लोग चारित्र पालने लगें तो ईश्वर की दिव्यता के सारे उपमान मनुष्य को लग जाएं। पृथ्वी तो आज भी **हिरण्यगर्भा** और **वसुमती** है, सोना उगलती है। किन्तु मनुष्य चारित्र से पतित हो गया है, इसीलिए पृथ्वी द्वारा अपने पुत्रों को दिया जाने वाला अन्न कुछ डाकुओं द्वारा लूट लिया जाता है। प्रकृति के वन आज भी स्वादु फलों से लदे हुए हैं, किन्तु मण्डियों में गुड़ भी भ्रष्टाचारियों ने मँहगा कर दिया है।

मनुष्य के चारित्र-दोष से न केवल मनुष्य ही दुःखी हैं, अपितु पशु-पक्षी भी घोर विपत्तिग्रस्त हैं। मनुष्य ने अपने लाभ के लिए वनों का संहार कर दिया है, गायों को आधे पेट घास नहीं मिलती। गृहस्थों के घरों पर 'खूंटे' से बांधकर इस प्रकार के लाखों मूक पशुओं की हत्या हो रही है और इस बधिकत्व में वे भी सम्मिलित हैं जिन्हें 'कसाई' नहीं कहा जा सकता। गाय का दूध पीकर उसके खून सुखाने में लगे हुए ये लोग मन्दिरों में जाते हैं, मस्जिदों में नमाज पढ़ते हैं, गिरिजाघरों में प्रार्थना करते हैं। कपड़े भी भव्य और भड़कीले पहनते हैं, किन्तु इनके वस्त्रों पर अगणित धब्बे लगे हुए हैं। क्योंकि ये धब्बे पूरे समाज के वस्त्रों पर लगे हुए हैं, इसलिए कोई एक-दूसरे से इस विषय की चर्चा नहीं करता, घिन प्रकट नहीं करता। छानकर पानी पीने वालों को कबीर कहते हैं—

**पड़ोसी सूं रूषणा, तिल तिल सुख की हानि।**
**पंडित भये सरावगी, पानी पीवे छानि॥**

जो अपने पड़ोसी से रूठता है, बैर करता है, उसके छोटे से छोटे सुखों की भी प्रतिक्षण हानि होती रहती है। वह श्रावक जो पानी छान कर पीता है, और इसी में अपने को ज्ञानी पंडित मानता है, यदि पड़ोसी से इस अहिंसा धर्म का व्यवहार नहीं करता तो वास्तविक पंडित नहीं है।

चारित्र से पतित मानव का ईश्वर अदृश्य हो गया है। अपने दुःशील से घनीभूत अन्धकार में वह भटक रहा है। जब तक उसमें चारित्र का अरुणोदय नहीं हो, उसका सत्यपुरुषार्थ प्रकट नहीं हो सकता। चारित्रसम्पन्न स्वाभिमानी होता

है। इस विशाल भारत राष्ट्र में आज चारित्रदुर्बलों की संख्या अधिक प्रतीत होती है जो स्वतंत्रता के वर्षों बाद भी दयनीय स्थिति में पड़े हुए हैं। **जो आत्मनिर्भर नहीं वह स्वतंत्र कैसा?** स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता एक ही समानार्थी शब्द हैं। यदि हम आत्मनिर्भर नहीं हैं और परराष्ट्रों के मुखापेक्षी हैं तो सच्चा स्वातन्त्र्य हम से अभी दूर हैं। चारित्र का आद्य अक्षर 'च' कार भी हमने हस्तगत नहीं किया। चारित्र का स्वाभिमान हमारी अकर्मण्य हीनताओं के पंक में फंसा हुआ है। हमारा ईश्वर मन्दिरों में है, और हमारा दानव (शैतान) दिन का साथी बनकर हमें पथच्युत करने में लगा है। एक संयमहीन व्यक्ति पाँच-पाँच इन्द्रियाश्वों पर आरूढ़ होकर तीव्र गति से दौड़ रहा है। उसके साथ में अश्वों को रोकने की लगाम नहीं है। किस गर्त में गिरकर कब चकनाचूर हो जाएगा, पता नहीं। चारित्र जीवनयात्रा में 'लगाम' है, वह व्यक्ति को संयत रखती है और पतन के गहरे गर्त से बचाती है। चारित्रशून्य व्यक्ति अपने रथ को ईश्वर के प्रदेश में नहीं ले जा सकता। ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है।

❖❖

# आदि कृषिशिक्षक भगवान आदिनाथ

**सुप्रभातं तवैकस्य वृषभस्य महात्मन:।**
**येन प्रवर्तितं तीर्थं भव्यसत्त्वसुखावहम्॥**

—सुप्रभातस्तोत्र, 13

**कल्पयुग की परम्परा**— वर्तमान में इस लोक की संज्ञा कर्मभूमि है। यहाँ प्राणियों के शरीर की रचना उनके कर्मठ होने की सूचना देती है। मानव के सबल हाथ-पाँव उसके कर्मों में सहायक हैं। इस प्रकार मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के कार्यकलाप इस संसार को कर्मभूमि/कर्मक्षेत्र प्रमाणित करते हैं; किन्तु जैन अनुश्रुति के अनुसार कर्मभूमि से पूर्व के युग में यह भूमि भोगभूमि थी, जिस पर सर्वत्र कल्पवृक्ष बहुलता से विद्यमान थे। मनुष्य को बिना किसी श्रम के आहार मिल जाता था और जीवन नाना प्रकार के सुखोपभोगों से भरा-पूरा था। आवश्यक वस्तुओं के अनायास उपलब्ध होते रहने से मनुष्य में हिंसा, चौर्य और संग्रहवृत्ति का अभाव था। इस प्रकार वह कल्पवृक्ष-युग मानव का भोगभूमि-युग था, जिसमें जीवन के सभी साधन प्रचुरता से मिल रहे थे, किन्तु प्रकृति के नियम के अनुसार सुख-दु:ख, रात्रि-दिन, और जल-थल परिवर्तित होते रहते हैं और इनका उत्पाद-व्यय-चक्र कभी अवरुद्ध नहीं होता, फलस्वरूप कल्पमहीरुहों (कल्पवृक्षों) का युग समाप्त हुआ और कृतयुग आ पहुँचा।

**कल्पयुग से कृतयुग**— कल्पयुग में मानस-संकल्प-मात्र से अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती थी, किन्तु कृतयुग में मनुष्य के प्रयत्नों से (कृत से) इच्छित वस्तुएँ उपलब्ध होने लगीं, इसलिए इसे कर्मभूमि की संज्ञा मिली और मानव के कृत से, उसके प्रयत्न और कार्य से उसे जीवनीय सुखों की प्राप्ति संभव हुई। प्रजा के जीवन में क्रान्ति आयी। जो लोग बिना-श्रम किये कल्पतरुओं की अशेष इच्छापूरण छाया में रहा करते थे, उन्हें जीवन-यापन के लिए अब कष्टों का सामना करने पर बाध्य होना पड़ा। महापुराण में इस बदलते हुए युग में प्रजा की मानसिक दशाओं का वर्णन करते हुए आचार्य जिनसेन ने जिन तथ्यों की ओर संकेत किया है, वे बहुत मर्मस्पर्शी हैं। वे लिखते हैं—

**कल्पद्रुमेषु कात्स्न्र्येन प्रलीनेषु निराश्रया:।**
**युगस्य परिवर्तेऽस्मिन् अभूवन्नाकुला: प्रजा:॥**

**तीव्रायामशनायायामुदीर्णाहारसंज्ञया ।**
**जीवनोपायसंशीतिव्याकुलीकृतचेतसः॥**

कल्पवृक्ष अदृश्य हो गये, सर्वथा लुप्त हो गये। प्रजा उस समय निराश्रय (आश्रय-विहीन) होकर आकुल-व्याकुल हो उठी। भूख की तीव्रता से उन्हें बचना संदेहास्पद लगने लगा। वे चिन्ताकुल होकर सोचने लगे—अहो! अब हम कैसे जियेंगे? हा! हमारे पुण्यों का अवसान हो गया। कल्पवृक्षों के स्थान पर उनसे भिन्न पत्र-पुष्प, वल्कल, वर्ण और फल वाले वृक्ष दिखायी दे रहे हैं, किन्तु कौन जाने, ये विषमय हैं अथवा अमृतमय? इनका आस्वाद कैसा है? मधुर या कटु-तिक्त? हमें बहुत तीव्र बुभुक्षा बाधित कर रही है और इन अपरिचित वृक्षों की फल-भार-विनम्र शाखाएँ हमें संकेत दे-देकर मानो बुला रही हैं। क्या इन्हें छोड़ दिया जाए, अथवा खा लिया जाए? क्षुधा से बुद्धि-विवेक कुण्ठित हुए हैं। कैसे हो इनका उपयोग? हा! संकट में किससे पूछें? कौन मार्ग बताये?

**नाथ! कैसे जियें हम?**— इस प्रकार अनेक दुश्चिन्ताओं से हास्थके प्रजाजन अपनी शंकाओं को दूर करने तथा मार्ग-दर्शन प्राप्त करने के लिए अपने समकालीन युगमुख्य नाभिराज के समीप पहुँचे। नाभिराज चौदहवें मनु थे। अपरिमित मेधा के धनी और प्रजा-हितू। उनके सम्मुख उपस्थित होकर उन्होंने दीन वाणी में कहा— 'हे नाथ! हम कैसे जियें?' उन्होंने कल्पवृक्षों का अभाव तथा उनके स्थान पर उगे अन्य फलवान् वृक्षों की ओर संकेत करते हुए पूछा कि क्या हमें भूखों मरना पड़ेगा, या इन नवोत्पन्न वृक्षों में लम्बमान फलों का सेवन हितकर होगा? आप सब जानते हैं, अतः कृपया बताएँ। आपकी प्रजा के प्राणों पर संकट उपस्थित हुआ है। नाभिराज ने सुना और उसकी दुविधा को समझा। वह केवल चौदहवें कुलकर ही नहीं थे, अपितु आदितीर्थंकर भगवान् आदिनाथ के जनक भी थे। जिस समय आदिनाथ गर्भ में थे, देवों ने नाभि के घर को रत्नवर्षा से संकुल कर दिया था, इसलिए बालक का नाम हिरण्यगर्भ रखा गया। माता मरुदेवी के गर्भ से अवतीर्ण इस युगपुरुष के गुप्कर्म-प्रचोदन (प्रेरण) से अनेक नाम रखे गये, जिनसे गर्भवास के समय से ही इनके विलक्षण होने का पता चलने लगा था। नाभिराज ने प्रजा को अवधिज्ञानी पुत्र आदीश्वर की ओर संकेत करते हुए कहा कि अपनी शंकाओं का समाधान इनसे लो। भगवान् आदिनाथ ने प्रजा पर घिरे युगान्तस्-जनित संकट तथा परिवर्तन को समझा और बोले— कालचक्र के परिवर्तन से भोगभूमि का अन्त हुआ, अब कर्मभूमि में कर्म करते हुए जीवन-मार्ग को दैवी बनाने का प्रयत्न करो। उन्होंने बताया—

**असिर्मषी कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।**
**कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः॥** —आदिपुराण, 16/179

**कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता**— अब प्रजा को जीविकोपार्जन के लिए कर्म करना

होगा। जीवन में असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प–ये छह कर्म आवश्यक हैं। इनमें असि, मसि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प कृषि पर निर्भर हैं, अतः प्राणरक्षार्थ कृषि करो। कृषि का अर्थ करते हुए उन्होंने बताया– पृथ्वी के विलेखन (जोतने) को कृषि कहते हैं (कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता)। जैसे अनार को चीरने से उसमें से रसपूर्ण दाने निकलते हैं, उसी तरह पृथ्वी को हलमुख से दीर्ण करने और उसमें बीज बोने से तुम्हें प्राणरक्षक अन्न की प्राप्ति होगी। जैसे पूर्वकाल में तुम्हें कल्पवृक्षों से इच्छानुरूप फल मिलते थे, उसी प्रकार कर्मभूमि में स्वयं-उत्पन्न इन पादपों से तुम्हें फल प्राप्त होंगे। देखो! ये लम्बे दण्डाकार खड़े इक्षु हैं, इन्हें निष्पीड़ित करने से तथा दाँतों से दबाकर चूसने से मधुर जीवनोपयोगी रस मिलेगा। ये औषधियाँ हैं और खड़े हुए डंठल से प्रतीयमान ये अन्नप्ररोह (अंकुर) हैं। इनमें ये विषपादप हैं, जिन्हें खा लेने पर मृत्यु अवश्यम्भावी है। इत्यादि उपदेश देते हुए भगवान् आदिनाथ ने कर्मभूमि की व्यवस्था की। आदिपुराण का वचन है–

**आषाढमासबहुलप्रतिपद्दिवसे कृती।**
**कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान्॥** –आदिपुराण, 16/190

आषाढ़ मास, कृष्णपक्ष प्रतिपदा के दिन भगवान् आदिनाथ ने कृतयुग का सूत्रपात किया और इस प्रकार प्रजा की रक्षा करने से 'प्रजापति' पद धारण किया। आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् की इसी भूतानुकम्पा को छन्दोबद्ध करते हुए लिखा है–

**प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः, शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।** –बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, 2

प्रजापति भगवान् आदिनाथ ने जिजीविषा-संपन्न प्रजा को कृषिकर्म में शिक्षित किया। 'आदिपुराण' का सूक्त है–

**कृष्यादि कर्मषट्कं च स्रष्टा प्रागेव सृष्टवान्।**
**कर्मभूमिरियं तस्मात्तदासीत्तद्व्यवस्थया॥**

भगवान आदिनाथ का कृषि के लिए यह आग्रह न केवल प्रजा के निमित्त अन्नोत्पादन का प्रशिक्षण था, अपितु इसमें एक सात्त्विक रहस्य भी था कि अन्न के अभाव में यदि प्रजा का भक्ष्याभक्ष्य विवेक लुप्त हो गया तो यह बहुत ही भयंकर होगा; क्योंकि अन्ततः अन्न की समस्या मनुष्य के प्राणों की समस्या बन जाती है। अन्न के अभाव में मनुष्य में चरित्र का अभाव हो सकता है। किसी नीतिकार ने कहा है– **सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः** (अन्न की मात्र एक मुट्ठी के लिए संसार के कार्यकलाप चलते हैं)। दुर्भिक्ष की छाया मानव की चेतना पर भी पड़ती है और जैसे वह भूमि को अन्नांकुरहीन कर देती है, वैसे मनुष्य-प्रकृति को भी दारुण बना देती है। विल्हण कवि ने 'राजतरंगिणी' में कहा है– **दुर्भिक्षेण जनक्षयः** (अकाल से जनक्षय होता है)। दुष्काल में मुनियों को सल्लेखना लेने का विधान शास्त्रों में

विहित है। **बुभुक्षितः किं न करोति पापम्** —भूखा व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं करता? एक हिन्दू भक्त ने तो यहाँ तक कह दिया कि–

**भूखे भजन न होय गोपाला।**
**ले लो अपनी कंठी-माला॥**

भला, भूख से तिलमिलाते प्राण भजन में तन्मयता कैसे रख सकते हैं? गोपाल की दी हुई कण्ठी-माला तो उदरगुहा में अन्नदान करने पर ही धारण की जा सकती है। **विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः** (आहाररहित शरीर के विषय लौट जाते हैं); किन्तु यह साधना के मार्ग में स्वयंकृत उपवास की बात है, जो विषयों के वेग को निष्प्राण करने के लिए है। फिर भी इतना तथ्य तो है ही कि बिना खाये. पीये प्राण उछलकर कण्ठ में और फिर आँखों में आ जाते हैं; क्योंकि **इयमुदरदरी दुरन्तपूरा** (यह पेट की गुहा दुष्पूर है)। प्रतिदिन इस अन्धकूप में कुछ-न-कुछ डालना ही होगा। यही सोचकर भगवान् प्रजापति ने अन्नोत्पादन के लिए कृषि का प्रवर्तन किया।

**अहिंसक संस्कृति और कृषि कर्म**– अहिंसक जैन संस्कृति में विधाता प्रजा को इससे अधिक श्रेष्ठ मार्ग और क्या बता सकते थे? कुछ लोग शंका करते हैं कि कृषि करने वाले किसान के द्वारा क्या हिंसा नहीं होती? भूमि-विलेखन करते हुए न जाने कितने कीट हल-मुख से मरते होंगे, किन्तु उनका यह कहना अनुचित है, क्योंकि हल से भूमि-दारण करते हुए कृषक के भाव कीट-भृंग की हिंसा के नहीं हैं, अपितु उत्पन्न होने वाले अन्न से प्राणिरक्षा के हैं। परिणाम विशेष से ही उसकी हिंसकता अथवा अहिंसकता चरितार्थ होती है। एक मत्स्य-वधिक जाल अथवा वंशी डालकर दिन-दिन-भर जलाशय पर बैठा है और सारे दिन में एक भी मछली उसके जाल में नहीं फँसी। इधर एक किसान के हल के नीचे कितने-ही क्षुद्र जीव अजाने ही कुचले गये। शास्त्रकारों का बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय है कि यहाँ मछुहारा ही पापी है, क्योंकि वह मारने के संकल्प लेकर ही जाल लगाये बैठा है। किसान तो शस्य के लिए कर्मरत है। यदि एक शल्य-चिकित्सक (सर्जन) रोगी के किसी अंग में चाकू चुभोता है, उसे चीरता है, तो क्या वह पाप है? पाप की परिभाषा भाव-बोध है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए 'तत्त्वार्थवृत्ति' में लिखा गया–

**अघ्नन्नपि भवेत् पापी, निघ्नन्नपि न पापभाक्।**
**परिणामविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ॥**

इस प्रकार शाकाहारी विश्व की रचना करते हुए भगवान् आदिनाथ ने कृषि का उपदेश दिया। कृषि का यह उपदेश उनकी प्राणिदया का निदर्शक है, उनकी सत्त्वानुकम्पा का उदाहरण है। अहिंसक दृष्टिकोण का बीज है। गेहूँ के बीज से गेहूँ उत्पन्न कर उन्होंने प्रजा को यह भी बता दिया कि मानव सदा से मानव है,

वानर नहीं। डार्विन ने मनुष्य को जो वानर बता दिया, उसका प्रतिवाद करते हुए गेहूँ, जौ, चावल और अन्यान्य वनस्पतियों के अंकुर फलोद्‌गम बाँहें उठाकर मानों घोषणा करते हैं कि हम बीज प्राकृतिक हैं, सहस्रों गर्भाधान भी हमारे मूल जाति रूप से हमें पृथक् नहीं कर सकते। अनादिकाल से हम चावल ही उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य आज भी मनुष्य है और वानर आज भी वानर है। डार्विन का सिद्धान्त, सिद्धान्त नहीं, भ्रम है।

**अन्न और मन का सम्बन्ध**– इस प्रकार अन्नोत्पादन का सर्वप्रथम मार्गदर्शन करने वाले भगवान् आदिनाथ हुए। अन्न के उत्पादन का आग्रह रखने का आशय यही है कि इससे निरवद्य सात्त्विकता का मिश्रण रक्त में होता है। लोकोक्ति है कि– जैसा खाये अन्न, वैसा पाये मन्न। **यथा मतिस्तथा गतिः** (जैसी बुद्धि वैसी गति)। पश्चिम के राष्ट्र एक के बाद एक युद्ध रचाते रहे हैं; क्योंकि वे मांसाहारी हैं। मांसाहार विचारों में से सत्वृत्ति का संहार कर देता है। पशु-मांस के लोलुप ही नर-मांस-भक्षण के लिए युद्ध का तरीका अपनाते हैं। यदि वे मांसाहार छोड़ दें, तो उनका मस्तिष्क युद्ध-रचनाओं से हटकर शान्ति-प्रयासों में तत्पर हो सकता है। कुछ मांसाहारी अपने पक्ष में यह दलील उपस्थित करते हैं कि वे अन्न कम होने से मांस खाते हैं; किन्तु विपुल मात्रा में अन्न का निर्यात करने वाला अमेरिका मांसाहारी क्यों है? क्या वहाँ अन्न की कमी मांसाहार के लिए कारण है? नहीं, मांसाहार एक व्यसन है। आत्मचेतना-शून्य, भौतिक अहंवाद की परिणति है। जिह्वा और मन पर लगा हुआ कुसंस्कार है। इन्द्रियों की आराधना करने वालों का पालित अभिशाप है। जब मनुष्य की प्राणाग्नि रौरव हो उठती है, तब वह इस घोर कदन्न (दूषित आहार) की माँग करती है। संस्कार-विशुद्ध घरों के लोग भी छिपकर इस व्यसन के शिकार हो जाते हैं। आहार मनुष्य के विचारों, प्रकृति और संस्कारों का परिचायक है।

**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**– व्रती और संयमियों का मार्ग अ-स्वाद का है जो विषयाग्रही दिङ्‌मूढ़ मात्र शरीरी हैं, शरीरवादी हैं, उन्हें ही जीववध-जनित आमिषाहार रुचता है। **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।** यह मनीषियों की गवेषणा है; अतः भगवान् आदिनाथ के अन्नोपदेश को दृष्टि-पथ में रखते हुए कोई भी ईमानदार व्यक्ति यह घोषणा कर सकता है कि भगवान् आदिनाथ ने अहिंसक विश्व-रचना के प्रथम सूत्र को आहार में देखा और उसके लिए उपाय (चिन्तन) किया। उनका यह अनुशासन संपूर्ण सत्-संस्कारों की आधार-भूमि कहा जा सकता है; क्योंकि **अन्नमयोऽयं पुरुषः** (यह पुरुष अन्नमय है)। आयुर्वेद का अभिमत है कि**रसासृक्‌मंसमेदोऽस्थिमज्जा-शुक्राणि धातवः** (मनुष्य-शरीर में सात धातुएँ हैं— खाये हुए अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र बनता है)। इस रसपरम्परा में मूल रसायन पदार्थ के गुण ही संक्रान्त होकर ओज

तक चले जाते हैं। जो हित-मित और सत् भोजन करता है, उसका प्रभाव उसके परिणामों पर पड़ता है; अतः शान्ति, सौमनस्य, प्रेम, दया, अहिंसा और विश्व-बन्धुत्व के लिए 'अन्नमय' आहार लेना आवश्यक है। अन्न-वर्जित आमिष-आहार का प्रभाव मनुष्य की मति, मेधा, प्रवृत्ति और भावनाओं पर होता है तथा उसे लोभी, दम्भी, स्वार्थी, कदाशय और हीन मनोवृत्ति का बना देता है। आज शत-शत मनुष्यों में जो नैतिक पतन हो गया है, उसका कारण आहार-विवेक का न रखा जाना है। आहार-विवेक में केवल अन्न ही सम्मिलित नहीं है, अपितु अन्नोपार्जन में जो वृत्ति की शुद्धता है, वह भी कारण है। न्यायोपार्जित वित्त के क्रीत अन्न का ही परिणाम शुभोदयी होता है; क्योंकि बीज में ही वृक्ष के अशेष अवयव धर्म समाहित हैं। यदि बीज विषाक्त है, तो वृक्ष और उसके फल में माधुर्य का समावेश कैसे हो सकता है? **यथा मूले तथा चूले।** यह सिद्धान्त साध्य और साधन के विषय में पश्चिम की नीति से भिन्नता रखता है। जहाँ दूसरों का मत है कि साधन कैसे भी हों, हमें तो साध्य को प्राप्त करना है, वहाँ जैन दर्शन की दृढ़ मान्यता है कि साध्य तक पहुँचने और उसकी पवित्रता रखने के लिए साधनों की शुचिता अपरिशंकनीय है। धर्म के दस लक्षणों को देखकर इस पवित्रता का अनुमान लगाया जा सकता है। धन-प्राप्ति के लिए न्यायमार्ग का समर्थन करते हुए अचौर्य-पालन की शिक्षा जैनधर्म देता है। यह नहीं कि–

**घटं भिंद्यात् पटं छिन्द्यात् कुर्याद् रासभरोहणम्।**
**येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्॥**

प्रसिद्धि की दुर्दमनीय लालसा रखने वालों को लक्ष्य में रखकर कवि कहता है कि लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह घड़े को पटक कर तोड़े, बीच बाजार में कपड़े फाड़ डाले, गधे पर बैठकर निकले, कोई भी उपाय करे और प्रसिद्ध हो। वहाँ येन-केन-प्रकारेण साधनों की विपर्यस्तता को सूचित करता है; किन्तु यह उचित तथा नीतिमय पन्थ नहीं है। जो प्रत्येक चरण उठाते समय सम्यक्त्व का चिन्तन करते हैं, उसे हृदय में रखते हैं, आँखों की पलकों पर उठाये हुए होते हैं, उनके क्रिया-कलापों में साधनों की विशुद्धि परम आवश्यक है। जीवन को विशुद्ध रखने के लिए इसी साधनशुचित्व को अन्तरंग में रखकर भगवान् आदिनाथ ने कृषि का उपदेश दिया।

**गोपालक अहिंसक संस्कृति और गोवध**– आज के दिग्भ्रान्त नायकों ने राष्ट्र को अशुचिता के हाथ बेच दिया है। उदर भरण के लिए वैदेशिक अन्न का आयात करने पर भी उन्हें मत्स्य-मुर्गी पालन में राष्ट्रीय क्षुधा की शांति दिखाई देती है। विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए गोहत्या आवश्यक प्रतीत होती है। सुभाषित के समान मधुर तथा साधु के समान निर्दोष गौ को मारकर गोपालक गोपालकृष्ण के राष्ट्रीय सहोदर और महावीर भगवान् के अहिंसक देश के प्रतिनिधि व्यापारी

किस अन्ध पातक के अतल गह्वर में गिरे जा रहे हैं, यह वक्तव्य क्या **जाग्रत्प्रबोध** मात्र नहीं है। जिह्वालोलुपता के शिकार मांस में मांस की आहुति दे रहे हैं। यह शरीर, जिसमें आत्मा का निवास है, जिसके सहयोग से देवत्व और उससे उत्कृष्ट अमर विभूतिपद मिल सकता है, विवेकहीन होकर उन दुर्गन्धियों के ढेर का चक्कर लगा रहा है जिनको देखकर भी घृणा होती है। संस्कारों के जहाँ संकीर्तन होते है, पवित्रता के घण्टे गूंजते हैं, धर्म के दस विभूति चरणों को जहाँ हृदयंगम किया जाता है, जहाँ के लोग आज भी सात्त्विकता के पक्ष में हैं, मुनियों, महर्षियों का वैयावृत्य जिन्हें प्रसन्न करता है, वहाँ रौरव नरक का दृश्य उपस्थित करने वाले 'बूचड़खाने' अन्न की कमी के नाम पर मुद्रा-स्फीति की दुहाई देकर और जिह्वा की खोटी माँग से लाचार होकर चलाए जाएँ, वहाँ के पाप को गंगा की धारा, अकलंक आचार्य का दिग्विजय और मुनि-महर्षियों का धर्म प्रवचन कितना प्रक्षालित कर सकता है?

इक्ष्वाकुवंश के महाराजा दिलीप ने एक गाय की रक्षा के लिए अपने प्राण देने का संकल्प व्यक्त किया था और आज अन्ननिर्भर होने की इच्छा रखने वाला भारत कृषि के परम सहायक गोवंश पर आरा चलाए, यह समर्थन कौन पंडिताभिमानी अर्थशास्त्री करना चाहता है? अनिवार्य क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति क्या अपने अंग काटकर उदराग्नि को शांत करने की सोच सकता है? यदि नहीं, तो खाद्य में मिलावट और शुद्ध घी-दूध की न्यूनता से परेशान भारत अहिंसा नीति को छोड़कर पाश्चात्य संस्कारों की 'देखादेख' आँधी में क्यों उड़ रहा है? वृक्ष की जड़ें काटकर छाया चाहता है, पत्रों और शाखाओं की हरियाली स्थिर रखने के स्वप्न देखता है! माता के स्तन काटने से क्या दूध मिल सकता है? मुर्गियों को पालकर गोवध पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना उपले सुखाने के लिए केसर जलाना है।

यदि देश कृषि की ओर न लौटा गया तो नवनिर्माण के नाम पर भारतीय संस्कृति के वन को दावानल की भेंट चढ़ाने वालों को अमृत फलों की शांति की छाया से वंचित होने से कोई नहीं रोक सकेगा। जूता पहनने से क्या पृथ्वी पर कंटक नहीं रहेंगे? आँख मूँदकर गर्त की ओर दौड़ने वाले क्या पतन से भी बच सकेंगे? विष की शीशी पर अमृत का लेबल चिपकाने से क्या वह मारक नहीं रहेगा? विज्ञापनों की सहस्र झूठ से वनस्पति तेलों को गव्य की स्पर्धा में विजयहार पहनाने वाले कितने काल जियेंगे? मिथ्यात्व का यह अन्धकार सम्यक्त्व के सूर्य को ग्रहण बनकर कितने काल छलेगा? और आकाशदीप को दिवाकर की ऊँचाइयों तक ले जाने वाले कब तक तिमिर को प्रकाश मानने का दुस्साहस करते रहेंगे?

जब पश्चिम में मांसाहार के प्रति तीव्र विरक्ति का वातावरण तैयार हो रहा

है, विदेशी आगन्तुक भारतीय सात्त्विक रसोइयों के सिद्ध अन्न को जब अपने टोस्ट, डबलरोटी और केक पर उपमा देने लगे हैं, उस समय पाकविज्ञान का आचार्य छत्तीस व्यंजनों और अनेक पकवानों का कुशल सूपकार भारत खाल उधेड़कर श्वापद के समान मांस में अपने नाखूनों को डुबो रहा है। कृषि के निर्दोष अन्न से विमुख होकर ऋषि जीवन की धन्यभाग्या पवित्रता से पराङ्मुख होने जा रहा है? जिस जिह्वा पर भगवान् के स्तुति पद रखते हैं उसी पर मांस रखते हुए उनका हृदय इस विसंगति से भीत होकर दीर्ण नहीं हो जाएगा? जिन हाथों से जिनबिम्ब के चरणस्पर्श का सौभाग्य मिलता है उन्हीं से अस्पृश्य आमिष उठाते हाथ कम्पित नहीं जाएँगे? क्या वे हाथ फिर चरणस्पर्श के योग्य रह सकेंगे? आगम शास्त्रों को उठाकर आँखों तक ले जा सकेंगे? अथवा सहस्र पीढ़ियों से समिद्ध सात्त्विक प्राणाग्नि क्या उसे पचा सकेगी?

## पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्

ओ अभागो! उठो, जागो और विवेकी बनो। सुनो! पृथ्वी पर 'अन्न' रत्न है, प्रजापति आदि ब्रह्मा का दिया हुआ वरदान है। **पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्** जल और अन्न को अमृत बताया गया है। अतः अन्न खाओ, विवेक न खोओ। कृषिपण्डित बनो और ऋषि जीवन बिताओ। आज उपार्जन बुद्धि से प्रेरित होकर ग्रामीण जनता बड़े नगरों की ओर दौड़ी चली आ रही है। उनके हल बरसाती भूमि की सोंधी सुगन्ध पीने के लिए तरस रहे हैं, बीज को कीड़ा लग रहा है और शस्यश्यामल होने के लिए अनुप्तभूमि तरस रही है। चलो, लौट जाओ पुनः ग्रामों की ओर और उत्तम किसान बनकर इन्सान के जीवन के सूत्रधार बनो। बाहर से कब तक मँगाओगे? विदेशियों को अपना भूखा पेट दिखाते लज्जा नहीं आती? किन्तु स्मरण रहे जब तक व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं हो जाता उसे सुख नहीं मिलता।

देश की क्षुधा का निवारण विदेशों के आयात पर नहीं, किसानों के खलिहानों पर ही निर्भर है। खलिहानों में अन्नकूट लगाकर समृद्धिलक्ष्मी का दोहन करो। हाथ फैलाकर कुछ कण माँगने से कितने दिन याचक जीवन की हीनता का बोझ ढोओगे? अन्न जीवन की प्रथम और प्रमुख आवश्यकता है। बाजारों में घूमते हुए जरा ध्यान से देखो, शृंगार प्रसाधनों की हाट उफन रही है। वेषविन्यास के बाजार भरे-पूरे हैं किन्तु अन्न की बोरियाँ खाली हैं। क्या तुम वेषविन्यास से सज-सँवर कर जी सकते हो? क्या बिना जठराग्नि को शांत किये क्रीम की पालिश और रुज की लालिमा चेहरे को गुलाबी बनाये रख सकती है? क्या खाली पेट गीत, नृत्य, वाद्य पर मुस्करा सकते हो? क्या खेल के मैदान में बाजी मार सकते हो? स्वाध्याय, धर्मचिंतन और यत्किंचित् करणीय कर सकते हो? कदापि नहीं। क्योंकि **सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूला** पैरों की जड़ें पेट में हैं। यदि पेट सींच दिया गया

है तो पैर सरपट दौड़ेंगे।

भूख से जीवन का रूख सूख जाता है, प्राण उड़ जाते हैं। मनुष्य के पास प्रासाद नहीं हो तो वह झोंपड़ी में रह सकता है, झोंपड़ी नहीं तो वृक्ष के नीचे और खुले आकाश की छाया में रह सकता है, वस्त्र के अभाव में फटा पुराना चीथड़ा भी थेगली लगाकर पहन सकता है, चिथड़े-चिथड़े हुए वस्त्र को फेंककर नंगा घूम सकता है, किन्तु भूखा नहीं रह सकता। राजभवनों की ऊँचाई और वस्त्राभरणों के आकर्षक रंग उसे जीवन नहीं दे सकते। मनुष्य अशर्फी चबाकर नहीं रह सकता। उसके लिए अन्न प्रथम आवश्यकता है।

यदि इस प्रतिक्षण वर्धमान जनसंख्या से संकुल राष्ट्र ने कृषि को महत्त्व नहीं दिया तो वह दिन बहुत दूर नहीं जब नोटों से भरे थैले के बदले में मुट्ठी भर अनाज मिलने लगेगा और लोग दाँतों के नीचे स्वर्णमुहर दबाये भूख से कूच कर जाएँगे। ऐसा हो सकने में कारण है देश की जनता में बढ़ती हुई बाबूगिरी। राष्ट्र की निकम्मी शिक्षापद्धति तो अंग्रेजों का अन्धानुकरण कर दफ्तरों को विस्तार दे रही है, बाबूत्व को प्रोत्साहित कर रही है। आज का पाठ्यक्रम और क्या दे रहा है? शौकीन विद्यार्थी और बेकारी का प्रमाणपत्र। टेरीलीन का सूट पहन 80 रुपये की कुर्सी पर बैठना शिक्षा का मजाक नहीं तो क्या है? इससे खेतों और खलिहानों को उर्वर करना श्रेष्ठ नहीं है क्या? नौकर के श्रम पर मालिक दूसरा व्यक्ति होता है और स्वतन्त्र श्रमजीवी अपने श्रम का आप प्रभु होता है।

### श्रम बेचकर क्या मिलेगा

जिन्होंने अपने श्रम पर भी अपना अधिकार नहीं रखा, उनसा हतभाग्य अन्य कौन है? आज का शिक्षित कहा जाने वाला ज्ञानी मानव श्रम को बेचकर मिल-मालिकों की धूम उगलती चिमनियों का ईंधन हो रहा है। वह अपनी हड्डियों से पूंजीपतियों के भवनों की दीवारें ऊँची उठा रहा है और स्वयं उसकी नींव का पत्थर बन रहा है। यह स्थिति देश की आत्मनिर्भरता के लिए कितनी घातक है? राष्ट्र की सम्पन्नता अन्न उत्पादन पर निर्भर है। बाबूगीरी की समाप्ति और राष्ट्रीय उन्नति का आरम्भ एक साथ होना है। जहाँ के देशवासी धूल के स्पर्श से डरें, पानी की बूंद में गलें और धूप में सूखने लगें, वहाँ पहाड़ों को तोड़कर मार्ग बनाने की कल्पना भी कितनी कठिन है, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। समुद्र का मंथन करने के लिए मन्दराचल मन्थानदण्ड चाहिए। जो धरती को सींचकर उर्वर करते हैं वे वर्षा के बादल नहीं, श्रम करने वाले के स्वदेबिन्दु हैं। वर्षा के घास और श्रम के पसीने से मोती उत्पन्न होते हैं। सभी व्यक्ति किसान के सामने याचक हैं। इसीलिए तो जैनों की सूक्ति है कि— 'उत्तम खेती मध्यम व्यापार' खेती (कृषिकर्म) विश्वम्भर होने से उत्तम है। आज भी दक्षिण में लाखों जैन कृषिकर्मा

हैं। महाराष्ट्र के 'तमदलगे' नामक गाँव में श्रीभीमगोंडा दादा पाटिल को भारत सरकार ने सर्वप्रथम 'कृषिपण्डित' की उपाधि प्रदानकर पाँच सहस्र रुपये का पुरस्कार दिया, वे जैन हैं। गृहस्थों को संकल्पी हिंसा का त्याग है किन्तु आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा तो आगारधारियों को त्याज्य नहीं है। कृषिकर्म में जो हिंसा होती है उसे करने का भाव गृहस्थ का नहीं वह अजाने हो जाती है और उस कृषि के परिणामस्वरूप अनेक जीवों की रक्षा होती है। **सावद्यलेशो बहुपुण्यराशि** भगवान की पूजा-भक्ति करते हुए भी कुछ न कुछ अवद्य अजाने बन ही जाता है, किन्तु अनवद्य पूजार्चा तो महाफला है। यदि अवद्यलेश की शंका से पूजा-वन्दना का त्याग कर दिया तब तो सर्वथा अवद्य का प्रवेश्या जीवन में संकुल हो जाएगा अतः पूजा करते हुए अवद्यलेश बने तो भी भगवदर्चा में बाधा नहीं आनी चाहिए। यह पूजातत्पर से होने वाला अवद्यलेश अपेक्षानुपात से होने वाले अनवद्य से क्षीण-बल है अतः पुण्यराशि है। इसी प्रकार कृषिकर्म भी कदाचित् क्वचित् अवद्यलेश से सम्पृक्त होकर भी पुण्याधिक ही है।

अन्न न मिलने से प्राणधारण भी कठिन हो जाता है। महाराणा प्रताप कितने स्वाभिमानी थे? अकबर जैसे विकट महाबली सम्राट् के विरोध में उनकी मूँछों के बल कुन्तों (भालों) का निर्माण करते रहे। स्वतन्त्रता के सहस्र-सहस्र अंगारे उनकी आँखों में जलते थे। संघर्षों से लोहा लेने में उन्हें आनन्द मिलता था किन्तु अपनी कन्या के हाथ में आधी घास की रोटी को वनबिलाव से छीना जाता देखकर वे भी मोम हो गये। भूख से बिलखती बालिका के साथ उनका धैर्य भी विगलित हो गया। उन्होंने तुर्क को सन्धि-पत्र लिख डाला। एक रोटी आजादी के पलड़े को हल्का करती हुई धरती को छूने लगी। यह कोई अवास्तविक बात नहीं और राणाजी के लिए अयशस्कर भी नहीं। मानव अन्नभोजी है, वह इसके बिना जीवित नहीं रह सकता। भद्रबाहुचरित में वर्णन है कि सम्राट चन्द्रगुप्त के समय में आहार लेकर लौटते हुए मुनि का पेट चीरकर भूखे लोगों ने कवलित अन्न को निकाल कर खा लिया। **बुभुक्षितः किं न करोति पापम्** भूखा कौन-सा पाप नहीं कर सकता? अधिकांश पाप का आरम्भ उदरताप से होता है, किन्तु ज्ञानवान् इसी से विराग का मार्ग ग्रहण करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने दुष्काल और उससे व्यथित जनता को देखकर संसार को असार जाना और मुनिदीक्षा लेकर वीतराग हो गये। मुनियों को जब अन्न संकट दीख पड़ता है, तब वे शांत भाव से मरणान्तक सल्लेखना ले लेते हैं। तथापि यह ज्ञान-धनियों से आचारित मार्ग है। जनसाधारण इस पर नहीं चल सकता। अतएव **सुजलां सुफलां शस्यश्यामलां** गीत की धुन को सफल प्रमाणित करने के लिए भगवान् आदिनाथ द्वारा उपदिष्ट कृषिमार्ग को अपनाना राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपादेय और हितकर है। ❖❖

# तीर्थंकर महावीर

जब ग्रीष्म का सूर्य अपनी प्रखर किरणों से जगत को तपा देता है, पक्षियों का गगन-विहार बन्द हो जाता है, स्वच्छन्द-विहारी हरिणों की आमोदमयी क्रीड़ा रुक जाती है, असंख्य प्राणधारियों की तृषा बुझानेवाले सरोवर सूख जाते हैं; प्राणदायक वायु भी तप्त लू बनकर प्राणहारक बन जाती है, समस्त थलचर, नभचर प्राणी असह्य ताप से त्राहि-त्राहि करने लगते हैं तब जगत की उस व्याकुलता को देखकर प्रकृति करवट लेती है; आकाश में सजल काले बादल छा जाते हैं, संसार का सन्ताप मिटाने के लिए उनमें से शीतल जल-बिन्दु टपकने लगते हैं, जिससे पृथ्वी न केवल अपनी प्यास बुझाती है, अपितु असंख्य व्यक्तियों की प्यास बुझाने के लिए अपना भंडार भी भर लेती है, समस्त जगत का सन्ताप दूर हो जाता है और सभी मनुष्य, पशु-पक्षी आनन्द की ध्वनि करने लगते हैं। इसी तरह संसार में स्वार्थ की आड़ में जब दुराचार-अत्याचार फैल जाता है; दीन, हीन, अशक्त प्राणी निर्दयता की चक्की में पिसने लगते हैं; रक्षकजन ही उनके भक्षक बन जाते हैं; स्वार्थी, दयाहीन मानव धर्म की धारा को अधर्म की ओर मोड़ देता है; दीन असहाय प्राणियों की करुण पुकार जब कोई नहीं सुनता, तब प्रकृति का करुण स्रोत बहने लगता है। वह ऐसा पराक्रमी साहसी वीर ला खड़ा करती है जो अत्याचारियों के अत्याचार को मिटा देता है; दीन-दुःखी प्राणियों का संकट दूर करता है और जनता को सत्पथ दिखाता है।

आज से 2600 वर्ष पहले भारत की वसुन्धरा भी पाप-भार से काँप उठी थी। जनता जिन लोगों को अपना धर्म-गुरु मानती थी, धर्म का अवतार समझती थी उन्हीं का मुख रक्त-मांस का लोलुप बन गया था, अतः वे अपनी लोलुपता शान्त करने के लिए स्वर्ग, राज्य, पुत्र, धन आदि का प्रलोभन देकर भोली-अबोध जनता से हवन कराते थे, उनमें धर्म के नाम पर बकरों आदि अनेक मूल और निरपराध पशुओं की हिंसा करते थे। ज्ञानहीन जनता उन स्वार्थी धर्म-गुरुओं के वचनों को परमात्मा की वाणी समझकर पाप को धर्म समझ बैठी थी; दीन, निर्बल, असहाय पशुओं की करुणाजनक आवाज सुननेवाला कोई न था। इस प्रकार मांस-लोलुप धर्मान्धों का स्वार्थ और जनता का अज्ञान उस पाप-कार्य को कर रहा था। उस

समय आवश्यकता थी जन-साधारण को ज्ञान का प्रकाश देने की और पथभ्रष्ट धर्मान्धों का हृदय बदलने की जिससे भारत का पाप-भार हल्का होता और पाप की दुर्गन्ध देश से दूर होती।

उस समय धन-जन-पूर्ण विशाला नगरी 'वैशाली' गणतन्त्र शासन की केन्द्र बनी हुई थी। उस लिच्छवी गणतन्त्र शासन के गणनायक थे राजा चेटक। चेटक की गुणवती पुत्रियों में से एक नाम था 'त्रिशला'। त्रिशला का कुण्डलपुर (कुण्ड ग्राम जिसे आजकल वासुकुण्ड कहते हैं) के शासक ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ के साथ पाणिग्रहण हुआ था, रानी त्रिशला राजा सिद्धार्थ को बहुत प्रिय थी, अतः उसका अपर नाम 'प्रियकारिणी' भी प्रसिद्धि पा चुका था, त्रिशला सर्वगुणसम्पन्ना आदर्श नारी थी। उन्हें वैदेही या विदेहदत्ता भी कहा जाता था क्योंकि वे विदेह के शासक-वंश में पैदा हुई थीं। इस प्रकार महावीर का अपने समय में वैशाली के महत्त्वपूर्ण लिच्छवी गणतन्त्र-क्षत्रियों से रक्त-सम्बन्ध था।

एक रात्रि को जब रानी त्रिशला नंद्यावर्त राजभवन में आनन्द से सो रही थी तब उसे रात्रि के अन्तिम पहर में सोलह सुन्दर स्वप्न दिखाई दिये– 1. हाथी, 2. बैल, 3. सिंह, 4. लक्ष्मी, 5. दो मालाएँ, 6. चन्द्रमा, 7. सूर्य, 8. दो मछलियाँ, 9. जल से भरा स्वर्ण-कलश, 10. तालाब, 11. समुद्र, 12. सिंहासन, 13. देवों का विमान, 14. धरणेन्द्र का भवन, 15. रत्नों का ढेर और 16. निर्धूम अग्नि। वह रात्रि आषाढ़ सुदी 6 की थी।

स्वप्नों को देखकर रानी त्रिशला की नींद खुल गई। 'इन स्वप्नों का क्या फल होगा?' त्रिशला को यह जानने की बहुत उत्कण्ठा हुई। अतः प्रभात में वह बड़ी उमंग के साथ राजा सिद्धार्थ के पास पहुँची। राजा सिद्धार्थ ने त्रिशला को बड़े सम्मान और प्रेम के साथ सिंहासन पर बैठाया और मुस्कराते हुए आने का कारण पूछा। रानी त्रिशला ने मधुर वाणी में प्रभात से कुछ पूर्व देखे हुए सोलह सु-स्वप्न सुनाये और राजा सिद्धार्थ से इन स्वप्नों के प्रकट फल पूछे।

राजा सिद्धार्थ निमित्त-शास्त्र के जानकार थे, उन्होंने रानी त्रिशला के द्वारा देखे हुए स्वप्नों का फल जानकर बड़ी प्रसन्नता के साथ उनसे कहा कि तुम एक सौभाग्यशाली, बलवान, तेजस्वी, अतिशय ज्ञानी, महान, गुणी, यशस्वी, जगत के उद्धारक, मुक्तिगामी पुत्र की माता बनोगी। इसकी शुभ सूचना देने के लिए ही ये स्वप्न तुम्हें दिखाई दिये हैं। अपने घर अत्यन्त सौभाग्यशाली जीव का आगमन जानकर राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला को बहुत हर्ष हुआ। वे उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जब उन्हें पुत्र-मुख देखने का मंगल अवसर प्राप्त होगा।

देवों ने इन मंगल क्षणों में राजा सिद्धार्थ के घर बहुत उत्सव किये। उसी दिन से छप्पन कुमारिका देवियाँ रानी त्रिशला की सेवा करने के लिए नियुक्त हुईं। इन

देवियों ने रानी त्रिशला की गर्भावस्था में बहुत अच्छी परिचर्या की। रानी की मुख्य परिचारिका प्रियंवदा भी रानी की सुख-सुविधा में पूरा योग दे रही थी। प्रियंवदा ने रानी को किसी भी तरह शारीरिक तथा मानसिक कष्ट नहीं होने दिया। विविध मनोरंजनों द्वारा उसने रानी त्रिशला का चित्त प्रसन्न रखा, उन्हें किसी तरह का खेद न होने दिया।

**जन्मोत्सव**– नौ मास, सात दिन और बारह घंटे व्यतीत होने पर चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के शुभ दिन रानी त्रिशला ने एक अनुपम, तेजस्वी, सर्वांग सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। उस समय समस्त जगत में शान्ति की लहरें बिजली की तरह फैल गईं। नारकीय दुःखों में निरन्तर दुःखी जीवों को भी उस क्षण में शान्ति की साँस मिली। समस्त कुण्डलपुर में आनन्द-भेरी बजने लगी। सारा नगर हर्ष में निमग्न हो गया। पुत्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में राजा सिद्धार्थ ने बहुत दान किया और राज्योत्सव मनाया। यह समय ईसा से पाँच सौ निन्यानवे वर्ष पूर्व (599 ईसा पूर्व) का था।

जब इन्द्र का आसन स्वयं कम्पित हो उठा तब इन्द्र को अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि कुण्डलपुर में अन्तिम तीर्थंकर का जन्म हुआ है। वह तत्काल समस्त देव-परिवार को साथ लेकर नृत्य-गान करते हुए कुण्डलपुर आया। वहाँ राजभवन में पहुँचकर उसने अगणित मंगल महोत्सव मनाये। कुण्डलपुर का कण-कण उन देवोत्सवों से गूँज उठा। इन्द्र ने माता त्रिशला की स्तुति करते हुए कहा– माता, तू जगन्माता है। तेरा पुत्र विश्व का उद्धार करेगा। जगत का भ्रम और अज्ञान दूर करके विश्व का पथ-प्रदर्शक बनेगा। तू धन्य है! इस जगत में तुझ जैसी भाग्यशालिनी माता कोई और नहीं है।

इन्द्र ने राजा सिद्धार्थ का भी बहुत सम्मान किया। तब इन्द्राणी उस नवजात बालक को प्रसूति-गृह से बाहर ले आयी और माता के पास एक अन्य कृत्रिम बालक रख आयी। इन्द्र उस बाल तीर्थंकर को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हो, सुमेरु पर्वत पर गया। वहाँ सिंहासन पर बाल तीर्थंकर का अभिषेक किया। अभिषेक के बाद जब इन्द्राणी बाल तीर्थंकर का शरीर पोंछ रही थी तब वे उनके कपोल-प्रदेश के जल-बिन्दुओं को सुखाने में असमर्थ रहीं। ज्यों-ज्यों वे उन्हें पोंछती थीं, त्यों-त्यों वे और विशेष दमक उठते थे। इन्द्राणी की भ्रान्ति स्वयं ही दूर हो गयी; क्योंकि वास्तव में वे जल की बूंदें नहीं, अपितु इन्द्राणी के आभूषणों के प्रतिबिम्ब मात्र थे जो तीर्थंकर के स्वच्छ बदन पर दमककर जल-बिन्दुओं की भ्रान्ति उत्पन्न कर रहे थे। तीर्थंकर स्वभावतः सुन्दर थे, उन्हें सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनाये गये और खूब हर्षोत्सव किया गया। अभिषेक-उत्सव के पश्चात् इन्द्र ऐरावत हाथी पर सवार होकर राजमार्ग से कुण्डलपुर आया। बालक वधर्ममान को

इन्द्राणी पुनः माता त्रिशला के पास लिटा आयी; तत्पश्चात् समस्त देव-परिवार लौट गया।

जन्म-समय से ही राजा सिद्धार्थ का वैभव, यश, प्रताप, पराक्रम और अधिक बढ़ने लगा था, इस कारण उस बालक का नाम 'वर्धमान' रखा गया।

बालक वर्धमान शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। अपनी बाल-लीलाओं से माता-पिता को, समस्त राज-परिवार को आनन्दित करने लगे। जन्म से ही उनके शरीर में अनेक अनुपम विशेषताएँ थीं, जैसे– उनका शरीर अनुपम सुन्दर था; शरीर के समस्त अंग-उपांग पूर्ण एवं ठीक थे, वे बलशाली थे, वाणी बहुत मधुर थी। शंख, चक्र, कमल, यव, धनुष आदि एक हजार आठ शुभ लक्षण एवं चिह्न उनके शरीर में थे। वे जन्म से ही महान ज्ञानी (अवधिज्ञानी) थे। जिस तरह बाहरी पदार्थों को जानने के लिए उनकी ज्ञान-ज्योति असाधारण थी, उसी तरह उनमें आध्यात्मिक स्वानुभूति भी अलौकिक थी, ऐसी अनेक अनुपम महिमामयी विशेषताओं के पुंज थे तीर्थंकर महावीर।

उत्तरोत्तर बढ़ते हुए राजकुमार वर्द्धमान की वय जब आठ वर्ष की हुई तब उन्होंने किसी अन्य की प्रेरणा के बिना स्वयं आत्मशुद्धि की दिशा में पग बढ़ाते हुए हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह —इन पाँचों पापों के आंशिक त्याग की प्रतिज्ञा करके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और सीमित परिग्रहरूप पंच अणुव्रतों का आचरण किया।

**वर्द्धमान के नामान्तर**– राजकुमार वर्द्धमान तीर्थंकर के असाधारण ज्ञान की महिमा सुनकर संजयंत और विजयंत नामक दो मुनि अपनी तत्त्व-विषयक कुछ शंकाओं का समाधान करने के लिए उनके पास आये; किन्तु श्री वर्द्धमान तीर्थंकर के दर्शन करते ही उनकी शंकाओं का समाधान स्वयं हो गया, उन्हें समाधान के लिए कुछ पूछना न पड़ा, यह आश्चर्य देखकर उन मुनियों ने तीर्थंकर वर्द्धमान का अपर नाम 'सन्मति' रख दिया।

एक दिन कुण्डपुर में एक बड़ा हाथी मदोन्मत्त होकर गजशाला से बाहर निकल भागा। वह मार्ग में आनेवाले स्त्री-पुरुषों को कुचलता हुआ, वस्तुओं को अस्त-व्यस्त करता हुआ इधर-उधर घूमने लगा। उसे देखकर कुण्डपुर की जनता भयभीत हो उठी और प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भागने लगी। नगर में भारी उथल-पुथल मच गयी।

वर्द्धमान अन्य बालकों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे, मदोन्मत्त हाथी उधर ही जा झपटा। हाथी का काल-जैसा विकराल रूप देख खेलनेवाले बालक भी भयभीत होकर इधर-उधर भागे परन्तु वर्द्धमान ने निर्भय होकर कठोर शब्दों में हाथी को ललकारा। वह हाथी सहम कर खड़ा हो गया। भय से उसका मद सूख गया। तब

वर्द्धमान उसके मस्तक पर जा चढ़े और अपनी वज्र मुष्टियों (मुक्कों) के प्रहार से उसे बिल्कुल मदरहित कर दिया। तब कुण्डपुर की जनता ने राजकुमार वर्द्धमान की निर्भयता और वीरता की बहुत प्रशंसा की और वर्द्धमान को 'वीर' नाम से पुकारने लगी, इस तरह राजकुमार वर्द्धमान का तीसरा नाम 'वीर' प्रसिद्ध हो गया।

एक दिन संगम नामक एक देव अत्यन्त भयानक विषधर का रूप धारण कर राजकुमार की निर्भीकता तथा शक्ति की परीक्षा करने आया। राजकुमार वर्द्धमान चलधर, काकधर, पक्षधर तथा अन्य किशोर बालकों के साथ एक वृक्ष के नीचे खेल रहे थे, वह विकराल सर्प फुंकार मारता हुआ उस वृक्ष से लिपट गया। उसे देखकर सब लड़के बहुत भयभीत हुए, वे अपने-अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भागने लगे, चीत्कार करने लगे, कुछ भय से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े; परन्तु कुमार वर्द्धमान सर्प को देखकर रंचमात्र भी न डरे। उन्होंने निर्भयतापूर्वक सर्प के साथ क्रीड़ा की और उसे दूर कर दिया। राजकुमार वर्द्धमान की निर्भयता देखकर वह देव बहुत प्रसन्न हुआ, उसने प्रकट होकर वर्द्धमान तीर्थंकर की स्तुति की एवं उनका नाम 'महावीर' रखा।

**विवाह का उपक्रम**– राजकुमार वर्द्धमान जन्म से ही सर्वांग सुन्दर थे। जब उन्होंने किशोर अवस्था समाप्त कर यौवन में पदार्पण किया तब उनके असाधारण ज्ञान, बल, पराक्रम, तेज तथा यौवन की वार्ता प्रसिद्ध हो चुकी थी, अतः अनेक राजाओं की ओर से वर्द्धमान के लिए अपनी-अपनी राजकुमारी के साथ पाणिग्रहण हेतु प्रस्ताव आने लगे।

कलिंग-नरेश राजा जितशत्रु की सुपुत्री राजकुमारी यशोदा सर्वगुणसम्पन्न नवयुवती थी; अतः राजा सिद्धार्थ और त्रिशला ने वर्द्धमान कुमार का पाणिग्रहण उसी के साथ करने का निर्णय किया। वे राजकुमार का विवाह बहुत बड़े समारोह के साथ करने के लिए तैयारी करने लगे। अपने विवाह की बात जब कुमार महावीर को ज्ञात हुई तो उन्होंने उसे स्वीकार न किया। माता-पिता ने बहुत कुछ समझाया परन्तु वे विवाह-बन्धन में बँधने के लिए तत्पर न हुए। राजकुमार महावीर ने कहा कि मैं जगत के जीवों को संसार-बंधन से मुक्त होने का मार्ग बताने आया हूँ फिर मैं स्वयं गृहस्थाश्रम के बन्धन में क्यों पड़ूँ? फैली हुई हिंसा, अज्ञान, भ्रम, दुराचार, अत्याचार का संसार से निराकरण करने का महान् कार्य मेरे सामने है। अपने पुत्र की उच्च ध्येय सिद्ध करने के लिए ब्रह्मचर्य की अटल भावना जानकर रानी त्रिशला और राजा सिद्धार्थ चुप रह गये। उन्होंने सोचा कि वर्द्धमान हमारा पुत्र है, वय में हमसे छोटा है, किन्तु ज्ञान, आचार-विचार में हमसे बहुत बड़ा है। हित-अहित की वार्ता तथा कर्त्तव्य का निर्देश हम उसे क्या समझायें! वह सारे जगत को समझा सकता है; अतः वह जिस पुनीत पथ में आगे बढ़ना चाहता है,

हमें उसमें बाधा डालना उचित नहीं।

ऐसा परामर्श करके उन्होंने राजकुमार वर्द्धमान के साथ कलिंग-नरेश जितशत्रु की पुत्री यशोदा के विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और फिर कभी वर्द्धमान को विवाह करने के लिए संकेत भी नहीं किया।

तीर्थंकर वर्द्धमान के पिता राजा सिद्धार्थ कुण्डपुर के शासक थे। उनके नाना राजा चेटक वैशाली गणतन्त्र के प्रमुख नायक थे, वे अनेक राजाओं के अधीश्वर थे, अतः राजकुमार वर्द्धमान को सब तरह के राज-सुख प्राप्त थे। कोई भी शारीरिक या मानसिक कष्ट उन्हें नहीं था। वे यदि चाहते तो पाणिग्रहण करके वैवाहिक सुख का उपभोग और कुण्डपुर के राज-सिंहासन पर बैठकर राज-शासन भी कर सकते थे; परन्तु जिस तरह कमल जल में रहता हुआ भी जल से अलिप्त रहता है, उसी तरह राजकुमार वर्द्धमान सर्वसुख-सुविधा-सम्पन्न राजभवन में रहकर भी संसार की मोह-माया से अलिप्त रहे; अखण्ड ब्रह्मचर्य से शोभायमान रहे। इस तरह राजभवन में रहते हुए उन्होंने अट्ठाईस वर्ष, सात मास, बारह दिन का समय व्यतीत किया।

**संसार से वैराग्य**– वर्द्धमान को एक दिन अचानक अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया। उन्हें ज्ञात हुआ कि– मैं पूर्वभव में सोलहवें स्वर्ग का इन्द्र था, वहाँ मैं बाईस सागर तक दिव्य भोग-उपभोगों को भोगता रहा। उससे पूर्वभव में मैंने संयम धारण करके तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध किया था जिसका उदय इस भव में होने वाला है। इस समय संसार में धर्म के नाम पर पाप और अत्याचार फैलता जा रहा है, अतः पाप और अज्ञान को दूर करना परम आवश्यक है। जब तक मैं संयम ग्रहण न करूँगा तब तक मैं आत्मशुद्धि नहीं कर सकता और जब तक स्वयं शुद्ध-बुद्ध न बन जाऊँ तब तक विश्व-कल्याण नहीं कर सकता, अतः मोह-ममता के कीचड़ से बाहर निकलकर मुझे आत्मविकास करना चाहिए।

इस प्रकार वर्द्धमान के हृदय में वैराग्य-भावना जाग्रत हुई। उसी समय लौकान्तिक देव उनके सामने आ खड़े हुए और वर्द्धमान से कहा– आपने जो संसार की मोह-ममता तथा विषय-भोगों से विरक्त होकर संयम धारण करने का विचार किया है वह बहुत हितकारी है। आप तप, त्याग, संयम के द्वारा ही अजर-अमर पद प्राप्त करेंगे; विश्व-ज्ञाता-द्रष्टा बनेंगे और विश्व का उद्धार करेंगे।

लौकान्तिक देवों की वाणी सुनकर वर्द्धमान का वैराग्य और अधिक प्रगाढ़ तथा अविचल हो गया, उन्होंने कुण्डपुर का राजभवन छोड़कर एकान्त वन में आत्मसाधना करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ, तब इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान की वैराग्य-भावना का समाचार जाना; वह देवगणों के साथ तत्काल कुण्डलपुर के

राजभवन में आ पहुँचा। वहाँ उसने आकर बहुत हर्ष 'उत्सव' किया।

जब रानी त्रिशला को राजकुमार वर्द्धमान के संसार से विरक्त होने का समाचार ज्ञात हुआ तब वह पुत्र-स्नेह में विह्वल हो गयी। उसके हृदय में विचार आया– राजसुख में पला हुआ मेरा पुत्र वन-पर्वतों में नग्न रहकर सर्दी-गर्मी के कष्ट किस तरह सहन करेगा? वन-पर्वतों की कँटीली-कंकरीली भूमि पर अपने कोमल नंगे पैरों से कैसे चलेगा? नंगे सिर धूप, ओस, वर्षा में कैसे रहेगा? कहाँ कठोर तपश्चर्या! और कहाँ मेरे पुत्र का कोमल शरीर!! ऐसा सोचते ही त्रिशला मूर्च्छित हो गयी। परिवार के व्यक्तियों ने तथा दासियों ने शीतल उपचार से उसकी मूर्च्छा दूर की। आये हुए देवों ने माता त्रिशला को समझाया– माता! तेरा पुत्र महान् बलवान है, धीरवीर है, वज्र-वृषभ-नाराच संहननवाला है। अब वह उस सर्वोच्च पद को प्राप्त करने जा रहा है जिससे ऊँचा पद कोई होता ही नहीं। तेरा पुत्र केवल आप अकेला ही संसार से पार नहीं होगा बल्कि असंख्य व्यक्तियों को भी संसार से पार करा देगा। वीर माता! मोह का आवरण हटा दे। तू धन्य है ! तारण.तरण, विश्व उद्धारक तीर्थंकर की जननी कहकर संसार अनन्त काल तक तेरा यशोगान करेगा।

देवों का संबोधन पाकर माता त्रिशला प्रबुद्ध हुई, फिर भी विचारने लगी कि विषधर सर्प, भयानक सिंह, बाघ आदि वन्य जीवों से भरे वन, पर्वत, गुफाओं में मेरा पुत्र अकेला कैसे रहेगा? इन्हीं विचारों से उसका चित्त शोकाकुल रहा। वर्द्धमान ने अपनी माता, अपने परिवार तथा प्रियजनों को आश्वासन देकर उनसे विदा ली।

वर्द्धमान को कुण्डपुर (वैशाली) से बाहर तपोवन में ले जाने के लिए 'चन्द्रप्रभा' नामक सुन्दर दिव्य पालकी लायी गयी। उस पालकी में वर्द्धमान विराजमान हुए। जय-जयकार के हर्ष-घोष के साथ पहिले उस पालकी को मनुष्यों ने अपने कंधों पर उठाया, तदनन्तर इन्द्रों ने, देवों ने उस पालकी को अपने कन्धों पर रखा और आकाश-मार्ग से ज्ञातृखण्ड-वन में पहुँचे।

वन हरा-भरा था, वहाँ शुद्ध वायु का निर्बाध संचार था। किसी तरह का कोलाहल न था और न मन को क्षुब्ध या विचलित करनेवाला कोई अन्य पदार्थ था। उस नीरव शान्त एकान्त वन में पालकी लाकर रखी गयी। वर्द्धमान उस पालकी से बड़े उत्साह के साथ बाहर आये। वहाँ एक स्वच्छ शिला पर इन्द्राणी ने रत्नचूर्ण से स्वस्तिक की कलापूर्ण रचना की। तीर्थंकर वर्धमान उस पर जाकर बैठ गये। फिर उन्होंने अपने शरीर के समस्त वस्त्राभूषण उतार दिये। अपने कृत्रिम (बनावटी) वेष को हटाकर प्राकृतिक, स्वतन्त्र, नग्न, श्रमण-वेष धारण किया, अपने हाथों से अपने सिर के बालों का पाँच मुट्ठियों से लोंच किया जो शरीर से मोहत्याग का प्रतीक था। फिर 'णमो सिद्धाणं' कहते हुए सिद्धों को नमस्कार करके पंच महाव्रत और पिच्छी-कमण्डलु धारण किये, सर्व पाप का त्याग करके पद्मासन

लगाकर आत्मध्यान (सामायिक) में लीन हो गये।

इन्द्र ने तीर्थंकर के बालों को समुद्र में क्षेपण करने के लिए रत्नमंजूषा में रख लिया। इस प्रकार मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को अन्तिम तीर्थंकर महावीर का दीक्षा. उत्सव करके समस्त इन्द्र, देव, मनुष्य, विद्याधर अपने-अपने स्थानों को चले गये।

बाहरी विचारों से मन को रोककर मौन भाव से अचल आसन में महावीर जब आत्मचिन्तन में निमग्न हुए उसी समय उनके मनःपर्यय ज्ञान का उदय हुआ जो निकट भविष्य में केवलज्ञान के प्रकट होने का सूचक था। यह महावीर के आत्म-अभ्युदय का प्रथम चिह्न था।

**तपस्या**– महान् कार्य की सिद्धि के लिए महान् परिश्रम करना पड़ता है। वर्द्धमान को अनादि समय के कर्मबन्धन को, जिसने अनन्त शक्तिशाली आत्मा को दीन, हीन, बलहीन बनाकर संसार के बन्दीघर (जेलखाने) में डाल रखा है, नष्ट करने के लिए कठोर तपस्या करनी पड़ी। वे जब आत्मसाधना में निमग्न हो जाते थे तब कई दिन तक एक ही आसन में अचल बैठे या खड़े रहते। कभी-कभी एक-एक मास तक लगातार आत्मध्यान करते रहते थे। उस समय भोजन-पान बन्द ही रहता था; किन्तु इसके साथ बाहरी वातावरण का भी अनुभव न हो पाता था। शीत ऋतु में पर्वत पर या नदी के तट पर अथवा किसी खुले मैदान में बैठे रहते थे, वे भयंकर शीत से भी प्रभावित नहीं होते थे। ग्रीष्म ऋतु में वे पर्वत पर बैठे ध्यान करते थे, ऊपर से दोपहर की धूप, नीचे से गरम पत्थर, चारों ओर से लू (गरम हवा) उनके नग्न शरीर को तपाती रहती थी; किन्तु तपस्वी वर्द्धमान को उसका भान नहीं होता था, वे उससे विचलित न होते। वर्षा ऋतु में नग्न शरीर पर मूसलाधार पानी गिरता था, तेज हवा चलती थी परन्तु महान् योगी महावीर अचल आसन से आत्मचिन्तन में रहते थे। वन में सिंह दहाड़ रहे हैं, हाथी चिंघाड़ रहे हैं, सर्प फुंकार रहे हैं; परन्तु परम तपस्वी महावीर को उसका कुछ भान ही नहीं होता था।

जब वे आत्मध्यान से निवृत्त हुए और शरीर को कुछ भोजन देने का विचार हुआ तो निकट के गाँव या नगर में चले गये। वहाँ यदि विधि-अनुसार शुद्ध भोजन मिल गया तो निःस्पृह भावना से थोड़ा-सा भोजन कर लिया और पुनः तपस्या करने वन में, पर्वत पर चले गये। कहीं दो दिन ठहरे, कहीं चार दिन, कहीं एक सप्ताह; फिर वहाँ से विहार करके किसी अन्य स्थान को चले गये। यदि सोना आवश्यक समझते तो रात को पिछले पहर कुछ देर के लिए एक करवट से सो जाते। इस तरह वे आत्मसाधना के लिए अधिक और शरीर की स्थिति के लिए कम-से-कम समय लगाते थे।

ऐसी कठोर तपश्चर्या करते हुए वे देश-देशान्तर में भ्रमण करते रहे, नगर या गाँव में केवल भोजन के लिए आते थे। उसके अतिरिक्त अपना शेष समय किसी

एकान्त स्थान में, वन, पर्वत, गुफा, नदी के किनारे, श्मशान, बाग आदि निर्जन स्थान में बिताते थे। वन के भयानक हिंसक पशु जब महावीर के निकट आते तो उन्हें देखते ही उनकी क्रूर हिंसक भावना शान्त हो जाती; अतः उनके निकट सिंह, हरिण, सर्प, नेवला, बिल्ली, चूहा आदि जाति-विरोधी जीव भी द्वेष और वैर.भावना छोड़कर प्रेम और शान्ति से क्रीड़ा किया करते थे।

**चन्दना उद्धार**– इस प्रकार भ्रमण करते-करते तपस्वी महावीर एक बार वत्स देश की कौशाम्बी नगरी में आहार के लिए आये। वहाँ राजकुमारी चन्दना एक सेठ के घर में तलघर में बन्दिनी थी, वह बहुत विपत्ति में थी। उसने सुना— भावी तीर्थंकर महावीर कौशाम्बी में पधारे हैं। यह सुनते ही उसके हृदय में भावना हुई कि 'मैं भगवान को आहार कराऊँ' किन्तु वह तलघर में बन्दी पड़ी थी, बेड़ियाँ उसके पैरों में थीं, तपस्वी वर्द्धमान को आहार कराये तो कैसे कराये? यह स्थिति उसकी चिन्ता और दुःख का कारण बन गई।

जिसकी जैसी भावना होती है उसकी कार्य-सिद्धि भी वैसी ही होती है। इस नीति के अनुसार संयोग से तपस्वी महावीर चन्दना के घर की ओर आ निकले। उसी समय सौभाग्य से चन्दना के पैरों की बेड़ियाँ टूट गयीं और वह तलघर से बाहर निकलकर द्वार पर आ खड़ी हुई। जैसे ही श्री वर्द्धमान उस द्वार पर आये कि चन्दना ने बड़े हर्ष और भक्ति-भाव से उनसे आहार लेने की प्रार्थना (पड़गाहना) की। वर्द्धमान वहीं रुक गये, चन्दना ने नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें आहार कराया।

चन्दना राजा चेटक की राजपुत्री थी। एक दिन बाग में झूलते समय एक विद्याधर द्वारा उसका अपहरण हो गया। उसके चंगुल से छूटी तो दुर्भाग्यवश एक सेठ के घर दासी के रूप में आ पड़ी। वह नवयुवती थी, अति सुन्दर थी, अतः सेठानी ने इस शंका से कि कहीं यह मेरे पति की प्रेम-पात्र न बन जाए, चन्दना को अपने मकान के तलघर में बेड़ियाँ पहनाकर रख दिया था और वह उसे रूखा-सूखा भोजन दिया करती थी। वह चन्दना सौभाग्य से तपस्वी महावीर का दर्शन कर सकी और उनको आहार कराने का पुण्य अवसर उसे मिला, उसकी दासता की बेड़ियाँ कट गयीं। सेठानी को भी उसका सतीत्व ज्ञात हो गया; तब सेठानी को बहुत पश्चात्ताप हुआ और उसने चन्दना से अज्ञानवश हुए अपराधों की क्षमा माँगी।

**उपसर्ग**– निःसंग वायु जिस प्रकार भ्रमण करती रहती है, एक ही स्थान पर नहीं रुकती, उसी प्रकार असंग निर्ग्रन्थ तपस्वी महावीर तपश्चरण करने के लिए भ्रमण करते रहे। भ्रमण करते हुए जब वे उज्जयिनी नगरी के निकट पहुँचे तब वहाँ नगर के बाहर 'अतिमुक्तक' नामक श्मशान को एकान्त-शान्त प्रदेश जानकर वहाँ आत्मध्यान करने ठहर गये। जब रात्रि का समय हुआ तो वहाँ पर 'स्थाणु' नामक एक रुद्र आया। उस स्थाणु रुद्र ने ध्यान-मग्न महावीर को देखा। देखते ही उसने

उन्हें ध्यान से विचलित करने के लिए घोर उपसर्ग करने का विचार किया।

अपने सिद्ध विद्याबल से उसने अपना भयानक विकराल रूप बनाया, कानों के पर्दे फाड़ देने वाला अट्टहास किया और अपने मुख से अग्नि-ज्वाला निकालकर ध्यान-मग्न, तपस्यारत महावीर की ओर झपटा। उसने वहाँ भूत-प्रेतों के भयानक नृत्य दिखलाये। सर्प, सिंह, हाथी आदि के भयानक शब्द किये। धूलि और अग्नि की वर्षा की। महावीर को भयभीत करने तथा आत्मध्यान से चलायमान करने के लिए अनेक उपद्रव किए; परन्तु उसे कुछ भी सफलता न मिली। न तो परम तपस्वी वर्द्धमान रंचमात्र भी भयभीत हुए और न ही उनका चित्त ध्यान से चलायमान हुआ। वे उसी प्रकार अपने अचल आसन से स्थिर रहे जिस प्रकार भयानक आँधी के चलते रहने पर भी पर्वत ज्यों-का-त्यों, स्थिर रहता है। अन्त में अपना घोर उपसर्ग विफल होते देख स्थाणु रुद्र चुपचाप चला गया।

**कैवल्य**– जगत में कोई भी पदार्थ बहुत परिश्रम तथा कष्ट सहन करने के पश्चात् ही बहुमूल्य एवं आदरणीय बनता है। गहरी खुदाई करने पर मिट्टी-पत्थरों में मिला हुआ भद्दा रत्न-पाषाण निकलता है, उसको छैनी, टाँकी, हथौड़ों की मार सहनी पड़ती है, शाण की तीक्ष्ण रगड़ खानी पड़ती है, तब कहीं झिलमिलाता हुआ बहुमूल्य रत्न प्रकट होता है। अग्नि के भारी सन्ताप में बार-बार पिघलकर सोना चमकीला बनता है, तभी संसार उसका आदर करता है और पूर्ण मूल्य देकर उत्कंठा से खरीदता है।

आत्मा अनन्त वैभव का पुंज है, उसके समान अमूल्य पदार्थ संसार में कोई भी नहीं है। रत्न की तरह उसका वैभव भी अनादिकालीन कर्म के मैल में छिपा हुआ है। उस गहन कर्म-मल में छिपे हुए वैभव को पूर्ण शुद्ध प्रकट करने के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है और अत्यन्त कष्ट सहन करना पड़ता है तब यह आत्मा परम शुद्ध विश्ववन्द्य परमात्मा बनता है।

महावीर को भी आत्मशुद्धि के लिए कठोर तपस्या करनी पड़ी। तपश्चरण करते हुए उनकी पूर्व संचित कर्मराशि की निर्जरा हो रही थी, कर्मों का आगमन (आस्रव) तथा बन्ध कम होता जा रहा था अर्थात् आत्मा का कर्म-मल कटता जा रहा था या घटता जा रहा था। अतः आत्मा का प्रच्छन्न तेज क्रमशः उदीयमान हो रहा था, आत्मा से कर्म-भार हल्का हो रहा था, मुक्ति निकट आती जा रही थी।

विहार करते-करते तपस्वी योगी महावीर बिहार (मगध) प्रान्तीय 'जृम्भिका' गाँव के निकट बहनेवाली 'ऋजुकूला' नदी के तट पर आये। वहाँ आकर वे साल वृक्ष के नीचे स्वात्म-ध्यान में निमग्न हो गये।

आत्मोन्नति के लिए, आत्मशुद्धि प्रकट करने के लिए वीतराग, सर्वज्ञ, अर्हन्त, जीवनमुक्त परमात्मा बनने के लिए बारह वर्ष, पाँच मास और पन्द्रह दिवस तक

तपश्चर्या करने के अनन्तर धीरे-धीरे उन्होंने कर्मों का क्षय किया और सर्वज्ञ वीतराग या अर्हन्त जीवन्मुक्त परमात्मपद प्राप्त किया। अब वे पूर्ण शुद्ध, त्रिकाल-ज्ञाता बन गये। यह शुभ समय था वैशाख शुक्ल दशमी के अपराह्न (तीसरे पहर का प्रारम्भ) का अर्थात् रविवार 23 अप्रैल 557 ई.पू.।

तीर्थंकर महावीर ने अपने तीसरे पूर्व भव में जिसके लिए तपस्या की थी और इस भव में जिस कार्य के लिए राजसुख एवं घर-परिवार का परित्याग किया था वह उत्तम कार्य सम्पन्न हो गया। यह तीर्थंकर महावीर का परम सौभाग्य तो था ही, साथ ही समस्त जगत का, विशेषकर भारत का भी महान् सौभाग्य था कि एक सत्य-ज्ञाता, सत्पथ-प्रदर्शक एवं अनुपम प्रभावशाली वक्ता उसको प्राप्त हुआ।

**समवसरण**– तीर्थंकर महावीर के सर्वज्ञाता-द्रष्टा अर्हन्त बन जाने की बात जानकर इन्द्र को बहुत हर्ष हुआ। उसने तीर्थंकर महावीर का विश्वकल्याणकारी उपदेश सर्व-साधारण तक पहुँचाने के लिए अपने कोषाध्यक्ष (खजांची) कुबेर को एक सुन्दर विशाल व्याख्यान-सभा-मण्डप (समवसरण) बनाने का आदेश दिया।

कुबेर ने इन्द्र की आज्ञानुसार अपने दिव्य साधनों से अतिशीघ्र एक बहुत सुन्दर दर्शनीय विशाल सभा-मण्डप बनाया। जिसके तीन कोट और चार द्वार थे। द्वारों पर सुन्दर मानस्तम्भ थे। बीच में ऊँची तीन कटनीवाली सुन्दर वेदिका (गन्धकुटी) बनी थी। गन्धकुटी पर रत्न-जटित सुवर्ण सिंहासन था जिसमें कमल का फूल बना हुआ था। गन्धकुटी के चारों ओर बारह विशाल कक्ष (कमरे) थे, जिनमें देव-देवी, मनुष्य-स्त्री, साधु-साध्वी, पशु-पक्षी आदि उपदेश सुननेवाले भद्र प्राणियों के बैठने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त आगन्तुक जनता की सुविधा के लिए अन्य मनोहर स्थान और साधन उस समवसरण में बनाये गये थे। मध्यवर्तिनी उच्च गन्धकुटी के सिंहासन पर तीर्थंकर महावीर के विराजमान होने की व्यवस्था थी, जिससे उनका उपदेश समस्त श्रोताओं (सुननेवालों) को अच्छी तरह सुनाई पड़े।

उसी समय वहाँ देवों का दुन्दुभि बाजा बजने लगा। जिसकी मधुर-आकर्षक ध्वनि दूर-दूर तक पहुँचती थी। उस ध्वनि को सुनकर तीर्थंकर महावीर के समवसरण की वार्ता कानों-कान दूर-दूर तक फैल गयी। जिससे तीर्थंकर महावीर का दिव्य उपदेश सुनने की उत्कण्ठा से दूर-दूर की जनता भी चलकर ऋजुकूला नदी के तट पर बने समवसरण में पहुँची। इन्द्र भी विशाल देव-परिवार के साथ समवसरण में पहुँचा। उसने वहाँ तीर्थंकर के कैवल्य पद का महान् उत्सव किया। तीर्थंकर का दर्शन, वन्दना, पूजन बड़े भक्तिभाव और हर्ष के साथ किया। तदनन्तर समवसरण की सुव्यवस्था की। समवसरण में अत्यन्त प्रकाश था जिससे वहाँ रात और दिन का भेद नहीं जान पड़ता था, वहाँ परम शान्ति थी। वहाँ आये हुए किसी

प्राणी के हृदय में द्वेष, वैर, क्रोध, हिंसा की भावना जाग्रत नहीं होती थी; अतः सिंह, गाय, चीता, हरिण, बिल्ली, चूहा, सर्प, नेवला आदि जाति-विरोधी जीव भी शान्त व निर्भय होकर साथ-साथ बैठते थे।

**दिव्य-उपदेश**– समवसरण में असंख्य भव्य जीव तीर्थंकर महावीर का दिव्य उपदेश सुनने के लिए बड़ी उत्कंठा और उत्साह के साथ आये और यथास्थान बैठकर उनकी दिव्यवाणी की प्रतीक्षा करने लगे। चकोर पक्षी को चन्द्रिका (चाँदनी) बहुत प्रिय लगती है, वह चाँदनी रात में चन्द्रमा की ओर अपलक दृष्टि से देखा करता है, समवसरण की जनता भी इसी तरह तीर्थंकर महावीर के मुख की ओर देख रही थी। तीर्थंकर का मुख चारों ओर से दिखाई दे रहा था। वर्षाऋतु के प्रारम्भ में चातक पक्षी आकाश से बरसते हुए जल-बिन्दुओं को सीधे अपने मुख में लेकर अपनी प्यास बुझाता है, वह और कोई जल नहीं पीता, अतः वह बादलों की ओर अपनी चोंच किये वर्षा की प्रतीक्षा करता रहता है, इसी तरह समस्त जनता के कान तीर्थंकर का उपदेश सुनने के लिए आतुर थे।

वहाँ अनेक मनुष्यों, देवों तथा विद्वानों के हृदय में यह विचारधारा बह रही थी कि 'तीर्थंकर' अब तक तो सर्वदा मौन रहे, तपस्या के दिनों में उन्होंने किसी से एक शब्द भी न कहा; परन्तु अब तो उनको ज्ञान हो गया है। पूर्ववर्ती अन्य तीर्थंकरों के समान उनका भी विश्व-उद्धारक, सर्वहितमय पावन उपदेश अवश्य होगा।

परन्तु सारा दिन बीत गया, रात भी समाप्त हो गयी, पर तीर्थंकर के मुख से एक अक्षर भी प्रकट न हुआ। श्रोताओं ने समझा— अभी कुछ विलम्ब है। वहाँ अनेक व्यक्ति नये आये, पहिले आये हुए अनेक उठकर चले गये, अनेक वहीं ठहरे रहे। दूसरा दिन हुआ, दूसरी रात हुई; किन्तु तीर्थंकर की वाणी प्रकट न हुई। इसी तरह कई दिवस व्यतीत हुए किन्तु तीर्थंकर का उपदेश न हुआ। जनता का चित्त कुछ म्लान हो गया। कुछ दिन पश्चात् तीर्थंकर का वहाँ से अन्य स्थान के लिए विहार भी हो गया। तीर्थंकर महावीर के आगे-आगे धर्मचक्र चलता था जिसकी चमकती हुई कान्ति क्षणभर के लिए द्वितीय सूर्य-बिंब का भ्रम उत्पन्न कर देती थी।

तीर्थंकर महावीर के विहार करते ही कुबेर ने उस मनोज्ञ दिव्य समवसरण को शीघ्र ही हटा लिया, वहाँ पर फिर पहिले जैसा साफ मैदान हो गया। विहार के अनन्तर तीर्थंकर जहाँ ठहरे वहाँ कुबेर ने पहिले जैसा भव्य सभा-मंडप (समवसरण) थोड़े समय में ही बना दिया। वहाँ भी असंख्य श्रोता (उपदेश सुननेवाले) एकत्र हुए, परन्तु कई दिन-रात व्यतीत होने पर भी वहाँ भी उपदेश न हआ। वहाँ से भी तीर्थंकर का विहार हो गया। वहाँ का समवसरण भी विसर्जित गया। तीर्थंकर जहाँ पर ठहरे वहाँ फिर नवीन समवसरण बना। परन्तु फिर वहाँ पर भी कई दिन बीत जाने पर भी तीर्थंकर का उपदेश न हुआ। तीर्थंकर के इस मौन पर समस्त

जनता चकित थी, परन्तु मौन का कारण कोई न जान सका। सबकी धारणा यही थी कि महावीर तीर्थंकर हैं, मूक केवली नहीं हैं, अतः उनका उपदेश तो अवश्य होगा। कब प्रारम्भ होगा— यह ज्ञात नहीं। विहार करते-करते तीर्थंकर महावीर राजगृही के निकट विपुलाचल नामक पर्वत पर आये। वहाँ भी सुन्दर विशाल समवसरण बना और यथासमय असंख्य श्रोता वहाँ भी एकत्र हुए, परन्तु यहाँ भी तीर्थंकर महावीर मौन रहे।

तीर्थंकर महावीर के इस दीर्घकालीन मौन के मूल कारण पर समवसरण के व्यवस्थापक सौधर्म इन्द्र ने गम्भीरता से विचार किया, तब अवधिज्ञान से उसे ज्ञात हुआ कि समवसरण में अब तक ऐसा महान् प्रतिभाशाली विद्वान् उपस्थित नहीं हुआ जो तीर्थंकर के गूढ़, गम्भीर दिव्य उपदेश को सुनकर उसे अपने हृदय में धारण कर सके और उसको व्यवस्थित, प्रकरणबद्ध करके श्रोताओं की जिज्ञासा का यथार्थ समाधान कर सके, तीर्थंकर का उपदेश सबको समझा सके। इस प्रकार का गणधर बनने योग्य विद्वान् मुनि समवसरण में न होने के कारण अब तक तीर्थंकर की वाणी मुखरित न हुई।

तदनन्तर उसने अवधिज्ञान से यह भी जाना कि इस समय इन्द्रभूति गौतम तीर्थंकर का गणधर बनने योग्य विद्वान् है, किन्तु वह तीर्थंकर का श्रद्धालु नहीं है, अतत्त्व-श्रद्धानी है। हाँ, यदि किसी प्रकार वह तीर्थंकर महावीर के सम्पर्क में आ जावे तो तीर्थंकर का श्रद्धालु भक्त बनकर गणधर बन सकता है।

ऐसा विचारकर इन्द्र ने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाया और वह वेद-वेदांग के ज्ञाता, महान् प्रतिभाशाली विद्वान्, पाँच सौ विद्वान् शिष्यों के गुरु इन्द्रभूति गौतम के पास पहुँचा। इन्द्रभूति उस वृद्ध ब्राह्मण के मुख से छः द्रव्य, नौ पदार्थ, छह काय जीव, छह लेश्या, पाँच अस्तिकाय आदि के विषय में प्रश्न सुनकर सोचने लगा कि मैंने आज तक इनके नाम भी नहीं सुने, मैं वेद-वेदांग का महान् ज्ञाता हूँ परन्तु 'आर्हत दर्शन' का ज्ञान मुझे नहीं है, तब इन बातों को कैसे समझाऊँ? किन्तु इसको अपनी अनभिज्ञता बतलाने में मेरा उपहासजनक अपमान है, अतः इसके गुरु के साथ शास्त्रार्थ करके अपनी मान-मर्यादा रखना उचित है। ऐसा विचारकर इन्द्रभूति गौतम ने उस वृद्ध ब्राह्मण से कहा– 'चल तेरे गुरु के साथ बात करूँगा।' वृद्धरूपधारी 'इन्द्र' यही तो चाहता था, अतः वह मन-ही-मन अपनी सफलता जानकर बहुत प्रसन्न हुआ और गौतम को झटपट अपने साथ समवसरण में ले आया। समवसरण के निकट पहुँचते ही जैसे ही गौतम ने मानस्तम्भ को देखा, तत्काल उसके हृदय से ज्ञानमद स्वयं दूर हो गया और अभिमानी के बजाय वह नम्र विनयशील बन गया।

समवसरण (धर्म-सभा) में प्रवेश कर जैसे ही उसने तीर्थंकर महावीर का दर्शन

किया उसी समय उसके हृदय में श्रद्धा जाग उठी। गौतम ब्राह्मण आया तो था तीर्थंकर महावीर से शास्त्रार्थ करने, किन्तु उनके निकट पहुँचकर बन गया उनका परम श्रद्धालु प्रमुख शिष्य। तीर्थंकर महावीर की वीतरागता से वह इतना प्रभावित हुआ कि अपना समस्त परिग्रह त्यागकर वहीं महाव्रती दिगम्बर मुनि बन गया, मुनि बनते ही इन्द्रभूति ब्राह्मण को मनःपर्यय ज्ञान हो गया। इस घटना के होते ही तीर्थंकर महावीर का मौन भंग हुआ और मेघ-गर्जना के समान दिव्य ध्वनि में उनका उपदेश प्रारम्भ हुआ।

तीर्थंकर के मौन-भंग का यह शुभ दिवस श्रावण बदी एकम् (कृष्ण प्रतिपदा) था। इस तरह केवलज्ञान हो जाने पर 66 दिन तक (वैशाख सुदी दशमी से छः दिन वैशाख के, तीस दिन ज्येष्ठ के और तीस दिन आषाढ़ के) तीर्थंकर का उपदेश नहीं हुआ। श्रावण कृष्ण प्रतिपदा का दिन 'वीर शासन उदय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जनता ने इस दिन को वर्ष का प्रारम्भ माना। तब से कई शताब्दी तक भारतीय जनता शुभ कार्य का प्रारम्भ इस दिन किया करती थी तथा वर्ष का प्रारम्भ भी श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन मानती रही।

तीर्थंकर का उपदेश साधारण जनता की भाषा 'प्राकृत' में होता था। प्रत्येक श्रोता उसे सुगमता से समझ लेता था। उस उपदेश में समस्त तात्त्विक बातों का विवेचन था, समस्त जगत् का विवरण था, इतिहास का कथन था तथा आत्मा के हितकर-अहितकर, संसार-भ्रमण, कर्म-बन्धन, कर्म-मोचन, धर्म-अधर्म, गृहस्थ-धर्म, मुनि-धर्म, जीव-परिणमन, अजीव-परिणमन आदि की विशद व्याख्या थी। पशु-बलि धर्म नहीं है– इस विषय को तीर्थंकर महावीर ने अच्छे प्रभावशाली ढंग से समझाया।

**वीर-वाणी का प्रभाव**– विख्यात ब्राह्मण विद्वान् इन्द्रभूति जब तीर्थंकर महावीर का प्रथम शिष्य बन गया तब जनता पर तथा ब्राह्मण विद्वानों पर इसका क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। इन्द्रभूति गौतम के समान ही उसके अन्य दो महान् विद्वान् भ्राता अग्निभूति और वायुभूति भी अपनी शिष्य-मंडलीसहित तीर्थंकर महावीर का उपदेश श्रवण करने समवसरण में आये और वे भी महावीर के विनीत शिष्य बनकर उनके गणधर बन गये।

जब जनता ने तीर्थंकर महावीर का मर्मस्पर्शी उपदेश सुना तो धर्म का सुन्दर सत्य स्वरूप उसे ज्ञात हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि पशु-हिंसा के विरोध में एक व्यापक लहर फैल गई। हिंसा करानेवालों के हृदय में भी उल्लेखनीय परिवर्तन आया और वे पशु-हिंसा के कृत्य से घृणा करने लगे। राजगृही (मगधदेश) का नरेश श्रेणिक (बिम्बसार) तीर्थंकर महावीर का उपदेश सुनकर उनका परम भक्त बन गया। कुछ दिनों पश्चात् तीर्थंकर महावीर वहाँ से विहार कर गये। वे जहाँ भी ठहरे, वहीं

उनका नवीन समवसरण (धर्मसभा-मण्डप) बना। वहाँ भी उनका प्रभावशाली धर्म-उपदेश होता था। तदनन्तर वहाँ से भी वे विहार कर जाते थे।

तीर्थंकर महावीर ने इच्छारहित होकर भी भव्यजनों के प्रति सहज दया से प्रेरित होकर अथवा उनके प्रबल पुण्ययोग से काशी, कश्मीर, कुरु, मगध, कोसल, कामरूप, कच्छ, कलिंग, कुरुजांगल, किष्किन्धा, मल्लदेश, पांचाल, केरल, भद्र, चेदि, दशार्ण, वंग, अंग, आन्ध्र, उशीनर, मलय, विदर्भ, गौड़ आदि देशों में धर्म-प्रवचन किया। इस तरह अनेक प्रान्तों तथा देशों में तीर्थंकर महावीर का मंगल विहार हुआ और महान् धर्म-प्रसार हुआ। उनकी भाषा को सभी उपस्थित श्रोता समझते थे। जहाँ-जहाँ तीर्थंकर भगवान विहार करते थे वहाँ-वहाँ वे उपदेश प्रदान करते थे।

उस धर्म-प्रचार से अहिंसा का प्रभावशाली प्रसार हुआ, पशु-हिंसा बन्द हो गई। हिंसा-कृत्य और मांस-भक्षण से भी जनता घृणा करने लगी। हिंसक लोग तीर्थंकर महावीर का उपदेश सुनकर स्वयं अहिंसक बनने लगे/बनते गये।

तीर्थंकर महावीर का जहाँ भी मंगलमय विहार हुआ वहाँ के शासक, मन्त्री, सेनापति, पुरोहित, विद्वान् तथा अन्य साधारणजन उनके अनुयायी-भक्त बनते गये। जिस तरह सूर्य के उदय से अन्धकार हटता जाता है उसी तरह तीर्थंकर महावीर के उपदेश से अज्ञान, भ्रम, अधर्म, अन्याय, अत्याचार, हिंसा-कृत्य आदि पापाचार साधारण जन-क्षेत्र से दूर होता गया और निरपराध मूक पशु-जगत को संरक्षण मिला। इसीलिए जैन आचार्य समन्तभद्र (ईसा की द्वितीय शताब्दी) ने भगवान महावीर के तीर्थ को 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है। महात्मा गाँधी ने इसी से प्रभावित होकर अपनी विचारधारा को भी 'सर्वोदय' कहा।

तीर्थंकर महावीर के संघ में ग्यारह गणधर, सात सौ केवली, पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी, तेरह सौ अवधिज्ञानी, नौ सौ विक्रिया-ऋद्धिधारक, चार सौ अनुत्तरवादी, छत्तीस हजार साध्वी (श्रमणी), एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। तीर्थंकर महावीर ने उनतीस वर्ष, पाँच मास, बीस दिन तक श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका-सहित देश-विदेश में धर्म-प्रचार किया। अन्त में वे विहार बन्द करके पावानगर में अनेक सरोवरों के बीच उन्नत भूमि महामणि शिला तले ठहर गये। वहाँ उन्होंने छह दिन योग-निरोध करके कर्मों का क्षय करके कार्तिक वदी अमावस्या के ब्रह्ममुहूर्त में (सूर्योदय से कुछ पहिले) संसार के आवागमन से मुक्ति प्राप्त की।

**महापरिनिर्वाण-महोत्सव**– जब तीर्थंकर महावीर का पावापुरी में निर्वाण हुआ तब वह रात्रि का अन्तिम प्रहर था, अन्धकार दूर हो रहा था। जैसे ही विभिन्न निमित्तों से इन्द्र को तीर्थंकर महावीर के मुक्ति-प्राप्ति की सूचना मिली त्यों ही वह देव-परिवार के साथ पावा नगर आया। वहाँ उसने असंख्य दीपक लेकर प्रकाश

किया। आगन्तुक देवों ने उच्च मधुर स्वर से तीर्थंकर का बार-बार जयघोष किया जिससे पावानगर तथा निकटवर्ती स्त्री-पुरुषों को तीर्थंकर के निर्वाण की सूचना मिल गई; अतः समस्त स्त्री-पुरुष दीपक लेकर उस स्थान पर आये। इस तरह वहाँ असंख्य दीप प्रज्वलित हो गये। मनुष्यों ने तथा देवों ने तीर्थंकर के निर्वाण का महान् उत्सव किया। हस्तिपाल राजा मल्लगण राज्य के नायक तथा अठारह गणनायकों ने पावा में परिनिर्वाणोत्सव भक्तिपूर्वक मनाया।

तदनन्तर देवों ने तीर्थंकर का शरीर कपूर, चन्दन की चिता के ऊपर रखा। अग्निकुमार देवों ने जैसे ही नमस्कार किया उनके मुकुट से अग्निज्वाला प्रकट हो गयी, उससे सुगन्धित द्रव्यों के साथ तीर्थंकर का परम औदारिक शरीर भस्म हो गया। उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान का उदय हुआ।

तब से समस्त भारत में तीर्थंकर महावीर के स्मरण में प्रतिवर्ष कार्तिक वदी अमावस्या को 'दीपावली महापर्वराज' प्रचलित हुआ। यह दिवस जैनों में बहुत शुभ माना गया है। इस दिन तीर्थंकर महावीर का पूजन होता है, परिनिर्वाण-पूजा होती है और केवलज्ञान लक्ष्मी की पूजा भी होती है तथा रात्रि के समय दीपक जलाकर प्रकाश किया जाता है।

दीपावली मनाने के पीछे अनेक कारण और घटनाएँ हैं किन्तु भगवान महावीर का निर्वाण अपनी मुख्य भूमिका अदा कर रहा है। इसके प्रमाण हैं बड़े-बड़े साहित्यकारों की सम्मतियाँ। कविमूर्धन्य गीतांजलि के स्रष्टा कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा– जैनधर्म को माननेवालों ने अपने परमदेव की पुण्य स्मृति में दीप जलाए तभी से यह दीपावली का त्यौहार प्रचलित हुआ। भारत के प्रसिद्ध विद्वान् टी. एलवार स्वामी ने लिखा है– जन्म से अधिक निर्वाण का दिन महत्त्व रखता है। लोगों ने मुक्तिलाभ की खुशी में दीवाली का त्यौहार मनाकर अनुपम भक्ति का परिचय दिया है। इसी प्रकार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने तो यहाँ तक लिखा है कि यह त्यौहार वीर प्रभु के मोक्ष-लाभ के कारण ही भारतवर्ष में प्रचलित हुआ। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने दीवाली के त्यौहार के कारणों में मुख्य कारण भगवान महावीर के निर्वाण को ही माना है।–(राष्ट्रदूत, साप्ताहिक, 2 नवम्बर, 1997, जयपुर)

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण की स्मृतिस्वरूप वीर निर्वाण संवत् प्रारम्भ हुआ है जो कि प्रचलित सभी संवतों में प्राचीन है।

**महावीर के नाम पर नगर**– तीर्थंकर महावीर की स्मृति में बंगाल-बिहार के अनेक नगरों के नाम उनके नामानुरूप रखे गये। तीर्थंकर के जन्मनाम 'वर्द्धमान' पर 'वर्दमान', 'वीर' नाम पर 'वीरभूमि' (वीरभूम), वीरपुर, अतिवीरपुर, तीर्थंकर के चरण-चिह्न और ध्वज-चिह्न 'सिंह' से 'सिंहभूमि' (सिंहभूम) आदि नाम अभी भी प्रचलित हैं। ❖❖

# सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव

## वीतराग संस्कृति का जन्मदाता जैनधर्म

जैनधर्म अर्थात् जिनों का धर्म। जिन्होंने वीतराग-संस्कृति को जन्म दिया, परमश्रुत की प्रभावना से विश्व के परःकोटि पतितों का उद्धार कर उन्हें भव्यत्व प्रदान किया, सम्यग्दृष्टि दी और भव-सन्तरण का मार्गोपदेश किया; वे जिन हैं। श्रमण-मुनियों की कठिन-कठोर चर्या ने सम्यक्त्व-संवलित चरित्रों को चरितार्थ किया। वह धर्म, जिसने हिंसा को परास्त कर अहिंसा परम धर्म की स्थापना की। मांस, मद्य से पंकिल पृथ्वी को अहिंसामृत-सिंचन से पवित्र किया और दया के धर्म-दुर्ग की रचना की। न केवल मनुष्य-पर्याय उससे उपकृत हुई, अपितु तिर्यंचों के भी भाग्य फले और जिनकी शुभोदय-बेला आई, वे यावज्जीवन पातकी रहकर भी मृत्यु-समय में महामन्त्र णमोकार सुन सके और उन्हें उत्तम-योनि और श्रेष्ठ-लोकों की प्राप्ति हुई। जीवन्धर ने जन्मपातकी कुत्ते को मरणबेला में पंच-परमेष्ठी-मन्त्र सुनाया, जिससे उसे सद्गति मिली। काष्ठानल में दग्ध होते नाग-मिथुन अन्तिम समय में पवित्र णमोकार मन्त्र सुनने से भवान्तर में धरणेन्द्र-पद्मावती बने।

## तीर्थंकरों द्वारा निरूपित सर्वोदय तीर्थ

ऐसा सर्वहितकारी, सबके उदय का मार्ग प्रशस्त करनेवाला, तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित यह धर्म सर्वोदय तीर्थ के रूप में मानव-जाति के सौभाग्य से तपस्वियों की दीर्घ तपःसाधना के पश्चात् पृथ्वी-पुत्रों को प्राप्त हुआ था। चौरासी लाख जीव-योनियों को इसने अभय दिया। वैर, विद्वेष, काम-वासना, कषाय-परिणति के चक्रवात में चकराते हुए मानव को इसने परित्राण और आत्म-कल्याण के स्वर दिये तथा श्रेयोमार्ग पर लगाया। इसकी सर्वोदयता ने, विश्व-प्राणीमैत्रीत्व ने जीवदया के मार्ग पर अतीतकाल से अद्यावधि जितना हितसाधन किया है, वह इतिहास की साक्षी में अनुपम है। इसीलिए स्तुतिकर्त्ताओं के कण्ठ भावगलित-स्वरों में पुकार-पुकार कर कहते हैं–

**सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।**
**सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥**

–यह उक्ति आचार्य समन्तभद्र की है, जो महान् तार्किक प्राचीन विद्वान् हैं।

सर्वोदय वास्तव में तभी आ सकता है, जब राग-द्वेषों का क्षय होकर समत्व का उदय हो। समत्व का उदय ज्ञान के सम्यक्त्व पर आश्रित है। एक धनिक व्यक्ति किसी धनरहित से और एक ज्ञानसम्पन्न किसी अज्ञानी से घृणा, द्वेष अथवा राग-विराग करता है, वह इसलिए कि बाह्य पौद्गलिक तारतम्य (न्यूनाधिकता) से वह अपने को श्रेष्ठ तथा दूसरे को तुच्छ परिकल्पित करता है किन्तु वास्तव में स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। यदि दैव से, पुरुषार्थ से अथवा शुभकर्म के उदय से सम्पत्ति और ज्ञान उन अभावग्रस्तों के पास आ जायें और पूर्वकाल की लघुता महत्ता में परिवर्तित हो जाये; तो उनके प्रति घृणा, उपेक्षा के पूर्वभाव भी बदल जायेंगे और सम्मानितों में नवीन नामावली लिखी जायेगी। इससे सिद्ध हुआ है कि संसार में सम्पन्नता और विपन्नता कालापेक्षी हैं। कुयें में रँहट के रिक्त शराव (पात्र) भरते रहते हैं और भरित रिक्त होते रहते हैं। जो वस्तुतः इस तथ्य को हृदयंगम कर लेता है, वह समता को तात्त्विक रूप से जान लेता है। उसी के राग-द्वेष का क्षय होता है एवं वही सर्वोदय की भावना ला सकता है।

## श्रमण-संस्कृति का समताभाव

श्रमण-संस्कृति का संन्यासी-वर्ग जीवनभर के लिए अन्तर्बाह्य ग्रन्थियों का परित्याग करता है, इसलिए भी उसे सम्पदाओं और विपदाओं की स्वप्नसत्ता का ज्ञान हो जाता है। **अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच** में वह समता धारण करता है और उस धर्म में स्थित हो जाता है, जिसका लक्षण **इष्टे स्थाने धत्ते** –(सर्वार्थसिद्धि, 9/2) है और जो प्राणी को संसारदावानल से निकालकर अक्षय आनन्द-समुद्र में निमग्न करता है। देवदेवेन्द्र-पूजित भगवान् जिन सहस्रों शाखाप्रशाखाओं से मण्डलायमान महान् धर्मवृक्ष हैं, अधर्मतप्त वहाँ आश्रय लेते हैं। त्यागी मुनि जो धर्मप्रभावना करते हैं, मानो उस धर्मवृक्ष के नीचे अमृतोपदेश के अनंतकण विकीर्ण करते हैं, जो धर्मक्षुधातुरों को वहाँ जिनेन्द्र के चरणमूल में सुधास्वादन के लिए आमन्त्रित करते हैं। वीतराग और सम्यक्त्वी होते हुए भी मुनिराज प्रायः पर्यटन करते रहते हैं और उपदेश प्रदान करते हैं, वे इसी सर्वोदय के लिए। उपदेशों से उनका आत्मकल्याण होता हो, नितान्त ऐसी बात नहीं है। तथापि लोक में धर्मप्रभावना बनाये रखने एवं जिस सम्यक्त्व को उन्होंने प्राप्त किया है, उसी का निरूपण करने के लिए उनका 'यायावर-व्रत' चलता है। धर्मचर्चा के अतिरिक्त लोकसम्पर्क रखना मुनि के लिए निषिद्ध है। क्योंकि–

**जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमः।**
**भवन्ति तस्मात् संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥** –समाधितंत्र, 72

यदि लोक-सम्पर्क रखा जाएगा, तो उनसे वार्तालाप आवश्यक होगा। वार्तालाप का विषय मानसिक-स्पन्दन और चित्तविभ्रम उत्पन्न करेगा। त्यागी के

लिए तो निश्चय ही यह निषिद्ध है। अतः जन-सम्पर्क वर्जित है।

धर्मप्रभावना मात्र के लिए यदृच्छा से लोकसंग्रह होता हो, वह निन्दनीय नहीं। देश, काल, भाव, क्षेत्र तथा पात्रापात्र का विचार करते हुए मुनि चतुर्विध (आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी) धर्मकथाओं का आगमानुमोदित व्याख्यान करते हैं।

## विश्वमानव के सम्पूर्ण हितों की रक्षा

भगवान् ने सर्वोदय तीर्थ की परिकल्पना करते हुए इसे विश्व-मानवों के सम्पूर्ण हितों की रक्षा करने में सक्षम बनाया है। रागी और त्यागी —दोनों वर्गों के लिए हितावह देशनायें की हैं। राग-परिणति का सर्वथा त्याग सामान्यजन के लिए दुष्कर है, अतः सराग व्यक्ति शनैः-शनैः परिग्रह-परिमाण से तथा अहिंसादि अणुव्रतों से अपने गृहस्थधर्म का समुचित पालन करता हुआ त्याग-मार्ग की ओर प्रवृत्त होने का प्रयत्न करता रहे और त्यागी-वर्ग अपनी सम्यक्चारित्र-विशुद्ध-चर्या से गृहस्थों को विरागपथ का औचित्य-शिक्षण करते रहें। राग अपनी निरंकुशता से इतना प्रबल एवं अनियंत्रित (स्फीत) न हो उठे कि लोक में बुद्धिजीवी मानवजाति में 'मत्स्यन्याय' चल पड़े। इसलिए त्यागियों को आत्मचिन्तन करते हुए धर्मवर्तना के मूल श्रावकों की शास्त्र-प्रवचन द्वारा आत्मा और संसार के विषय में ज्ञान-चेतना को परिष्कृत करते रहना चाहिए। क्योंकि सर्वहितैषी होने पर भी धर्म को ग्रहण करते रहना मानव-स्वभाव के नितान्त अनुकूल नहीं कहा जा सकता। कभी प्रमाद, कभी कालदोष, कभी अशुभ कर्मबन्ध और कभी ज्ञानावरण प्राणियों के आस्थाशील मानस में भी शैथिल्य उत्पन्न कर देते हैं।

आचार्य अकलंकदेव ने न्यायशास्त्र को अपने समय में विपन्न पाया और अनुभव किया कि गुणद्वेषियों ने अज्ञान का (लोकव्याप्त अज्ञता का) दुर्लाभ उठाकर उसे विकृत कर दिया है, असम्यक्त्व की ओर घसीट ले गये हैं। ऐसे समय में सम्यक् श्रमपूर्वक उन्होंने तथा तादृश ज्ञान-सामर्थ्य-सम्पन्न अन्य विद्वद्भटों ने उसकी वास्तविकता को पुनः प्रतिष्ठित किया।

यह ज्ञानावरण और काल-प्रभाव न्यायविनिश्चय में ही भ्रम उत्पन्न करता हो— ऐसी बात नहीं है; अपितु यह प्रत्येक क्षेत्र को, जिसमें धर्म और सम्यक्त्व मुख्य हैं, अधिक बाधित करता है। यदि काल-प्रभाव अधिक दुर्धर्ष नहीं होता, तो कलिकाल को उद्देश्य कर आचार्य धर्मग्लानि से आशंकित नहीं होते। जब उन्होंने—

**कलि-प्रावृषि मिथ्यात्व-मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।**
**खद्योतवत् सुदेष्टारो हा ! द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्॥**

लिखा, जिसका आशय है कि कलियुग एक वर्षा ऋतु के समान है, जिसमें दिशायें मिथ्यात्व के मेघों से आच्छादित हो रही हैं, सम्यक् मार्ग सूझता नहीं और

अच्छे श्रुतधर्म-प्रभावक ज्ञानी खद्योत के समान कहीं-कहीं क्षणकाल के लिए दिखायी देते हैं अर्थात् यदि सुदेष्टाओं की वर्तमान में न्यूनता है, तो इसमें कालप्रभाव कारण है।

### दिगम्बरत्व : महान् साधना

आचार्य सोमदेव सूरि ने भी विस्मय व्यक्त करते हुए कहा कि कलियुग में यदि दिगम्बरत्व देखने को मिलता है, तो यह महान् आश्चर्य है। क्योंकि कलियुग में लोग इन्द्रिय-संयमी नहीं हो पाते और खाते भी बहुत हैं, मानो शरीर अन्नकीट ही हो और दिगम्बर-मुनि की चर्या सम्पूर्ण रागजयशील तथा एकभुक्तिमय है। यह बात कालधर्म को चुनौती देने के समान है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा–

**काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।**
**एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥**

और वस्तुतः काल की प्रभविष्णुता दुर्जेय है। **कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा** आचार्य समन्तभद्र ने कलिकाल को कलुषित-हृदय बताया है। इस युग में भद्रपरिणामी और इससे भी उत्कृष्ट विशेषणधारियों में भी चित्तविशुद्धि सर्वथा नहीं पायी जाती। उनकी मानसिक वृत्तियाँ भी राग-द्वेष और नाना उधेड़बुन में लगी हुई देखी जाती हैं। यह दुर्जय काल प्रभाव है। भद्रबाहुचरित में ठीक ही लिखा है– **बोधो धर्मो धनं सौख्यं कलौ हीनत्वमेष्यति**– अर्थात् कलियुग में ज्ञान, धर्म, धन और सुख उत्तरोत्तर हीनता को प्राप्त हो जायेंगे। तब ज्ञान के स्थान पर ज्ञान का दर्प, धर्म के स्थान पर धर्मध्वज होने का प्रदर्शन, धन के स्थान पर अपार तृष्णा और सुख के स्थान पर अतृप्तिकर इन्द्रिय-विलास रह जायेंगे। लोगों की रुचि परिष्कृति और सत्-संस्कार से हीन होने के कारण उच्च-भूमियों से उतर जाएगी। ज्ञान, जिससे आत्महित-बोध हो, प्रायः तिरोहित हो जाएगा और सामान्यज्ञान का पाठ पढ़कर लोग महन्तबुद्धि का गर्व करने लगेंगे। धर्म-पालन करने में आत्म-रुचि, अन्तरंग प्रेरणा नहीं रहेगी; अपितु उसके प्रदर्शन से समाज में उच्चासन का मार्ग प्राप्त किया जाएगा तथा धन का अपार संचय भी तृष्णाशामक नहीं होगा।

### आजकल इतनी त्वरा बढ़ गई

आज कलियुग में ये बातें यथार्थ घटित हो रही हैं। क्या धन, क्या धर्म और क्या ज्ञान सभी क्षेत्र तुच्छ एवं कपटपूर्ण वृत्ति के आखेट हो रहे हैं। वास्तविकता में किसी भी स्वीकृत मार्ग का पालन करनेवाला बड़ी कठिनता से मिल पाता है। हाथ में जपमाला लेकर विश्वयात्रा करनेवाले मनोविचारों के साथ उड़नेवाले ध्यानियों की आज कमी नहीं है। त्रियोग को सँभालना उच्चकोटि के ज्ञान-ध्यान

की शुभ परिणति से शक्य है और वैसी परिणति नाना-कषाय-वेष्टित, कर्म-मल-दूषित आधुनिक कलिकाल में दुष्कर है। प्रायः मानव उस कोटि तक पहुँचने का तप तथा श्रम करता ही नहीं, परन्तु फलवांछा में यह कल्पतरुओं के सर्वस्व को पा लेना चाहता है। त्वरा इतनी बढ़ गई है कि बीज बोने के बाद क्षण-क्षण पर उसकी मिट्टी कुरेदकर देखता है कि अंकुर निकला या नहीं। एक माली जितना धैर्य भी नहीं है और फलाकांक्षा की कोई सीमा नहीं है। बस, आर्त-रौद्र ध्यानों में ही समय का अधिकांश व्यतीत हो जाता है। धनिक होने की इच्छा में वह सट्टा, मटका आदि द्यूतवर्गीय व्यसनों में लिप्त होकर एक मुहूर्त में धनपति होने की लालसा रखता है।

## तमसो मा ज्योतिर्गमय

विद्या और ज्ञान-प्राप्ति के क्षेत्र में जो आज हो रहा है, वह सर्वविदित है। छात्र विलासी, शौकीन, उद्दण्ड, क्रीड़ाप्रिय, दीर्घसूत्री, हठी, अविनयी, ध्वंसनीतिपरायण एवं हिंसाप्रिय हो गए हैं। ज्ञान की पिपासा, जो प्राचीनकाल में भारतीयों का प्रिय धन थी, मरुभूमि में स्वल्पतोया नदी के समान सूख गई है। धन बढ़ने पर जहाँ दान-धर्म की प्रवृत्ति बढ़ने लगती थी, वहाँ आज विलासिता और कामुकता बढ़ रही है। प्राचीन समय में (चतुर्थकाल में) ज्ञान, धन तथा धर्म जो आत्म-कल्याण के साधन थे, आज साध्य बन गये हैं। यह स्थिति अन्धकारपूर्ण है और धर्मकीर्ति के शब्दों में– **धिग् व्यापकं तमः** –इन सब क्षेत्रों को (जीवन के सभी अंगों को) छेकनेवाले (व्यापक) अन्धकार को धिक्कार है।

पं. आशाधर जी कहते हैं– **धिग् दुःषमाकालरात्रिम्** इस दुःषमा-कालरूपी रात्रि को धिक्कार है। एक सूक्ति है– **कलिकालबलं प्राप्य सलिलैः तैलबिन्दुवत् अधर्मो वर्धते** कलिकाल के प्रभाव से पानी पर तैलबिन्दु के समान अधर्म बढ़ जाता है। इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि काल का प्रभाव अमोघ है।

## जिनेन्द्र का सर्वोदय धर्म

शिशिर-ऋतु वन-प्रकृति के लिए दुःषमा-काल-रात्रिवत् है और वसन्त उन्हें फल-पुष्प-पल्लवों से सम्पन्न करने में चतुर्थकाल-तुल्य है। **कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः** –काल की भट्टी में सारा जगत् पक रहा है और काल के शस्त्र से सभी का संहार हो रहा है। प्रजा में व्याप्त धर्म को काल न्यून और अधिक करता है। भगवान् जिनेन्द्र का धर्म सर्वोदय होकर भी यदि आज संसार की जनसंख्या के अधिकांश का प्रतिनिधित्व नहीं करता, तो यह दुःषमाकाल का प्रभाव ही कहना चाहिए; अन्यथा सम्यक्रूपेण मानवोपयोगी जिन उदात्त एवं उदार तत्त्वों का समावेश श्रमणधर्म में है, वे समस्त भूमण्डल के लोक-समुदाय को सम्यग्दृष्टि देने में समर्थ हैं।

## अहिंसा और जिनशासन

मानवता का निर्माण जिस अहिंसा-प्रभृति चरित्र से सुलभ है, उसका व्यवहरणीय स्वरूप अखिलरूप में जिनशासन में निबद्ध है। व्यवहारनय और निश्चयनय द्वारा अहिंसादि का पालन तथा आत्मस्वरूप-परिज्ञान-निरूपण जैनधर्म का वह विशिष्ट अमृतमार्ग है, जिसे विश्व का पूर्वाग्रहरहित कोई भी व्यक्ति मानेगा और उसकी अकाट्यता पर अपनी सहमति प्रदर्शित करेगा। बारह अनुप्रेक्षाओं ने मर्त्यजीवन की असारता का इतना स्पष्ट विवेचन किया है कि रागान्धों के लोचनों का कज्जल भी धुलकर साफ हो जाएगा। पंच महाव्रत, जिन्हें त्यागी-मुनि धारण करते हैं, संसार से वैर-कलह और अशान्ति मिटाने के अचूक उपाय हैं। हिंसा, अशान्ति और परराष्ट्र-सीमातिक्रमण क्यों होते हैं? क्योंकि मानव का हृदय सच्चे धर्म की प्रतिष्ठा से रहित है। मैत्री, सह-अस्तित्व, समता तथा उदारवृत्तियों का कितना मूल्य है— यह जानकारी उसे नहीं है। धर्मरहित होने से पशुवाहक (जानवरों द्वारा जीवकार्जन करनेवाला) पशुओं पर नाना अत्याचार करता है, अधिक भार लादता है, नृशंसतापूर्वक शारीरिक यन्त्रणा देता है और यथावत् आहार-पानी नहीं देता। यही स्थिति मनुष्य-समाज में अधार्मिकता से बढ़ जाती है। अधिक श्रम और अल्प-वेतन, शोषण तथा उत्पीड़न ही तो हैं। एक कम तौलनेवाला, झूठ बोलनेवाला, मिलावट करनेवाला, ठगी, चोरी और भ्रष्टाचार का अपराधी नहीं तो क्या है? समाज में अपने-अपने क्षेत्र में हानिकर्त्ता और हानिभोक्ता दो दल हैं। हानिकर्त्ता व्यक्ति पर-उत्पीड़क है और हिंसा का भागी है। इस गम्भीर आत्मपतित, अनैतिक स्थिति का अन्त धर्म के बिना अशक्य है। मानव-जीवन के उदात्त-तत्त्वों का संकलन धर्म में समाविष्ट किया गया है। सम्यग्धर्म उत्तम जीवन की कला है। बिना वैर-विद्वेष के संसार-यात्रा कैसे की जा सकती है— यह धर्म सिखाता है। पंच अणुव्रतों का पालन ही यदि मनुष्य करने लगे, तो देवता स्वर्ग को छोड़कर पृथ्वी पर उतरने लगें। कथनी और करनी का भेद मिटाकर मन, वचन, काय की एकवाक्यता सिद्ध करने पर कल्पवृक्षों का युग आ सकता है।

## पाँच अणुव्रतों का पालन करें

संसार में व्याप्त इस मानसिक भ्रष्टाचार को, जो कथनी तथा करनी में भेद उत्पन्न करता है, सम्यग्दृष्टि वीतराग अच्छी प्रकार जानते थे। उन्हें मानव की इस प्रवृत्ति का तपःसिद्धि से ज्ञान हो गया था। इसीलिए समीचीन सर्वोदय धर्म की देशना करते हुए उन्होंने धर्म की दस-सूत्री-योजना को प्रस्तुत किया। पंच-अणुव्रतों का पालन लोक के लिए आवश्यक बताया। मूलगुणों को चारित्रमार्ग से चरितार्थ कर लोक-प्रबोध दे सकें तथा आत्मकल्याण-साधन कर सकें, इसके लिए त्याग का सर्वोत्कृष्ट मुनिमार्ग स्वीकार किया। ये ही ऐसे सक्षम साधन हैं, जिनके द्वारा पृथ्वी

पर स्वर्ग की रचना हो सकती है। मनुष्य मनुष्यता के आनंद को प्राप्त कर सकता है। दशलक्षण मानो निर्विरोध प्रगतिशील जीवन की खुली हुई दशों दिशायें हैं। मनुष्य के दैनिक तथा आयुपर्यन्तगामी व्यवहारों का मणिकोष है। मानव-संसार में नित्य जिनका उपयोग होता है और सफलता की सिद्धि प्राप्त की जाती है –ऐसे अनुभूत प्रयोग, सर्वथा अहिंसक, निर्वैर और स्वपरकल्याणकारी, जो घर को आनन्द-मन्दिर और संसार को निरापद भूमि बना सकते हैं। जिनके पालन से अन्तर्बाह्य शान्ति मिलती है और अणु-आयुधों की निर्माण-भट्टियाँ बुझ जाती हैं, प्रक्षेपास्त्र शून्य में खो जाते हैं, ताल ठोंककर रण-आमन्त्रण करनेवाले सिंहनाद मैत्री-स्वरों में परिवर्तित होते हैं और आत्मा के तलस्पर्शी रत्नों की उपलब्धि सहज हो जाती है।

## सामाजिकता के लिए शुचिता धर्म

जो मनुष्य इन धर्म-लक्षणों को किसी त्यागी-विशेष के लिए, किसी भव्यात्मा के लिए अथवा जातिगत आचरण के लिए सीमित मानते हैं, वे निश्चय ही शब्द का समीचीन अर्थ नहीं जानते, सर्वोदय तीर्थ की परिभाषा से अनभिज्ञ हैं। **क्षमा** क्या जैनों का ही धर्म है? **मार्दव** और **आर्जव** को सम्प्रदाय-विशेष के लिए उपकारक मानते हो? **सत्य** क्या प्रत्येक व्यक्ति के लिए पालनीय नहीं? **शौच** के बिना सामाजिकता और आत्मशुद्धि टिक सकेगी? दीर्घजीवन के लिए **संयम** कितना आवश्यक है? कार्यों की सिद्धि **तप** बिना हुई है? महान् उपलब्धियों को **त्यागी** ही पा सकता है, राग करने से तो अपनी छाया भी आगे-आगे भागती है। अभिमान और दर्प के विन्ध्याचलों को ओढ़कर कितनी दूर चलोगे? चलने के लिए तथा ऊपर पहुँचने के लिए लघुभारवान् होने की परम आवश्यकता है। **अकिंचनत्व** ही वह स्थिति है, जिससे मनुष्य ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, संहनन– इन आठों मदों से रहित हो सकता है। मद पाप है और पाप का निरोध सम्पत्तियों की प्राप्ति है। **ब्रह्मचर्य-व्रत** तो अपार महिमाशील है। जैसे सब अंगों की क्रिया के लिए मनुष्य के लिए कन्धे से ऊपर का भाग आवश्यक है, उसीप्रकार धर्म के पालनार्थ ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। मति, मेधा, बल, ओज, स्मृति, धृति, ज्ञान, विज्ञान, सामर्थ्य, नव-नवस्फुरणकारिणी प्रतिभा ब्रह्मचर्य के सुगम परिणाम हैं। जो धीर मनुष्य अपने श्वेत-शोणित अर्थात् शुक्र को अपने शरीर में ही पचा लेता है, वही अदृष्टवीर्य सच्चा वीर्यवान् है। सत्त्व और तेज उसके नेत्रों में दीप्ति बनकर दमकते रहते हैं। इन दश लक्षणों को ही धर्म कहते हैं। यदि जीवन के मित्र सहकारी और सहायक इन सुहृदों से वंचित रहकर चलना पसन्द करे, तो उसे महा-अरण्य में पथ भूला हुआ अन्धा, बधिर और पंगु कहना चाहिए।

## आज हम क्या बनने जा रहे हैं?

आज लोग धर्म का लोप करने को कटि बाँधे खड़े हैं। उन्हें धर्म शब्द से चिढ़

है, मानो अपने सच्चे साथियों से वैर है। क्षमा, मृदुता, ऋजुता और अकिंचनता को वे आत्महीनता समझते हैं, सत्य-भाषण को मूर्खता कहते हैं। शौच को अण्डेमाँस में भूनकर पचा रहे हैं, संयम को नपुंसकत्व मानते हैं, तप उनके लिये पाषंड (ढोंग) है और त्याग को परिग्रहों के विपुल भार के नीचे शवसमाधि दे दी गई है, अकिंचन होना व्यक्तित्व को कुण्ठित करना है। उन्हें तो किंचन (कुछ) होने की धुन सवार है और इसका मूल्य चुकाने में वे अपना शील, धर्म, सभी दाँव पर लगा रहे हैं। ब्रह्मचर्य एक बकवास है, जिसे वे अस्वाभाविक एवं हानिकारक मानते हैं। प्राचीनकाल से आज तक जिन्होंने ब्रह्मचर्य धारण किया, वे या तो पुंस्त्वहीन थे या नितान्त मूर्ख, जिन्होंने देहेन्द्रियों को स्वाद से भर देने वाले अब्रह्म की उपासना नहीं की।

यही चिन्तन-दिशा पंच-अणुव्रत-पालन के विषय में है। जैसे अरबी-लिपि उल्टे हाथ से (वामगतिक) अक्षर बनाती है, वैसे ही उन अधार्मिकों का विचार, चिन्तन और वर्तन वाममार्गी है। वे प्रत्येक पुराण को जीर्ण और अनुपयोगी कहते हैं। उनकी इन विकृत परिभाषाओं का परिणाम स्पष्ट है। संसार घोर दुःखसन्तप्त है। अशान्ति शूल बनकर चुभने लगी है। रोग दूर करने को एक इंजेक्शन लगवाता है और दूसरा रोग उत्पन्न कर लेता है। यह है आज की वास्तविक स्थिति, जिसमें आदमी घुट-घुट कर जीता है और प्रत्येक श्वास में मरण-वेदना का अनुभव करता है। इसीलिए तो शास्त्रकारों ने कहा–

**बावत्तरी-कला-कुसला पंडिय-पुरिसा अपंडिया चेव।**
**सव्व-कलाण वि पवरं जे धम्मकलं ण जाणंति॥**

अर्थात् यदि कोई बहत्तर कलाओं में कुशल है किन्तु धर्म-कला में अकुशल है, तो वह चाहे पंडित हो या अपंडित हो, निष्फल है; क्योंकि कला तो उज्ज्वलता, कुशलता और रोचिष्णुता तथा आह्लादकता का नाम है। धर्मरहित कलायें तो नट-विद्या हैं। **ज्यों रहीम नट कुण्डली सिमिटि कर कुदि जात**– शिक्षा-प्राप्त नट कुण्डली (एक छोटे घेरे) में से सिमिटकर, कूदकर निकल जाता है, वैसे ही बाह्य सांसारिक चपलताओं का दर्शन ही धर्मरहित करता है। आत्मा का दृश्य उसके कृतित्वों में नहीं झलकता। इसी को मिथ्यादृष्टि कहा गया है। मनुष्य की सत्य-दृष्टि उसके आत्मपरिज्ञान में है और इससे व्यतिरिक्त सभी दृष्टियाँ मिथ्या हैं। दशलक्षण धर्म और पंचअणु (अथवा महाव्रत) जीवन के अन्तर्बाह्य, भौतिक आत्मिक पक्षों को सँवारते हैं, उनमें वास्तविक कला-कुशलता की उद्भावना करते हैं। परन्तु बाजार की दौने में धरी हुई मिठाई खाकर जिसका स्वाद बिगड़ गया है, वह अपने घर में शुद्धिपूर्वक बनायी हुई चौके की मिठाई पसन्द नहीं करता। वैसे ही धर्म-रहस्यों से अनभिज्ञ व्यक्ति अधार्मिकता को लुब्धक की निगाह से रच-रचकर स्वीकार करता है। मानो, छिलका और गुठली खाता है, रस को थूकता है। आश्चर्य होता है इस तमःपरम्परा पर और इन असम्यक्-संविदाओं पर धिक्कार भेजने को

जी चाहता है। बहुत वर्षों पूर्व भारत के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था–

**हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी ?**
**आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्यायें सभी॥**

वास्तव में स्थिति इतनी विषम हो चुकी है कि जिन आर्यवंशजों (भारतीयों) को देखकर देवत्व की कल्पना साकार हो उठती थी, आज उनके शरीर से, बुद्धि से, मन से मानवता के भी स्वाभाविक स्तर का भान नहीं होता। एक अतिरंजित भौतिक लालसाओं के लिए दुर्दमनीय वासना रखने वाले यांत्रिक संस्करण से प्रतीयमान मनुष्य नामधारी जीवों से भववीथियाँ संकुल हो रही हैं। सब एक-दूसरे को धकेलकर, कुचलकर आगे बढ़ जाने को आतुर हैं। किसी की किसी के साथ संवेदना नहीं, मानवत्व नहीं। मशीनों के युग में श्वास लेनेवाला मानव स्वयं मशीन हो गया है, और इस मशीन को ही सर्वस्व मान बैठा है।

## धर्मप्राणता हमारी संस्कृति का मूल-मंत्र

प्राचीन भारत के धर्मप्राण-जीवन से तुलना करने पर तत्कालीन जीवन से आज आकाश-पाताल जितनी दूरी दिखायी देती है। जन-जीवन शून्य होता जा रहा है। जिससे अपवित्रता का परिहार और पवित्रता का आधान किया जाता है, जो दयारूप जल से सिक्त है, इच्छितों का प्रसविता है, उस धर्म-कल्पवृक्ष की स्थापना अपने-अपने ह्रदयों में करना लोग भूलते जा रहे हैं। यदि प्रत्येक मानव के मानस-नेत्रों के समक्ष धार्मिकता का 'स्मरण-पत्र' नहीं रखा गया, तो संसार निकट भविष्य में रहने योग्य नहीं रह जाएगा। आने वाली सन्तानें अपने पूर्वजों पर गर्व कर सकें और धर्म को समादर की दृष्टि से देख पायें, इसके लिए तप करने का समय वर्तमान है। मोह, अविद्या-अन्धकार में भटकते हुए जनों को सर्वोदय-तीर्थ का अनुजीवी ही अपने समत्व से उपकृत कर सकता है। यह कथंचित् सत्य है कि कालदोष से मानवों की धार्मिकता में ह्रास आया है, सम्यक्त्व की ओर प्रवृत्ति न्यून हुई है, मानव अपने सर्वाभ्युदय-साधक मित्र से वंचित हो गया है; तथापि मोक्ष-प्राप्ति के लिए परम-पुरुषार्थ का निरूपण करनेवाला, सम्यक्चारित्र को प्रमुखता देने वाला सर्वोदयी धर्म अपने तप और पुरुषार्थ को न छोड़ते हुए धार्मिक पराक्रम तो कर सकता है। दैवाधीन अथवा कालाधीन होकर अपने आत्मबल को अकिंचन नहीं करना चाहिए। सदैव उदग्र पुरुषार्थ और आत्मप्रदेशों में निरवद्य विचरने के संकल्पों को अप्रतिहत रखना हितावह है। आगम, स्वाध्याय और चारित्रमार्गी मुनि-महेश्वरों से प्रेरणा लेकर श्रेयोमार्ग पर आगे बढ़ते रहने की अदम्य इच्छा कदाचित् कालप्रभाव को भी मृदु होने के लिए बाध्य कर देती है। मात्र काल को दोषभागी बनाकर बच निकलने का ब्याज करना भी पुरुषार्थ-पराङ्मुखता है। ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र का वचन है कि–

**तवारोढुं प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुन्नतम्।**
**सोपानराजिकाऽमीषां पादच्छाया भविष्यति॥** 5/18॥

मुनि-परमेष्ठियों की चरणकान्ति का अनुसरण करते हुए भव्य मुक्ति-मन्दिर तक जा सकेंगे –इसमें क्या सन्देह है? विशुद्ध बोध-पीयूष का पान करनेवाले करुणासिन्धु महाव्रती जहाँ पदविन्यास करते हैं, वहाँ धन्य-क्षणों का आविर्भाव ज्ञान से लोक को सम्पन्न करना, सर्वोदय तीर्थ का विस्तार करना है। लोक अज्ञान से, असंस्कार से किसी पक्ष-विशेष के प्रति दुराग्रह रखने से, हठवाद से यथार्थ ज्ञान को स्वीकार करना नहीं चाहता। उसे युक्ति, आगम, तर्क तथा सौहार्दभाव से मिथ्यात्व से हटाकर सम्यक्त्व में प्रतिष्ठित कराना धार्मिकों का कर्तव्य है। **सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव** कहने वाले के हृदय में यह दृढ़ता विद्यमान है कि वह श्रमण-धर्म को सार्वजनीन, विश्वहितावह मानता है। इस सर्वोदय के दावे को सिद्ध करने के लिए हम अपने आठ मदों को दूर करें।

## आठ मदों को दूर करें

श्रमण-संस्कृति ने आठ मदों में जाति, कुल, बल, ऋद्धि आदि को लेते हुए परम्परा-प्राप्त श्रेष्ठत्व को निरस्त किया है और साथ ही वस्तु-स्वरूप के यथार्थ ज्ञान को महत्त्व देते हुए सम्यग्ज्ञाता और सम्यग्द्रष्टा को धर्मज्ञान का अधिकारी माना है। आत्मा से व्यतिरिक्त सभी पदार्थ परवस्तु हैं और परवस्तु में आसक्ति मोह है। संसार में आसक्ति ही युद्ध, वैर, कलह, विषय-मूढ़ता इत्यादि को जन्म देती है और मानव का पतन कराती है। आसक्ति से मनुष्य अकार्य में प्रवृत्त होता है, परवस्तु के मोह में आत्मविस्मृत हो जाता है। तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से प्रसूत आगम इस दुरन्त मोहच्छेद के लिए तीक्ष्ण कुठार हैं। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से ऊँचा उठता है; अन्य द्वारा विहित कर्म अन्य के लिए सहायक नहीं होता, अतः स्वयंप्रवृत्ति ही पुरुषार्थ-सिद्धिप्रद है। इस ज्ञान से व्यक्ति कर्तृत्व और भोक्तृत्व में भ्रान्तिमान् नहीं रहता, तथा शुभाशुभ-कर्मबन्धजन्य परिणामों के अवश्य भोक्तृत्व को जान लेता है। जानने के उपरान्त वह शुभकर्ममात्र का बन्ध रख सकता है। अथवा सर्वकर्मारम्भ-संन्यासव्रत लेकर कर्म-परिणमन का सर्वथा क्षय करने की ओर प्रवृत्त हो सकता है। आत्मा ही परमात्मा है और वह बन्धन से मुक्त होने पर संसार-परिभ्रमण से मुक्त होकर अपने स्वरूप में ही समाहित हो जाती है। इस तत्त्वज्ञान से मानव परमात्म-स्थिति प्राप्त करने के लिए उत्साहित होता है, उसे आत्मा के सर्वोच्च स्वरूप का, स्व से स्व के लिए ज्ञान हो जाता है। दशलक्षण तथा पाँच अणुव्रत मानवमात्र की हितसाधना के अमोघ-मन्त्र हैं। संवर, निर्जरा ऐसे प्रकरण हैं, जो संचित कर्ममलों को निकाल बाहर फेंकते हैं, नये कर्मों का आगमन रोकते हैं और इसप्रकार मनुष्य को आत्मिक योगमार्ग का निर्देश करते हैं, जिस पर

चलकर वह आत्मसिद्धि प्राप्त कर लेता है। **संसार असार है** –इसी विषय को **द्वादश अनुप्रेक्षा** से समझाते हुए अनेक दृष्टियों से निर्भ्रान्त सिद्ध कर दिया है कि आपात-रमणीय-प्रतीयमान दैहिक-भोग क्षय होने वाले हैं और इनके हितसाधन में आत्महित विस्मरण करना अपने ही सर्वनाश को आमन्त्रण देना है। जहाँ अनेक धर्म कोरे ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं तथा उसी से मुक्ति-प्राप्ति का निरूपण करते हैं; वहाँ श्रमण-संस्कृति में सम्यग्ज्ञानानुपूर्वी सम्यक्चारित्र को उपयोगिता का अन्तिम चरण मानते हैं। यह स्थापना इतनी क्रान्तिकर है कि प्रतिवाद के अशेष अस्त्र कुण्ठित हो जाते हैं। श्रद्धा के बिना कोरे ज्ञान को **ज्ञानं पंगु क्रिया चान्धा** —कहकर उपेक्षणीय, असमर्थ, अनुपयोगी बताया है। कषायों को निःशेष करना, विषयों को निर्मूल करना श्रेयःसाधना के लिए अपरिहार्य है; क्योंकि इनसे आर्त-रौद्र ध्यान बने रहते हैं, तथा निःसंगत्व की प्राप्ति नहीं होती। सर्व सावद्यविरत होने वाले को अन्तर्बाह्य परिग्रह मात्र हेय है और दिगम्बरत्व ही वह उपाय है, जिसमें कर्मक्षय करने की सातिशय क्षमता है। सर्वोदय धर्म इसी उच्च भूमिका का समादर करता है। मानव ज्ञानवान् होकर सर्वसंन्यास का व्रत ग्रहण करे तथा आवागमन से सदा के लिये छूट जाए, दिगम्बरत्व का यही अभिप्राय है। मोक्ष-सिद्धि के लिए स्वीकार किया जाने वाला व्रत (निर्ग्रन्थ मुनिचर्या) यदि अष्टविंश मूलगुणों से रहित करके भी देखे, तो इतना कठिन है कि पालन करना अशक्य प्रतीत होता है। उस पर मूलगुणों-सहित का मुनिधर्म-पालन करते हैं, यह तो अत्यन्त असहनीय है। सारे तप दिगम्बरत्व में समा जाते हैं और निःशंक यह कहा जा सकता है कि उनके लिए मोक्षमार्ग खुला है।

आत्मोपलब्धि के लिए महातपा दिगम्बर मुनि कौन-सा उत्सर्ग नहीं करते हैं? संसार के यावत् पदार्थों का निःसंगत्व क्या सामान्य बात है? जब लोग नित्य सुख-सुविधा के साधनों का आविर्भाव करने में लगे हैं, तब सब ओर से मनोवृत्तियों को हटाकर सर्वसंयम ले लेना **अतिदुस्तरपन्थाः**। यह वेष चारित्र-सहित तीर्थंकरों ने अपनाया और आज तक उनके अनुगामी अपनाते आये हैं। अकिंचनता की पराकाष्ठा है यह। इससे अधिक आकिंचन्य क्या हो सकता है? जैसे बीज मिट्टी में मिल जाए, वैसे अपने अहंकार को निःशेष विगलित करने वाले महाव्रती सर्वोदय-तीर्थ की देन ही हो सकते हैं। विश्व-समाज में भगवान् के सर्वोदय-तीर्थरूपी मंगल को प्रचारित करने के लिए श्रावक, तपस्वी और विद्वान् अपने धर्मश्रम को उपयोग कर आधि-व्याधि-ग्रस्त संसार तक परित्राण के स्वर पहुँचायें तथा समभावी हों; तभी आचार्यप्रोक्त 'तवैव' **(सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव)** पद आशीर्वादक होगा।

❖❖

# जगद्गुरु

लोक में सर्वत्र गुरु की अचिन्त्य-महिमा मानी गई है। मात्र तीर्थंकर परमात्मा ही स्वयंप्रबुद्ध होने के कारण अपने गुरु स्वयं होते हैं, अन्यथा सभी के लिए आत्मिक उत्थान के निमित्त गुरु की अपेक्षा अनिवार्य होती है। यहाँ तक कि लौकिक-कला-शिक्षा आदि में निष्णात बनने के लिए भी गुरु की अनिवार्यता मानी गई है। यदि कहीं कोई अपने आप किसी कला या विद्या को सीख भी लेता है, तो भी उसमें वह निखार या परिष्कार नहीं होता, जो कि किसी विशेषज्ञ-गुरु के सान्निध्य में विधिवत् प्रशिक्षण लेने पर आता है। उदाहरणस्वरूप हम मयूर का दृष्टांत ले सकते हैं। मयूर बहुत सुन्दर नृत्य करता है तथा उसके नृत्य को देखकर जनमानस मंत्रमुग्ध हो जाता है, फिर भी गुरु से प्रशिक्षण लिये बिना नृत्य करने के कारण नाचते समय उसका गुह्य-अंग दिखता है। इससे उसकी नृत्यकला उत्कृष्ट होते हुए भी दोषरहित नहीं कही जाती। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए ज्ञान-विज्ञान, कला-विद्या एवं आत्मिक उत्थान आदि सभी क्षेत्रों में योग्य-गुरु की अनिवार्य-अपेक्षा होती है।

'गुरु' शब्द 'गु' और 'रु' –इन दो वर्णों को मिलकर बना है। इस आधार पर नीतिग्रंथ में गुरु को अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करनेवाला माना गया है–

**गु-शब्दस्त्वन्धकारे च, रु-शब्दस्तन्निवर्तकः।**
**अन्धकारविनाशित्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते॥**

**अर्थ**– 'गुरु' शब्द का अर्थ लगानेवालों ने 'गु' और 'रु' दोनों अक्षरों के क्रमशः अज्ञान-अन्धकार और तन्निवर्तक अर्थ करते हुए 'अन्धकार (अज्ञानरूप) के नाशयिता' को 'गुरु' कहा है।

लोकप्रसिद्ध इस श्लोक में भी गुरु का यही स्वरूप प्रतिपादित किया है–

**अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया।**
**चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥**

–कातंत्र-रूपमाला, मंगलाचरण 5

**अर्थ**– अज्ञानरूप अन्धकार से अन्धे हुये लोकचक्षुओं को जिन्होंने ज्ञानरूप अंजन की शलाका से उन्मीलित किया, उन गुरुओं को नमस्कार है।

विशेषतः धर्मसाधना के क्षेत्र में तो गुरु की अनिवार्य आवश्यकता ज्ञानियों ने

प्रतिपादित की है–

**विना गुरुभ्यो गुणवान्नरोऽपि, धर्मं न जानाति विचक्षणोऽपि।**
**आकर्णदीर्घोज्ज्वललोचनोऽपि, दीपं बिना पश्यति नान्धकारे॥** –नीतिसार

**अर्थ**– तीक्ष्ण-बुद्धिवाला गुणवान पुरुष भी गुरु के बिना उसीप्रकार धर्म का स्वरूप ज्ञात नहीं कर सकता, जिसप्रकार कानों तक लम्बी सुन्दर और निर्दोष आँखों वाला व्यक्ति यदि अन्धकार में आँखों को फाड़-फाड़कर देखे, तो भी बिना दीपक के उसे वस्तु दृष्टिगत नहीं होती।

इसी बात को इन छोटे-छोटे वाक्यों में भी स्पष्ट किया गया है–

**गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनः।**

**अर्थ**– गुरु की ही प्रसन्नता (कृपा) से ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त होता है।

इसीलिए ज्ञानी-गुरु को संसाररूपी सागर से पार उतारनेवाला कहा गया है–

**भवाब्धेस्तारको गुरुः।** –क्षत्रचूड़ामणि, श्लोक, 2/30

**अर्थ**– गुरु ही संसार-सागर से तारनेवाला है।

ऐसे ज्ञानी-गुरु का स्वरूप इस पद्य में प्रभावी ढंग से निरूपित किया है–

**गुरवः पान्तु वो नित्यं ज्ञानदर्शन-नायकाः।**
**चारित्रार्णव-गम्भीरा मोक्षमार्गोपदेशकाः॥** –दशभक्ति, पृष्ठ 160

**अर्थ**– जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के नायक होते हैं, गम्भीर चारित्रसमुद्र और मोक्षपथ के उपदेष्टा होते हैं, ऐसे ज्ञानी-गुरु हमें जीवन में प्राप्त हों।

ऐसे गुरु के संसर्ग में समय कब बीत जाता है, पता ही नहीं चलता तथा इनके बिना जीवन भार के समान प्रतीत होता है–

**योगे वियोगे दिवसे गुरूणां, अणोरणीयान् महतो महीयान्।**

**अर्थ**– गुरु के संयोग में दिन छोटे से छोटा होता है और वियोग में बड़े से बड़ा लगता है।

गुरु की महिमा बतानेवाले अनेकों उद्धरण जैन-वाङ्मय में प्राप्त होते हैं, जिनमें से कुछ प्रभावी उद्धरण निम्नानुसार हैं–

**गुरु की महिमा वरनी न जाय, गुरु नाम जपौं मन-वचन-काय।**
–द्यानतराय, देव-शास्त्र-गुरु-पूजन

**गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु, गुरु दीवउ गुरु देउ।**
**अप्पहँ परहँ परंपरहँ, जो दरिसावइ भेउ॥** –आचार्य योगीन्दुदेव

**अर्थ**– जो परम्परा से आत्मा और पर का भेद दर्शाते हैं –ऐसे गुरु दिनकर (सूर्य) हैं, गुरु ही चन्द्रमा है, गुरु दीपक हैं और गुरु ही देव हैं।

गुरु को प्रज्ञाचक्षु प्रदान करने में निमित्त बताकर उसे 'माता-पिता से भी श्रेष्ठतर' कहा गया है–

**गर्भाधानक्रियामात्रन्यूनौ हि पितरौ गुरुः।** –क्षत्रचूड़ामणि, 2/59

**अर्थ**– नौ महीने नौ दिन माँ ने गर्भ में रखा, इसीलिए माता-पिता के उपकार हैं, अन्यथा जीवनभर सारे उपकार गुरु के ही हैं।

**गुरुर्विधाता गुरुरेव दाता, गुरुः स्वबन्धुर्गुरुरत्नसिन्धुः।**
**गुरुर्विनेता गुरुरेव तातो, गुरुर्विमोक्षो हतकर्मपक्षः॥**

–चारुकीर्त्ति भट्टारक, गीतवीतराग, 9/5

**अर्थ**– गुरु ही विधाता है, गुरु ही दाता है, गुरु ही स्वबन्धु है, गुरु ही रत्नों (रत्नत्रय) का सिन्धु है, गुरु ही विनेता (मोक्षमार्गस्य नेतारं) है, गुरु ही पिता है और क्या कहें गुरुदेव ही कर्मों का नाश करने में निमित्त हैं, इसलिए वे मोक्षस्वरूप हैं।

अतः ऐसे परम-उपकारी गुरु का जो सम्मान नहीं करते, उनके प्रति महाकवि शूद्रक लिखते हैं–

**ये सत्यमेव न गुरून् प्रतिमानयन्ति।**
**तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा॥** –मुद्राराक्षस, 3/33

**अर्थ**– यह सच है कि जो लोग गुरुजनों का सम्मान नहीं करते, उनका हृदय लज्जाविदीर्ण क्यों नहीं हो जाता?

गुरु की गम्भीरता का यशोगान इस पद्य में प्रभावी रीति से किया है–

**देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं।**
**जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः॥**
**अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरतां।**
**आपाताल-निमग्न-पीवरतनुर्जानाति मन्दराचलः॥**

–आचार्य हेमचन्द्रसूरि

**अर्थ**– पल्लवग्राही पुस्तकी विद्या से अब तक अनेकों ने वाग्देवी की उपासना की है। सारस्वत-सार को मात्र गुरुकुल-वास में निवास करके आक्लिष्ट हुआ मुरारी कवि ही जानता है। कपिभटों ने समुद्र का लंघन तो किया, लेकिन क्या उसकी गहराई को जाना? नहीं जाना। उसकी गहराई को पाताल तक डूबा हुआ महान् मन्दराचल ही जानता है।

आचार्य योगीन्द्रदेव ने 'अमृताशीति' ग्रंथ में समस्त तत्त्वज्ञान को 'गुरु-परम्परा से प्राप्त' कहकर गुरु की महिमा बताई है–

**वक्ष्यामि ते गुरुपरम्परया प्रयातम्॥** 34 ॥
**गुरुसमय-नियोगात् प्रत्ययस्यापि हेतोः॥** 53 ॥

गुरु की कृपा से ही अविनाशी ध्रुव आत्मतत्त्व का ज्ञान और अनुभूति हो सकती है। ऐसा प्रतिपादन आचार्य योगीन्द्रदेव ने 'अमृताशीति' ग्रंथ के निम्नलिखित तीन पद्यों में किया है–

**ज्वर-जनन-जराणां वेदना यत्र नास्ति,**
**परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नोगतिर्वा।**
**तदतिविशदचित्तैः लभ्यतेऽंगेऽपि तत्त्वम्,**
**गुरुगुण-गुरुपादाम्भोज-सेवाप्रसादात् ॥ 56 ॥**

**अर्थ**– जो (तत्त्व) अकारादि स्वरों के समूह, विसर्ग, 'क' आदि व्यंजनाक्षरों आदि से रहित है; अहितकारी विभाव-परिणामों से रहित है, अविनाशी/नित्य है, संख्यातीत/अनन्त है; रस, अन्धकार, रूप, स्पर्श, गन्ध, जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि, अणुता-स्थूलता, दिशाओं के समूह (अर्थात् पूर्व-पश्चिम आदि क्षेत्र-भेद) से जो रहित है, (तथा) जहाँ ज्वर, जन्म, वृद्धावस्था की वेदना नहीं है, (जहाँ) मृत्यु का प्रभाव नहीं है, गति-आगति दोनों का जहाँ अभाव है; उस तत्त्व को श्रेष्ठ गुणोंवाले गुरुजनों के चरण-कमलों की सेवा के प्रसाद से अत्यन्त निर्मल मनवालों (साधकों) को (अपने) शरीर में भी प्राप्त हो जाता है।

**गिरि-गहनगुहाद्यारण्य-शून्यप्रदेश ,**
**स्थितिकरणनिरोध-ध्यान-तीर्थोपसेवा-**
**प्रपठन-जप-होमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः,**
**मृगय तदपरं त्वं भो! प्रकारं गुरुभ्यः॥ 57 ॥**

**अर्थ**– पर्वतों, उनकी गहन गुफाओं एवं जंगल आदि के निर्जन-प्रदेशों में कायोत्सर्ग (स्थिति), इन्द्रियनिरोध, ध्यान (सरागी देवताओं का), तीर्थों के सेवन, (स्तोत्रादि के) पठन, जप, होम इनसे; ब्रह्म (शुद्धात्म तत्त्व) की सिद्धि नहीं होती है; इसलिए हे शिष्य! गुरुओं के पास रहकर दूसरे तरीके की खोज करो।

**दृगवगमनलक्ष्म स्वस्य तत्त्वं समन्ताद्,**
**गतमपि निजदेहे देहिभिर्नोपलक्ष्यम्।**
**तदपि गुरुवचोभिर्बोध्यते तेन देवः,**
**गुरुरधिगततत्त्वस्तत्त्वतः पूजनीयः॥ 58 ॥**

**अर्थ**– दर्शन व ज्ञान चिह्नवाले, निज परमात्मतत्त्व को, अपने शरीर में, शरीरधारी प्राणियों द्वारा, दृष्टिगोचर/अनुभूतिगम्य नहीं हो पाता है। वह (परमात्मतत्त्व) भी सद्गुरु के उपदेशों से ज्ञात हो जाता है। इस कारण से तत्त्वज्ञानी सद्गुरुदेव यथार्थतः पूजनीय हैं।

साक्षात् गुरु की महिमा तो अचिन्त्य है ही, स्थापना-निक्षेप के अंतर्गत निर्मापित गुरु की प्रतिमा आदि भी कार्यसाधक होती हैं, ऐसे दृष्टांत भारतीय

सांस्कृतिक ग्रन्थों में अनेकत्र प्राप्त होते हैं। जैसे भिल्लराज एकलव्य गुरु द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसे ही साक्षात् गुरु मानकर धनुर्वेद-विद्या-साधन करता था, उसे इस मृत्तिकामय गुरुप्रसाद से विद्याएँ सिद्ध हो गई थीं–

**गुरुप्रदिष्टं नियमं, सर्वकार्याणि साधयेत्।**
**यथा च मृत्तिकाद्रोण: विद्यादानपरो भवेत्॥** –व्रततिथिनिर्णय

**अर्थ**– गुरु के द्वारा दिया गया नियम सभी कार्यों की सिद्धि कराता है। जैसेकि मिट्टी के बने हुए द्रोणाचार्य भी (एकलव्य को) विद्या-दान में समर्थ हुए थे।

विशेषतः आत्मा का गुरु आत्मा ही अध्यात्मग्रन्थों में प्रतिपादित किया है–

**स्वयं हितप्रयोक्तृत्वात्, आत्मैव गुरुरात्मन:।** –इष्टोपदेश, 34

**अर्थ**– निश्चयनय से आत्मा ही आत्मा का गुरु है, क्योंकि वह स्वयं ही स्वयं का हित कर सकता है। क्योंकि–

**यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्।**

अर्थात् जिसे स्वयं प्रबुद्धपना नहीं हो, शास्त्र या शिक्षक के द्वारा उसे ज्ञान नहीं दिया जा सकता।

**आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषत:।**
**यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥** –भागवत, 11/7/20

**अर्थ**– इस संसार में प्राणियों का गुरु उनका अपना आत्मा ही है, विशेषरूप से पुरुष (मनुष्य) का। क्योंकि वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा अपने श्रेय को पहचान लेता है, प्राप्त कर लेता है।

वास्तव में ऐसे आत्मगुरु तीर्थंकरदेव होते हैं, इसीलिये उन्हें 'जगद्गुरु' कहा गया है– **जगद्गुरु: जगतां जगति जगद्गुरु:।**

–जिनसहस्रनाम की पं. आशाधरसूरिकृत टीका, 3/44, पृ. 163

**अर्थ**– जगत् में रहनेवाले प्राणी-वर्ग के गुरु महान् धर्मोपदेशक को 'जगद्गुरु' कहते हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि शिष्य कहे कि 'ये मेरे गुरु हैं'— यह शोभनीय है; किंतु 'यह मेरा शिष्य है' –ऐसा कहना 'अधम गुरु' का लक्षण है।

'शेडवाल' में आचार्य शांतिसागर जी को किसी क्षुल्लक जी ने 'जगद्गुरु' एवं 'योगीन्द्रतिलक' विशेषण प्रयोग किये, तो आचार्यश्री ने तुरन्त टोक दिया कि ये विशेषण तीर्थंकर परमात्मा के हैं, हम जैसे सामान्य यतियों के लिए नहीं। हमारा तो तीन कम नौ करोड़ मुनियों के अंत में भी नम्बर लग जाये, तो भी मैं अपना सौभाग्य समझूँगा। आज की विशेषणप्रिय-परम्परा के लोग क्या इस घटना की गंभीरता को समझ पायेंगे? ❖❖

# जिनदर्शन-जिनपूजा

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत श्रावक जीवन में आत्मज्ञान और आत्मशुद्धि के लिए अपने आराध्य, वीतराग-विज्ञानता के आदर्श अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और निर्ग्रन्थ साधु– इन पंच परमेष्ठियों की भक्ति और पूजा करता है। सर्वविरति के बिना गृहस्थ को शुद्धात्म-प्रकाशन संभव नहीं, क्योंकि गृहस्थ जीवन आर्तरौद्रध्यान-प्रधान और विषय-कषाय-युक्त जीवन है। देवदर्शन, पूजा और दानादि शुभोपयोगरूप धर्म के माध्यम से ही वह अपने अन्तर में परमात्मा को खोजने का प्रयत्न करता है। आचार्य कुन्दकुन्द विरचित 'प्रवचनसार' की टीका में लिखा है कि–

**गृहीणां तु सर्वविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्।** —3-54

सम्यग्दृष्टि श्रावक के सर्वविरति का अभाव है, इसलिए शुद्धात्माचरण की थिरता के प्रकाश का अभाव है। इसी कारण कषायों के उदय से यह शुभोपयोग रूप दान, पूजा, अभिषेक आदि शुभ कार्य करता है। आगम में स्पष्ट वर्णन है कि शुभोपयोग ही शुद्धोपयोग का कारण है। आचार्य वीरसेन रचित 'धवला' की टीका में लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान के दर्शन मात्र से निधत्ति, निकाचित वज्रलेप जैसे कर्म क्षण भर में नष्टता को प्राप्त हो जाते हैं। यथा–

**जिणबिंबदंसणेण णिधत्तिणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।**

आचार्य पूज्यपाद भी 'समाधिभक्ति' में लिखते हैं–

**जन्मजन्मकृतं पापं, जन्मकोटिसमार्जितम्।**
**जन्ममृत्युजरामूलं, हन्यते जिनवंदनात्॥**

नित्य देवदर्शन-स्तुति में भी जिनेन्द्र-दर्शन का महत्त्व उद्घाटित किया है–

**दर्शनं देवदेवस्य, दर्शनं पापनाशनम्।**
**दर्शनं स्वर्गसोपानं, दर्शनं मोक्षसाधनम्॥** –दर्शनपाठ, 1

और भी–

**दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि।**

सम्यग्दृष्टि श्रावक प्रतिदिन देवदर्शन, जिनाभिषेक, जिनपूजा और उत्तमादि पात्रों को दान देकर भाविनिर्वाण का पात्र बनता है। आचार्य वीरसेन 'जयधवला'

में लिखते हैं कि दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं। यथा–

**तं जहा दाणं पूया सीलमुववासो चेदि चउव्विह सावयधम्मो।**

–भाग 1, सूत्र 82, पृष्ठ 50

## जिनमन्दिर

**रत्नस्वर्णमयं जिनेन्द्रभवने राराज्यमानं सदा।**

–आशाधरसूरि, पूजापाठ 4, पृष्ठ 166

जिनमन्दिर रत्नमय एवं स्वर्णमय मूर्त्तियों से सदा सुशोभित रहते हैं।

**येनोत्तमर्द्धिं जिनदेवगेहं, संस्थापितं भक्तिमता नरेण।**
**तेनात्र सा निःश्रयणी धरण्यां, स्वर्गाधिरोहाय कृता प्रजानाम्॥**

–आचार्य जटासिंहनन्दि, वरांगचरित, 22/51, पृष्ठ 432,
सम्पादक– डॉ. आ. ने. उपाध्ये

जो बेचारे ज्ञानहीन प्राणी कुमार्गों पर चले जाते हैं, उन्हें भी जिनबिम्बों के दर्शन सहज ही सन्मार्ग पर ला देते हैं। भक्तिभाव से भरपूर हृदययुक्त जिस किसी मनुष्य के द्वारा शास्त्र में कहे गये वैभवयुक्त विशाल जिनमन्दिर की स्थापना की जाती है, वह व्यक्ति मानो इस पृथ्वी पर सीढ़ियों को बनवा देता है, जिन पर चढ़कर संसार के भोगविषयों में लिप्त क्षुद्र प्राणी भी स्वर्ग में पहुँच सकते हैं।

## रत्न प्रतिमा युक्त जिनमन्दिर

**नित्योत्सवं मणिमयं निलयं जिनानाम्।**

–आचार्य पूज्यपाद, दशभक्ति, ईर्यापथशुद्धि, 2

**पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्तिः।**

–आचार्य वादिराज, एकीभावस्तोत्र, 9

**येषु जिनानां प्रतिमाः पञ्चशतशरासनोच्छ्रिताः सत्प्रतिमाः।**
**मणिकनकरजतविकृता दिनकरकोटिप्रभाधिकप्रभदेहाः॥**
**तानि सदा वंदेऽहं भानुप्रतिमानि यानि कानि च तानि।**
**यशसां महसां प्रतिदिशमतिशयशोभाविभांजि पापविभांजि॥**

–आचार्य पूज्यपाद, दशभक्ति, नन्दीश्वर भक्ति, 26-27

जिन-चैत्यालयों में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाएँ पाँच सौ धनुष ऊँची मणि, सुवर्ण व चाँदी की बनी हुई हैं। करोड़ों सूर्यों की कांति से भी अधिक जिनके शरीर की कांति देदीप्यमान है, वे सब अकृत्रिम चैत्यालय सूर्य के विमान के समान देदीप्यमान, जो कुछ हैं, जैसे हैं, बस वे ही हैं–अद्वितीय हैं, यश व तेज के स्थान हैं, प्रत्येक दिशा में होने वाली अपूर्व शोभा से सुशोभित हैं और समस्त पापों को नाश करने वाले हैं। ऐसे उन अकृत्रिम चैत्यालयों को मैं सदैव नमस्कार करता हूँ।

**जिनालय का साज**

**स्तम्भैर्ज्वलदि्भस्तपनीयकुम्भैर्विचित्रपत्रांशुपरीतशोभैः।**
**तैः स्फाटिकैर्दम्पतिरूपयुक्तैरेजे जिनेन्द्रप्रतिमागृहं तत्॥**

—आचार्य जटासिंहनन्दि, वरांगचरित, 22/62, पृष्ठ 435,
सम्पादक— डॉ. आ. ने. उपाध्ये

गर्भगृह, जिसमें वीतराग जिनेन्द्र प्रभु की प्रतिमाएँ विराजमान थीं, उसके सभी खम्भे स्फटिक मणि के बने थे अतएव उनकी प्रभा से ही पूरा जिनालय जगमगा रहा था।

**स्नातोऽहं धर्मतीर्थेषु, जिनेन्द्र तव दर्शनात्।**

—आचार्य पूज्यपाद, दशभक्ति, ईर्यापथशुद्धि, 6

**मानस्तम्भ**

**मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी।**
**प्राकारो नाट्यशालाद्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाद्याः॥**
**शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च।**
**प्राकारः स्फाटिकोन्तर्नृसुरमुनि सभा पीठिकाग्रे स्वयम्भूः॥**

—आचार्य पूज्यपाद, चैत्यभक्ति, दशभक्ति

—समवशरण में अनेक मानस्तम्भ, निर्मलजलपूर्ण तालाब, परिखा, पुष्पोद्यान, प्राकार (चहारदीवारी) नाट्यशाला[1], उपवन, वेदिकाएँ और उन पर (अन्तर्ध्वजा) झंडियाँ, कल्पद्रुमों के समूह से परिपूर्ण वन, स्तूप, हर्म्यपंक्ति, स्फटिकप्राकार और उसके मध्यभाग में नर-सुर-मुनि-सभाएँ और उनकी पीठिका के अग्रभाग में स्वयम्भू (आदिनाथ भगवान) विराजमान होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी श्रावक के कर्त्तव्य बताते हुए 'रयणसार' में लिखते हैं कि धार्मिक क्रियाओं में दान और पूजा— ये श्रावक के दो महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य हैं। इनके बिना वह श्रावक होने का पात्र नहीं होता है। यथा— **दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।**

---

1. **अकृत्रिम चैत्यालयों की विभूति**
अभिषेकप्रेक्षणिका क्रीडनसंगीतनाटकालोकगृहैः।
शिल्पिविकल्पितकल्पनसंकल्पातीतकल्पनैः समुपेतैः।।

—आचार्य पूज्यपाद, दशभक्ति, नन्दीश्वर भक्ति, 21

—(इन अकृत्रिम जिन चैत्यालयों में) अभिषेक जिन मण्डपों में बैठकर देखते हैं, ऐसे मण्डप हैं। क्रीडाभूमि, संगीतभूमि, नाटकशालाओं से सुशोभित हैं। यह रचना उनको बनाने वाले कारीगरों द्वारा कल्पना की हुई रचना के भेदों के विचार से सर्वथा रहित है अर्थात् किसी चतुर कारीगर ने भी उनके बनाने की कल्पना नहीं की है। ये सब अनादि अकृत्रिम हैं।

जैनाचार्य लिखते हैं कि दान परम्परा से मोक्ष का कारण है। यथा–

**दानं पारम्पर्येण मोक्षकारणम्।** –चारित्रसार, पृष्ठ 28

## जिनभक्तिः किं न साधयेत्

**आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु।**
**चैत्यायतनाभिमुखताऽपि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धेरङ्गम्।**

–आचार्य शिवकोटि, भगवती आराधना, 562

**अर्थ**– जिनचैत्यायतन—मंदिर के अभिमुख होना भी शुभ परिणामरूप होने से कार्यसिद्धि का अंग है।

## सम्यग्दर्शन के लिए जिनबिम्ब निमित्त है

**तीहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति—केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिणबिंबं दट्ठूण।** –षट्खंडागम, पुष्पदंत, 1, 9-9, 30, पृष्ठ 429

मनुष्य तीन कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं– कितने ही मनुष्य जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन करके।

**चदुहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पाएंति—केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिणमहिमं दट्ठूण, केइं देवद्धिं दट्ठूण।**

–छक्खंडागमे जीवट्ठाणं, पुष्पदंत, 1, 9-9, 37, पृष्ठ 432

देव चार कारणों से प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं– कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर, कितने ही जिनमहिमा देखकर और कितने ही देवों की ऋद्धि देखकर।

**तीहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति—केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिणबिंबं दट्ठूण॥**

**कधं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तमुप्पत्तीए कारणं? जिणबिंबदंसणेण णिधत्त-णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। तथा चोक्तं-**

**दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्।**
**शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा॥**

–षट्खंडागम, पुष्पदंत, 1, 9-9, 22, पृष्ठ 427-28

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में तीन कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं– कितने ही तिर्यंच जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्बों के दर्शन करके।

**शंका**– जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है?

**समाधान**– जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है। कहा भी है–

जिनेन्द्रों के दर्शन से पापसंघातरूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

**णेरइया मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्त-समुप्पादेंति? तीहिं कारणेहिं पढमसम्मत्तमुप्पादेंति— केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं वेदणाहिभूदा।**

–षट्खंडागम, पुष्पदंत, 1, 9-9, 6-8, पृष्ठ 421-22

नारकी मिथ्यादृष्टि जीव कितने कारणों से प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं? तीन कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं। कितने ही नारकी जीव जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही वेदना से अभिभूत होकर सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रकार श्रावक को नित्य और नैमित्तिक जिनबिम्ब-महोत्सवों में शिथिलता नहीं करनी चाहिए तथा तत्त्व के जानकार पुरुषों को विशेषरूप से शिथिलता नहीं करनी चाहिए। यथा–

**नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे।**
**शैथिल्यं नैव कर्त्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः॥** –पंचाध्यायी, 2/739

देवपूजा सम्यग्दर्शन के लिए है, क्योंकि वीतराग अरिहन्त के स्वरूप को लक्ष्य में लेने पर अपने आत्मा का स्वरूप लक्ष्य में होता है। शास्त्रपूजा सम्यग्ज्ञान के लिए है, क्योंकि जिनवाणी के स्वाध्याय से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। निर्ग्रन्थ साधु की पूजा सम्यक्चारित्र के लिए है, क्योंकि दिगम्बर गुरु (आचार्य, उपाध्याय, साधु) चारित्र के प्रतीक हैं। इसप्रकार देव-शास्त्र-गुरु की पूजा रत्नत्रय के प्रतीक स्वरूप हैं। आचार्य पूज्यपाद द्वारा विरचित 'सर्वार्थसिद्धि' में देव-शास्त्र-गुरु की पूजा आदि को सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया कहा गया है। यथा–

**चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया।** —6/5

## अष्टद्रव्य से पूजा एवं उसका महत्त्व

पूजा और पूजा के द्रव्यों का उद्देश्य जैनधर्म की पद्धति में अन्य दर्शनों की पद्धति से सर्वथा भिन्नता रखता है। यहाँ वीतरागता का पोषण होता है, जबकि अन्य इससे विपरीत हैं। जलादि अष्टद्रव्यों से पूजा का विधान आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्राकृत की दशभक्ति पाठों में चैत्य एवं निर्वाण आदि भक्तियों में क्रमशः विधिपूर्वक आत्मविशुद्धि एवं मन की निर्मलता के निमित्त बतलाये। यथा–

## चैत्यभक्ति

**इच्छामि भंते! चेदियभत्तिकाउस्सग्गो कदो तस्स आलोचेदुं। अहलोय-तिरिय-लोय-उड्ढलोयम्मि-किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेदियाणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु भवणवासिय-वाणविंतर-जोइसिय-कप्पवासिय त्ति चदुविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण जलेण, दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण अक्खेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण सया णिच्चकालं अच्चंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति, अहमवि इह संतो तत्थ संताइयं णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगदिगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होदु मज्झं।** —आचार्य कुन्दकुन्द, चैत्यभक्ति

हे भगवन्! मैंने चैत्यभक्ति कायोत्सर्ग किया है, उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक में जो कृत्रिम-अकृत्रिम जिनप्रतिमाएँ हैं, उन सबको तीनों लोकों में निवास करनेवाले भवनवासी (धरणेन्द्र व पद्मावती), व्यन्तर (क्षेत्रपाल), ज्योतिषी और कल्पवासी— इस तरह चार प्रकार के देव अपने परिवार सहित, दिव्य जल, दिव्यगन्ध, दिव्यअक्षत, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्यचूर्ण, दिव्यसुगन्धित पदार्थ और दिव्याभिषेक के द्वारा नित्यकाल अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वंदना करते हैं और नमस्कार करते हैं। मैं भी यहाँ रहता हुआ वहाँ रहनेवाली प्रतिमाओं की नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ और नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की प्राप्ति हो।

## परिनिर्वाणभक्ति

**इच्छामि भंते! परिणिव्वाणभत्तिकाउस्सग्गो कदो तस्स आलोचेदुं। इमम्मि अवसप्पिणीए चदुत्थसमयस्स पच्छिमे भागे आहुट्ठमासहीणे वासचदुक्कम्मि सेसकालम्मि, पावाए णयरीए कत्तियमासस्स किण्हचदुद्दसिए रत्तीए सादीए णक्खत्ते पच्चूसे भगवदो महदि महावीरो वड्ढमाणो सिद्धिं गदो, तिसुवि लोएसु भवणवासिय-वाणविंतर-जोयिसिय-कप्पवासिय त्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण जलेण, दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण अक्खेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण सया णिच्चकालं अच्चंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति, परिणिव्वाण-महाकल्लाणपुज्जं करंति। अहमवि इह संतो तत्थ संताइयं णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगदिगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होदु मज्झं।** —आचार्य कुन्दकुन्द, निर्वाणभक्ति

हे भगवन्! मैंने परिनिर्वाणभक्ति संबंधी कायोत्सर्ग किया है, उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। इस अवसर्पिणी संबंधी चतुर्थकाल के पिछले भाग में साढ़े तीन माह

कम चार वर्ष शेष रहने पर पावा नगरी में कार्तिक मास की कृष्णचतुर्दशी की रात्रि में स्वाति नक्षत्र के रहते हुए प्रभात काल में भगवान् महति, महावीर अथवा वर्धमान स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए। उसके उपलक्ष्य में तीनों लोकों में जो भवनवासी (धरणेन्द्र व पद्मावती), व्यन्तर (क्षेत्रपाल), ज्योतिषी और कल्पवासी के भेद से चार-चार प्रकार के देव रहते हैं, वे सपरिवार दिव्यजल, दिव्यगन्ध, दिव्यअक्षत, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्यचूर्ण, दिव्यसुगन्धित पदार्थ और दिव्याभिषेक के द्वारा सदा नित्यकाल उनकी अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं और परिनिर्वाण नामक महाकल्याण की पूजा करते हैं। मैं भी यहाँ रहता हुआ वहाँ स्थित उन निर्वाणक्षेत्रों की नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ और नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की प्राप्ति हो।

## नन्दीश्वरभक्ति

**इच्छामि भंते! णंदीसरभत्तिकाउस्सग्गो कदो तस्स आलोचेदुं। णंदीसरदीवम्मि चउदिसविदिसासु अंजणदधिमुहरदिकरपुरुणगवरेसु जाणि जिणचेदियाणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोएसु भवणवासिय-वाणविंतर-जोइसिय-कप्पवासिय त्ति चदुविहा देवा सपरिवारा दिव्वेहिं जलेहिं, दिव्वेहिं गंधेहिं, दिव्वेहिं अक्खेहिं, दिव्वेहिं पुप्फेहिं, दिव्वेहिं धुव्वेहिं, दिव्वेहिं चुण्णेहिं, दिव्वेहिं वासेहिं, दिव्वेहिं ण्हाणेहिं आसाढकत्तियफागुणमासाणं अट्ठमिमाइं कादूण जाव पुण्णिमंति सया णिच्चकालं अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमस्संति णंदीसरमहाकल्याणं करंति, अहमवि इह संतो तत्थ संताइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमस्सामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगदिगमणं, समाहिमरणं, जिणगुण-संपत्ति होदु मज्झं।** —आचार्य कुन्दकुन्द

हे भगवन्! मैंने नन्दीश्वरभक्ति संबंधी कायोत्सर्ग किया है, उसकी आलोचना करना चाहता हूँ। नन्दीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं तथा विदिशाओं में अंजनगिरि, दधिमुख तथा रतिकर नामक विशाल-श्रेष्ठ पर्वतों पर जो जिनप्रतिमाएँ हैं, उन सबको त्रिलोकवर्ती भवनवासी (धरणेन्द्र व पद्मावती), व्यन्तर (क्षेत्रपाल), ज्योतिषी और कल्पवासी के भेद से चार-चार प्रकार के देव रहते हैं, वे सपरिवार दिव्यजल, दिव्यगन्ध, दिव्यअक्षत, दिव्यपुष्प, दिव्यधूप, दिव्यचूर्ण, दिव्य-सुगन्धित पदार्थ और दिव्याभिषेक के द्वारा आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन मास की अष्टमी से लेकर पूर्णिमा पर्यंत सदा नित्यकाल उनकी अर्चा करते हैं, पूजा करते हैं, वंदना करते हैं, नमस्कार करते हैं तथा नन्दीश्वरद्वीप महान् उत्सव करते हैं। मैं भी यहाँ रहता हुआ, वहाँ स्थित रहनेवाली उन प्रतिमाओं की नित्यकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ और नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो,

कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की प्राप्ति हो।

जैनाचार्यों ने अष्टद्रव्य से ही पूजा करने का विधान बताया है। अष्टद्रव्य, अष्टकर्म को नाश करने के लिए एवं अष्टमवसुधा (सिद्धशिला) पाने के लिए पवित्र भाव से चढ़ाते हैं। कभी भी इस पूजा-विधान का निषेध नहीं करना चाहिए। 'छक्खंडागम' में अर्चना और पूजा की परिभाषा करते हुए आचार्य वीरसेन ने इसप्रकार लिखा है–

**चरु-बलि-पुप्फ-फल-गंध-धूव-दीवादीहिं सगभत्ति-पगासो अच्चणा णाम। एदाहि सह अइंदधय-कप्परुक्ख-महामह-सव्वदो भद्दादि-महिमाविहाणं पूया णाम।**

–बंध., 3/42, पृष्ठ 92

चरु, बलि (वंदणपूयण बलि), पुष्प, फल, गंध, धूप और दीप (जल, चंदन, अक्षत) आदि से अपनी भक्ति प्रकाशित करने का नाम 'अर्चना' है। इनके साथ ऐन्द्रध्वज, कल्पवृक्ष, महामह और सर्वतोभद्र इत्यादि महिमा-विधान को 'पूजा' कहते हैं।

**सलिलं शान्तिकं चैव, गंधं आयुष्यवर्द्धनम्।**
**अक्षतं शत्रुनाशाय, पुष्पमैश्वर्यमेव च॥**
**नैवेद्यं लभते राज्यं, दीपं ज्ञानप्रवर्धनम्।**
**धूपं दहति पापानि, फलं च फलमुत्तमम्॥**
**अर्घ्यं सर्वसिद्ध्यर्थं, शान्तिधारा जगत्त्रयम्॥**

**जल** शान्तिकारक है, **चन्दन** आयुवर्धक है, **अक्षत** शत्रुविनाशक है, **पुष्प** ऐश्वर्यदायक है, **नैवेद्य** राज्यदाता है, **दीप** ज्ञानवर्धक है, **धूप** पापों को जलाता है, **फल** मुक्तिफल देता है, **अर्घ्य** सर्वसिद्धि-प्रदायक है और **शान्तिधारा** तीन लोक में शान्ति के लिए है।

**जलधारा—**

**जलधारा जिणपयगयउ रयहं पणासइ णामु।**
**ससहराकिरणकरालियहं तिमिरहु कित्तिउ थामु॥**

जिनदेव के चरणों पर की **जलधारा** रज का नाम तक नष्ट कर देती है। चंद्रकिरणों से करालित तिमिर का कितना सामर्थ्य है?

**चन्दन—**

**जो चच्चइ जिणु चंदणइं होइ सुरहि तसु देहु।**
**तिल्लं जह दीवहं गयइं उज्जोज्जइ गेहु॥**

जो जिन भगवान् की **चन्दन** से पूजा करता है, उसका शरीर सुगन्धित होता है, जैसे कि दीप में डाले गये तेल से घर में उजाला किया जाता है।

**अक्षत—**

**जिणु अच्चइ जो अक्खयहिं तसु वरवंसपसूह।**
**अह विहियइं सुयपंचमिहि होइ वि चक्किविहूइ॥**

जो **अक्षतों** से जिनदेव को पूजता है, उसका उत्तम वंश में जन्म होता है और श्रुतपंचमी के विधान से चक्रवर्ती की विभूति होती है।

**पुष्प—**

**खुट्टइ भोउ ण तसु महइ जो कुसुमहिं जिणणाहु।**
**अह सरवरि णइसारिणइ पाणिउ होइ अगाहु॥**

जो **पुष्पों** से जिनदेव को पूजता है, उसका कभी भोग नहीं छूटता। सरोवर में नदी की नहर मिला देने से पानी अगाध हो जाता है।

**नैवेद्य—**

**णेवज्जइं दिण्णइं जिणहु जिय दालिद्दहु णासु।**
**दुरिउ ण ढुक्कइ तहु णरहु लच्छिहि होइ ण णासु॥**

जिनदेव को **नैवेद्य** चढ़ाने से, हे जीव, दारिद्र्य का नाश होता है, उस मनुष्य को पाप नहीं लगता और लक्ष्मी का विनाश नहीं होता।

**दीप—**

**दीवइं दिण्णइं जिणवरहं मोहहु होइ ण ठाउ।**
**अह उववासहिं रोहिणिहिं सोउ विपलयहु जाइ॥**

जिनवर को **दीप** चढ़ाने से मोह को स्थान नहीं मिलता और रोहिणी के उपवास से शोक भी नष्ट हो जाता है।

**धूप—**

**धूवउ खेवइ जिणवरहं तसु पसरइ सोहग्गु।**
**इत्थु म कायउ भंति करि ते पडिबद्धउ सग्गु॥**

जो जिनवर को **धूप** खेता है, उसका सौभाग्य फैलता है। इसमें कुछ भी भ्रान्ति मत कर, समझ ले कि उसने स्वर्ग बाँध लिया।

**फल—**

**देइ जिणिंदहं जो फलइं तसु इच्छियइं फलंति।**
**भोयधरहं गय रुक्खडा सयल मणोरह दिंति॥**

जो जिनेन्द्र को **फल** चढ़ाता है, उसको यथेष्ट फल प्राप्त होता है। भोगभूमि के वृक्ष उसके सब मनोरथों को पूरा करते हैं।

**आरती**—

**आरत्तिउ दिण्णउ जिणहं उज्जोयइ सम्मत्तु।**
**भुवणुब्भासइ सुरगिरिहिं सूरु पयाहि ण दिंतु॥**

जिनदेव को दी हुई **आरती** सम्यक्त्व का उद्योत करती है। सुरगिरि पर पदार्पण करते ही सूर्य भुवन को उद्भासित कर देता है।

—आचार्य योगीन्दुदेव, सावयधम्मदोहा, डॉ. हीरालाल जैन, 1932, गाथा 183-190, 196, पृष्ठ 56-59

**जयधवलाकार** लिखते हैं कि अभिषेकपूर्वक पूजन करने से सावद्य होता है फिर भी पूजन-विधान की क्रिया का निषेध नहीं करना है।

**छज्जीवविराहणहेउणा विणा जिणभवणकरावणण्णहाणुववत्तीदो। ण्हवणोवलेवण-संमज्जण-छुहावण-फुल्लारोवण-धूवदहणादिवावारेहि जीववहाविणाभावीहि विणा पूजकरणाणुववत्तीदो च।** —भाग 1, गाथा 1, टीका 82

छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार के बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है तथा अभिषेक करना, अवलेपन करना, संमार्जन करना, चन्दन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप का जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी भी इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए 'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र' में कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान का पूजन करने पर यदि थोड़ा सावद्य होता भी है तो वह बहुत पुण्यराशि को देने वाला होता है। जैसे समुद्र में एक बूँद विष क्या कार्यकारिणी होता है—

**पूज्यं जिनं त्वर्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।**
**दोषाय नालं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥** —12/3/58

पंडित टोडरमलजी 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में इसी कथन का और भी अच्छा स्पष्टीकरण करते हैं— **जातैं ऐसैं मानैं इंद्र जन्मकल्याण विषैं बहुत जलकरि अभिषेक करै है। समवसरणविषैं देव पुष्पवृष्टि चमर ढालना इत्यादि कार्य करै हैं, सो ये महापापी होंय। जो तुम कहोगे, उनका ऐसा ही व्यवहार है, तौ क्रिया का फल तौ भए बिना रहता नाहीं। जो पाप है, तौ इंद्रादिक तौ सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा कार्य काहे कौं करैं। अर धर्म्म है तौ काहे कौं निषेध करो हौ। बहुरि भला तुम हीकौं पूछै हैं— तीर्थंकर वंदना कौं राजादिक गए, वा साधुवंदना कौ दूरि भी जाइए है, सिद्धांत सुनने आदि कार्यनिकौं गमनादि करिए है। तहाँ मार्ग विषैं हिंसा भई। बहुरि साधर्म्मी जिमाइए है, साधु का मरण भए ताका संस्कार करिए है, साधु हो तैं उत्सव करिए है, इत्यादि प्रवृत्ति अब भी दीसै है। सो यहाँ भी हिंसा हो है, सो ये कार्य्य तौ धर्म्म ही कै अर्थ हैं, अन्य कोई प्रयोजन नाहीं।** —5/243

**केवलीकै वा प्रतिमा कै आगैं अनुराग करि उत्तम वस्तु धरने का दोष नाहीं। उनकैं**

**विक्षिप्तता होती नहीं। धर्मानुरागतैं जीव का भला होय।** —मोक्षमार्गप्रकाशक, 5/241

और भी कहा है—

**सारंभइ ण्हवणाइयहं जे सावज्ज भणंति।**
**दंसणु तेहिं विणासियउ इत्थु ण कायउ भंति॥** —सावयधम्मदोहा, 204

जो अभिषेकादि के समारम्भों को सावद्य— दोषपूर्ण कहते हैं उन्होंने सम्यग्दर्शन का नाश कर दिया, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं।

उस श्रावक को धिक्कार है जो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं और न स्तुति ही करते हैं। उनका जीवन निष्फल है, उनके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। यथा—

**ये जिनेन्द्रं न पश्यंति, पूजयन्ति स्तुवन्ति न।**
**निष्फलं जीवितं तेषां, तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥**

—पद्मनन्दि-पंचविंशति, 6/15

## देवदर्शन का महत्त्व

**विघ्ना: प्रणश्यन्ति भयं न जातु, न दुष्टदेवा: परिलंघयन्ति।**
**अर्थान्यथेष्टांश्च सदा लभन्ते, जिनोत्तमानां परिकीर्ततेन॥**

—छक्खण्डागम, जीवट्ठाणं, 1/1/1/21, पृष्ठ 41

जिनेन्द्रदेव के गुणों का कीर्तन करने से विघ्न नाश को प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं कर सकते हैं और निरन्तर यथेष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है।

## देवदर्शन का फल

बहुरि त्रिलोकविषैं जे अकृत्रिम जिनबिंब विराजै हैं, मध्यलोकविषैं विधिपूर्वक कृत्रिम जिनबिंब विराजै हैं, जिनिके **दर्शनादिकतैं स्वपर-भेदविज्ञान होय है, कषाय मंद होय शान्तभाव हो है** वा एक धर्मोपदेश बिना अन्य अपने हित की सिद्धि जैसें तीर्थंकर केवली के दर्शनादिकतैं होय तैसैं हो है, तिन बिंबन कों हमारा नमस्कार होहु। —आचार्यकल्प टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक

**देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदु:खनिर्हरणम्।**
**कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥**

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 119

जिनेन्द्रदेव के चरणों में पूजा सर्व दु:ख का नाश करने वाली और काम के संताप दूर कर इच्छित फल देने वाली है, अतः आदर सहित प्रतिदिन पूजा करना चाहिए।

**प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।**
**ते दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥**—पद्मनन्दि-पंचविंशतिका, 410

जो जिनेन्द्रदेव की भक्ति, पूजा और स्तुति करते हैं, वे लोक में दर्शनीय, पूजनीय और स्तवनीय होते हैं।

### दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनम्

**तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तिए।**
**तो भत्ति रागपुव्वं वुच्चदि एदं ण हु णिदाणं॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार, 7/574

वीतराग अरिहंत भगवानों के अभिमुख (सम्मुख) होने से तथा उनकी भक्ति से वांछित कार्य सिद्ध होते हैं, इसलिए यह भक्ति रागपूर्वक है, निदान नहीं है।

### देवदर्शन से तत्त्वदर्शन

**दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण।**
**तह णट्ठं जदि दिट्ठं, जहट्ठिदं तं मए तच्चं॥**

—आचार्य पद्मनंदि, पद्मनंदि-पंचविंशतिका, पृष्ठ 214

हे जिनवर! आपके दर्शन होने पर मेरा दृष्टिहर सम्पूर्ण मोहान्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया है कि मैंने तत्त्व के यथास्थित यथार्थ स्वरूप को देख लिया है।

### दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि

**गरलापहारि मुद्रा गरुडस्य यथा तथा।**
**जिनस्याऽप्येनसो हंत्री दुरितारातिपातिन:॥** —आचारसार, 9-27

जिस प्रकार गरुड-मुद्रा (दर्शन मात्र से) सर्प-विष का अपहरण होता है, उसी प्रकार जिन भगवान् की वीतराग-मुद्रा भी पापों का अपहरण करने वाली है— जिनेन्द्र मुद्रा के दर्शन मात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है—

**वीतरागमुखं दृष्ट्वा, पद्मरागसमप्रभम्।**
**नैकजन्मकृतं पापं दर्शनेन विनश्यति॥**

### देवपूजा एवं दानादि का फल

आचार्य गुणधर द्वारा प्रणीत कषायपाहुड में आचार्य वीरसेन श्रुतज्ञान के भेदों में अंगबाह्य का वर्णन करते हुए पुण्डरीक प्रकीर्णक एवं महापुण्डरीक प्रकीर्णक ग्रन्थ के विषय में लिखते हैं कि जो जीव दान, पूजा, तप, उपवास तथा देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा रखते हैं वे भवनवासी आदि इन्द्र होते हैं। यथा—

**भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-कप्पवासिय-वेमाणिय-देविंद-सामाणियादिसु उप्पत्ति-कारणदाण-पूजा-सील-तवोववास-सम्मत्त-अकामणिज्जराओ तेसिमुववाद भवणसरूवाणि च वण्णेदि पुंडरीयं। तेसिं चेव पुव्वुत्तदेवाणं देवीसु उप्पत्तिकारण-तवोववासादियं महा-पुंडरीयं परूवेदि जेणेवं तेण चोद्दसण्हं पइण्णयाणंग-पविट्ठाणं**

**वक्तव्वं ससमओ चेव।** —आचार्य वीरसेन, जयधवला, गाथा 1, टीका 92, पृष्ठ 121-122

पुण्डरीक प्रकीर्णक भवनवासी (धरणेन्द्र-पद्मावती आदि), वानव्यन्तर (क्षेत्रपालादि), ज्योतिष्क, कल्पवासी (सौधर्मादि) और वैमानिक सम्बन्धी देव, इन्द्र और सामानिक आदि में उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास, सम्यक्त्व और अकाम निर्जरा का तथा उनके उपपाद स्थान और भवनों के स्वरूप का वर्णन करता है, महापुण्डरीक प्रकीर्णक उन्हीं भवनवासी आदि पूर्वोक्त देवों और देवियों में उत्पत्ति के कारणभूत तप और उपवास आदि का प्ररूपण करता है। जिस लिए प्रकीर्णक इस प्रकार की जैन विधि का प्रतिपादन करते हैं इसलिए अंगबाह्य प्रकीर्णकों का वक्तव्य स्वसमय ही है अर्थात् इन प्रकीर्णकों में स्वसमयका ही वर्णन है। और भी कहा है—

**अथ दानपूजापंचपरमेष्ठिवन्दनादिरूपं परम्परया मुक्तिकारणं श्रावकधर्मं कथयति—**

अब दान-पूजा, पंचपरमेष्ठी की वन्दना रूप परम्परा से मुक्ति के कारणभूत श्रावकधर्म का कथन करते हैं—

**दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ, ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु।**
**पंच ण वंदिय परम-गुरु, किमु होसइ सिव-लाहु॥**

—आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, 168, पृष्ठ 272

मुनिवरों को दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान की पूजा भी नहीं की, पंच-परमेष्ठियों की भी वन्दना नहीं की, तब मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

**दाणं पूया सीलं, उववासं बहुविहं पि खवणं पि।**
**सम्मजुदं मोक्खसुहं, सम्मविणा दीहसंसारं॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार, 10

**अर्थ**— सम्यग्दर्शन से युक्त दान, पूजा, शील, अनेक प्रकार के उपवास तथा कर्म-क्षय के कारणभूत व्रत आदि मोक्ष-सुख के कारण हैं और सम्यग्दर्शन के बिना ये ही दीर्घसंसार के कारण हैं।

**दाणं पूया-मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।**
**झाणाज्झयणं मुक्खं, जदिधम्मे तं विणा तहा सो वि॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार, 11

**अर्थ**— श्रावकधर्म में दान और पूजा मुख्य (कर्त्तव्य) हैं। उनके (दान और पूजा के) बिना श्रावक नहीं होता। मुनिधर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य (कर्त्तव्य) हैं। उन (ध्यान, अध्ययन) के बिना वह मुनिधर्म भी वैसा ही (व्यर्थ) है।

**दाण ण धम्म ण चाग ण, भोग ण बहिरप्प जो पयंगो सो।**
**लोह-कसायग्गि-मुहे, पडिदो मरिदो ण संदेहो॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार, 12

**अर्थ**— जो श्रावक दान नहीं देता, धर्म का पालन नहीं करता, त्याग नहीं करता, न्यायपूर्वक भोग नहीं करता; वह बहिरात्मा है। वह ऐसा पतंगा है, जो लोभकषायरूपी अग्नि के मुख में पड़ा हुआ मर जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

**जिणपूया मुणिदाणं, करेदि जो देदि सत्तिरूवेण।**
**सम्मादिट्ठी सावय-धम्मी सो होदि मोक्ख-मग्ग-रदो॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार, 13

**अर्थ**— जो जिनदेव की पूजा करता है और शक्ति के अनुसार मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा श्रावक है। वह मोक्षमार्ग में रत है।

**पूयफलेण तिलोक्के सुरपुज्जो हवदि सुद्धमणो।**
**दाणफलेण तिलोए, सारसुहं भुंजदे णियदं॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार, 14

**अर्थ**— शुद्ध मनवाला श्रावक पूजा के फल से तीनों लोकों में देवों से पूज्य होता है और दान के फल से तीनों लोकों में निश्चय से सारभूत सुख को भोगता है।

## नमस्कार के भेद

**मिच्छत्तस्स य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती।**
**भावणमोक्काररदिं णाणुवजुत्ता सदा कुणसु॥**

**नमस्कारो द्विविधः द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कार इति। नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारणं, उत्तमांगावनतिः, कृताञ्जलिता च द्रव्यनमस्कारः। नमस्कर्तव्यानां गुणानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रतिः।**

—शिवाचार्य, भगवती आराधना, 721, पृष्ठ 460

**अर्थ**– मिथ्यात्व का त्याग करो। तत्त्वश्रद्धान की भावना करो। अर्हंत आदि में उत्कृष्ट भक्ति करो। भावनमस्कार में मन लगाओ।

नमस्कार के दो भेद हैं– द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार। जिनदेव को नमस्कार हो, इत्यादि शब्दों का उच्चारण करना, मस्तक झुकाना, दोनों हाथ जोड़ना, ये सब द्रव्यनमस्कार हैं और नमस्कार करने योग्य अर्हंत आदि के गुणों में अनुराग होना भावनमस्कार है।

## जिनेन्द्र वन्दना और नमस्कार

**तुहं अट्ठवियट्ठकम्मो केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठो धम्मुम्मुह-सिट्ठगोट्ठीए पुट्ठाभयदाणो सिट्ठपरिवालओ दुट्ठणिग्गहकरो देवो त्ति पसंसा वंदणा णाम। पंचहि मुट्ठीहि जिणिं-दचलणेसु णिवंदणं णमंसणं॥** —छक्खण्डागम, 3/42, पृष्ठ 92

आप अष्टकर्मों को नष्ट करने वाले, केवलज्ञान से समस्त पदार्थों को देखने वाले, धर्मोन्मुख शिष्टों की गोष्ठी में अभयदान देने वाले, शिष्ट परिपालक और दुष्ट

निग्रहकारी देव हैं, ऐसी प्रशंसा करने का नाम वंदना है। पंचमुष्टियों अर्थात् अंगों से जिनेन्द्र देव के चरणों में गिरने को नमस्कार कहते हैं।

**णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपट्ठुदिकल्लाणे।**
**परखेत्ते संवित्ते, जिणजिणघरवंदणट्ठं च॥**

—आचार्य नेमिचन्द्र, गोम्मटसार, जीवकाण्ड, 1/236

निजक्षेत्र जहाँ अपनी गमनशक्ति हो और वहाँ केवली, श्रुतकेवली नहीं पाये जाएँ तथा परक्षेत्र जहाँ अपने औदारिक शरीर की गमनशक्ति न हो वहाँ केवली श्रुतकेवली हों अथवा वहाँ तप, ज्ञान, निर्वाण कल्याणक हो तो वहाँ असंयम दूर करने के निमित्त व संदेह दूर करने के निमित्त व जिन और जिनमंदिर की वंदना करने के निमित्त, गमन करने को उद्यमी हुए जो प्रमत्तसंयमी उनके आहारकशरीर होता है।

### नमस्कार का नाम स्तव एवं वन्दना

**अतीदाणागद-वट्टमाण काल विसय पंचपरमेसराणं भेदमकादूण णमो अरिहंताणं णमो जिणाणमिच्चादिणमोक्कारो दव्वट्ठिय-णिबंधणोत्थवोणाम। उसहाजिय-संभव-हिणंदण-सुमदि-पउमप्पह-सुपास-चंदप्पह-पुप्फदंत-सीयल-सेयंस-वासुपूज्ज-विमलाणंत-धम्म-संति-कुंथु-अर-मल्लि-मुणिसुव्वय-णेमि-पास-वड्ढमाणादि-तित्थयराणं भरहादि केवलीणं आइरिय-चइत्तालयादीणं भेयं कादूण णमोक्कारो गुणगयभेदमल्लीणो सद्दकला-वाउलो गुणाणु-सरणरूवो वा वंदणा णाम।**

—आइरिय-पुप्फदंत-भूदबलि-वीरसेण, छक्खण्डागमे, बंध, 3/41, पृष्ठ 84

**अर्थ**— अतीत, अनागत और वर्तमान काल विषयक पाँच परमेष्ठियों के भेद को न करके अर्हंतों को नमस्कार, जिनों को नमस्कार इत्यादि द्रव्यार्थिकनिबन्धन नमस्कार नाम **स्तव** है। ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्धमानादि तीर्थंकर तथा भरतादिक केवली, आचार्य एवं चैत्यालयादिकों के भेद करके अथवा गुणगत भेद के आश्रित शब्दकलाप से व्याप्त गुणानुस्मरण रूप नमस्कार करने को **वन्दना** कहते हैं।

### भाव रूप से अर्हंत

**परिणमते येनाऽऽत्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।**
**अर्हद्ध्यानाऽऽविष्टो भावार्हन् स्यात्स्वयं तस्मात्॥**

—तत्त्वानुशासन, 190, पृष्ठ 170

जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है, वह उस भाव के साथ तन्मय होता है अतः अर्हद्ध्यान से व्याप्त आत्मा स्वयं भाव-अर्हंत होता है।

### कंकण बंधन का महत्त्व

**द्वादशांगुलमात्रेण, सप्तविंशतितंतुभिः।**
**हरिद्राकुंकुमालिप्तं, कंकणं व्रतबन्धनं॥**

—प्रतिष्ठाचार्य पं. अप्पा शास्त्री, जिनेन्द्रपूजापाठ

द्वादश अंगुल प्रमाण (दिव्यध्वनि द्वादशांगी मानी गयी है, उसका ज्ञान प्राप्त हो— यह भावना अन्तर्निहित है), सत्ताईस तन्तुओं धागों से (षड्द्रव्य, पंचास्तिकाय, नवपदार्थ और सप्ततत्त्व का ज्ञान मुझे प्राप्त हो, सम्यक् निर्णय हो— इस भावना से) हरिद्रा (सुवर्ण वर्ण वात्सल्य का प्रतीक) कुंकुम (सिद्धों के लालवर्ण विजय के प्रतीक) से युक्त (नौ-नौ धागों के तीन लड़ी रत्नत्रय के प्रतीक) कंकण-बंधन व्रत है। गाँठ का बंधन आत्मा अभेद के प्रतीक हैं।

### कंकण बंधन मंत्र

**आसन्नभव्या जिनभक्तिमुख्या, गुणा यथायोग्यमुपव्रजंति।**
**तथैव यस्मिन्मणयो महांतः करे ममैतत्कटकं करोमि॥**

—श्रीमज्जिनेन्द्रपूजाविधानम्, यज्ञदीक्षाविधानम्, 8, पृष्ठ 58

**ॐ ह्रीं सम्यग्ज्ञानाय स्वाहा।**

आसन्न भव्य (निकट भव्य) भावों से परिपूर्ण जिन भगवान् की भक्ति के प्रमुख गुण जिस प्रकार निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ मणियों से युक्त मणिबन्ध (कलाई) पर मैं यह बन्धन कर रहा हूँ अर्थात् कलावा (रक्षा-सूत्र) बाँध रहा हूँ। ॐ ह्रीं सम्यग्ज्ञान का ध्यान करता हूँ।

### गन्धोदक लगाने का स्थान

गंधोदक मस्तक, ललाट, नेत्रयुगल में लगाना चाहिए। यथा—

**गंधांभः सुमनार्हदंघ्रियुगसंस्पर्शात्पवित्रीकृतम्।**
**देवेंद्रादिशिरो-ललाट-नयन-न्यासोचितं मंगलम्॥**
**तेषां स्पर्शनतस्त एव सकलाः पूता अभोगोचितम्।**
**भाले नेत्रयुगे च मूर्ध्नि तथा सर्वैर्जनैर्धार्यताम्॥**

—महर्षि-वासुपूज्य, दानशासनम्, 3/84, पृष्ठ 45

**अर्थ**— भगवान् के चरण में चढ़ाया हुआ सुगन्धित जल अरिहंत भगवान् के पवित्र चरण के स्पर्श होने से पवित्र हो जाते हैं। अतएव देवेन्द्रादि के भी **ललाट, मस्तक, नेत्र** में धारण करने योग्य हैं। उनके स्पर्श करने मात्र से ही पूर्व में अनेक **जन** पवित्र हो चुके हैं। इसलिए उन गंधोदक आदि को भव्य जीव सदा **ललाट, नयनद्वय** व **मस्तक** में सदाकाल भक्ति से धारण करे।

## यज्ञोपवीत धारण

**ततोऽपराह्णसमये हवनकार्यं यज्ञोपवीतधारणकार्यं च करणीयं व्रतिकैः।**

अतः अपराह्णकाल में अर्थात् एक बजे हवन कार्य को सम्पन्न करना चाहिए और व्रती श्रावक को यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।

## यज्ञोपवीत धारण करने का मन्त्र

**ॐ नमः परमशान्ताय शान्तिकराय पवित्रीकृतायाहं रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा।** –आचार्य सिंहनन्दी, व्रततिथिनिर्णय, पृष्ठ 18

आगम के श्रद्धालुओं को अन्तरंग में यह बात अच्छी तरह से बैठा लेनी चाहिए कि शुभ परिणाम धर्म है। शुभ क्रियाओं से भी कर्म का क्षय होता है। पूजा-पाठ आदि भी परम्परा से मोक्ष का कारण है। शुद्धोपयोग से तो कर्म की निर्जरा जीव करता ही है, किन्तु शुभोपयोग से भी कर्म की निर्जरा करता है।

**सुह-सुद्ध-परिणामेहिं कम्मक्खयाभावो तक्खयाणुववत्तीदो।**

–आचार्य वीरसेन, जयधवला, भाग 1, पृष्ठ 6

शुभ और अशुद्ध दोनों प्रकार के भाव कर्मक्षय के हेतु हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो कर्मों का क्षय ही नहीं बन सकेगा।

शुभोपयोगरूप परिणति को भी धर्म में ही सम्मिलित किया है, अशुभयोग की तरह उसे अधर्म नहीं कहा। पंडित सदासुखदास लिखते हैं–

सम्यग्दृष्टि के अनुराग तो धर्मात्मा पुरुषनि में, धर्म की कथा में, धर्म के आयतन में होय है।

शुद्धोपयोग ही वास्तविक धर्म है, किन्तु आचार्यों ने शुभोपयोग को भी धर्म कहा है। आचार्य योगीन्दुदेव ने शुभभाव को धर्म और अशुभ भाव को अधर्म कहा है। यथा–

**सुह परिणामे धम्मु पर असुहे होइ अधम्मु।** –परमात्मप्रकाश, 2/71

'यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि शुद्धोपयोगी की तरह शुभोपयोग वाले को भी धर्म-परिणत आत्मा के रूप में स्वीकार किया है और अमृतचन्द्र ने भी **यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते।** –(प्रवचनसार, गाथा 11) लिखकर शुभोपयोग रूप परिणति को भी धर्म में ही सम्मिलित किया है, अशुभोपयोग की तरह उसे अधर्म नहीं कहा। –पं. कैलाशचन्द्र, कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह, पृष्ठ 93

## अशुभ, शुभ और शुद्धोपयोग के स्वामी-

**मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयत-सम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्ता-**

**दिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग:, तदनन्तरं सयोग्ययोगि-जिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति।**

–आचार्य जयसेन, प्रवचनसार–तात्पर्यवृत्ति, गाथा 9

अर्थात् मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र –इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग होता है। असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत –इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से शुभोपयोग होता है। अप्रमत्त से क्षीणकषायपर्यन्त छह गुणस्थानों में तरतमता से शुद्धोपयोग होता है। सयोगी और अयोगी –इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल होता है।

**असंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग-साधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोग वर्तते, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते।**

–श्री ब्रह्मदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, 2/34, पृ. 94

असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत –इन तीन गुणस्थानों में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्य से शुभोपयोग रहता है। तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय तक 6 गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एकदेश शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग वर्त्तता है।

## शुभोपयोग सर्वथा हेय नहीं है

पं. टोडरमल द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 301 से 306 में शुभोपयोग को सर्वथा हेय नहीं कहा है। वे कहते हैं– ''तुम बाह्य तौ शुभ अशुभ कार्यनिकौं घटाया, परन्तु उपयोग तौ आलंबन बिना रहता नाहीं, सो तुम्हारा उपयोग कहां रहै है, सो कहो। जो वह कहै– आत्माका चिंतवन करै है, तौ शास्त्रादिकरि अनेक प्रकारका आत्माका विचारकौं तौ तुम विकल्प ठहराया अर कोई विशेषण आत्माका जाननेमैं बहुत काल लागै नाहीं, बारंबार एकरूप चिंतवनविषैं छद्मस्थका उपयोग लगता नाहीं। गणधरादिकका भी उपयोग ऐसैं न रहि सकै, तातैं वै भी शास्त्रादि कार्यनिविषैं प्रवर्त्ते हैं। तेरा उपयोग गणधरादिकतैं भी कैसैं शुद्ध भया मानिए।

बहुरि शुभोपयोगहोतैं कषाय मंद हो है। अशुभोपयोगहोतैं तीव्र हो है। सो मंदकषायका कारण छोरि तीव्रकषायका कार्य करना तौ ऐसा है, जैसैं कड़वी वस्तु न खानी अर विष खाना। सो यह अज्ञानता है।

अशुभ की अपेक्षा सिद्धांतविषैं शुभकौं भला भी कहिए है। जैसैं रोग तौ थोरा वा बहुत बुरा ही है। परन्तु बहुत रोगकी अपेक्षा थोरा रोगकों भला भी कहिए। तातैं शुद्धोपयोग नाहीं होय, तब अशुभतैं छूटि शुभविषैं प्रवर्त्तनायुक्त है। शुभकौं छोरि अशुभविषैं प्रवर्त्तना युक्त नाहीं।

जहां शुद्धोपयोग होता जानैं, तहां तौ शुभकार्यका निषेध ही है अर जहां अशुभोपयोग होता जानैं, तहां शुभकौं उपायकरि अंगीकार करना युक्त है। या प्रकार अनेक व्यवहारकार्य कौं उथापि स्वच्छंदपनाकौं स्थापै है, ताका निषेध किया।''

द्वादशांग में व्यवहार धर्म और निश्चय धर्म दोनों का ही विस्तृत रूप से जैनाचार्यों ने वर्णन किया है। कोई भी व्यक्ति एकाक्षी होकर दोनों धर्मों में से एक भी धर्म को मिटाने का प्रयास करता है, तो वह महामिथ्यादृष्टि है। दोनों धर्मों का हमारे जीवन में कितना महत्त्व है, इसका दिगम्बराचार्य ने इस प्रकार वर्णन किया है–

**जदि जिणमयं पढिज्जह, तो मा ववहारणिच्छयं मुंचह।**
**एक्केण विणा छिज्जदि, तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥**

–आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार टीका, पृष्ठ 26 (उद्धृत)

आचार्य अमृतचन्द्र 'उक्तं च' के द्वारा उलाहना देते हैं कि जो भव्यात्मा जिनशासन का पठन-पाठन करना इष्ट समझता हो तो व्यवहार और निश्चय–दोनों नयों को मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहार के बिना तो तीर्थ (तीर्थं द्वादशांगम्, बोधपाहुड, 43) का नाश हो जाएगा और निश्चय के बिना वस्तुतत्त्व (तीर्थफल) व्यवस्था ही बिगड़ जाएगी।

जैन वाङ्मय में समीचीन रूप से जितनी भी प्रकार की बहिरंग क्रिया बताई है, वे सभी स्वसमय अर्थात् अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव व परमार्थ की उपलब्धि के लिए है। जयधवलाकार ने स्पष्ट विवेचन कर दिया कि बहिरंग में दान, पूजा आदि का फल धरणेन्द्र, पद्मावती आदि दिव्य देव पर्याय है एवं अंतरंग में स्वसमय का ज्ञान फल है। जो आचार्यादि विद्वान इस स्वसमय को नहीं जानते और ना ही मानते हैं, उसे आगम का शत्रु कहा गया है, यथा–

**जह जह बहुस्सुओ सम्मओ य सिस्सगणसंपरिवुडो य।**
**अविणिच्छिओ य समये तह तह सिद्धंतपडिणीओ॥**

–आचार्य सिद्धसेन, सन्मतिसूत्र, सम्मइसुत्तं, 3/66

जो आचार्य स्व-समय रूप सिद्धान्त नहीं जानते हैं, परन्तु बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों के ज्ञाता) होते हैं, वे मूलतः तत्त्व-निर्णय के अभाव में शिष्य-समूह से घिर जाते हैं और शनैः-शनैः उनका जीवन सिद्धान्त के प्रतिकूल होता है। अतएव ऐसे आचार्य/विद्वान को सिद्धान्त का शत्रु कहा गया है।

सारांश यही है कि सम्यग्दृष्टि को प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान की अष्ट द्रव्य से पूजा, दान, स्तुति आदि शुभोपयोग रूप कार्य करते रहना चाहिए। आगमानुकूल पद्धति का कभी भी निषेध नहीं करना चाहिए।

❖❖

# जैनशासन का पंचरंगी ध्वज

**मूलसंघ का मूल ध्वज-**

**'श्रीमूलसंघे विधिवत्प्रबुद्धान्।'**
**'काराविवि णाहेयहो णिकेउ, पविइण्णु पंचवण्णं सुकेउ॥'**

—विबुध श्रीधर कृत पासणाहचरिउ, 1/9/11

हे नट्टल, आपने आदिनाथ-निकेत (मन्दिर) का निर्माण करा कर तथा उस पर पंचवर्ण वाली सुन्दर सुकेतु (ध्वजा) फहराकर, उसकी प्रतिष्ठा कराई है।

**ता महुरहे बाहिरे थिउ सिमिरू, सोहंतु पंचवण्णेहिं सुकेउ।**
**पडमंडनदूससमग्घविउ णं, धरणिहे मंडणु णिम्मविउ॥**

—णायकुमारचरिउ, महाकवि पुष्पदंत, 5-1-1

—मथुरा के बाहर स्थापित नागकुमार का शिविर पटमण्डपों और तम्बुओं से समृद्ध तथा **पंचरंगी ध्वजाओं** से ऐसा शोभायमान हुआ मानों पृथ्वी का अलंकार ही बनाया गया हो।

**पंचवण्णा पवित्ता विचित्ता धया।**

—पुष्पदन्त महाकवि, महापुराण, 24-12-2, पृष्ठ 122

—पंचरंगी पवित्र विचित्र ध्वज है।

वैदिक वास्तुशास्त्र में भी पंचपरमेष्ठी को पाँच रंग के प्रतीक माना है। यथा—

**स्फटिकश्वेत-रक्तं च पीत-श्याम-निभं तथा।**
**एतत्पंचपरमेष्ठी पंचवर्ण-यथाक्रमम्॥**

—मानसार, 55/44

**अर्थ**— स्फटिक के समान श्वेत, लाल, पीत, श्याम (हरा) और नीला (काला) —ये पाँच वर्ण क्रमशः पंचपरमेष्ठी के सूचक हैं।

**पंचवर्ण का फल**

**शान्तौ श्वेतं जये श्यामं, भद्रे रक्तमभये हरित्।**
**पीतं धनादिसंलाभे, पंचवर्णं तु सिद्धये॥**

—उमास्वामि-श्रावकाचार, 138, पृष्ठ 55

(1) श्वेतवर्ण शान्ति का प्रतीक है। (2) श्याम वर्ण विजय का सूचक है। (3) रक्तवर्ण कल्याण का कारक है। (4) हरितवर्ण अभय को दर्शाता है। (5) पीतवर्ण धनादि के लाभ का दर्शक है। इसप्रकार **पाँचों वर्ण सिद्धि के कारण** हैं।

**पंचवर्णी ध्वजा को विजय का प्रतीक माना है-**

**विजयापंचवर्णाभा पंचवर्णमिदं ध्वजम्।**

—प्रतिष्ठातिलक, 5-10 एवं आशाधरसूरि, प्रतिष्ठासारोद्धार, 3-209

**अर्थ**— पाँच वर्णों की आभा से युक्त विजया देवी पाँच वर्णों से युक्त ध्वजा को हाथ में धारण करती है।

**आठ पताका पंचवर्ण-**

**पीता प्रभारुणा पद्मा कृष्णाभा मेघमालिनी।**
**हरिन्मनोहरा श्वेता चन्द्रमालेंद्रनीलभा॥**
**सुप्रभाख्या जया श्यामा विजया पंचवर्णभा।**
**दिक्षु तिष्ठंत्विमा देव्यः सवर्णध्वजपाणयः॥**

—आशाधरसूरि, प्रतिष्ठासारोद्धार, पृष्ठ 78

**अर्थ**— **प्रभा** पीत वर्ण की आभा से युक्त, **पद्मा** अरुण अर्थात् लाल वर्ण की आभा वाली, **मेघमालिनी** कृष्ण वर्ण की कान्ति से युक्त, **मनोहरा** हरित अर्थात् हरे वर्ण वाली, **श्वेता** चन्द्रमाला के समान, **सुप्रभा** नामक देवी जो इन्द्रनील के समान आभा वाली है, **जया** श्याम वर्ण वाली तथा **विजया** पाँच वर्णों की कान्ति वाली— ये सभी आठ देवियाँ अपने-अपने वर्ण वाली ध्वजाओं को हाथ में लेकर आठों दिशाओं में विराजमान हों।

**समवशरण का सभा मण्डप भी पंचरंग-**

**पंचवण्ण-रयणहिँ समूहहिँ सुविचित सह मंडवहिँ।**

—महाकवि बुध श्रीधरकृत पासणाहचरिउ, संधि 8/8/140

अर्थात् **पंचवर्ण** के रत्नसमूहों से सुविचित्र सभामण्डप।

**ध्वजगीतं किं किं न साधयेत्-**

**देवतास्तुतिसंयुक्तं, तत्प्रभावप्रबोधकम्।**
**आस्तिक्योत्पादकं गीतं, रम्यं भक्तजनप्रियम्॥**

अर्थात् वृषभदेव स्तुति युक्त, भरत के माहात्म्य बोधक एवं आस्तिक्योत्पादक सुन्दर **ध्वजगीत** भक्तजनों को प्रिय है।

**जैन ध्वज-गीत**

आदि ऋषभ के पुत्र **भरत** का, **भारत** देश महान।

ऋषभदेव से महावीर तक, करें सुमंगल गान।।
**पंच रंग** पाँचों परमेष्ठी, युग को दें आशीष।
विश्वशान्ति के लिए झुकाएँ, पावन ध्वज को शीष।।
'जिन' की ध्वनि जैन की संस्कृति, अग-जग को वरदान।
**भारत** देश महान।।

—रचना : श्री मिश्रीलाल वकील, गुना (म.प्र.)

**दिव्य महाध्वजा-**

**तत्तो धयभूमीए दिव्वधया होंति।**

—तिलोयपण्णत्ति, आचार्य यतिवृषभ, 4/826

अर्थात् उस ध्वज-भूमि में दस प्रकार की **दिव्य ध्वजाएँ** होती हैं।

**पुणु दिसि-दिसि दह धय सुरसंथुय।**
**थिय गयणयललग्ग पवणुद्धुय॥**

—महापुराण, महाकवि पुष्पदंत, 1-9-24

अर्थात् दिशा-दिशा में देवताओं से संस्तुत, आकाश को छूती हुई, हवा से उड़ती हुई दस ध्वजाएँ स्थित हैं।

**मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी।**
**प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकांतर्ध्वजाद्याः॥**

—चैत्यभक्ति, क्षेपक श्लोक, 1

अर्थात् तीर्थंकर प्रभु के समवशरण में मानस्तम्भ सरोवर निर्मल स्वच्छ जल से भरी हुई खातिका भूमि, उद्यान भूमि, कोट, नाटकशाला, दूसरा उपवन, वेदिका के मध्य ध्वजा व पताकाएँ आदि।

**यस्य ध्वजा विजयिनो भुवने विभान्ति।**
**तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय॥** —इन्द्रध्वज, 4

अर्थात् जो मालादि चिह्नों से युक्त दस प्रकार की ध्वजाओं से लोक में सुशोभित हैं, उन तीन लोक के स्वामी जिनेन्द्र भगवान के लिए नमस्कार हो।

**दुगणिय-पण पवर-महाधयहिँ वसहाइ समंकिय मरुहयहिँ।**
**एक्केक्कउ-अट्ठोत्तर-सएण परियरियउ मणहर धयवएण॥**

—महाकवि बुध श्रीधर कृत पासणाहचरिउ, संधि 8/9

अर्थात् दस प्रकार की उन्नत-उन्नत महाध्वजाएँ, जो कि वृषभादि दस चिह्नों से अंकित थीं, वे वायु में लहरा रही थीं। ऐसी मनोहर 108 ध्वजाओं से उस समवशरण को घेर दिया गया।

**काराविवि णाहेयहो णिकेउ, पविइण्णु पंचवण्णं सुकेउ।**

—विबुध श्रीधर कृत पासणाहचरिउ, 1/9/11

**येनाराध्य विशुद्ध-धीरमतिना देवाधिदेवं जिनम्।**
**सत्पुण्यं समुपार्जितं निजगुणै: संतोषिता बान्धवा:॥**
**जैनं चैत्यमकारि सुन्दरतरं जैनीं प्रतिष्ठां तथा।**
**स श्रीमान्विदित: सदैव विजयात्पृथ्वीतले नट्ठला॥**

—जैनग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह, भाग 2, पृष्ठ 85

**अर्थ**— श्री अनंगपाल राजा के प्रधानमन्त्री श्री नट्ठल साहू ने तीर्थंकर वृषभदेव (आदिनाथ) का एक शिखरबद्ध मन्दिर बनवाया और मूर्ति की पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा कराकर उस मंदिर में विराजमान करवायी। (इस मंदिर पर पंचवर्णी महाध्वजा फहरा रही थी)। मंदिर में प्रवेश कर उन साहू नट्ठल ने मन से तीर्थंकर प्रतिमा को भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। वे साहू नट्ठल सदैव विजयी हों।

## ध्वजारोहण विधि (पंचरंगी ध्वजा)-

**श्रीमज्जिनस्य जगदीश्वरताध्वजस्य।**
**मीनध्वजादिरिपुजाल-जयध्वजस्य ॥**
**तन्यासदर्शनजनागमन ध्वजस्य ।**
**चारोपणं विधिवदाविदधे ध्वजस्य ॥**—प्रतिष्ठातिलक 5-1, पृष्ठ 85

जो ध्वजा वीतराग जिनेश्वर देव की जगदीश्वरता, कामदेव आदि शत्रुसमूह पर विजय तथा जिनबिम्ब-मूर्ति के दर्शनार्थियों के आवाहन आदि का प्रतीक चिह्न है, मैं ऐसी (**पंचवर्ण केतून्,** —प्रतिष्ठातिलक, पृष्ठ 84) महाध्वजा का विधिवत् (**ओं ह्रीं श्रीं क्षीं भू: स्वाहा** —विधिपूर्वक) आरोहण करता हूँ। **ध्वजारोहणविधिं स-भेरीसंताडनं यो विदधाति भव्य:**— जो भव्य श्रावक, श्राविका इस प्रकार भेरी (शंख-वादित्र) के जयघोषपूर्वक महाध्वजारोहण विधि को सम्पन्न करता-कराता है, वह मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

'जय' के तीन अर्थ हैं— सावधान हो जाओ, संकल्प करो और सम्यक् श्रद्धा रखो।

**इति ध्वजस्थापनम्।।**

## ध्वजारोहण मन्त्र-

**ओँ णमो अरिहंताणं स्वस्ति भद्रं भवतु सर्वलोकस्य शान्तिर्भवतु स्वाहा।**

—पं. आशाधरसूरि, प्रतिष्ठासारोद्धार, 5-67

## ध्वजारोहण-विधि

**कलशादुच्छ्रिते हस्तं ध्वजे नीरोगता भवेत्।**
**द्विहस्तमुच्छ्रिते तस्मात्पुत्रर्द्धिर्जायते परा॥**
**त्रिहस्तं तस्य सम्पत्तिर्नृपवृद्धिश्चतु:करम्।**
**पंचहस्तं सुभिक्षं स्याद् राष्ट्रवृद्धिश्च जायते॥**

**अम्बरेण कृतो यास्याद् ध्वजः सम्यक् समन्ततः।**
**सोऽतिलक्ष्मीप्रदो राज्ये यशःकीर्तिप्रतापदः॥**
**भूपालबालगोपाललललनानां समृद्धिकृत्।**
**राज्ञां सुखार्थदायी च धान्यैश्वर्यजयावहः॥**

—आचार्यकल्प आशाधर, प्रतिष्ठासारोद्धार, अध्याय 5, श्लोक 74-77

—मन्दिर के शिखर-कलशों से एक हाथ ऊँची ध्वजा आरोग्य प्रदान करती है, दो हाथ ऊँची सुपुत्रादि सम्पत्ति को, तीन हाथ ऊँची धान्य सम्पत्ति को, चार हाथ ऊँची राजा की वृद्धि को और पाँच हाथ ऊँची सुभिक्ष एवं राज्यवृद्धि को करने वाली है। वस्त्र से बनी तथा चारों ओर भलीभाँति फहराती हुई ध्वजा अति लक्ष्मीप्रद तथा राज्य में यश, कीर्ति एवं प्रताप को देने वाली है। यह ध्वजा कृषक, बालक, गोरक्षक, स्त्रियों और शासक तक के लिए समृद्धि करने वाली है। राजाओं के लिए धन-धान्य, ऐश्वर्यादि सुख एवं विजय प्रदायिनी है।

- **ध्वजा** —आदिपुराण, आचार्य जिनसेन, 22-96
- **धय (पु.) – ध्वज**
  **धया (स्त्री.) – ध्वजा** —पाइअसद्दमहण्णव, पृष्ठ 486

**ध्वजा का स्वरूप-**

**हस्तत्रिभागविस्तीर्णैरर्धहस्तायतैर्दृढैः ,**
**वस्त्रोत्तमसुसंश्लिष्टैर्ध्वजं निर्मापयेच्छुभम् ।**
**सितं रक्तं सितं पीतं सितं कृष्णं पुनः पुनः॥**

—प्रतिष्ठासारोद्धार, 5/51-52

अर्थात् बारह अंगुल लंबी और आठ अंगुल चौड़ी मजबूत उत्तम कपड़े की ध्वजा बनवावें, उस ध्वजा का कपड़ा सफेद, लाल, पीला, काला होना चाहिए।

**ध्वज दिशाओं का फल-**

**मुक्ते प्राचीं गते केतौ सर्वकामानवाप्नुयात्।**
**उत्तराशां गते तस्मिन् स्वस्यारोग्यं च संपदः॥**
**यदि पश्चिमतो याति वायव्ये वा दिशाश्रये।**
**ऐशाने वा ततो वृष्टिः कुर्यात्केतुः शुभानि सा॥**
**अन्यस्मिन् दिग्विभागे तु गते केतौ मरुद्वशात्।**
**शान्तिकं तत्र कर्तव्यं दानपूजाविधानतः॥** —वही, 5/71-73

अर्थात् ध्वजा छोड़ने पर यदि वह पूर्व दिशा की तरफ जाए तो वह ध्वजा सब इष्ट कार्यों को सिद्ध करती है। पश्चिम दिशा में तथा वायव्य व ईशान दिशा में फहराने से वह ध्वजा कल्याण करने वाली होती है अथवा हवा के निमित्त से अन्य शेष दिशाओं में लहराने से दान-पूजा-विधि से शांति कर्म करना चाहिए।

**ध्वजारोहण से मोक्षप्राप्ति-**

**एवं कृत्वा ध्वजारोहं पुण्यं प्राप्यान्द्भुतं कृती।**
**भुक्त्वा तथादिशुभगः श्रेयोनिवृत्तिमश्नुते॥**

—आशाधरसूरि, प्रतिष्ठासारोद्धार, 5-78

**अर्थ**— इस रीति से ध्वजारोहण करता हुआ बुद्धिमान् श्रावक महान् पुण्य का उपार्जन करके तथा पुण्यफल भोग कर मोक्षसुख को पाता है।

**ओँ ह्रीँ क्लीं श्वेत-पीत-हरितारुण-कृष्णमणिचूर्णं स्थापयामि स्वाहा।**

—प्रतिष्ठासारोद्धार, 2-145, पृष्ठ 145

**जिनेन्द्र की वाणी मुनीन्द्र से-**

**तं पायडु जिणवरवयणु, गुरुउवएसइँ होइ।**
**अंधारइँ विणु दीवडइँ, अहव कि पिंछइ कोइ॥**

—सावयधम्मदोहा, 6

**अर्थ**— वह जिनवर का वचन सद्गुरु के उपदेश से प्रकट होता है। अंधकार में बिना दीपक के क्या कोई कुछ पहचान सकता है?

स्मरण रखें, इस कलिकाल में साक्षात् केवलियों का अभाव होने से हमारे लिए आगम ही प्रमाण है और इस आगम में श्रद्धा रखने वाला जीव ही सम्यग्दृष्टि है।

**सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।**
**सो चेव हवदि मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदी॥**

—गोम्मटसार जीवकाण्ड, आचार्य नेमिचन्द्र, 28

**अर्थ**— गणधरादिक परम्परा से आगत सूत्र, आगम के आश्रय से आचार्यादिक द्वारा अच्छी तरह समझाने पर भी यदि वह जीव उस तत्त्व का समीचीन श्रद्धान न करे एवं अपने हठाग्रह को न छोड़े तो वह जीव उस ही समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

आगम के विरुद्ध एवं असत्य लेखनी पर ज्ञानावरणी कर्म का बन्ध होता है एवं इहलोक और परलोक में आत्मिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति नहीं होती है, अतः हमारी लेखनी एवं भाषा आगमानुकूल होनी चाहिये।

**सौ प्रतिशत असत्य-**

**यावज्जीवमहं मौनी, ब्रह्मचारी च मत्पिता।**
**माता मम भवेद् वंध्या, स्मरामोऽनुपमो भवान्॥**

—सत्यशासनपरीक्षा, 68

प्रस्तुत श्लोक में असत्य भाषा की पराकाष्ठा का वर्णन है। कोई यह उद्घोष करता है कि मैं जीवन धारण करने से आज तक मौन हूँ (अर्थात् बोल कर कहना

कि 'कभी भी बोलता नहीं हूँ'– यह सौ प्रतिशत असत्य है।) इसी प्रकार मेरे पिताजी बाल ब्रह्मचारी हैं और मेरी माता वन्ध्या है। एक पुत्र द्वारा अपने पिता को ब्रह्मचारी और अपनी माता को वन्ध्या और उन दोनों से उत्पन्न अपने आपको एक अनुपम सुंदर पुत्र कहना शत-प्रतिशत असत्य बोलने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? ऐसे परस्पर विरुद्ध एवं असत्य भाषण करने वाले विलक्षण मनुष्य कभी भी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त करते हैं।

**स्वजातिपूर्वजानां तु, यो न जानाति सम्भवम्।**
**स भवेत् पुंश्चलीपुत्रसदृशः पित्रवेदकः॥**

आशय– जो अपने पूर्वजों के विषय में जानकारी नहीं रखता वह उस कुलटापुत्र के समान है जिसे अपने पिता के विषय में पता नहीं। अर्थात् अतीत ही वर्तमान का सांस्कृतिक आधार (प्रमाण) है। उस अतीत को न जानने वाला अपनी सनातन प्राचीन निधि के परिज्ञान बिना निराधार सदृश है। स्वजाति-समुत्पन्न पूर्वज ही वह रत्नकोष हैं जिन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त कर मनुष्य वास्तविक संस्कृति-संपन्नता का अधिकारी होता है।

**इतिहास दीपकतुल्य है-**

**श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृताः।**
**भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥** –राजतरंगिणी, 1/7

अर्थात् वही गुणवान् श्लाघनीय है जिसकी वाणी राग-द्वेष का बहिष्कार कर एक सच्चे न्यायमूर्ति के समान भूतकालीन घटनावलियों को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करती है।

**इतिहास-निरुक्ति-**

**इतिहास इतीष्टं तद्, इति हासीदिति श्रुतेः।**
**इतिवृत्तमथैतिह्यं, आम्नायं चामनन्ति तत्॥**

–आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 1-25

अर्थात् इतिहास, इतिवृत्त, ऐतिह्य और आम्नाय समानार्थक शब्द हैं। इति ह आसीत् (निश्चय से ऐसा ही था) इतिवृत्तम् (ऐसा ही हुआ–घटित हुआ) तथा परम्परा से ऐसी ही आम्नाय है –इन अर्थों में इतिहास है।

जैसे समुद्र का जल स्वयं समुद्र से ग्रहण करने से खारा ही मिलता है, परन्तु वही जल मेघ के द्वारा प्राप्त होता है तो मधुर (मीठा) होता है। उसी तरह मनमाने ग्रन्थों को अपने आप पढ़कर उसका मनमाने अर्थ करने पर वह खारे जल के समान ही अग्राह्य होगा। जैसे मेघ द्वारा आनीत वही जल मधुर होता है, उसी तरह परिपक्व ज्ञानी विद्वानों से या आचार्य-परम्परा से अधीत आगम-सम्मत ही ग्राह्य एवं

उपयोगी होगा। यथा–

**देवीं वाचमुपासत हि बहवः सारं तु सारस्वतं।**
**जानीते नितरामसौ गुरुकुलाक्लिष्टो मुरारिः कविः॥**
**अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरतां।**
**आपाताल-निमग्न-पीवरतनुर्जानाति मंथाचलः॥**

–प्रतिष्ठा-प्रदीप, पृष्ठ 14

पुस्तक की विद्या से अब तक अनेकों ने वाग्देवी की उपासना की है। सारस्वत सार को मात्र, गुरुकुलवास में निवास करके आक्लिष्ट हुआ मुरारी कवि ही जानता है। कपिभटों ने समुद्र का लंघन तो किया लेकिन क्या उसकी गहराई को जाना? नहीं जाना, उसकी गहराई को पाताल तक डूबा हुआ महान् मंथाचल ही जानता है।

## विरोधी भी उपकारक होता है-

**अहो! खलस्यापि महोपयोगः, स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन।**
**आकर्णमापूरितपात्रमेताः, क्षीरं क्षरन्त्यक्षयमेव गावः॥**

–धर्मशर्माभ्युदय, 59-4

आश्चर्य है कि खल का (खली का) भी महान् उपयोग होता है। खल स्नेह-द्रोही अर्थात् प्रेमरहित (खली स्नेह—तैल रहित होती है) होता है, किन्तु इस खल (खली) का ही प्रसाद है, जो गायें पूर्णपात्र पर्यंत लगातार क्षीरसमुद्र प्रदान करती हैं।

## सरस्वती क्षमा करें-

**यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं, मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम्।**
**तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी, सरस्वती केवलबोधलब्धिम्॥**

–आचार्य अमितगति, द्वात्रिंशतिका, सामायिक पाठ 10

**अर्थ**– मेरे द्वारा जो अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से हीन कुछ कहा गया हो तो उस प्रमाद को क्षमा करके **सरस्वती देवी** केवलज्ञानरूपी **बोधलब्धि** को प्रदान करें।

सारांश यह है कि जैन शासन में पंचरंग ध्वज की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। जैन शासन के ध्वज के नीचे सभी साधर्मी बन्धु समान हैं, न कोई छोटा है न बड़ा। श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविका चतुःसंघ एक ही जैन शासन की छत्र-छाया में स्थित है।

❖❖

# अनेकान्त और स्याद्वाद

जैन आगमशास्त्र व्यवहार और निश्चय– इन दो धर्मचक्रों पर आरूढ़ होकर मार्गदर्शन कराता है। जब वह व्यवहार का आश्रय लेता है, तब स्यात् नास्ति, अवक्तव्य इत्यादि अनेकान्त वस्तुधर्म का उत्तम प्रतिपादन करता है। यह प्रतिपादन संसार के सविकल्प दृष्टिकोण से समीचीन है। निश्चयरूप से निर्विकल्प अवस्था में आत्मा के समुपासन को सर्वोपरि निरूपण करना भी अपने आप में पूर्ण है। यह अनेकान्तवाद स्यात् पद से व्यक्त किया जाता है और वस्तुनिष्ठ अनंतता का प्रकाशक है, क्योंकि सामान्य-से-सामान्य वस्तु में, रजःकण में भी अनेक गुणधर्म विद्यमान हैं। अनेकान्तवाद स्याद्वाद वस्तु एवं तत्त्वज्ञान का यथार्थ निर्णायक है। सर्वोच्च न्याय उसकी तुला है, जिसकी माप कभी अशुद्ध नहीं होती। सच यह है कि अनेकान्तवाद विश्व-जीवन का निष्पक्ष निर्णायक है। उसका निर्णय पक्ष-विपक्ष के मोह के ऊपर उठ कर होता है। यही उसका गौरवपूर्ण शानदार अध्याय है।

जैनदर्शन वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान का दर्शन है। किसी पूर्वाग्रह अथवा हठवाद को इसमें स्थान नहीं। विचार में अनेकान्त, आचार में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद तथा प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व इस दर्शन का मुख्य विषय है। मन, वचन और काय से किसी की हिंसा न करना अहिंसा है। अहिंसा का आधार यह है कि प्राणीमात्र सुख चाहता है, जीवन चाहता है और पीड़ा, त्रास, उत्पीड़न, भय, शोक आदि से बचना चाहता है। संसार के मांसाहारी जीव भी भले ही, दूसरे जीवों की हिंसा करें, स्वयं की हिंसा नहीं चाहते। इसका आशय यह हुआ कि मूलतः वे अहिंसाप्रिय हैं। तथापि ऐसे हिंसक पशु अपने में परिवर्तन नहीं पाते, परन्तु मनुष्य तो विवेकशीलों का अग्रणी माना जाता है। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि जैसे हिंसा मुझे प्रिय नहीं, वैसे वह अन्य को भी रुचिकर नहीं हो सकती, तब वह अहिंसा के कल्याणकारी पक्ष को जानकर उस पर आचरण करता है। अहिंसा को सर्वात्मा स्वीकारने पर मनुष्य में सहअस्तित्व का भाव जागृत होता है। परस्पर निर्वैर भाव से संसार में रहने की कला अहिंसा से ही प्रकट होती है। जैन तीर्थंकरों ने और आचार्यों ने तो अहिंसा को 'ब्रह्म' पदवी दी है। 'स्वयम्भूस्तोत्र' में श्रमण संस्कृति के अमर-गायक आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं– **अहिंसा भूतानां**

**जगति विदितं ब्रह्म परमं** ।। 119 ।।

वास्तव में अहिंसा परमात्मस्वरूप है, अहिंसा वीतरागमय आत्मा का स्वभाव है। इससे उनका आशय यह प्रतीत होता है कि अहिंसा ब्रह्म के समान शुद्ध है। चैतन्य स्वरूप मनुष्य को परमात्मा होने की क्षमता अहिंसा द्वारा प्राप्त होती है अथवा अहिंसा की उपासना परमेश्वर की उपासना है। अहिंसा में राग-द्वेष का अभाव है और राग-द्वेष रहित परिणति ही वीतरागता है, यह वीतराग भाव परब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग है। अतः अहिंसा का यशोवर्णन इह-पर उभयलोक के श्रेयः साधन में अनुपम है। सच्चे अहिंसक की उपस्थिति में हिंसा के भाव लुप्त हो जाते हैं। प्राणिदया, समभाव तथा आत्मशांति की प्राप्ति अहिंसा द्वारा सम्भव है। अहिंसा से दया, करुणा, विश्वमैत्री तथा प्राणीमात्र के प्रति समत्व का विचार उत्पन्न होता है। यह आचार का निरवद्य मार्ग है। इसमें घृणा, द्वेष, असन्तोष तथा परपीड़ा को अणुमात्र भी स्थान नहीं। अनेकान्त दर्शन इस अहिंसा को पुष्ट करने वाली विचारधारा है। अनेकान्त का अभिप्राय है– अनेक धर्म वाला पदार्थ। वस्तु सर्वधर्ममय नहीं, अनेक धर्ममय है। उसे सर्वथा एक धर्मात्मक भी नहीं कहा जा सकता। यथा– अग्नि, जल आदि। अग्नि ज्वलनशील है, प्रकाशप्रद है, उष्ण आदि गुण वाला है। जल शीतल है, प्रवाहयुक्त है, रूप, रस, गंध, वर्णयुक्त है, भारी है, हलका है, पुद्गल है, इत्यादि। प्रत्येक पदार्थ इसी प्रकार विविध स्वधर्म-गुणों का निकाय है। यदि उसे किसी एक धर्म से अविच्छिन्न और कूटस्थ मानें तो इतर विद्यमान धर्मों को अस्वीकार करना होगा। स्वीकारने अथवा अस्वीकारने मात्र से पदार्थों का निर्णय सिद्ध नहीं होता। जब वस्तु स्वयं अपने अनेक धर्मों की विद्यमानता का डिंडिम-घोष कर रही है, उसे नकारने का अयुक्त साहस कौन करेगा? धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणवार्तिक न्याय-ग्रंथ में इस बात को स्वीकार किया है– **यदिदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्?** 2-208। यदि पदार्थों को स्वयं यह अभीष्ट है तो हम उन्हें निरपेक्ष बताने वाले कौन होते हैं? अनेकान्त दर्शन इसी वस्तुगत सद्भूत मान्यता पर अवस्थित है। उस अनेकान्त को अभिव्यक्त करने के वाचिक विधान को स्याद्वाद कहते हैं।

स्यात् विधिपरक अव्यय है। एकवाक्यता में जब वस्तु के अनेक धर्मों का कथन नहीं किया जा सकता, तब उनके निर्वचन व्यवहार को अबाधित करने के लिए 'स्यात्' पद की योजना सहायक सिद्ध होती है। जैसे– यह मणि है, प्रकाशमान है, शुक्लवर्ण, बहुमूल्य है, आदि। मणिगत इन स्वधर्मों को भी युगपत् (एक साथ) कहना शक्य नहीं। स्यात् जिसका अर्थ कथंचित् (किसी एक अपेक्षा-दृष्टिकोण से) होता है, इन अनेक धर्मों की अभिव्यक्ति में साहाय्यकारी होता है। स्यात् यह प्रकाशमान है, स्यात् यह बहुमूल्य है।

पदार्थ के साथ इस स्यात् पद के सात भंग हैं। इन भंगों को सप्तभंग कहते हैं। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य इत्यादि। आपेक्षिक भंगों द्वारा पदार्थ-स्थित अनेकान्त को स्फुट करना सप्तभंग का विषय है। इस अनेकान्त-दर्शन से मनुष्य में सद्विचार का आविर्भाव होता है और पूर्वाग्रह अथवा एकान्त हठवाद का अन्त हो जाता है। अनेकान्तदृष्टिमान् यह विचारता है कि पदार्थ में एक मात्र वही गुणधर्म नहीं है, जिसे मैं जानता हूँ अपितु दूसरा व्यक्ति उसमें जिस अपर गुण की स्थिति बता रहा है, वह भी उसमें है। यह विचारों की प्रांजलता, दर्शन की व्यापकता तथा सहिष्णुता को प्रसारित कर समन्वय मार्ग को प्रशस्त करता है। वास्तविकता तो यह है कि जब पदार्थों में अनेक धर्मों का अस्तित्व विद्यमान है तो उसका निषेध कैसे किया जा सकता है? अनेकान्तदर्शन इसी सद्भूत मान्यता पर आधारित है। उस अनेकान्त को व्यक्त करने की विधि का नाम स्याद्वाद है। स्यात् यह मनुष्य काला है— इस पद में स्यात् पद होने से मनुष्य शरीर के और विभिन्न गुण (जैसे रक्त लाल है, हड्डी सफेद है, आदि) वक्ता के विवक्षित विषय न होने से गौण हो जाते हैं और विवक्षित काला रंग मुख्य हो जाता है। स्यात् पद सुनिश्चित वाचक है और अपेक्षा को लिये हुए है, संशयवाचक नहीं।

**न ह्याप्तवादा नभसो निपतन्ति महासुराः।**
**युक्तिमद् वचनं ग्राह्यं मयाऽन्यैश्च भवद्विधैः॥** —विष्णुपुराण, 3-18-30

## अनेकान्त—सत्य जानने की पद्धति

**धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।**
**ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥** —लघीयस्त्रय, 1

धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, स्याद्वाद के संस्थापक ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त[1] हुए चतुर्विंशति जिनेन्द्रों को स्वात्मा की प्राप्ति के लिए बारम्बार नमो नमः।

**परमागमस्य जीवं, निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।**
**सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥**

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 2

नेत्र के समान जो त्रिलोकवर्ती पदार्थों को जानने वाला है, समस्त नयों (एकांगी ज्ञानों) के पारस्परिक विरोध को दूर करने वाला है, ऐसे अनेकान्तवाद स्याद्वाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

जिस तरह जैन धर्म का उदयकाल सबसे पुरातन है, जिस तरह उसने विश्वकल्याण के लिए अहिंसा सिद्धान्त को आचरणीय बतलाया है, उसी तरह

1. यथा ऋषभो वर्धमानश्च तावादौ यस्य स ऋषभवर्धमानादिः। दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्च। —बौद्धग्रन्थ न्यायबिन्दु, टीका 3/131

मत-मतान्तरों के पारस्परिक वाद-विवादों को दूर करने के लिए उसने अनेकान्तवाद वा स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुपम प्रतिपादन किया है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण (पॉइन्ट आफ व्यू) से पदार्थों को जानकर मत-मतान्तर अपने एकांगी ज्ञान को ही पूर्ण सत्यज्ञान मानकर दूसरे मत के सिद्धान्त को असत्य बतलाते हुए परस्पर वाद-विवाद करते हैं। संसार के सभी मत-मतान्तर पृथक्-पृथक् एकान्त हठ पकड़कर दूसरे को झूठा बतलाकर परस्पर झगड़ते हैं, बहुत वाद-विवाद करते हैं। यदि वे अपनी 'ही' को छोड़कर 'भी' लगाने लगें तो जहाँ उनका आपसी झगड़ा दूर हो जावे वहीं उनको पदार्थों का सर्वांश-ज्ञान भी होने लगे। इस प्रकार अनेकान्त सिद्धान्त संसार के समस्त आपसी वाद-विवादों को दूर कर देता है। वह सबको 'ही' छोड़कर 'भी' लगाने की प्रेरणा करता है। इन पारस्परिक विचारों, सिद्धान्तों का विवाद दूर करने में जैन धर्म का अनेकान्त या स्याद्वाद सिद्धान्त सफलता प्राप्त करता है। इस अनेकान्त या स्याद्वाद सिद्धान्त को स्पष्ट तथा सुगम करने के लिए इसे अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी— इन प्रकरणों में रखते हैं।

## अनेकान्त[2]

इस जगत में अनन्तानन्त चेतन पदार्थ (जीव) हैं और अनन्तानन्त जड़ (अजीव) पदार्थ हैं। उनमें से प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणों (शक्तियों) तथा अनन्त विशेषताओं का पुंज है। सूक्ष्म परमाणु (Atom) में भी अनंत शक्तियाँ निहित हैं। परमाणु की शक्ति से विशाल नगरों का विध्वंस क्षण भर में किया जा सकता है और विशाल परिमाण में विद्युत (बिजली) उत्पन्न करने वाले बिजली घर का संचालन किया जा सकता है, भीमकाय जल-यान (पानी के जहाज, पनडुब्बी, नाव आदि) परमाणु की शक्ति से चलाये जा सकते हैं। एक परमाणु में जब इस प्रकार की विध्वंस, निर्माण, संचालन, प्रेरणा आदि रूप असीम शक्तियाँ तथा विशेषताएँ सिद्ध होती हैं, तब अन्य विशाल जड़ चेतन पदार्थों के गुणों और विशेषताओं का भी इससे अनुमान किया जा सकता है। अग्नि लकड़ी को जलाकर भस्म करती है, सोने को गलाकर शुद्ध करती है, रोटी को पकाती है, दाल को गलाती है, जल को भाप बनाती है, अशुद्ध धातु-पात्रों को शुद्ध करती है, शीत को दूर करती है, प्रकाश करती है, इत्यादि अनन्त प्रकार की विशेषताएँ अग्नि में विद्यमान हैं। ऐसी ही अनन्त शक्तियाँ, गुण या विशेषताएँ, जल, वायु तथा पार्थिव पदार्थों में विद्यमान हैं। ये भौतिक (पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य) पदार्थ उन परमाणुओं के सम्बद्ध समुदाय से बना करते

---

2. 'पहिले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों को प्यार करता हूँ क्योंकि अब मैं अपने को विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा इन युगल सिद्धान्तों का ही परिणाम है।'

—महात्मा गाँधी, (हरिजन 21-7-46)

हैं, जिनकी शक्ति परमाणु बम, परमाणु बिजलीघर आदि के रूप में पहले बतलाई जा चुकी है।

पौद्‌गलिक (मैटीरियल) जड़ पदार्थों के सिवाय अमूर्तिक (नान मैटीरियल) जड़ पदार्थ और भी हैं, जिनको धर्म (क्रियाशील अनन्त पदार्थों की हलन-चलन रूप क्रिया में सहायक), अधर्म (स्थितिशील अनन्त पदार्थों की स्थिति-ठहरने में सहायक), आकाश (समस्त पदार्थों के लिए स्थानदाता), काल (समस्त अनन्त पदार्थों के प्रतिक्षणवर्ती परिणमन में सहायक) नाम से कहा जाता है। उन अमूर्तिक जड़ पदार्थों में से प्रत्येक में भी परमाणु या भौतिक पदार्थों के समान अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, जिससे कि इस विश्व जगत का ढाँचा सूक्ष्म रूप से विविध परिणमन कर रहा है। स्थूल दृष्टि, विचार शक्ति सहसा उसको न जान सके, किन्तु सूक्ष्म विचार से तो उनको जाना ही जाता है। जड़ पदार्थों के समान चेतन पदार्थ—जीव भी संख्या में अनन्तानन्त हैं और प्रत्येक चेतन पदार्थ भी, वह चाहे छोटा प्रतीत हो या बड़ा, अनन्त शक्तियों का पुंज है। ज्ञान-दर्शन, सुख, बल, श्रद्धा, समता, क्षमता, मृदुता आदि अनन्त प्रकार के गुण या शक्तियाँ तथा विशेषताएँ प्रत्येक जीव में विद्यमान (मौजूद) हैं। यानी—जगत का कोई भी पदार्थ क्यों न हो वह अनन्तगुणात्मक है। उन अनन्तगुणों का परिणमन भिन्न-भिन्न निमित्तों से विभिन्न प्रकार का हुआ करता है। उन विभिन्न विशेषताओं को जब विभिन्न दृष्टिकोणों (अपेक्षाओं) से जाना जाता है तब प्रत्येक पदार्थ अनेक रूप में प्रतीत होता है। जल किसी प्यासे मनुष्य की प्यास बुझाकर उसे जीवन देता है और किसी प्यासे (हैजा के रोगी) को प्यास बुझाकर मार देता है, स्नान के रूप में स्वस्थ मनुष्य को जल स्फूर्ति, आनन्द देता है, दाह ज्वर वाले मनुष्य को वही जलस्नान सन्निपात लाकर मृत्यु के निकट पहुँचा देता है। इस तरह जल जीवनदाता अमृत रूप भी है और मारक विष रूप भी है। दूध शरीर के लिए सर्वोत्तम पोषक पदार्थ, है, तत्काल के उत्पन्न बालक, शिशु का जीवन तो दूध के आधार पर निर्भर है। किशोर, यौवन, प्रौढ, वृद्ध दशा में भी दूध शरीर का अच्छा पोषण करता है, इसी कारण दूध को अमृत भी कहा जाता है, परन्तु वही दूध अतिसार (दस्त) के रोगी को दिया जावे तो उसके लिए विष के समान हानिकारक होता है।

ऐसे ही विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार की प्रतीत होने वाली अनेक प्रकार की विशेषताएँ प्रत्येक पदार्थ में एक साथ होती हैं। जैसे, राम राजा दशरथ के पुत्र थे किन्तु लवणांकुश (लव कुश) के पिता थे, लक्ष्मण के भाई थे, सीता के पति थे, जनक के जामाता (दामाद) थे, भामण्डल के बहनोई थे। इस तरह एक ही राम पुत्र, पिता, भाई, पति, दामाद, बहनोई आदि अनेक रूप थे। इसी प्रकार प्रायः अन्य प्रत्येक मनुष्य भी पिता, पुत्र, बाबा, पोता, पति, श्वसुर जमाई, साला, बहनोई आदि अनेक सम्बन्धों का समुदाय होता है। इस अनेक प्रकार की

विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक पदार्थ अनेकान्त (अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् स अनेकान्तः) रूप में पाया जाता है। जो धर्म-विशेषताएँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं (जैसे पुत्र है वह पिता कैसे हो सकता है, जो साला है वह बहनोई कैसे हो सकता है, जो पति है वह पुत्र कैसे हो सकता है, इत्यादि) वे ही विशेषताएँ एक ही पदार्थ में ठीक सही तौर पर पाई जाती हैं। पदार्थ की इस अनेकरूपता— धर्मात्मकता को बतलाने वाला सिद्धान्त अनेकान्तवाद कहलाता है।

हम हाथी का चित्र पीछे की ओर से लें तो उसकी फोटो में पिछले पैर और पूँछ ही दिखाई देगी, सामने से फोटो खींचेंगे तो उसकी सूँड, दाँत, आँख, कान, मुख, अगले पैर चित्र में आवेंगे, यदि दाईं ओर से फोटो खींची जाय तो हाथी की तस्वीर अन्य ढंग की होगी और बाईं ओर कैमरा लगाकर फोटो लेने से हाथी का चित्र पहिले तीन चित्रों से विलक्षण होगा। इस तरह एक ही हाथी का चित्र भिन्न-भिन्न दिशाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, वे सभी चित्र परस्पर में एक-दूसरे से विलक्षण हैं, परन्तु हैं सब सच्चे और एक ही हाथी के। तर्जनी (अँगूठे की साथ वाली अँगुली) बड़ी भी है, क्योंकि अँगूठे से तथा कनिष्ठा (पाँचवीं सबसे छोटी अँगुली) से लम्बाई में वह बड़ी है, परन्तु मध्यमा (बीच की अँगुली) से वह छोटी भी तो है। छोटापन और बड़ापन दोनों धर्म उस एक ही तर्जनी अँगुली में पाये जाते हैं।

हमारा भारत देश हिन्द महासागर से उत्तर दिशा में है, हिमालय पर्वत से दक्षिण में है, अरब देश से पूर्व में है और ब्रह्म देश (बर्मा) से पश्चिम में है। आकाश से नीचे की ओर है और पाताल से ऊपर की ओर है। इस तरह एक ही भारत देश विभिन्न छह दिशाओं से छह तरह का है, छह तरह से कहा तथा माना जाता है। परस्पर-विरोधी छहों बातें हैं बिल्कुल ठीक। पाँच वर्ष का बच्चा अपने तीस वर्ष के पिता से छोटा भी है, क्योंकि उसका शरीर छोटा है, शरीर निर्बल है, बुद्धि अल्प है परन्तु वही पाँच वर्ष का बच्चा अपनी दो वर्ष की बहन से बड़ा भी है। और वास्तव में आयु की अपेक्षा देखा जावे तो वह पाँच वर्ष का बच्चा अपने 65 वर्ष के बाबा (दादा) से 60 वर्ष तथा अपने पिता से 30 वर्ष बड़ा है क्योंकि उसके बाबा ने अपने आयु के 65 वर्ष समाप्त कर दिये जबकि उस बच्चे ने अभी केवल पाँच वर्ष ही बिताये हैं। उसका पिता अपने जीवन के 30 वर्ष खो चुका जबकि उस बच्चे के केवल पाँच वर्ष बीते हैं। यदि तीनों की आयु 80-80 वर्ष हो तो उसका बाबा केवल 15 वर्ष और जीवेगा उसका पिता 50 वर्ष और जीवित रहेगा और वह बच्चा (बाबा और पिता से अधिक) 75 वर्ष और जीवित रहेगा। किन्तु उसकी दो वर्ष की छोटी बहन 78 वर्ष जीवेगी, इस कारण उस बच्चे से तीन वर्ष बड़ी है। इस तरह एक ही पाँच वर्ष का बच्चा अपने बाबा, पिता और दो वर्ष वाली बहन से छोटा भी है और बड़ा भी है। न उसका छोटापन कल्पित है, न उसका बड़ापन कल्पित है। दोनों ही धर्म यथार्थ हैं, वास्तविक हैं।

इस तरह किसी पदार्थ के स्वरूप की छानबीन की जावे तो वह अनेक धर्मात्मक (अनेक रूप का) सिद्ध होता है, एक धर्म रूप ही प्रमाणित नहीं होता। इस कारण जगत के सभी पदार्थ अनेकान्त रूप हैं, एकान्त (एक ही) रूप कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार सूक्ष्म तथा स्थूल विचार से अनेकान्तवाद यानी अनेकान्त का सिद्धान्त यथार्थ एवं अकाट्य सिद्ध होता है। जब हम कहते हैं कि आत्मा नित्य है, उस समय हमारा दृष्टिकोण मौलिक आत्म-द्रव्य पर होता है, क्योंकि आत्मा अभौतिक द्रव्य है, अतः वह न तो अस्त्र-शस्त्रों से छिन्न-भिन्न हो सकता है, न अग्नि से जल सकता है, न जल से गल सकता है और न वायु से सूख सकता है। अनादि काल से अनन्त काल तक बना रहता है, परन्तु जब हम सांसारिक आवागमन को मुख्य करके आत्मा की पर्याय (भव अवस्था) का विचार करते हैं तो आत्मा अनित्य सिद्ध होता है। क्योंकि आत्मा कभी मनुष्य भव में होता है, कभी मरकर पशु-पक्षी आदि हो जाता है। इस तरह एक ही आत्मा में नित्यता भी है और अनित्यता भी है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में इसके लिए सुन्दर उदाहरण दिया है–

**एकेनाकर्षन्ती, श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।**
**अन्तेन जयति जैनी, नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥**

**अर्थ**– जिस तरह दही को मथकर मक्खन निकालने वाली ग्वालिन मथानी की रस्सी को एक हाथ से खींचती है और दूसरे हाथ की रस्सी को ढीला कर देती है, इसी तरह जैन पदार्थ-निर्णय-पद्धति (अनेकान्तवाद) पदार्थ के किसी एक धर्म को मुख्य करती है तो दूसरे को गौण (अमुख्य) कर देती है। (उसे सर्वथा छोड़ नहीं देती)।

इस प्रकार अनन्तधर्मात्मक पदार्थों के किसी धर्म को मुख्य और अन्य धर्म को गौण करके विचार करने से तत्त्व का ठीक निर्णय होता है।

## सप्तभंगी

**जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं।**
**लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च॥** –कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 311

जो लोक प्रश्नवश से तथा व्यवहार-सम्पादनार्थ अनेकान्त का श्रद्धान सप्तभंगी द्वारा नियम से करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की अपेक्षा से सत्स्वरूप हैं और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षया असत् स्वरूप हैं। यदि ऐसा अपेक्षया स्वीकार न किया जाय तो किसी इष्ट तत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकती। 'श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्रम्' में लिखा है–

**स्यादस्ति स्वचतुष्टयादितरतः स्यान्नास्त्यपेक्षाक्रमात्,**
**तत्स्यादस्ति च नास्ति चेति युगपत् सा स्यादवक्तव्यता।**
**तद्वत् स्यात् पृथगस्ति नास्ति युगपत् स्यादस्तिनास्त्याहिते,**
**वक्तव्ये गुणमुख्यभावनियतः स्यात् सप्तभंगी विधिः॥ 10 ॥**

**स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्त्यवक्तव्य और स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य**– ये सात भंग हैं। वक्तव्य में गौण और मुख्यभाव-नियम करने वाली यह सप्तभंग विधि है।

'भंग' शब्द के भाग, लहर, प्रकार विघ्न आदि अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से यहाँ पर 'प्रकार' वाचक भंग शब्द लिया है। तदनुसार वचन के भंग सात प्रकार के हो सकते हैं, उससे अधिक नहीं, क्योंकि आठवीं तरह का कोई वचन भंग नहीं होता और सात से कम मानने से कोई न कोई वचन भंग छूट जावेगा।[3] इसका कारण यह है कि किसी भी पदार्थ के विषय में कोई भी बात कही जाती है वह मौलिक रूप से तीन प्रकार की होती है या हो सकती है– 1. है (अस्ति) के रूप में, 2. नहीं (नास्ति) के रूप में, 3. न कह सकने योग्य (अवक्तव्य) के रूप में।

इन मूल तीन भंगों को परस्पर मिलाकर तीन युगल (द्वि-संयोगी) रूप होते हैं– 1. है और नहीं (अस्ति-नास्ति) रूप, 2. है और न कह सकने योग्य (अस्ति-अवक्तव्य), 3. नहीं और न कह सकने योग्य (नास्ति-अवक्तव्य) रूप।

एक भंग तीनों का मिला हुआ (त्रि-संयोगी) होता है– है, नहीं और न कह सकने योग्य (अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य)।

इस तरह वचन-भंग सात तरह के हैं, सातों भंगों के समुदाय को (सप्तानां भङ्गानां समुदायः सप्तभंगी) सप्तभंगी कहते हैं। इस तरह स्यात् पद लगाकर उन सात भंगों के नाम यों हुए– (1) स्यात् अस्ति, (2) स्यात् नास्ति, (3) स्यात् अस्ति-नास्ति, (4) स्यात् अवक्तव्य, (5) स्यात् अस्ति अवक्तव्य, (6) स्यात् नास्ति अवक्तव्य, (7) स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य।

(1) प्रत्येक वस्तु अपने (विवक्षित–कहने के लिए इष्ट) दृष्टिकोण (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की अपेक्षा अस्ति (मौजूद) रूप होती है। जैसे–राम अपने पिता दशरथ की अपेक्षा पुत्र है।

(2) प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं की या अन्य (अविवक्षित) दृष्टिकोणों की अपेक्षा अभाव (नास्तित्व) रूप होती है। जैसे– राम राजा जनक (की अपेक्षा) के पुत्र नहीं हैं।

---

3. सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात्। –स्याद्वादसिद्धिः
किसी भी पदार्थ के विषय में सन्देह की उत्पत्ति सात प्रकार से हो सकती है।

(3) दोनों दृष्टिकोणों को क्रम से कहने पर वस्तु अस्तित्व तथा अभाव (अस्ति-नास्ति) रूप होती है। जैसे–राम दशरथ के पुत्र हैं, जनक के पुत्र नहीं हैं।

(4) परस्पर विरोधी (हैं तथा नहीं रूप) दोनों दृष्टिकोणों से एक साथ (युगपत्) वस्तु वचन द्वारा कही नहीं जा सकती, क्योंकि वैसा वाचक (कहने वाला) कोई शब्द नहीं है। अतः उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होती है। जैसे राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की युगपत् (एक साथ एक शब्द द्वारा) अपेक्षा कुछ नहीं कहे जा सकते।

(5) वस्तु न कह सकने योग्य (युगपत् कहने की अपेक्षा अवक्तव्य) होते हुए भी अपने दृष्टिकोण से होती तो है (स्यात् अस्ति-अवक्तव्य)। जैसे राम यद्यपि दशरथ तथा जनक की अपेक्षा एक ही शब्द द्वारा अवक्तव्य (न कहे जा सकने योग्य) हैं फिर भी राजा दशरथ की अपेक्षा पुत्र है (स्यात् अस्ति-अवक्तव्य)।

(6) वस्तु अवक्तव्य (युगपत् कहने की अपेक्षा) होते हुए भी अन्य दृष्टिकोण से नहीं रूप (स्यात् नास्ति-अवक्तव्य) है। जैसे राम युगपत् दशरथ तथा जनक की अपेक्षा पुत्र नहीं हैं। (स्यात् नास्ति-अवक्तव्य)।

(7) परस्पर विरोधी (है और नहीं रूप) दृष्टिकोणों से युगपत् (एक साथ एक ही शब्द द्वारा) अवक्तव्य (न कह सकने योग्य) होते हुए भी वस्तु क्रमशः उन परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों से है, नहीं (अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य) रूप होती है। जैसे राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की अपेक्षा युगपत् रूप से कुछ भी नहीं कहे जा सकते (अवक्तव्य हैं) किन्तु युगपत् की अपेक्षा अवक्तव्य होकर भी क्रमशः राम राजा दशरथ के पुत्र हैं, राजा जनक के पुत्र नहीं हैं।

इस प्रकार सप्तभंगी प्रत्येक पदार्थ के विषय में लागू होती है। सप्तभंगी के लागू होने के विषय में मूल बात यह है कि प्रत्येक पदार्थ में अनुयोगी (अस्तित्व रूप) और प्रतियोगी (अभावरूप—नास्तित्व रूप) धर्म पाये जाते हैं तथा अनुयोगी प्रतियोगी धर्मों को युगपत् (एक साथ) किसी भी शब्द द्वारा न कह सकने योग्य रूप अवक्तव्य धर्म भी प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। अनुयोगी, प्रतियोगी और अवक्तव्य— इन तीनों धर्मों के एकसंयोगी (अकेले-अकेले) तीन भंग होते हैं तथा तीनों का मिलकर त्रिसंयोगी भंग एक होता है। इस तरह सब मिलकर सात भंग हो जाते हैं।

आचार्य कहते हैं– 'अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः सप्तविधवाक्' अक्षरों द्वारा व्यक्त है। यहाँ प्रथमा, द्वितीयादि सप्त विभक्तियाँ ही ज्ञातव्य नहीं हैं, अपितु वाक् की सप्तभंगिमा भी व्याख्यात हुई है। सप्त व्याहृति वाणी का सप्तविध-संख्यान ही होना चाहिए। नहीं तो कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन आदि कारक कैसे सिद्ध कर सकोगे? इसलिए सप्त-विध भंग ही

शब्द शास्त्र से एवं वाणी से कथन करना सम्भव है। संगीत के स्वर और रवि, सोम, मंगल आदि भी तो सात हैं। सात संख्या महत्त्वपूर्ण है।

## स्याद्वाद

**स्याद्वादो विद्यते यत्र, पक्षपातो न विद्यते।**
**अहिंसाया: प्रधानत्वं, जैन धर्म: स उच्यते॥**

जानने और कहने में बहुत भारी अन्तर है, क्योंकि जितना जाना जा सकता है उतना कहा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि जितने ज्ञान के अंश हैं, उन ज्ञान अंशों के वाचक न तो उतने शब्द हैं और न उन सब ज्ञान-अंशों को कह डालने की शक्ति जीभ (रसना) में है। छोटा-सा दृष्टान्त है कि हम अंगूर, आम, अनार खाकर उनके मिठास के अन्तर (मिष्ठता) को पृथक्-पृथक् यथार्थ कह नहीं सकते। किसी भी इष्ट या अनिष्ट पदार्थ के छूने, सूँघने, देखने, सुनने में जो आनन्द या दुख होता है, कोई भी मनुष्य उस इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ठीक उसी रूप में मुख द्वारा कह नहीं सकता। परीक्षा में उत्तीर्ण (पास) होने वाले विद्यार्थी को अपना परीक्षाफल जानकर जो हर्ष हुआ, उस हर्ष को हजारों यत्न करने पर भी वह ज्यों का त्यों कह नहीं सकता। गठियावात रोगी को गठियावात की जो पीड़ा होती है, उसे वह शब्दों द्वारा नहीं बतला सकता। इस तरह एक तो जानने और कहने में यह एक बड़ा भारी अन्तर है। दूसरे जितना विषय एक समय में जाना जाता है, यदि उसे मोटे रूप से भी कहना चाहें तो उसके कहने में जानने की अपेक्षा समय बहुत अधिक लगता है। एक सुन्दर बाग का दृश्य देखकर जो उस बाग के विषय में एक ही मिनट में ज्ञान हुआ, उस सब जानी हुई बात को कहने में अनेक मिनट ही नहीं अपितु अनेक घण्टे लग जाएँगे, क्योंकि जिन सब बातों को नेत्रों ने तथा नाक ने एक मिनट में जान लिया है, उनको जीभ एक साथ कह नहीं सकती। उन बातों को क्रम से एक-एक करके कहा जा सकेगा।

इसी कारण प्राचीन ग्रन्थकारों ने लिखा है कि सर्वज्ञ अपने ज्ञान द्वारा जितना त्रिकालवर्ती तथा त्रिलोकवर्त्ती पदार्थों को युगपत् (एक साथ) जानता है, उसके अनन्तवें भाग विषय उनकी वाणी से प्रकट होता है। जितना दिव्य-ध्वनि से प्रकट होता है उसके अनन्तवें भाग चार ज्ञानधारक गणधर अपने हृदय में धारण कर पाते हैं। जितना विषय धारण कर पाते हैं उसका अनन्तवाँ भाग शास्त्रों में लिखा जाता है। इस प्रकार जानने और उस जाने हुए विषय को कहने में महान् अन्तर है। एक साथ जानी हुई बात को ठीक उसी रूप में एक साथ कह सकना असम्भव है। अतः जिस पदार्थ के विषय में कुछ कहा जाता है तो एक समय में उसकी एक ही बात कही जाती है, उस समय उसकी अन्य बातें कहने से छूट जाती हैं, किन्तु वे अन्य बातें उसमें होती अवश्य हैं। जैसे कि जब यह कहा जावे कि राम राजा

दशरथ के पुत्र थे, उस समय राम के साथ लगे हुए सीता, लक्ष्मण, लव-कुश आदि अन्य व्यक्तियों के पति, भ्राता, पिता आदि के सम्बन्ध कहने से छूट जाते हैं, जोकि यथार्थ हैं। यदि उन छूटे हुए संबंधों का अपलाप कर दिया जावे (सर्वथा छोड़ दिया जावे) तो राम सम्बन्धी परिचय (जानकारी) अधूरा रह जाएगा और इसी कारण वह कहना गलत (अयथार्थ) प्रमाणित (साबित) होगा। इस गलती या अधूरेपन को हटाने के लिए जैन धर्म सिद्धान्त ने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् शब्द लगाने का निर्णय दिया है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ कथंचित् यानी किसी दृष्टिकोण से या किसी अपेक्षा से है अर्थात् जो बात कही जा रही है वह किसी एक अपेक्षा से (किसी एक दृष्टिकोण से) कही जा रही है, जिसका अभिप्राय यह प्रकट होता है कि यह विषय अन्य दृष्टिकोणों से या अन्य अपेक्षाओं से अन्य अनेक प्रकार भी कहा जा सकता है। तदनुसार राम के विषय में यों कहेंगे– स्यात् (राजा दशरथ की अपेक्षा) राम पुत्र हैं। स्यात् (सीता की अपेक्षा) राम पति हैं। स्यात् (लक्ष्मण की अपेक्षा) राम भ्राता–भाई हैं। स्यात् (लवांकुश की अपेक्षा) राम पिता हैं। स्यात् (राजा जनक की अपेक्षा) राम जामाता (दामाद) हैं। इस तरह स्यात् शब्द लगाने से उस बड़ी भारी त्रुटि (गलती) का ठीक सुधार हो जाता है जो उपर्युक्त पाँच बातों में से एक ही बात कहने पर होती है। यानी– राम पुत्र तो हैं किन्तु वे सर्वथा (हर तरह से) पुत्र ही नहीं हैं, वे पति, भाई, पिता, दामाद आदि भी तो हैं। हाँ, वे राजा दशरथ की अपेक्षा से पुत्र ही हैं। इस अपेक्षा शब्द से उसके अन्य दूसरे पति, भाई, पिता, दामाद आदि सम्बन्ध सुरक्षित रहे आते हैं। स्यात् भारत (हिमालय की अपेक्षा) दक्षिण में है। इससे यही ध्वनि निकलती है कि भारत देश सर्वथा (हर एक तरह से सर्वथा) दक्षिण में ही नहीं है, अपितु अन्य दृष्टिकोणों से अन्य दिशाओं में भी है। तदनुसार—स्यात् (हिन्द महासागर की अपेक्षा) भारत देश उत्तर दिशा में है। स्यात् (अफगानिस्तान की अपेक्षा) भारतवर्ष पूर्व दिशा में है। स्यात् (बर्मा की अपेक्षा) भारत पश्चिम में है। इस तरह स्यात् पद लगा देने से उस कही हुई बात के सिवाय उस पदार्थ सम्बन्धी अन्य बातों की सत्ता (सम्भावना) बनी रहती है। स्यात् (त्रिकाल अविनाशी द्रव्य की अपेक्षा) जीव नित्य है। इससे ध्वनित होता है कि जीव में नित्यता की तरह किसी अन्य दृष्टिकोण (अपेक्षा) से अनित्यता भी पाई जाती है। तदनुसार स्यात् (पर्याय की अपेक्षा-मनुष्य, पशु आदि नश्वर शरीरों की दृष्टि से) जीव अनित्य है। इस सत्य बात की भी रक्षा हो जाती है। इस प्रकार स्यात् यह लगा देने से संसार के सभी सैद्धान्तिक विवाद शान्त हो जाते हैं।

किसी भवन के चारों ओर खड़े होकर चार फोटोग्राफर यदि उस भवन के फोटो लें, तो उस एक ही भवन के चारों फोटों चार विभिन्न (अलग-अलग) तरह के आएँगे। इस पर वे फोटोग्राफर अपने-अपने फोटो को ठीक बताकर परस्पर झगड़ने लगें कि मेरा फोटो ठीक है, तुम तीनों के फोटो गलत हैं, तो उस विवाद

का यथार्थ तथा चारों फोटोग्राफरों के लिए संतोषजनक निर्णय (फैसला) स्यात् दृष्टिकोण कर सकता है। तदनुसार निर्णय दिया जाएगा कि– स्यात् (सामने की अपेक्षा) इस (भवन के सामने खड़े होकर खींचने वाले) फोटोग्राफर का फोटो ठीक है। स्यात् (पीछे भाग की अपेक्षा) पीछे से फोटो लेने वाले का फोटो ठीक है। स्यात् (दाहिनी ओर की अपेक्षा) दाहिनी ओर से फोटो लेने वाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है। स्यात् (बाईं ओर की अपेक्षा) बाईं ओर से फोटो लेने वाले फोटोग्राफर का फोटो ठीक है। ठीक इस तरह सबको सन्तोषजनक यथार्थ निर्णय स्यात् लगाने से हो जाता है।

जगत के विभिन्न मत-मतान्तर अपने-अपने एक-एक दृष्टिकोण ही को सत्य मानकर दूसरों के दृष्टिकोण से प्रकट की गई मान्यता को असत्य बतलाकर परस्पर विवाद करते हैं। उनका विवाद स्यात् पद लगाकर दूर किया जा सकता है।

अनेकान्तवाद और सप्तभंगी, स्याद्वाद के रूपान्तर हैं। स्याद्वाद एक वास्तविक अकाट्य सिद्धान्त है किन्तु यह दार्शनिक तर्क-विषय है, अतः कुछ कठिन है। अनेक व्यक्ति इसका स्वरूप ठीक न समझ सकने के कारण इसे गलत ठहराने का यत्न करते हैं। ऐसी त्रुटि साधारण व्यक्ति ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् भी कर जाते हैं।

आचार्य बादरायण, श्रीशंकराचार्य जैसे उद्भट विद्वान् भी स्याद्वाद को न समझ पाये, अतएव अपने ब्रह्मसूत्र और शांकरभाष्य में नैकस्मिन्नसम्भवात् सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है– बौद्धमत का निराकरण किया जा चुका, अब दिगम्बरों के सिद्धान्त का निराकरण किया जा रहा है। दिगम्बर आम्नाय के सप्तभंगी आदि विषयों पर हमारा कथन है कि ऐसा मानना उचित नहीं है। क्यों? एक धर्मी में एक साथ सत् और असत् आदि विरुद्ध धर्मों का समावेश सम्भव नहीं है। शीत और ऊष्ण के समान। जो यह सप्त पदार्थों का निर्धारण किया गया है वे उतने और उस रूप में वैसे ही हैं अथवा नहीं हैं। प्रकारान्तर से ऐसा कह सकते हैं कि ये उस निर्धारित रूप में ही हैं अथवा अन्य रूप में— यह अनिश्चयात्मक ज्ञान संशयज्ञान के तुल्य ही अप्रमाण होगा। यदि कहते हो कि यह वस्तु का अनेकात्मक (अनेकान्तरूप) कथन निर्धारित रूप ज्ञान होने से संशयज्ञान के समान अप्रमाण नहीं हो सकता तो हम कहेंगे–नहीं। निरंकुश अनेकान्त को सम्पूर्ण वस्तुओं में आरोपित करोगे तो वस्तुत्व का विशेष प्रकट नहीं हो सकेगा। स्यात् अस्ति, स्यात्नास्ति इत्यादि विकल्पों का उपनिपात तो अनिर्धारणात्मकता को ही व्यक्त करेगा। इस प्रकार निर्धारणकर्त्ता तथा निर्धारण फल की स्यात् अस्तिता हुआ करेगी, स्यात् नास्तिता हुआ करेगी। ऐसा होने पर प्रमाणभूत तीर्थंकर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमितियों की अनिश्चयात्मिकावस्थाएँ कैसे उपदेश में समर्थ होंगे? और तीर्थंकर के अभिप्राय का अनुसरण करने वाले उस उपदेश से, जिसका रूप

ही अनिर्धारित है किस अर्थ में प्रवृत्तिशील होंगे? हाँ, यदि ऐकान्तिक फलत्व निर्धारित हो तो उस साधनानुष्ठान के लिए सम्पूर्ण लोक निराकुल प्रवृत्तिमान होगा, अन्यथा नहीं। इसलिए अनिश्चितार्थ शास्त्र का निर्माता मत्तोन्मत्त के समान अनुपादेयवचन (अग्राह्यवाक्) होगा। वैसे ही पाँच अस्तिकायों की पंच संख्या है, अथवा नहीं— ऐसा विकल्प करने पर (आपके स्यादस्ति स्यान्नास्ति के अनुसार) एक पक्ष में है और एक पक्ष में नहीं है– इस प्रकार न्यून और अधिक संख्या प्राप्त होगी। ये पदार्थ अवक्तव्य हैं— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यदि अवक्तव्य हों तो उच्चारित नहीं हो सकते। उच्चारण में भी आते हैं और अवक्तव्य भी हैं— ऐसा तो विप्रतिषिद्ध (तुल्यबलविरोध) है। और उच्चारण किये जाने पर उनका अवधारण (तदर्थप्रत्यय) वैसा ही होता है अथवा नहीं? और भी, कि उनके अवधारण का फल सम्यग्दर्शन है अथवा नहीं? इसी प्रकार उससे विपरीत असम्यग्दर्शन भी है किंवा नहीं है? इत्यादि उन्मत्त प्रलापवत् ही होगा। किसी विश्वसनीयता का स्थापक नहीं। स्वर्ग और मोक्ष का भी एक पक्ष में भाव होगा, एक पक्ष में अभाव होगा। एक पक्ष में अनित्यता होगी– ऐसी निश्चयता-विहीन स्थिति में लोक प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अनादिसिद्ध जीवादि का जो शास्त्र द्वारा निर्धारित स्वरूप-स्वभाव है, उसमें भी वैपरीत्यप्रसंग उपस्थित हो जाएगा। इस प्रकार जीवादि पदार्थों में एक धर्मी में विरुद्ध सत्त्व-असत्त्व धर्मों के असम्भव होने से यह आर्हतमत असंगत है। इतने मात्र से एक-अनेक, नित्य-अनित्य, व्यतिरिक्त-अव्यतिरिक्त आदि अनेकान्त अभ्युपगत विषय निराकृत मान लेने चाहिए और जो यह पुद्गलसंज्ञक अणुओं से संघात होते हैं— यह कहते हैं, उसका हमने अणुवाद-निराकरण-प्रसंग में प्रत्याख्यान कर ही दिया है, अतः पृथक प्रयत्न अनावश्यक है। श्री शंकराचार्य अपने शांकर भाष्य में 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सूत्र की व्याख्या करते हुए बहुत मोटी गलती कर गये हैं। जिन विद्वानों ने स्याद्वाद को ठीक समझकर शांकर भाष्य देखा है, वे शंकराचार्य के भक्त होते हुए भी उनकी गलती स्वीकार करते हैं।

## शंकराचार्य और स्याद्वाद

आचार्य शंकर ने जैनों के स्याद्वाद को संशयवाद तथा अनिश्चितवाद की संज्ञा दी है। उसका कारण यह है कि उन्होंने स्यादस्ति का आशय शायद के रूप में ग्रहण किया है किन्तु आचार्य शंकर के इस मन्तव्य को जैन दार्शनिक स्वीकार नहीं करते हैं। वे वस्तु को अनेक धर्म (गुण) वाली कहते हैं और स्यादस्ति के साथ एव शब्द का प्रयोग करते हैं। इसलिए स्याद्वादी सिद्धान्त का समर्थक विद्वान् किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए यही कहेगा कि अमुक अपेक्षा से ही ऐसा होता है। शंकराचार्य ने जो यह शंका व्यक्त की है कि एक ही पदार्थ में नित्य और अनित्य धर्म नहीं रह सकते हैं, उसका उत्तर ऊपर के उदाहरण में दिया जा चुका

है अर्थात् जैसे एक ही व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है, इसी प्रकार एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्म अपेक्षा भेद से रहते हैं। उदाहरण के लिए केन्द्र में बैठा हुआ व्यक्ति, उसके चारों ओर खड़े हुए व्यक्तियों की अपेक्षा भेद से भिन्न-भिन्न दिशाओं में बैठा हुआ सिद्ध होता है। उसी प्रकार पदार्थ के नित्यानित्य धर्मों में कोई विरोध नहीं आने पाता। छोटी और बड़ी वस्तुओं का छोटापन और बड़ापन अपेक्षा भेद से है।

—भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 119

अनेकान्त से सिद्धि होती है अर्थात् शब्दों की निष्पत्ति अथवा ज्ञप्ति अनेकान्त से होती है। अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, विशेषण और विशेष्य आदि अनेकान्तात्मक हैं, अतः इष्ट प्रमाण से अविरुद्ध दृष्टिगोचर होने से इस अनेकान्त का अधिकार इस (व्याकरण शास्त्र) की परिसमाप्ति पर्यन्त जानना चाहिए। जैसा कि आगे कहा जाएगा (सात्मेतादि सूत्र) जिसका अर्थ है इत्संज्ञक के साथ उच्चार्यमाण आदि वर्ण अपने सहित उन मध्यपतित वर्णाक्षरों का ग्राहक होता है अर्थात् अण् यह प्रत्याहार है। इसमें अ इ उ ण् सूत्रान्तःस्थ वर्णों का ग्रहण है। प्रथमाक्षर अ और अन्त्य ण् के मध्यवर्ती इ-उ का ग्रहण भी होता है। यह अनेकान्त अधिकार होने पर ही घटित हो सकता है, अन्यथा उसके अभाव में किससे किसका ग्रहण किया जाए कि संज्ञा का निर्माण हो।

**सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।**
**सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥**

—आचार्य समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन, 62

हे तीर्थंकर महावीर, आपका ही यह धर्मतीर्थ सर्वोदय सर्व अभ्युदयकारी है, अन्य का नहीं, क्योंकि गौण-मुख्य आदि सर्व-धर्मात्मक और परस्पर निरपेक्ष होने से शून्य भी है। हे भगवन्! आपका यह तीर्थ समस्त आपत्तियों का अन्त करने वाला और स्वयं भी अन्त रहित है।

## अनेकान्त और स्याद्वाद

विश्व के प्राणियों में विचार-भिन्नता दृष्टिगत होती है। यह आश्चर्य का विषय नहीं, क्योंकि व्यक्तियों का चिन्तन स्वतन्त्र और बहुमुख होना स्वाभाविक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के भिन्न चिन्तन को विरोध की दृष्टि से देखेगा तो उसका ज्ञान अपने चिन्तन में ही सीमित रह जाएगा और बद्धमूल होने पर वह एकांगी विचार पारस्परिक द्वेष और असहिष्णुता को उत्पन्न करेगा, अतएव ज्ञान की समस्त उपासना चाहने वाले को अपने और विरोधी दोनों दृष्टिकोणों पर चिन्तन करना होगा। स्यात् यह घट है, ऐसा अनेकान्त-विमर्श सत्य बिन्दु को प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध होता है। जैन धर्म में अनेकान्त दर्शन इसी एक भिन्न स्यात्

की प्रतीति में सहायता पहुँचाने वाला तात्त्विक विमर्शपथ है।

स्याद्वाद—स्यात् और वाद इन दो पदों से बना है। स्यात् विधिलिंग में बना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक निपात है[3]। यह न तो शायद, न सम्भावना और न कदाचित् का प्रतिपादक है, किन्तु सुनिश्चित दृष्टिकोण का वाचक है। (A particular point of View)

यह अनेकान्त दृष्टि सम्यग्दर्शन है, समस्याओं के समाधान का रत्नपुलिन है। इससे भिन्न विचारों पर आक्रोश उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि आक्रोश अथवा उत्तेजना अपने लघुत्व से उत्पन्न होती है। उसके स्थिर चित्त में इन विसंवादों से चलित भाव नहीं आता, प्रत्युत अर्थ की सर्वांगपूर्णता प्रतीत कर और अधिक दृढ़स्थैर्य प्राप्त होता है–

**सापेक्षा हि नयाः सिद्धा दुर्नया अपि लोकतः।**
**स्याद्वादिनां व्यवहारात् कुक्कुटग्रामवासिनम्॥**

–सिद्धिविनिश्चय 10/27

वस्तुतः सिद्धनय वे ही हैं जो अपेक्षाजनित हैं। वैसे लोक-व्यवहार से दुर्नयों का साधन भी किया जाता है। जैसे कुक्कुट का ग्राम में बोलना। यद्यपि कुक्कुट ग्राम के किसी एक प्रदेश विशेष में बोल रहा है तथापि उपचार से कह दिया गया कि कुक्कुट गाँव में बोल रहा है। यह निरपेक्षनय लोक-व्यवहार से है। अथवा अन्य उदाहरण– वृक्षकपिसंयोग —कपि किसी वृक्ष की एक शाखा पर बैठा है, पूरे वृक्ष से उसका संयोग नहीं है, तथापि कपि वृक्ष पर बैठा है— ऐसा लोक-व्यवहार प्रक्लृप्त व्यवहार है, दुर्नय है।

**नै अनन्त इह विधि कही, मिलै न काहू कोई।**
**जो सब नै साधन करे, स्याद्वाद है सोई॥**

–समयसार नाटक, बनारसीदास, 7

नय अनेक हैं, कोई किसी से नहीं मिलते, परस्पर विरुद्ध हैं और जो सब नयों को साधता है, वह स्याद्वाद है।

## समर्थवचन

**समर्थवचनं जल्पं चतुरंगं बिदुर्बुधाः।**
**पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना॥**

–सिद्धिविनिश्चय, अकलंकदेव, 2

स्वपक्ष साधन में समर्थवचन को चतुरंगवाद या जल्प कहते हैं। उसकी अवधि

---

3. वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यम्प्रतिविशेषकः।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि।। –आप्तमीमांसा, 103

पक्ष निर्णय पर्यन्त है और फल मार्गप्रभावना है।

**चतुरंगवाद**—वाद के चार अंग हैं– वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। यह विवाद चर्चा का एक प्रमुख विषय है। वाद का प्रयोजन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अथवा प्राप्त तत्त्वज्ञान की रक्षा माना गया है। वादी-प्रतिवादी आदि अंगचतुष्टय द्वारा निर्णीत होने से वाद को चतुरंग कहा है। इस चतुष्टय में कोई मतभेद नहीं है, तथापि साध्य-साधन-प्रणाली में मतभेद है। वाद का प्रयोजन निष्कर्ष की प्राप्ति है। यह वाद न्याय-परम्परा तथा जैन-परम्परा में द्विविध विभक्त है। न्याय-परम्परा का वाद छल-प्रयोग द्वारा भी अपने प्रतिवादी को परास्त करने की इच्छा रखता है परन्तु जैन-परम्परा तत्त्व-शोध निर्णय को मुख्य मानती है, अतः विजिगीषा रखते हुए भी न्यायरीति का अनुसरण करना उचित मानती है। वाद का अन्तिम परिणाम जय-पराजय है। इस जय अथवा पराजय की स्थिति में भी अहिंसक दृष्टिकोण को ही जैनाचार्य अकलंकदेव ने महत्त्व दिया है।

## उपसंहार

पदार्थ-विचार तथा यथार्थ तात्त्विक निर्णय स्याद्वाद द्वारा ही होता है। एक ही दृष्टिकोण से विचार करना जहाँ पारस्परिक विवाद का मूल कारण रहता है, वहीं वह अधूरा एवं असत्य भी रहता है, ये त्रुटियाँ स्याद्वाद से दूर हो जाती हैं। अतः बुद्धि-विकास, यथार्थ निर्णय, पारस्परिक विवाद-निवारण के लिए स्याद्वाद सिद्धान्त परम उपयोगी है। अनेकान्तवाद, सप्तभङ्गीवाद, 'स्याद्वाद' के ही नामान्तर हैं।

❖❖

# उत्तम संयम और महाव्रत

**सवे हि ते संयम भावसुधी च इच्छति।** –सप्तम अशोक अभिलेख

*अर्थ–निश्चय से सभी आत्मायें संयम और भावशुद्धि चाहते हैं।*

संयम का जीवन में बहुत ऊँचा स्थान है। धर्म के क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि सभी अंग संयमपूर्वक ही पालन किये जा सकते हैं। जैसे–क्षमा में क्रोध का संयम किया जाता है, मार्दव में कठोर-परिणामों का संयम किया जाता है, आर्जव में मायाचार का संयम विहित है, तो सत्य में मिथ्या का नियमन आवश्यक है। सारांश यह कि जैसे माला के प्रत्येक पुष्प में सूत्र पिरोया होता है, वैसे धर्म के सभी अंगों में संयम स्थित है। मन, वचन, काय के योग को संयम कहते हैं और कोई भी सत्कार्य त्रियोग सम्भाले बिना नहीं होता। कार्य की सुचारुता तथा पूर्णता त्रियोग पर निर्भर है और त्रियोग का किसी पवित्र-लक्ष्य पर एकीभाव ही संयम है। इसी को सांकेतिक अभिव्यक्ति देते हुए 'इन्द्रियनिरोधः संयमः' कहा गया है।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति बहुमुखी है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए सभी इन्द्रियों के धर्म (स्वभाव) सहायक होते हैं। तथापि क्रियासिद्धि के लिए उन्हें संयम तथा केन्द्रित करना आवश्यक होता है। यदि कार्य करते समय इन्द्रिय-समूह इधर-उधर दौड़ता रहेगा, तो यह स्थिति ठीक वैसी होगी, जो रथ में जुटे हुए विभिन्न-दिशाओं में दौड़नेवाले अश्वों से उत्पन्न हो जाती है। ऐसे रथ में बैठा हुआ यात्री कभी निरापद नहीं रह सकता। नीतिकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि "यदि पाँचों इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय में भी विकार हो जाए, तो उस मनुष्य की बुद्धि-बल-शक्ति वैसे ही क्षीण हो जाती है, जैसे छिद्र होने पर कलश में से पानी निकल जाता है। 'पंचेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्। ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञादृतेः पात्रादिवोदकम्'। फिर जिन मनुष्यों की इन्द्रियक्षुधा इतनी बढ़ी हुई हो कि रात्रिंदिव पाँचों इन्द्रियों से भोगों का आस्वाद करते रहें, उनमें विनाश के चिह्न दिखायी दें, पतन होने लगे, तो क्या आश्चर्य?" इसी को लक्ष्य कर संयम की स्थूल-परिभाषा करते हुए इन्द्रियनिरोध को महत्त्वपूर्ण बताया गया है।

संस्कृतभाषा, जिसका यह शब्द (संयम) है, बड़ी वैज्ञानिक भारती है। 'यम'

धातु का अर्थ 'मैथुन' या 'विषयेच्छा' है और 'यम' धातु का अर्थ 'दमन' या 'संयम' है। 'भ' के पश्चात् 'म' वर्ण आता है। 'यम' में जो फंस गया, उसका उद्धार नहीं, और जो 'यम' तक पहुँच गया, उसे यम का भय नहीं। अग्नि अग्नि को जला नहीं सकती और यम को यम मार नहीं सकता। इसी आशय से वैदिकों ने कहा कि 'कालं कालेन पीडयन्' ऋषि काल को काल से ही पीड़ित करते थे। जो स्वयं संयमशील नहीं हैं, उन्हें ही यम का भय है। संयमी-व्यक्ति तो घोषणा करता है कि 'न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन' –मैं कभी मृत्यु के लिए नहीं बना। संयम के पालन से इच्छामृत्यु होती है।

शास्त्रकारों ने कहा है कि 'व्रत-समिति-कषायाणां दण्डानां तथेन्द्रियाणां पंचानाम्। धारण-पालन-निग्रह-त्याग-जयः संयमो भणितः।' अर्थात् व्रतों का धारण, समितियों का पालन, कषायों का निग्रह, दण्डों का त्याग तथा पाँचों इन्द्रियों को जीतना 'उत्तम संयम' कहा गया है। इस पर विचार किया जाए, तो सम्पूर्ण मुनिचर्या संयम के अन्तर्गत परिलक्षित होती है। मुनि के मूलगुणों की रक्षा संयम से ही सम्भव है।

संयम का पालन अपने आध्यात्मिक-कोष का संवर्धन है। जैसे संसार में लोग आर्थिक-उपार्जन कर 'बैंकबैलेंस' बढ़ाते हैं, वैसे संयमी अपने आत्मा को शुद्धोपयोग और शुभोपयोग में लगानेवाले द्रव्य को परिवर्धित करता है। जो लोग अपने रूप, बल, पराक्रम, बुद्धि तथा वीर्य को संसार में लगाते हैं, वे मानों अपनी पूंजी को जुये में हार रहे हैं। इन्द्रिय-विषयों ने जो रूप-राग की चौपड़ बिछा रखी है, उस पर उनके सद्गुण, सद्वित्त दांव पर लग रहे हैं। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि विषय-द्यूत में अपनी वीर्यरूप उत्तम-पूंजी को हारकर भी, गंवाकर भी लोग दुःखी नहीं होते। साधारण जुये में तो पराजित को दुःख होता देखा जाता है; परन्तु जो संयमी हैं, उनका धन सुरक्षित रहता है।

संयम से जो शक्ति प्राप्त होती है, संचय होता है; वह मानव जीवन को ऊँचा उठाती है। असंयम और संयम में यही मुख्य-भेद है। असंयम सीढ़ियों से नीचे उतरने का मार्ग है और संयम ऊपर जाने का। 'उन्नतं मानसं यस्य भाग्यं तस्य समुन्नतम्' जिसका मन ऊँचा होता है, उसका परिणाम शुद्ध होता है। और मन की उच्चता परिणामों पर निर्भर है। संसार के प्राणियों को संचय की, परिग्रह की आदत है। परन्तु संयमरूप सुपरिग्रह का संचय करने की ओर उनका ध्यान नहीं है। संयम का संचय करने लगें, तो आज के बहुत से अभावों की दुष्ट-अनुभूति से बच सकते हैं।

संयम के विरोधी गुणों का वर्गीकरण करें, तो पता चलेगा कि आज के लोग उनके कितने वशीभूत हैं। शृंगार, विलास, मद्यपान, द्यूत, आहारविवेक-शून्यता,

धूम्रपान, व्यभिचार, अब्रह्मचर्य, मिथ्या-भाषण इत्यादि शतशः इतने दुर्व्यसन हैं; जिन्होंने आज के मानव-जीवन को दबोच रखा है। संयम न रखनेवाले इनसे बहुत दुःखी हैं। यदि संयम धारण कर लें, तो इन दुर्व्याधियों से मुक्त हो सकते हैं। अनावश्यक खाने-पहनने की वस्तुओं का संचय करने से मनुष्य पर आर्थिक-भार बढ़ता है और यही सब अनर्थों की जड़ है। आज के मानव ने अपनी आवश्यकतायें इतनी असंयत बना ली हैं कि वह अपने बुने हुए जाल में फंस गया है। इनसे त्राण का मार्ग संयम है। परिग्रह-परिमाण भी संयम का ही अंग है।

जैसे सुरक्षित धन संकट के समय में काम आता है, वैसे संयम मनुष्य-जीवन की प्रगति में सदैव सहायता करता है। जिसने संयम को अपना मित्र बना लिया है, उसके सभी मित्र बनने को तैयार रहते हैं। क्योंकि संयमी की आवश्यकतायें सीमित होती हैं, उसके साहचर्य से कोई परेशान नहीं होता।

भाषा-संयम के बिना जो सुखपूर्वक संसार से पार उतरना चाहता है, वह बिना नौका के समुद्र तैरने की अभिलाषा रखता है। संयम महती-तपस्या है, महान्-व्रत है और पुरुष के पौरुष की परीक्षा है। संयम-मणि को बलवान् ही धारण करते हैं, दुर्बलों के हाथ में से उसे विषय-भोगरूप दस्यु छीन ले जाते हैं। संयम का नाम ही उत्तम-चारित्र है। मनुष्य को मनःसंयम, वाक्संयम और कायसंयम रखना चाहिए। मनःसंयम से इन्द्रिय-निरोध होता है। वाक्संयम से मिथ्या-भाषण-दोष तथा कायसंयम से उन्मार्गगामिता की निवृत्ति होती है। संयम के बिना जप, तप, ध्यान, सामायिक व्यर्थ हैं। संयम-साधना से ही उत्तम मोक्षसिद्धि होती है।

❖❖

# आचरितुं योग्यः आचार्यः

जो पंचाचार का स्वयं पालन करते हैं एवं स्व-शिष्यों को इसका पालन करवाते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। णमोकार महामन्त्र में 'णमो आइरियाणं' पद में ऐसे ही आचार्यों को नमस्कार किया गया है। धवलाकार आचार्य वीरसेन स्वामी 'णमो आइरियाणं' की व्याख्या इसप्रकार करते हैं–

**पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः चतुर्दशविद्यास्थानपारगः एकादशांगधर आचारांगधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिःक्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः।**

–षट्खंडागम, 1/1/1, पृष्ठ 49

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य— इन पाँच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं उसे आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानों में पारंगत हैं, ग्यारह अंग के धारी हैं अथवा आचारांगमात्र के धारी हैं अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारंगत हैं, मेरु के समान निश्चल है पृथिवी के समान सहनशील हैं, जिसने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहर फेंक दिया है और जो सात प्रकार के भय से रहित हैं, उसे आचार्य कहते हैं। और भी कहा है–

**पवयणजलहिजलोयरण्हायामलबुद्धिसुद्धछावासो।**
**मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो॥**
**देसकुल-जादिसुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को।**
**गयणव्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होदि॥**
**संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारदो पहियकित्ती।**
**सारणवारणसोहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो॥**

–षट्खण्डागम, 1/1/1, पृष्ठ 50

अर्थात् प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु पर्वत के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंह के समान निर्भीक हैं, जो निर्दोष हैं, देश, कुल और जाति से

शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और शोधन अर्थात् व्रतों की शुद्धि करने वाली क्रियाओं में निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए।

**'सिस्साणुग्गहकुसलो'—शिष्यस्य शासितुं योग्यस्यानुग्रह उपादानं तस्मिंस्तस्य वा कुशलो दक्षः शिष्यानुग्रहकुशलो दीक्षादिभिरनुग्राहकः परस्यात्मनश्च।**

—मूलाचार, गाथा 156

**अर्थ**— शासितुं योग्यः शिष्यः —इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अनुशासन के योग्य हैं, वे शिष्य कहलाते हैं। उनके अनुग्रह में अर्थात् उनको ग्रहण करने में जो कुशल होते हैं, दीक्षा आदि द्वारा पर के ऊपर और स्वयं पर अनुग्रह करने वाले हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।

**भव्या आत्महितार्थमाचरन्ति यस्मात् स आचार्यः।**

—चारित्रसार, पृष्ठ 143

जो भव्यात्मा आत्महित करने के लिए आचरण करते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं— **आचर्यतेऽस्मादाचार्यः।** —मूलाचार, टीका 155, पृष्ठ 132

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित मूलाचार में भी आचार्य परमेष्ठी के गुणों का व्याख्यान किया है—

**गंभीर दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो।**
**खिदिससिसायरसरसो कमेण तं सो दु संपत्तो॥**

अर्थात् जो गंभीर हैं, दुर्धर्ष हैं, शूर हैं और धर्म की संभावना करने वाले हैं, भूमि, चन्द्र और समुद्र के गुणों के सदृश हैं, इन गुण विशिष्ट आचार्य को मुनि क्रम से प्राप्त करता है।

मुनिकुंजर श्री 108 आदिसागरजी के प्रथम एवं अंतिम सुयोग्य शिष्य आचार्य 108 श्री महावीरकीर्ति जी मुनिराज ने ऊपर कही गई आचार्य परमेष्ठी की परिभाषा को चरितार्थ किया। एक दिन वे बारह भावनाएँ पढ़ रहे थे—

**यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवो जिनवाणी।**
**यह विधि गए न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी॥**

कुछ उदासीनता और गंभीरता तो वैसे ही थी, लेकिन जब वैराग्य भावना का चिन्तन किया तो महेन्द्रकुमार की संसार के प्रति उदासीनता और भी स्पष्ट झलकने लगी। मुनिश्री वीरसागर जी के पास टाकाटकां (मेवाड़) पहुँचकर संवत् 1995 (सन् 1939) में क्षुल्लक दीक्षा धारण कर ली। क्षुल्लक जी सदैव साधनारत रहकर आगे

बढ़ने की सोचते रहते थे। वे साधना-पथ पर शीघ्र ही बहुत आगे बढ़ जाना चाहते थे। उनकी साधना दिनोंदिन प्रखर हो रही थी। उनकी साधना, समर्थता, योग्यता और ज्ञाननिष्ठा को देखकर मुनिकुंजर श्री आदिसागर जी ने कार्तिक सुदी ग्यारस (सन् 1942) को उन्हें ऐलक के व्रत प्रदान किए। अब वे ऐलक श्री महावीरकीर्ति के नाम से प्रख्यात हुए। ऐलकश्री की आगमसम्मत तथा आदर्श चर्या को देखकर महामुनि श्री आदिसागर जी (अंकलीकर) ने उन्हें अल्पकाल बाद ही फाल्गुन शुक्ल ग्यारस संवत् 1999 (17 मार्च, 1943) को उदगाँव में जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर दी।

सन् 1945 की बात है जब आचार्यश्री मुनि अवस्था में थे, तब मैंने 20 वर्ष की उम्र में भाद्रपद शुद्ध चौदस सन् 1945 में आपसे सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण किए थे। तत्पश्चात् 15 अप्रैल, 1946 में मुनिश्री महावीरकीर्ति जी से ही तमद्डडी (कर्नाटक) में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा उपरांत मुनिश्री ने मेरा नाम क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति रखा। मुनिश्री महावीरकीर्ति जी महाराज श्रवणबेलगोला की यात्रा करके शेडवाल गाँव पहुँचे, जहाँ सन् 1948 में पूज्यश्री को विद्वत्गण एवं श्रेष्ठिजनों के द्वारा विधिवत् रूप से आचार्यपद प्रदान किया गया।

आचार्यश्री महावीरकीर्ति मुनिराज जी हिन्दी, कन्नड़, संस्कृत, प्राकृत भाषा के जानकार उद्भट विद्वान् एवं साधना के सम्मेदशिखर थे।

❖❖

# अहिंसा एवं गांधीदर्शन

## अहिंसा

**अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।**
**अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती॥** —ज्ञानार्णव, 8/32

**अर्थ**— अहिंसा ही जगत की माता है, अहिंसा ही आनंद-पद्धति है, अहिंसा ही श्रेष्ठ गति है और अहिंसा ही शाश्वतिक लक्ष्मी है।

अहिंसा धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है। उसमें सभी धर्म समाहित हैं। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' उसका मूलमंत्र है। यह विश्वधर्म की ही बात है। इस सृष्टि के प्रत्येक जीव को जीने का अधिकार है। अहिंसा से ही हम अपने इस अधिकार की और दूसरे प्राणियों के अस्तित्व की रक्षा कर सकते हैं। भगवान महावीर ने 30 वर्ष तक भारत का भ्रमण करते हुए जन-जन को उस सर्वोदय तीर्थ की शिक्षा दी जिसके अंतर्गत मन में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद तथा व्यवहार में अपरिग्रह एवं समानता का भाव है। महावीर ने किसी जाति-विशेष के लिए उपदेश नहीं दिया। उनकी वाणी में जीवमात्र के कल्याण की बात रही है। महावीर का धर्म प्राणीमात्र का बंधु है। हमें उसी रोशनी में काम करना है। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत ही सर्वोदय धर्म है। प्रत्येक प्राणी के प्रति दया भाव, अहिंसक भाव के कारण महावीर, महावीर बने। महावीर की अहिंसा हमें निर्माण सिखाती है, विध्वंस नहीं। तप द्वारा तपस्वी अहिंसा की पूर्णता पर पहुँच जाता है, उसके सामने गाय व शेर एक घाट पर पानी पीते हैं, उसकी अहिंसा का बहिरंग में भी अत्यन्त प्रभाव पड़ता है। भगवान महावीर जिस वन में जाते थे वहाँ पौधों व पशु-पक्षियों पर भी प्रभाव पड़ता था। भारत एक शान्तिप्रधान अहिंसात्मक देश है। प्रत्येक स्कूल व कॉलेज में अहिंसा व कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा देनी होगी। यदि धर्म में से वीतरागता और अहिंसा को निकाल दें तो उस धर्म की स्थिति वैसी ही होगी जैसी सिर निकालने के बाद शरीर की स्थिति होती है। जो चैतन्य आत्मा ज्ञानरूपी रथ पर आरूढ़ होकर मनरूपी मार्ग पर चलता है वह एक क्षण के लिए भी नहीं भटकता। वीतरागता प्रत्येक संसारी आत्मा के लगे हुए मोहताले को खोलने वाली एक मात्र सिद्ध कुंजी है। छोटे, बड़े, अमीर, गरीब सबके लिए मोक्षमार्ग की यही

एक चाबी है। भगवान महावीर के पाँच आदर्श– अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– हमारे जीवन को पवित्र और सुखी बना सकते हैं। सुख-शान्ति धन-दौलत से नहीं मिल सकती। वह तो मात्र अहिंसा-मार्ग पर चलने से मिलती है। प्रत्येक प्राणी को अपना जीवन आदर्श बनाना चाहिए। दूसरों की सेवा और किसी को दुःख न देने की भावना में ही शान्ति और सुख विद्यमान है।

लोक में माता का स्थान रक्षा करने वालों में सबसे बड़ा माना गया है। पुत्र या पुत्री के संकट में वह साथ नहीं छोड़ना चाहती और जैसे-तैसे भी उनकी रक्षा करती है। यही बात अहिंसा में है, अतः उसे मातृ-रूपा कहा है और इसीलिए उसकी सब याद करते हैं। अहिंसा, माता की गोद के समान समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने वाली है। शस्त्रों और हिंसा के बलबूते पर कभी भी कोई समस्या हल नहीं होगी। हमें अहिंसा का मार्ग अपनाना होगा। सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर चलकर ही विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है। प्राणियों के ऊपर दयाभाव रखना ही अहिंसा धर्म का स्वरूप है। इसको अभयदान कहते हैं। मानव अहिंसा धर्म से अपना जीवन मंगलमय बना सकता है। बड़े-बड़े शत्रुओं को भी परास्त कर सकता है। अहिंसा को हृदय से पालन करना, व्यवहार से भी हिंसा न हो, उसका ध्यान रखना– यह प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। अबोध बालक के मुख से जन्म के अनन्तर बिना कुछ सिखाये ही 'माँ' शब्द की ध्वनि निकल पड़ती है। अतः यह सिद्ध है कि जो रक्षा करे वह माँ है, इसलिए तो अहिंसा को ब्रह्म (परमात्मा) की संज्ञा दे दी। जीवों की अहिंसा (रक्षा) ही परमब्रह्म परमात्मा है। इसलिए अहिंसा को प्रमुख स्थान देना चाहिए। यदि आप सर्वथा वीतरागी नहीं बन सकें, तो भी पुण्य-संचय की दृष्टि को ध्यान में रखकर अपने परिणाम (विचार) को शुभ रखने का प्रयत्न तो अवश्य करें। यदि आप ऐसा करेंगे तो अपनी और पर की – दोनों की रक्षा कर सकेंगे। स्वरक्षा में ही पर की रक्षा निहित है और पर की रक्षा में ही स्व की रक्षा निहित है। जब आप हिंसा के मूलकारण– प्रमाद—राग-द्वेष-असावधानी आदि का परित्याग करेंगे, तब आपके भाव ही जीवघात में नहीं होंगे। जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है, तब तक वह मारने वालों को भी नहीं मारता। किन्तु जब धर्म उसके दिल और दिमाग से निकल जाता है, तब औरों की कौन कहे, पुत्र को पिता मार डालता है और पिता को पुत्र मार डालता है। अतः यह निश्चित है कि इस विश्व की रक्षा का मूल कारण धर्म है और वह अहिंसामय है। इससे यह कहा जा सकता है कि सफल और सुव्यवस्थित जीवन बिताने के लिए अहिंसा-धर्म अनिवार्य है। अतः हम कह सकते हैं– विश्व का सर्वसम्मत, विश्वहितकारी धर्म अहिंसा-धर्म ही है। अतः सम्पूर्ण विश्व में लोकप्रिय धर्म अहिंसामयी है। मनुष्य जिसप्रकार अपनी हिंसा नहीं चाहता, उसीप्रकार अन्य जीव भी अपनी हिंसा नहीं चाहते, अतः समस्त धर्मों में प्राचीन धर्म अहिंसा-धर्म है। अहिंसा आत्मा का सहज व प्रांजल धर्म है।

अहिंसा और सत्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। अहिंसा के अभाव में सत्य और सत्य के अभाव में अहिंसा की स्थिति नहीं है। अहिंसा निषेधात्मक है और सत्य विधेयात्मक। अहिंसा निषेध करती है कि ऐसा मत करो, वह रोक देती है, पर सत्य विधिसूचक है। अहिंसा की भावना प्राणीमात्र के अंतस् में विद्यमान है। अहिंसा कोई धर्म या सम्प्रदाय की बात नहीं है, बल्कि यह एक आदर्श-जीवनशैली है जो प्राणीमात्र को आपस में मिल-जुलकर रहना और सहयोग करना सिखाती है। अहिंसा के बल पर ही मनुष्य का सामाजिक रूप सुरक्षित रह सकता है। यदि समाज को अहिंसक और सदाचारी बनाना है, तो हमें यह संस्कार बचपन से ही देने होंगे। जो अहिंसा को पालता है, वही जैन है। आधुनिक युग में विज्ञान ने काफी तरक्की की है, लेकिन अहिंसा के विषय में किसी ने विस्तृत अध्ययन करके मूल तथ्य निरूपित करने की कोशिश नहीं की, जिसके कारण आज हमारा राष्ट्र भटक रहा है। शास्त्रों में कहा गया है कि जैसा खाओगे अन्न, वैसा होगा मन। जैसा पिओगे पानी, वैसी बोलोगे वाणी। भगवान आदिनाथ (ऋषभदेव) ने कहा– कृषि करो और ऋषि बनो। कृषि करो का अर्थ है शाकाहारी बनो और ऋषि जीवन व्यतीत करने से मतलब है संयमित रहकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मकल्याण करो। हिंसा-अहिंसा का स्थान मन में और भावना पर आधारित है। डॉक्टर ऑपरेशन के दौरान पेट चीरता है, लेकिन उसकी भावना रोग दूर कर राहत पहुँचाने की है। इसे हिंसा नहीं कह सकते। इसी प्रकार किसान के हल चलाने पर असंख्य कीट-पतंगों की हत्या हो जाती है लेकिन उसकी भावना अन्न उपजा कर पेट भरने-भराने की है। अहिंसा धर्म के पालन के लिए संयम रखना आवश्यक है जिसके लिए तप जरूरी है अर्थात् इच्छाओं पर नियंत्रण, रखकर आचरण शुद्ध करके ही अहिंसा धर्म को पाला जा सकता है। जीवन में यह आचरण समस्त समस्याओं का समाधान है।

जैन धर्म पुरुषार्थवादी तथा आत्मधर्म है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति है और वह परमात्मा बन सकता है। छोटे से छोटा प्राणी भी अपने श्रेष्ठ आचरण से महान तथा बड़े से बड़ा व्यक्ति भी अपने निकृष्ट कृत्य से अधम हो सकता है। सुचारु जीवन के लिए सामाजिक व्यवस्था तो आवश्यक है। परिवार को स्वस्थ रखना है तो सत्य और अहिंसा धर्म का पालन करना होगा। इसमें हर व्यक्ति ज़िम्मेदार है। केवल शासन-तंत्र से यह काम नहीं चल सकता। व्यक्ति को स्वयं सत्य का आचरण करना होगा। सच्चा व्यक्ति निर्भय और निश्चिंत होता है। भारत की मुख्यधारा सदैव अहिंसक रही है और इस धर्मप्रधान देश में कठिनाइयों को दूर करने का यही एक रास्ता है। शांति आत्मा का धर्म है। वह बाजार से खरीदी नहीं जा सकती। हमें मानव-हित की बातें सोचनी चाहिए और दूसरे के दुःख में भागीदार बनकर चलना चाहिए। इस सृष्टि में जितना उपकार पशु-पक्षियों ने

मानव पर किया है उतना मानव मानव पर नहीं कर सका है। मानव जाति ने इतनी मात्रा में किसी को जल पिलाकर तृप्त नहीं किया होगा जितना गोवंश ने मानव जाति को दूध पिलाकर पोषण किया है। ऐसे परोपकारी मूक पशु-पक्षियों को मारना कहाँ तक शोभनीय है? भगवान् महावीर के जियो और जीने दो के संदेश को हमें घर-घर में फैलाना होगा। समस्त संसार के प्राणियों का कोई धर्म है तो वह अहिंसा धर्म है। हिंसा को रोकने के लिए अहिंसा को अपनाना होगा। जनतन्त्र की रक्षा की जितनी ज़िम्मेदारी जैन समाज की है उतनी और किसी की नहीं, क्योंकि जैनधर्म में अहिंसा का पाठ पढ़ाया जाता है। अहिंसा भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि है, चौबीस तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट सम्यक् धर्म है और स्याद्वाद सिद्धान्त को मानने वाले कोटि-कोटि जैनों का धर्म है, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि अहिंसा प्राणिमात्र का आत्मधर्म भी है। यह वस्तु का स्वतः स्वरूप होने से सभी को प्रिय है।

तीर्थंकरों और उनके अनुयायियों ने अहिंसा को चारित्र रूप देकर मानव जाति का महान् उपकार किया है। अहिंसामूलक आचार से जैनाचार्यों और मुनियों ने मानव को हिंसक पशुवृत्ति से ऊपर उठाकर मानवता की दयामयी मणिशिला पर प्रतिष्ठित किया है। अहिंसा जगत की माता है। हिंसा ने आज मानव-मानव में घृणा के भाव पैदा कर दिए हैं, चारों ओर नृशंस हत्याएँ हो रही हैं। एक-दूसरे के प्रति कुटिल भाव पैदा हो रहे हैं। मात्र अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है, जिससे हमारे जीवन में ही नहीं, सारे विश्व में शान्ति स्थापित होगी। विश्व तभी सुरक्षित रह सकता है जब प्रत्येक राष्ट्र व उसके नागरिक अहिंसा को समझें और इसका पालन करें। आप और हम यहाँ पर शांति से अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं तो केवल अहिंसा के कारण। हिंसात्मक वातावरण में हम इस प्रकार शांति से नहीं रह सकते। करुणा अहिंसा की आधारशिला है। बालकों के कोमल मन में आरम्भ से ही करुणा के संस्कार डालने चाहिए जिससे उनमें अहिंसा, दया, करुणा के भाव पैदा हों। हमें दुनिया को नहीं, अपनी आत्मा को देखना है। हमें प्राणी मात्र के प्रति करुणा भाव रखना है।

## गांधीदर्शन

गांधीजी के कृतित्व को किसी एक लेख, किसी एक व्याख्यान अथवा किसी एक पुस्तक में समाहित नहीं किया जा सकता है। उन्होंने एक युग को प्रभावित किया है, एक राष्ट्र को संजीवनौषधि पिलायी है, मानवता को नवीन दिशाबोध दिया है। उनका जीवन नवीनताओं का सर्जक तथा प्राचीनता का पुनरुद्धारक कहा जा सकता है।

गांधीजी के कृतित्व को 'गांधी-दर्शन' कहा जाता है। उनका यह दर्शन उनके

बहुमुखी जीवन का व्यवहार-सूत्र है। आश्रम-पद्धति, चरखा, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, सेवा, निरभिमानता, समता, अपरिग्रह इत्यादि ऐसे अनेक अछूते क्षेत्रों में उन्होंने सफल परिणाम उपस्थित करनेवाले प्रयोग किये। वे अपने भोजन में नीम के पत्तों की चटनी लेते थे। यह उनके अस्वाद-व्रत का अंग था। अस्वाद का दूरगामी अर्थ जिह्वास्वाद-निरोध मात्र नहीं है। जीवन के सारे विषय-कषाय स्वाद पर आलम्बित हैं। स्वाद की इच्छा भोगोपभोगों के मूल में होती है। स्वाद जीतनेवाला इन्द्रियजयी होता है। गांधीजी इस कटुता का सेवन कर कटुता की तीक्ष्णता को पहचानते थे। अहिंसा-सेवी के लिए कटुता को जानना तथा पचाना आवश्यक है। कटुता को जाननेवाला ही दूसरों पर तीक्ष्ण प्रयोग नहीं करता। अहिंसा की सिद्धि के लिए वह न केवल नीम के कटुत्व को पचाते थे, अपितु राजनीति में भी उसका प्रतिक्षण चर्वण करते हुए भी, अस्वाद-व्रत को स्मरण रखते थे, क्योंकि राजनीति को स्वादपूर्वक ग्रहण करने का अर्थ, लोलुपता का पर्याय है, तृष्णा का विस्तार है, यह वह पहचानते थे। उन्होंने राजनीति को भी अस्वाद से, निर्लिप्त भाव से भोगा।

ईश्वरवाद उनका आत्मबल था। इसे वह रामधुन के रूप में उपस्थित करते थे। अनासक्तियोग उनकी कार्यपद्धति थी। काम करना, परन्तु उसमें आसक्त नहीं होना, क्योंकि आसक्त होने से सुख-दुःख रूपी फलों में फँसना पड़ेगा। इस प्रकार वह अपने आप में तटस्थ कार्यकर्ता थे। कार्य करते भी थे, परन्तु उससे लगाव नहीं रखते थे। इसी से उन्हें सफलता मिली। आज लोग प्रायः कार्य तो नहीं करते, परन्तु इसका फल चाहते हैं। वह अहिंसक थे, परन्तु राष्ट्र के नाम दुर्बलता का सन्देश उन्होंने कभी नहीं दिया, क्योंकि अहिंसा शब्द हिंसा से विरति सिखाता है, कायरता नहीं। राष्ट्र ने उनके सूत्रयज्ञ को हृदय से समर्थन नहीं दिया। चरखा केवल सूत्रयज्ञ ही नहीं, स्वावलम्बन की आधारभूमि है, परन्तु यह भी सत्य है कि इसे मिलों की स्पर्धा में जीवित नहीं रखा जा सकता। टेरेलीन की होड़ में खादी के मोटे तार ग्रामीण-से प्रतीत होते हैं। हाँ, यह सत्य है कि ग्रामीण ही नागरिकों के लिए जीवन उत्पन्न करते हैं। यदि गांधीजी के स्वदेशी व्यवहार को विस्मृत नहीं किया जाता तो आज राष्ट्र ऋणभोक्ता न होकर धनिक होता। गांधीजी अपनी सदा की वेशभूषा में गोलमेज़ परिषद तक हो आये, परन्तु हमारी ही लोकसभा में हम अपनी राष्ट्रीय वेशभूषा धारण करके लजाते हैं। वह कागज़ की एक कतरन, पिन, सुई तक काम में ले लेते थे। वेस्टेज से भी वेस्टेज निकाल लेते थे।

गांधीजी उस भारत के प्रतिनिधि थे जो हमारे गाँवों में बसा है। इसीलिए ग्रामीणवत् सादा जीवन उन्हें प्रिय था परन्तु आज ऋण लेकर जो करोड़ों की कोठियों में बसे हुए हैं और लाखों की कारों में घूम रहे हैं, वे ग्रामवासिनी भारतमाता के किस कोटि के प्रतिनिधि हैं, कहा नहीं जा सकता। ❖❖

# जैनधर्म, अहिंसा एवं महात्मा गांधी

**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।**
**देवा वि तं पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो॥**

–(जयधवल एवं प्रतिक्रमण सूत्र, पृष्ठ 260)

धर्म परम मंगल और उत्कृष्ट है। कौन-सा धर्म? अहिंसा धर्म, संयम धर्म व तपरूप धर्म। जिस भव्यात्मा का मन उक्त धर्म में सदा तल्लीन रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

जैनधर्म ने अपने इन्हीं अहिंसा, संयम, तपादि उत्कृष्ट गुणों के कारण प्राचीनकाल से आज तक अनगिनत व्यक्तियों को प्रभावित किया है, जिन्होंने इन गुणों को अपनाकर स्वयं का जीवन-निर्माण तो किया ही है, साथ ही दूसरे भी कोटि-कोटि लोगों को इन सद्गुणों के सन्मार्ग पर लगाकर उनका भी परमहित किया है। आधुनिक युग में अहिंसा एवं संयम के इस पवित्र मार्ग पर चलकर सम्पूर्ण विश्व को आश्चर्यजनक रूप से अत्यधिक प्रभावित कर देनेवाले एक महापुरुष का नाम है– मोहनदास कर्मचन्द गांधी, जिन्हें संक्षेप में 'गांधीजी' के नाम से भी बच्चा-बच्चा जानता है। अहिंसा एवं संयम के प्रबल पुजारी होने के कारण गांधीजी को 'महात्मा गांधी' भी कहा जाता है।

सत्य, अहिंसा और संयम के मार्ग पर चलकर गांधीजी एक व्यक्ति की सीमा से उठकर एक विचारधारा या 'वाद' या 'दर्शन' ही बन गये हैं, जिसे 'गांधीवाद' या 'गांधीदर्शन' कहा जाता है।

## गांधीजी के माता-पिता जैनधर्म के अनुयायी थे

महात्मा गांधी को अहिंसा और संयम की शिक्षा सर्वप्रथम अपने परिवार से ही प्राप्त हुई थी। फ्रेंच भाषा के विख्यात लेखक और शान्तिवादी चिंतक श्री रोमेन रोलैण्ड जो नोबल पुरस्कार विजेता थे और महात्मा गांधी के परम मित्र भी थे, ने अपनी पुस्तक 'महात्मा गांधी' में स्पष्ट लिखा है कि–

"**His parents were followers of the Jain school of Hinduism**, which regards *ahimsa*, the doctrine of non-injury to any form of life, as one of its basic principles. This was the doctrine that Gandhi was to proclaim victoriously throughout the world. **Jainism** believes that

the principle of love, not intelligence, is the road that leads to God.''[1]

महात्मा गाँधी के माता-पिता हिन्दूवाद में **जैनधर्म के अनुयायी थे, जो अहिंसा में विश्वास करता है।** जहाँ तक अहिंसा का अर्थ है– किसी भी प्रकार के प्राणी को चोट न पहुँचाना जो कि इसका एक मूलभूत सिद्धान्त है। यह एक ऐसा दर्शन था जिसे गाँधीजी ने पूरे संसार में बड़े गर्व के साथ फैलाया। जैन लोग विश्वास करते हैं कि कोरी बुद्धिमत्ता नहीं, करुणा[2] का सिद्धान्त ही वह रास्ता है जो भगवान की ओर ले जाता है। –('महात्मा गाँधी', रोमेन रोलैण्ड, पृष्ठ 2)

## एक अच्छी माँ के संस्कार

''गांधीजी की माँ पुतलीबाई एक अत्यधिक धर्मात्मा महिलारत्न थीं। वे प्रतिदिन मन्दिर जाना एवं व्रत-उपवासादि धार्मिक क्रियाओं में निष्ठापूर्वक संलग्न रहती थीं। उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि **एक अच्छी माँ सौ शिक्षकों से भी बढ़कर होती है।**[3] गांधीजी जब शिशु थे तभी से वह उनको प्रतिदिन मन्दिर ले जाती थी। कुछ ही बड़ा होने पर जब माँ देव प्रतिमा के सामने बैठती तो मोहनिया भी आँखें मूँद, हाथ जोड़, पालथी मारकर वहीं बैठा रहता।''[4]

इसप्रकार ईश्वर-स्मरण के संस्कार गांधीजी को अपनी माँ से बाल्यावस्था में ही प्राप्त हो गये थे।

गांधीजी से द्वितीय गोलमेज सभा के अवसर पर यूरोप में पियरे सेरे सोल (अन्तर्राष्ट्रीय ऐच्छिक सेवा के संस्थापक, स्विटजरलैण्ड) ने पूछा कि आप एक अच्छे नेता में किन गुणों को आवश्यक मानते हैं? गांधीजी ने उत्तर दिया कि– 24 घण्टे प्रत्येक मिनट ईश्वर का साक्षात्कार ही एक अच्छे नेता का आवश्यक गुण है–

''Tell us what qualitites do you think a leader for this age would need? Realisation of God every minute of the twenty four hours, announced Mr. Gandhi.''[5]

इस प्रकार गांधीजी के व्यक्तित्व पर उनकी माँ का अमिट प्रभाव था। गांधीजी के घर पर उनकी माँ के कारण अनेक जैन साधुओं का भी निरन्तर आवागमन बना रहता था और जीवन के कठिन क्षण उपस्थित होने पर उनकी माँ उन जैन साधुओं के परामर्श से ही निर्णय लिया करती थीं। एक बार जब गांधीजी को अपनी कानून की पढ़ाई पूरी करने के लिए विलायत जाना था तब भी उनकी माँ ने पहले उन्हें आचार-भ्रष्ट हो जाने की आशंका से विदेश जाने की अनुमति नहीं दी थी परन्तु बाद में एक जैन साधु स्वामी बेचरदास जी से पूछकर ही उन्होंने गांधीजी को विदेश जाने की अनुमति दी और वह भी जैनधर्म के तीन महत्त्वपूर्ण व्रत दिलाकर। इस विषय में रोमेन रोलैण्ड ने स्पष्ट लिखा है कि–

''He was engaged at the age of eight and married at the age of twelve. At nineteen he was sent to England to complete his studies at the University of London and at the law school. Before his leaving India, **his mother made him take the three vows of a Jain,** which prescribed abstention from wine, meat and sexual intercourse.''[6]

''महात्मा गाँधी की आठ वर्ष की उम्र में सगाई और बारह वर्ष की उम्र में शादी हुई। उन्नीस वर्ष की उम्र में अपनी पढ़ाई पूरी करने के लिये लंदन युनिवर्सिटी के 'लॉ स्कूल' में उन्हें इग्लैण्ड भेजा गया। भारत छोड़ने से पूर्व उनकी **माताश्री ने उनको जैनधर्म के तीन व्रत दिलवाये** जहाँ निषेध था– शराब, माँस और शारीरिक सम्बन्ध का।''

इस सन्दर्भ में स्वयं गांधीजी ने भी साफ-साफ शब्दों में सब कुछ लिखा है– ''गुजरात में जैन सम्प्रदाय का बड़ा जोर है। उसका प्रभाव हर जगह, हर काम में पाया जाता है। इसलिए मांसाहार का जैसा विरोध और तिरस्कार गुजरात में श्रावकों तथा वैष्णवों में पाया जाता है, वैसा हिन्दुस्तान में या सारी दुनिया में और कहीं नहीं पाया जाता। ये मेरे संस्कार थे। **मेरे पिताजी के पास जैन धर्माचार्यों में से भी कोई न कोई हमेशा आते रहते थे। पिताजी उन्हें भिक्षा भी देते थे। वे पिताजी के साथ धर्म और व्यवहार की बातें किया करते थे।**

मेरी विदेश यात्रा पर मेरी माताजी ने शंकाएँ उठाईं। मैंने माँ से कहा– तू मेरा विश्वास नहीं करेगी? माताजी बोलीं– मुझे तेरा विश्वास है, पर दूर देश में क्या होगा– मेरी तो अक्ल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामी से पूछूँगी।

बेचरजी स्वामी मोढ़ बनियों में बने हुए एक **जैन साधु** थे। जोशी जी की तरह वे भी हमारे सलाहकार थे। उन्होंने मदद की। मैंने मांस, मदिरा तथा स्त्री-संग से दूर रहने की प्रतिज्ञा की। माताजी ने आज्ञा दी। इस तरह सन् 1888 के सितम्बर महीने की 4 तारीख को मैंने बम्बई का बन्दरगाह छोड़ा।''[7]

इसीप्रकार उपवास करते रहने के और प्राणी मात्र के प्रति दया की भावना के संस्कार भी गांधीजी को अपनी माँ से बाल्यावस्था में ही प्राप्त होने प्रारम्भ हो गये थे– ''एक दिन मोहनिया ने देखा कि माँ के पैर पर एक बिच्छू चढ़ रहा है। वह ज़ोर से चिल्लाया– '.....बिच्छू....।' माँ ने अपने होंठों पर उंगली रखकर मोहनिया से चुप रहने को कहा और अपना पैर झटक दिया। मोहनिया ने आश्चर्य से माँ से पूछा– 'बा, तुमने उसे मारा क्यों नहीं?' पुतलीबाई मुस्कराकर बोली– 'बेटा ! उसे भी ज़िंदा रहने दो।[8]''

## श्रीमद् रायचन्द्र और महात्मा गांधी

अपनी माँ के अतिरिक्त गांधीजी पर एक उच्चकोटि के जैन विद्वान् श्रीमद्

रायचन्द्र का भी बड़ा भारी प्रभाव था; जैसाकि गांधीजी ने स्वयं स्पष्टतः लिखा है कि–

"मुझ पर तीन पुरुषों ने गहरा प्रभाव डाला है– टाल्सटॉय, रस्किन और रायचन्दभाई। टाल्सटॉय ने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दि लास्ट' से जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है और रायचन्द भाई ने अपने गाढ़े परिचय से। जब मुझे हिन्दूधर्म में शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करने में मदद करने वाले रायचन्द भाई थे। जो वैराग्य 'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?' इस काव्य की कड़ियों में झलक रहा है वह मैंने उनके दो वर्ष के गाढ़े परिचय में प्रतिक्षण उनमें देखा है। व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणता का जितना उत्तम मेल मैंने कवि (श्रीमद् रायचन्द्र जैन) में देखा उतना किसी अन्य में नहीं देखा।[9]

सन् 1921 में भी श्रीमद् रायचन्द्र जयन्ती के प्रसंग पर गांधीजी ने कहा– बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतों के जीवन में से बहुत कुछ लिया है। **परन्तु सबसे अधिक किसी के जीवन में से मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद् रायचन्द्र जैन) के जीवन में से है। दयाधर्म भी मैंने उनके जीवन में से सीखा है। खून करनेवाले से भी प्रेम करना यह दयाधर्म मुझे कवि ने सिखाया है।"**[10]

श्रीमद् रायचन्द्र के सम्बन्ध में महात्मा गांधी का एक निम्नलिखित कथन भी ध्यान देने योग्य है–

"यह वर्णन संयमी के विषय में संभव होता है। बाह्याडंबर से मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता तो आत्मा का प्रसाद है। जो अनेक जन्मों के प्रयत्न से मिल सकता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अनुभव कर सकता है। रागों को निकालने का प्रयत्न करनेवाला जानता है कि राग रहित होना कितना कठिन है। यह राग रहितता कवि (श्रीमद् रायचन्द्र जैन) की स्वाभाविक ही थी। मुझ पर उनकी ऐसी छाप थी। **मोक्ष का प्रथम सोपान वीतरागता है।** जब तक संसार की एक भी वस्तु में मन लगा है तब तक मोक्ष की बात कैसे अच्छी लगे? और यदि अच्छी लगे तो कान को...। ऐसी मात्र कर्णप्रिय खेल से मोक्ष का अनुसरण करनेवाली प्रवृत्ति करने में तो बहुत समय चला जावेगा। आंतर वैराग्य के बिना मोक्ष की ऐसी लगन न होय...।"[11]

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि महात्मा गांधी पर जैनधर्म का गहरा प्रभाव था।

## निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बनने की भावना

महात्मा गांधी के आश्रम में अनेक जैन भजनों को भी प्रतिदिन प्रार्थना के रूप

में गाया जाता था, जिनमें 'अब हम अमर भये न मरेंगे' आदि प्रमुख हैं। इन्हीं में से एक भजन ऐसा भी है जिसमें निर्ग्रंथ[12] दिगम्बर मुनि बनने की भावना भाई गयी है। यह भजन गुजराती भाषा का अत्यन्त विख्यात भजन है, जिसके रचयिता गांधीजी के गुरु श्रीमद् रायचन्द्र जैन हैं। इसकी प्रारम्भिक चार पंक्तियाँ इसप्रकार हैं–

**अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ! क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो?**
**सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने, विचरीशुं कब महत्पुरुषना पंथ जो?**[13]

अर्थात् वह अपूर्व अवसर कब आयेगा जब मैं समस्त बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रंथ मुनि हो जाऊँगा तथा सारे सांसारिक सम्बन्धों को तीक्ष्णतापूर्वक तोड़कर ज्ञानी महापुरुषों के मार्ग में विचरण करूँगा।

गांधीजी को इस भजन से इतना अनुराग था कि वे इसे खासतौर से स्वयं ही अपने मुख से बोलकर सबको बुलाया करते थे।

इसके अतिरिक्त एक और प्रसंग ऐसा है कि जिससे भी ज्ञात होता है कि गांधीजी के मन में अवश्य ही निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि बनने की भावना रही होगी। एक बार चर्चिल ने उनको नंगा फकीर कहा था, तब गांधीजी ने उत्तर दिया था कि– **हाँ, मैं नंगा फकीर बनना पसन्द करता हूँ, परन्तु अभी अपने को इस योग्य नहीं पाता हूँ।**

Gandhiji aspired to practice highest type of Ahimsa by becoming a nude Jain Monk (Muni). When Churchill had rebuked Gandhiji by calling him a ''A naked fakir.'' He had informed Churchill ''**I would love to be a naked fakir but I am not one yet.**''[14]

अहिंसा जैनधर्म का आधारभूत सिद्धान्त है तथा यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महात्मा गांधी पर इसका कितना अधिक प्रभाव था। उन्होंने इसे न केवल सिद्धान्त रूप में पढ़ा था बल्कि अपने जीवन में उतार कर दिखाया था। बैरिस्टर चम्पतराय जैन ने अपनी पुस्तक 'Key of Knowledge' में ठीक ही लिखा है कि– ''Knowledge is like food, it becomes ours only when it is absorbed, assimilated and digested by the Intellect.''[15]

अर्थात् ज्ञान अन्न के समान है। जिस प्रकार अन्न अच्छी तरह पचा लेने के बाद ही अपना होता है, उसी प्रकार पढ़ा हुआ ज्ञान भी आत्मसात् करने के बाद ही अपना होता है।

## जो भी अहिंसावादी हैं, सब जैन हैं

गांधीजी जैनधर्म की अहिंसा से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने मराठी भाषा के दैनिक समाचार पत्र 'नवाकाळ' में दिनांक 27 नवम्बर 1932 को लिखा

था कि– ''The main principle of the Jains is compassion towards the living creatures of the world, in their entirity. I consider all of them Jains, who follow this principle of Ahimsa towards their fellow-beings.''[16]

अर्थात् भूतदया (जीवदया) जैनों का मुख्य तत्त्व है, मैं सब अहिंसावादी लोगों को जैन ही समझता हूँ।

एक बार की बात है। लाला लाजपतराय अहिंसावादी जैनधर्म में ही जन्मे थे तथापि एक बार उन्होंने उत्तेजनावश ऐसा लिख दिया था कि अहिंसा सिद्धान्त के चरम विकास के कारण ही भारत का अधःपतन हुआ है। महात्मा गांधी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा कि–

''यद्यपि मैं लाला जी का बहुत आदर करता हूँ, फिर भी मैं उनके इस मत से सहमत नहीं कि अहिंसा-सिद्धान्त के चरम विकास के कारण ही भारत का अधःपतन हुआ है। ऐसे कोई ऐतिहासिक तथ्य हमारे सामने नहीं आये हैं, जिनसे यह विश्वास किया जा सके कि अहिंसा की पराकाष्ठा से ही हमारे मानवीय गुणों का घात-प्रतिघात हुआ है। पिछले लगभग 1500 वर्षों में भारत-राष्ट्र ने शौर्य-वीर्य सम्बन्धी अनेक प्रेरक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, फिर भी, यदि हम टूटे हैं, तो केवल अपनी अन्तर्कलहों के कारण ही। स्वराष्ट्र के प्रति समर्पित प्रेम करने के बदले पारस्परिक स्वार्थों के कारण ही हमारा अधःपतन हुआ है। हम तो यहाँ तक भी कह सकते हैं कि नैतिक/धार्मिक वृत्ति की अपेक्षा अनैतिक/अधार्मिक वृत्तियों के कारण ही हमारा अधःपतन हुआ है।'' –(यथार्थ प्रकाश, पृष्ठ 56)

स्पष्ट है कि जो लोग '**शठे शाठ्यं समाचरेत्**' के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं उनके प्रति गांधीजी का सिद्धान्त था कि '**शठं प्रति सत्यं समाचरेत्**'।

## सत्य और अहिंसा : एक सिक्के के दो पहलू

वस्तुतः सत्य और अहिंसा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। महात्मा गांधी एक स्थल पर लिखते हैं–

एक जैन मुनि ने एक बार मेरे सम्बन्ध में ठीक ही कहा था कि मैं अहिंसा का उतना बड़ा पुजारी नहीं हूँ, जितना कि सत्य का हूँ। मैं सत्य को प्रथम स्थान देता हूँ और अहिंसा को उसके बाद का। कारण, जैसा कि उन्होंने कहा था, मैं सत्य की खातिर अहिंसा का बलिदान कर सकता हूँ। सच तो यह है कि सत्य की खोज के क्रम में ही मैंने अहिंसा को पाया है।[17]

## अहिंसा से ही विश्व शान्ति

जैनधर्म की अहिंसा ने सदा से ही दुनिया भर के अगणित चिंतकों को गहराई

से प्रभावित किया है। एक भूतपूर्व न्यायाधीश डॉ. राधा विनोद पाल ने तो एक विश्व शान्ति सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए यहाँ तक कह दिया कि वस्तुतः शान्ति-सम्मेलन के प्रतिनिधियों के स्वागत का अधिकार सिर्फ अहिंसावादी जैनों को ही हो सकता है–

"If anybody has any right to receive and welcome the delegates to any Pacifist's Conference, it is the Jain Community. The principle of Ahimsa, which alone can secure World Peace, has indeed been the special contribution to the cause of human development by the Jain Tirthankaras, and who else would have the right to talk of World Peace than the followers of the great Sages Lord Parshvanath and Lord Mahavira?''

—Dr. Radha Vinod Paul, Ex-Judge International Tribunal for Trying the Japanese War Criminals

**अर्थ**– ''विश्वशान्ति संस्थापक सभा के प्रतिनिधियों का हार्दिक स्वागत करने का अधिकार केवल जैनों को ही है, क्योंकि अहिंसा ही विश्वशान्ति का साम्राज्य पैदा कर सकती है और ऐसी अनोखी अहिंसा की भेंट जगत को जैन धर्म के प्रस्थापक तीर्थंकरों ने ही दी है। इसलिये विश्वशान्ति की आवाज प्रभु श्री पार्श्वनाथ और प्रभु श्री महावीर के अनुयायियों के अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है?''

## प्राचीन एवं व्यापक रहा है जैनधर्म

अहिंसा-प्रतिपादक जैनधर्म एक अत्यन्त प्राचीन एवं व्यापक धर्म रहा है। पूर्व राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् विशेष जोर देकर लिखते हैं कि–

''There is evidence to show that so far back as the first century B.C. there were people who were worshiping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or Parshvanath. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankars – Rishabha, Ajitanath, and Arishtanemi. The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism.''[18]

जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है, जो बहुत ही शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि– इन तीन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है।

भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।

## जैनधर्म विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है

लोक सभा के पूर्व अध्यक्ष अनंतशयनम् आयंगर भी लिखते हैं– भारत के महान् संतों जैसे जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भगवान महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है। क्योंकि जैनधर्म का तत्त्वज्ञान अनेकान्त (सापेक्ष पद्धति) पर आधारित है और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। क्योंकि जैनधर्म का भौतिक विज्ञान और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों में समानता रखता है। जैनधर्म ने विज्ञान के उन सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे कि पदार्थ विद्या, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान और काल, गति, स्थिति, आकाश एवं तत्त्वानुसंधान। श्री जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवती सूत्र के वनस्पतिकायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है।[19]

## सार्वजनीन विचारधारा के अभिन्न अंग हैं जैन

उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री डॉ. सम्पूर्णानन्द जी ने भी जैनधर्म के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं– जैन धर्मावलम्बियों की संख्या भी बहुत थोड़ी है फिर भी इनकी परम्पराओं ने भारतीय तत्त्ववेत्ताओं के मन पर गहरी छाप लगाई है और न केवल आस्तिक विचारों को अपने सिद्धान्तों में संशोधन परिवर्तन करने के लिए ही बाध्य किया है प्रत्युत ये दर्शन हमारी सार्वजनीन विचारधारा के अभिन्न अंग बन गये हैं किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि केवल कुछ भारतीय पंडित ही इन दर्शनों का अनुशीलन करते हैं। साधारणतया संस्कृत के पंडित लोग इनका ज्ञान केवल वेदान्तिक ग्रन्थकारों द्वारा की गई इनकी आलोचनाओं से ही प्राप्त करते हैं और इस बात पर तनिक भी विचार नहीं करते कि ये आलोचनाएँ किस हद तक ठीक हैं या तथ्यों पर आधारित हैं।[20]

## ऐतिहासिक युग से पहले जैनधर्म

श्री पी.सी. राय चौधरी ने 'जैनिज्म इन बिहार', पृष्ठ 7 पर लिखा है– "Not much research is possible in the prehistorical age as to the role Bihar played in the stay of Jainism. But some of the ancient Jain scriptures mention that Jainism had been preached in magadha (Bihar) by Lord Risabha at the end of the stone age and the beginning

of the Agricultural Age. At that remote period Magadha was separated from rest of India by Ganga-Sagar. The ancient history of Nepal bears this out also.''

अर्थात् ऐतिहासिक युग के पहले बिहार में जैन धर्म के विषय में क्या कुछ हुआ, इसका बहुत ज्यादा अनुसंधान होना आज सम्भव नहीं है। परन्तु कई एक प्राचीन जैन शास्त्रों द्वारा प्रमाणित होता है कि श्री ऋषभदेव ने जैन धर्म का प्रचार मगध (बिहार) में पाषाण युग (Stone age) के शेष और कृषि युग के आरम्भ[21] में किया था। उस प्राचीन काल में मगध देश शेष भारत में गंगासागर से विच्छिन्न था। नेपाल का प्राचीन इतिहास भी इस बात का साक्षी है।

## सबसे प्राचीन धर्म : जैनधर्म

"The Jain religion, however, can legitimately be traced to a different source; and in the minds of many, it is regarded as a more ancient faith than the one that is known as Hinduism.''

—by Sri Prakasa, Jainism in Bihar, Raj Bhawan, Madras, August 1, 1956

जैनधर्म वैधानिक रूप से अलग ही स्रोत से उत्पन्न हुआ। अनेक लोगों के मतानुसार यह उससे भी प्राचीन धर्म है जो हिन्दूधर्म के नाम से जाना जाता है।

## जैनधर्म हिन्दूधर्म से अलग है

बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म यक़ीनी तौर पर हिन्दू-धर्म नहीं हैं और न वैदिक-धर्म ही है। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिन्दुस्तान में ही हुई और ये हिन्दुस्तानी ज़िंदगी, तहज़ीब और फ़िलसफ़े के अंग हैं। हिन्दुस्तान में बौद्ध और जैनी हिन्दुस्तानी विचारधारा और संस्कृति की सौ फीसदी उपज हैं, फिर भी इनमें से कोई भी मत के खयाल से हिन्दू नहीं है। इसलिए हिन्दुस्तानी संस्कृति को हिन्दू संस्कृति कहना एक सरासर गलतफ़हमी फैलानेवाली बात है।

—हिन्दुस्तान की कहानी, पं. जवाहरलाल नेहरू, पृष्ठ 97-98

## गांधीदर्शन का सारांश

गांधीजी किसी एक लेख के विषय नहीं, न उनका किसी एक व्याख्यान में वर्णन किया जा सकता है, न किसी एक पुस्तक में उनको समाहित किया जा सकता है। उन्होंने एक युग को प्रभावित किया है, एक राष्ट्र को संजीवनौषधि पिलायी है, मानवता को नवीन दिशाबोध दिया है। उनका जीवन नवीनताओं का सर्जक तथा प्राचीनता का पुनरुद्धारक कहा जा सकता है।

गांधीजी के कृतित्व को 'गांधी-दर्शन' कहा जाता है। उनका यह दर्शन उनके बहुमुखी जीवन का व्यवहार-सूत्र है। आश्रम-पद्धति, चरखा, स्वदेशी वस्तुओं का

व्यवहार, सेवा, निरभिमानता, समता, अपरिग्रह इत्यादि ऐसे अनेक अछूते क्षेत्रों में उन्होंने सफल परिणाम उपस्थित करनेवाले प्रयोग किये।

वे अपने भोजन में नीम के पत्तों की चटनी लेते थे। यह उनके अस्वाद-व्रत का अंग था। अस्वाद का दूरगामी अर्थ जिह्वास्वाद-निरोध मात्र नहीं है। जीवन के सारे विषय-कषाय स्वाद पर आलम्बित हैं। स्वाद की इच्छा भोगोंपभोगों के मूल में होती है। स्वाद जीतनेवाला इन्द्रियजयी होता है। गांधीजी इस कटुता का सेवन कर कटुता की तीक्ष्णता को पहचानते थे। अहिंसा-सेवी के लिए कटुता को जानना तथा पचाना आवश्यक है। कटुता को जाननेवाला ही दूसरों पर तीक्ष्ण प्रयोग नहीं करता। अहिंसा की सिद्धि के लिए वह न केवल नीम के कटुत्व को पचाते थे, अपितु राजनीति में भी उसका प्रतिक्षण चर्वण करते हुए भी, अस्वाद-व्रत को स्मरण रखते थे, क्योंकि राजनीति को स्वादपूर्वक ग्रहण करने का अर्थ, लोलुपता का पर्याय है, तृष्णा का विस्तार है, यह वह पहचानते थे। उन्होंने राजनीति को भी अस्वाद से, निर्लिप्त भाव से भोगा।

ईश्वरवाद उनका आत्मबल था। इसे वह रामधुन के रूप में उपस्थित करते थे। अनासक्तियोग उनकी कार्यपद्धति थी। काम करना, परन्तु उसमें आसक्त नहीं होना, क्योंकि आसक्त होने से सुख-दुःख रूपी फलों में फँसना पड़ेगा। इस प्रकार वह अपने आप में तटस्थ कार्यकर्ता थे। कार्य करते भी थे, परन्तु उससे लगाव नहीं रखते थे। इसी से उन्हें सफलता मिली। आज लोग प्रायः कार्य तो नहीं करते, परन्तु इसका फल चाहते हैं। वह अहिंसक थे, परन्तु राष्ट्र के नाम दुर्बलता का सन्देश उन्होंने कभी नहीं दिया, क्योंकि अहिंसा शब्द हिंसा से विरति सिखाता है, कायरता नहीं।

राष्ट्र ने उनके सूत्रयज्ञ को हृदय से समर्थन नहीं दिया। चरखा केवल सूत्रयज्ञ ही नहीं, स्वावलम्बन की आधारभूमि है, परन्तु यह भी सत्य है कि इसे मिलों की स्पर्धा में जीवित नहीं रखा जा सकता। टेरेलीन की होड़ में खादी के मोटे तार ग्रामीण-से प्रतीत होते हैं। हाँ, यह सत्य है कि ग्रामीण ही नागरिकों के लिए जीवन उत्पन्न करते हैं। यदि गांधीजी के स्वदेशी व्यवहार को विस्मृत नहीं किया जाता तो आज राष्ट्र ऋणभोक्ता न होकर धनिक होता। गांधीजी अपनी सदा की वेशभूषा में गोलमेज़ परिषद तक हो आये, परन्तु हमारी ही लोकसभा में हम अपनी राष्ट्रीय वेशभूषा धारण नहीं करते हैं। वह कागज़ की एक कतरन, पिन, सुई तक काम में ले लेते थे। वेस्टेज से भी वेस्टेज निकाल लेते थे।

गांधीजी उस भारत के प्रतिनिधि थे, जो हमारे गाँवों में बसा है, इसीलिए ग्रामीणवत् सादा जीवन उन्हें प्रिय था। परन्तु आज ऋण लेकर जो लाखों की कोठियों में, कारों में बसे हुए हैं, वे भारतमाता ग्रामवासिनी के किस कोटि के

प्रतिनिधि हैं, कहा नहीं जा सकता।

## सात्त्विक जीवन

1. 'सादा जीवन उच्च विचार' तीर्थंकर वृषभदेव और महावीर का धर्म था। वास्तव में ऊँचे विचार के लिए जीवन में सादगी अपनाना आवश्यक है।
2. सात्त्विकता का प्रभाव जीवन को सरल, निरभिमान, चारित्र-सम्पन्न और नैतिकतावादी बनाता है। जितने महापुरुष हुए हैं, उनका जीवन अत्यन्त सात्त्विक था।
3. सात्त्विकता में अहिंसा का निवास है। इसके बिना शुद्धि, चाहे वह आहार-पान सम्बन्धी हो अथवा चारित्र-सम्बन्धी, अशक्य है।
4. सभी उत्तम संस्कार सात्त्विकता की ओर प्रवृत्ति करते हैं और सात्त्विकता ही उत्तम विचारों को अवसर देती है। सात्त्विकता वह शुद्ध हवा है, जो प्राणों को एक नयी पुलक और उल्लास से भर देती है।
5. मनुष्य के व्यवहार, चारित्र, आहार-पान, बातचीत और समस्त कार्यकलापों पर उसकी सात्त्विक प्रवृत्ति का प्रभाव होता है। सात्त्विक जीवन गो-दुग्ध के समान निर्मल और प्राणों को स्फूर्ति देने वाला है।
6. जो महान् होना चाहता है, दीर्घ जीवन की कामना करता है, कुछ कर दिखाने का संकल्प रखता है, उसे सात्त्विक होना होगा। सात्त्विकता जीवन का वह समतल है, जिस पर प्रगति के पदचिह्न आसानी से अंकित किये जा सकते हैं।
7. जीवन की सम्पूर्ण पवित्रता को व्यक्त करने वाला एक ही शब्द है– 'सात्त्विकता।'
8. युद्ध-विनाश और शस्त्रास्त्रों की होड़ सात्त्विक जीवन जीने वाले की कल्पनाओं से भी परे है। सात्त्विकता का अर्थ है सीमा में रहना, किसी को कष्ट न देना।
9. सात्त्विकता पहाड़ की वह अटल चट्टान है जिस पर से दुष्कामनाओं के काले मेघ गल-गल कर बह जाते हैं और उसे जरा भी ठेस नहीं पहुँचा सकते, विचलित नहीं कर सकते।
10. रजनीगन्धा के फूल अँधेरे में भी महकते हैं और सात्त्विकता की सुवास बिना बताये प्राणों तक उतर जाती है।

## अनुशासन का महत्त्व

1. अनुशासन अर्थात् नियन्त्रण। मनुष्य पर समाज और संविधान का नियन्त्रण है, ऋतुओं पर काल का नियन्त्रण है और बहती हुई नदियों पर तटों का नियन्त्रण है। इस नियन्त्रण से, अनुशासन से जीवन दुर्घटनाओं से बचता है, गन्तव्यों को

पा लेता है और ऊँचे उठने के अवसर प्राप्त करता है। अनुशासन की लगाम घोड़े के मुँह पर लगी हुई है, इसके सहारे वह ठीक चलता है। बिना अंकुश का हाथी और अनुशासन-रहित समाज विनाश की ओर ले जाता है।

2. अहिंसा-धर्म के अनुशासन में रहने से सुख, शान्ति, तृप्ति, सन्तोष, ज्ञान, वैराग्य आदि उत्तम विभूतियाँ मिलती हैं। सच्चा अनुशासन आत्मा का है; आत्मा-नुशासन से अनन्तवीर्यता आती है।
3. आज विज्ञान का युग है। अनियंत्रित नदियों और प्रपातों को अनुशासन में लेकर मनुष्य ने उन्हें अपनी सुख-सुविधाओं का अनुचर बना लिया है।
4. दिन और रात काल के अनुशासन में हैं। मनुष्य के प्राण श्वासोच्छ्वासों के अनुशासन में हैं। अनुशासन स्थिरता, नियमितता, गति और उद्देश्य-पथ है।
5. सभी अनुशासन में रहते हैं। साधुओं को शास्त्र ही अनुशासन का मापदण्ड है। 'आगमचक्खु साहू' साधु आगम के नेत्रों से देखता है।
6. विद्या का उपार्जन, गुरुकुलों और व्यवसाय-निकायों के अनुशासन में ही सम्भव है। तटों के बंधन में चलती हुई नदी समुद्र तक पहुँच जाती है और स्वच्छन्द सरिता मैदानों में बिखरकर सूख जाती है। जो अनुशासन में चलता है, वह आगे बढ़ जाता है और अनुशासनहीन की प्रगति सदा संदिग्ध रहती है।
7. शहरों में चौराहे की लाल-हरी बत्तियाँ अनुशासन में चलने को कहती हैं। अनुशासन से मनुष्य निरापद रहता है।

## सन्दर्भ-सूची


1. Mahatma Gandhi by Romain Rolland (1866-1944, celebrated French writer, thinker and pacifist), Page 3, Published in Great Britain in 1924
2. 'जानतः पश्यतश्चोर्द्धं जगत्कारुण्यतः पुनः।'—(आचार्य अमृतचन्द्र, तत्त्वार्थसार, 8-9) भगवान् मुक्त जीव मुक्त होने के बाद भी करुणापूर्वक जगत् को जानते और देखते हैं।
3. "A good mother is better than hundred teachers."
   एक अच्छी माँ सौ शिक्षकों से भी बढ़कर है।
4. शांतिदूत गांधी, मनोरमा जफ़ा, पृष्ठ 1 (प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, सन् 1997)
5. Murial Lester, Gandhi (World Citizen, 1945), P. 47
6. Mahatma Gandhi by Romain Rolland, Page 4
7. 'आत्मकथा', लेखक— मोहनदास कर्मचन्द गांधी, पृष्ठ 17, 29, 34, 37
8. शांति दूत गांधी, मनोरमा जफ़ा, पृष्ठ 1 (प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, सन्1997)
9. श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम से प्रकाशित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की भूमिका, पृष्ठ 15
10. श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम से प्रकाशित 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की भूमिका, पृष्ठ 15

11. श्रीमद् रायचन्द्र जैन और भक्त रत्न, पृष्ठ 19
12. (क) **PRIYADARSHI EMPEROR ASHOKA'S SEVENTH EDICT**

***(Topara-Delhi)***

**'इमे वियापटा होहंति ति निगंठेसु[1] पि मे कटे इमे वियापटा होहंति। नानापासंडेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति ति पटीविसठं पटीविसठं तेसु तेसु ते-ते महामाता धम महामाता[2] चु मे एतेसु चेव वियापटा सवेसु च अंनेसु पासंडेसु देवानंपिये पियदसि लाजा हेवं आहा।'**

—(अशोकः राधामुकुंद मुखर्जी, पृष्ठ 209)

***Translation***:— I have so organised that they (senior Ministers for Religious affairs) will make arrangement for Nirgranthas (Digambar Jains) and for various other faiths. I have appointed many senior Ministers to look after various categories of mankind (society) and also have assigned them many specific tasks; but I have appointed 'senior Ministers for Religious affairs' for these as well as for all other faiths. Thus speaks the Ruler-the beloved of the Gods.

(ख) **निर्ग्रन्थ**–

**'यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्था निष्परिग्रहः।'** —(जावालोपनिषद्, पृष्ठ 130)

**'यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थः।'** —(तैत्तिरीय अरण्यक, 10/83)

**'निर्ग्रन्थ-एतेन मूलसंघादि दिगम्बराः।'**

—(आचार्य हरिभद्रसूरि, 'प्रशमरति प्रकरण', 9/42)

**'निर्ग्रन्थ भदन्तेति प्रयोक्तृभिः।'** —(भरतनाट्यशास्त्र, 17-7)

**यानि**– नाट्यशास्त्र में निर्देश देना पड़ा कि निर्ग्रन्थ-दिगम्बर मुनि के साथ 'भदन्त' भगवान् संबोधनपूर्वक अत्यन्त आदर के साथ संभाषण करना चाहिये।

13. आश्रम भजनावली, पृष्ठ 186 (नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 2006 ई.)
14. 'The Life of M.K. Gandhi' by L. Fisher, Page 473
15. सी.आर. जैन, बार एट लॉ, इन्ट्रोडक्शन, 'की ऑफ नॉलेज'
16. Mahatma Gandhi, दैनिक नवाकाळ 27.11.1932
17. महात्मा गांधी का संदेश, सम्पादक– यू.एस. मोहनराव, पृष्ठ 9
18. Indian Philosohy, Vol. I, P. 287
19. अनंतशयनम् आयंगर, पूर्व अध्यक्ष लोकसभा, प्रस्तावना 'जैनधर्म', लेखक– मुनि सुशील
20. सिद्धिविनिश्चय टीका, प्रथम भाग, ('टिप्पणी', सम्पूर्णानन्द, मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृष्ठ 2
21. ''आ चर्षणिप्रा वृषभो जनानां राजा कृष्टीना पुरुहूत इन्द्र।
स्तुतः श्रवस्यन्नवसोप मद्रिग् यूक्त्वा हरी वृषणा याह्यवाङ।।''—ऋक् 1/23/177

❖❖

# दैव और पुरुषार्थ

इस संसार में भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले मनुष्य हैं। कुछ दैव को और कुछ पुरुषार्थ को मानते हैं। इनसे भिन्न कुछ लोग दैव और पुरुषार्थ दोनों को स्वीकार करते हैं। इनमें भी कतिपय व्यक्ति ऐसे हैं जो पुरुषार्थ को दैव का उत्पादक मानते हुए कहते हैं 'बिना पुरुषकारेण न दैवं प्रतिपद्यते' पुरुषार्थ के बिना दैव को प्राप्त नहीं किया जा सकता। वैदिक सूक्त 'नाश्रान्तस्य सख्याय देवाः' का अभिप्राय है कि जो थककर चूर नहीं हो जाता, देव उसकी सहायता नहीं करते। नीतिशास्त्रविशारदों का मत है—

**उत्साहः पौरुषं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।**
**षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र दैवः सहायकः॥**

अर्थात् जिस व्यक्ति में उत्साह, पुरुषार्थ, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम ये छह बातें हों, वहीं भाग्य अथवा दैव सहायता करता है। बहुत लोग कहते हैं कि 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः, दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति' अर्थात् 'दैव-दैव आलसी पुकारा' भाग्य-भाग्य की रट तो आलसी लगाया करते हैं। अतः 'दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या' दैव को ठोकर मारकर आत्मशक्ति अर्थात् पुरुषार्थ से उद्योग करो। इससे विरुद्ध मत रखने वाले कहते हैं—

**शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं, गजभुजंगमयोरपि बन्धनम्।**
**मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां, विधिरहो! बलवानिति मे मतिः॥**

"अहो! सूर्य और चन्द्रमा को भी ग्रहण लग जाता है और मदोन्मत्त गजेन्द्रों को तथा भयानक विषधरों को भी लोग वश में कर लेते हैं। बड़े-बड़े शास्त्रतत्त्ववेदी विद्वान् आमरण दरिद्रता में घुटते रहकर कालकवलित हो जाते हैं। इन सबको देखकर निश्चय होता है कि विधि अर्थात् भाग्य ही बलवान् है।"

इसप्रकार कितने ही उद्योग के गीत गाते हैं, कितने ही भाग्य की विरुदावली बखानते हैं और कुछ दैव और पुरुषार्थ दोनों के भक्त रहकर कार्यों की सफलता का मुकुट पुरुषार्थ के शिर पर बाँधते हैं तो असफलताओं की घण्टी दैव के गले में लटका देते हैं। इन दैव और पुरुषार्थवादियों अथवा उभयवादियों के समूह संसार में संर्वत्र पाये जाते हैं। कुछ अपनी असफलताओं से त्रस्त होकर दैव की

शरण में चले जाते हैं और कुछ अपने पुरुषार्थ के सफल परिणामों को देखकर उद्योग के प्रशंसक बन जाते हैं। भाग्य और उद्योग के इन समन्वित और विरोधी दृष्टिकोणों को जानने के लिए हमें इनके मूल को जानना आवश्यक है।

'भाग्य' शब्द के पर्याय शब्दों को लिखते हुए कोषकारों ने इसे दैव, भागधेय, नियति, विधि और भाग्य शब्दों से संबोधित किया है। दैव शब्द 'दिव्' धातु से निष्पन्न होता है। यह धातु अनेकार्थी है। क्रीड़ा, विजिगीषा, द्युति, मोद, मद, शोभा, कान्ति और गति इत्यादि 'दिव्' धातु के अर्थ हैं। अतः पुरुषार्थ के बिना सिद्ध हुए कार्यों की सफलता में यदि 'दैव' का हाथ समझा जाए तो कहना होगा कि उद्यम के बिना सम्पन्न हुए इस कार्य में दैव की क्रीड़ा है, विजिगीषा है कि दैव पुरुषार्थ को जीतना चाहता है, आनन्द की अनुभूति है और भाग्य के परिणाम गतिशील हैं। कठोर श्रम से कार्य की सफलता प्राप्त करनेवाला उसे दैव अर्थात् 'क्रीड़ा' (खेल-खेल में ही कार्य सम्पन्न हो गया) ऐसा नहीं कहता। दैव का एक नाम 'अदृष्ट' भी है। अदृष्ट का अर्थ है जिसे देखा नहीं। हम चेतनावस्था में जितने कार्य करते हैं, उन्हें देखते हैं फिर यह 'अदृष्ट' कौन! इसी के उत्तर में दैव और पुरुषार्थ का समन्वय निहित है। हम इस जन्म में जो शुभाशुभ कर्म करते हैं उनमें से कुछ का फल भोग लेते हैं और कुछ अभुक्त रह जाते हैं। वे अभुक्त कर्म ही जन्मान्तर में प्रकट होते हैं। क्योंकि इस जन्म में हमने उनको नहीं देखा, अतएव वे अदृष्ट कर्म कहे जाते हैं। आयुर्वेदशास्त्र में पीठ में उठने वाले व्रण को (फोड़े को) अदृष्ट (अदीठ) कहते हैं। वह पीठ में उठने से आँखों द्वारा देखा नहीं जाता, अतः अदीठ कहा जाता है। ये कर्म भी इस जन्म में चर्म-चक्षुओं से देखे नहीं गये, अतः 'अदृष्ट' कहे जाते हैं। अदृष्ट को पूर्व जन्म में उपार्जित शुभाशुभ कर्म मान लेने पर इन्हें भी परभव के 'पुरुषार्थ' ही मान लेना आवश्यक है। केवल इस जन्म और परजन्म के भेदजन्य होने से इनमें नामभेद परिकल्पित किया गया है।

'पुरुषार्थ' पुरुष का श्रम है, उपार्जित सम्पत्ति है। जो पुरुषार्थ के मार्ग पर प्रवृत्त रहता है वह दुःखी नहीं होता। 'पुरुषार्थी नावसीदति' —यह नीतिकारों का मत है। पुरुषोचित कार्यों को करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने का संकल्प करने वालों ने यहाँ बहुत काम किये हैं। दैव को 'अदृष्ट' मानकर उस पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। जिसे आँखें मिली हैं वह अपने 'दृष्ट' पर भरोसा करे, अदृष्ट के द्वारे याचना करने क्यों जाए? यदि जन्मान्तर का उपार्जित है, प्राप्तव्य है तो वह अवश्य अपने समय पर फलदायी होगा और यदि जन्मान्तर की 'हुण्डी' में जमा का अंक बराबर है तो उसके आश्रय बैठे रहने का फल तो स्वयं अपने विनाश का आवाहन करने के समान है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जन्मान्तर का 'अदृष्ट' पुण्य परिणामी (अनुकूल) भी हो सकता है और अशुभ करने वाला भी। अतः अशुभ से बचने के लिए निरन्तर पुण्यमय उद्योग करने में मनुष्य को संलग्न

रहना चाहिए। सूर्य अपना कार्य करते-करते डूब जाता है, चन्द्रमा अपनी कलाएँ बाँटते-बाँटते निःशेष हो जाता है, वृक्ष अंकुरित होकर शनैः-शनैः अपनी जड़ों को पाताल तक ले जाते हैं और आँधियों के प्रचण्ड वेग में खड़े रहने का सामर्थ्य पा लेते हैं। भाग्य की बाट जोहने वाले को अपनी मंजिल तय करने में बड़ा श्रम होता है। वह एक-एक कदम चलता हुआ अगले पदविन्यास पर किसी आकस्मिक सहायता की इच्छा करता रहता है। फलतः उसके पाँव किसी भी क्षण प्राप्त होने वाली दैवी सहायता की सम्भावना में भारी रहते हैं और श्रम करते हुए भी श्रम का सच्चा आनन्द उसे नहीं मिलता।

संसार में जो नानात्व दिखाई देता है वह पूर्व जन्म के उपार्जित श्रम और इस जन्म के उद्यम का फल है। अन्यथा एक ही श्रेणी में पढ़ते हुए बालक योग्यता में भिन्न-भिन्न कैसे हो सकते हैं? एक ही समय में दो व्यक्तियों द्वारा आरम्भ किये जाने वाले कार्यों में परिणामभेद कैसे आ सकता है? भाग्य की (पूर्वोपार्जित सम्पत्ति की) इसी विशेषता पर लुब्ध होकर किसी ने कहा 'भाग्यवन्तं प्रसूयेथा न शूरं न च पण्डितम्' स्त्री को भाग्यवान् बच्चों को ही जन्म देना चाहिए शूरवीर अथवा पण्डित उत्पन्न हुआ तो क्या लाभ! किन्तु भाग्यवान् को उत्पन्न करना अपनी इच्छा के अधिकार में नहीं है। इसलिए इस संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को चतुर्विध पुरुषार्थ ही माना है। धर्म, करना हो तो पुरुषार्थ करो, अर्थ कमाना हो तो पुरुषार्थ करो, संसार के काम भोगों की पर्याप्ति करनी हो तो उसके निमित्त पुरुषार्थ करो। किं बहुना, मोक्ष पाना हो तो उसके लिए भी सर्वोच्च पुरुषार्थ करो। भाग्य ने अभी तक किसी को मोक्ष-द्वार तक नहीं पहुँचाया। अतः पुरुषार्थ करना सिद्धियों को आमन्त्रण देना है। सफलताओं के सागर में अवगाहन करना है। पुरुषार्थ करने वाली चींटी भी सैकड़ों योजन मार्ग तय कर सकती है और भाग्य के विश्वास पर बैठे रहने वाला वैनतेय (गरुड़) भी एक कदम नहीं चल सकता। इस आशय का नीति-श्लोक इस प्रकार है—

**गच्छन् पिपीलिका याति योजनानां शतान्यपि।**
**अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति॥**

यहाँ भाग्यों के चमत्कार देखने में आते हैं और उद्योग की आशानुकूल सफलता कभी-कभी नहीं देखी जाती। फिर भी, लोग उद्योग करना बन्द नहीं करते और भाग्य की अतर्कित उपलब्धि पुरुषार्थ के पथ को धूमिल नहीं बना पाती। पुरुषार्थ जिधर मार्ग बनाता है उस पथ पर परिश्रम से नहाये 'भगीरथ' के पसीने से 'गंगावतरण' होता है और 'दैव' जिसके माथे पर मुकुट लगाता है वह पत्थर भी अभिमान से पानी पर तैरने लग जाता है। 'सेतु-बन्धन' की घटना पर श्रद्धा करते हुए भी लोग श्रम की गंगा में स्नान करना अधिक पसंद करते हैं। श्रम अर्थात् पुरुषार्थ सिद्ध भाग्यों की सूचना है और 'काकतालीय' न्याय से फलनेवाला भाग्य

'इदमित्थम्' के निश्चयवाक्य से वंचित है। कभी-कभी पुरुषार्थ भाग्य को विस्मय से देखता है, किन्तु श्रम के असंदिग्ध उत्कर्ष पर दैव को सदैव चकित होना पड़ता है। पुरुषार्थ सफलताओं की सूचना है और दैव इस प्रकार की कोई 'घोषणा' नहीं कर सकता। मनुष्य के शरीर-संस्थान में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के समूह निरन्तर कार्यशील है। अतः विवेकपूर्वक कार्य-प्रवृत्त रहना पुरुषार्थसिद्धि का प्रथम उपाय है। भाग्यवादी को लोग आलसी कहते हैं और 'नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्' आलसी कभी कार्यसिद्धि को प्राप्त नहीं करते। यह नीतिविशारदों की ललकार है। भाग्य स्वयं में कुछ नहीं है, अपितु यह पुरुषार्थ की गूंज है, श्रम का उत्तरवाक्य है। श्रम से टपकने वाले स्वेद की धारा में गुलाब के मकरन्द की सौरभ उठती है। आत्मा के अनन्तवीर्य को पुरुषार्थ में नियोजित करने वाला सच्चा मेहनती है।

दैव की उत्पत्ति के इस रहस्य को जो जान लेता है वह अन्धभाग्यवादियों के समान अकर्मण्य होकर नहीं बैठता। क्योंकि, अपने दैव-स्वामित्व को वह पहचान लेता है, अतः भाग्य उसका स्वामी नहीं, वह भाग्य का विधायक होता है।

संसार में भाग्यवादियों और पुरुषार्थियों के दो पृथक् शिविर हैं। दैव शिविर के लोग प्रतिदिन उठकर भाग्य की अयाचित कृपाओं की याचना करते हैं और पुरुषार्थी खेमे का व्यक्ति स्वयं सफलताओं को ढूंढ़कर खींच लाता है। दैववादी के विचारों को निश्चय-मित्र नहीं मिलता और पुरुषार्थी से मित्रता करने के लिए निश्चय स्वयं चला आता है। एक (भाग्यवादी) अन्धकार में अपना भविष्य टटोलता है और दूसरा (उद्यमी) अपने बाहुबल की मशाल जलाकर निर्धारित योजनाओं के मार्ग पर चल पड़ता है। जीवात्मा में श्रम और योग्यता की शक्ति स्वाभाविक है। चन्द्रमा को शीतल होने के लिए हिमालय की शिलाओं पर नहीं उतरना पड़ता और जन्म के सद्यः उपरान्त माँ का स्तन्य ढूँढ़ने वाले को पुरुषार्थमार्ग की पगडंडियों का निर्देशन करने की आवश्यकता नहीं होती। 'बया' नामक पक्षी का नीड (घोंसला) देखकर विस्मय होता है। मकड़ी अपनी 'लार' (लालास्रव) से जो जाला बुनती है उसके सूत्र कितने बारीक और अभग्न होते हैं। 'कंगारू' के बालक भयजनक परिस्थिति का आभास पाते ही माँ के उदर की औपरिष्टक खोल में छिप जाते हैं। समुद्र में तूफान उठने की पूर्वसूचना मिलते ही मछलियाँ उसके अतल तल में बैठ जाती हैं। प्रातःकाल की बेला में कुक्कुट अपने आप 'बाँग' लगाने लगता है। इन सबको किसने शिक्षित किया। यह उद्यम की प्रवृत्ति, प्राप्य की तलाश, तन्तुवाय की कुशलता प्राणियों के स्वभाव में स्वतः विद्यमान है। मछली को यदि तैरने की शिक्षा देना आवश्यक नहीं तो मनुष्य को अथवा कहना चाहिए प्राणिमात्र को उसके उद्यम का मार्ग बताने की आवश्यकता नहीं। पुरुषार्थ के मार्ग प्रकृति से प्राणियों के लिए जाने-पहचाने हैं।

मनुष्य को छोड़कर शेष प्राणियों में केवल पुरुषार्थ की अथक लगन देखी जाती है। चींटियाँ निरन्तर अपने बिलों में से मिट्टी के लघु-लघु कण उठाकर बाहर फेंकती रहती है। वल्मीक कीट बार-बार अपने वल्मीकों को उठाता रहता है। महापराक्रमी वनराज भी अपनी क्षुधा-शान्ति के लिए प्रकृतिदत्त पुरुषार्थ करता है। परन्तु मनुष्य कदाचित् क्वचित् कथंचित् फलनेवाले 'नियतिवाद' को देखकर अपनी अकर्मण्यता से दैवाश्रयी होने की अभिलाषा करने लगता है। यहाँ पुरुषार्थ और सफलता में 'कार्य-कारण' भाव है। सफलतारूपी कार्य पुरुषार्थ की कारणता चाहता है। पुरुषार्थ पात्र है और सफलता उसमें रखा जाने वाला पदार्थ। 'पात्रत्वे क्रियतां यत्नः पात्रमायान्ति सम्पदः' मनुष्य को पात्रता के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पात्र में ही सम्पदाएँ आती हैं। सफलतारूपी सम्पत्ति अर्जित करने के लिए पुरुषार्थरूपी पात्र की पात्रता अपेक्षित है। 'आप्तमीमांसा' में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं—

**दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषतः कथम्।**
**दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत्॥**

यदि दैव से ही कार्यसिद्धि होती हो तो फिर पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है और दैव से ही यदि मोक्षप्रतिबन्ध हुआ करे तो मुक्ति के लिए क्रियमाण पुरुषार्थ निष्फल हो जाएगा। और यदि—

**पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम्।**
**पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम्॥**

पुरुषार्थ मात्र से कार्यसिद्धि मान ली जाए तो पुरुष को अव्यर्थ मानना होगा और वैसी स्थिति में जो भी पुरुषार्थ करेगा उसे सफलता मिलनी चाहिए, किन्तु देखने में आता है कि समान पुरुषार्थ करनेवालों को भी तारतम्य से भिन्न फलावाप्ति होती है, अतः यह मानना चाहिए कि पुरुषार्थ और दैव दोनों ही कार्यों की सफलता में कारण है। दैव शुभाशुभ कर्मों से बनता है। वही पुरुषार्थसिद्धि में प्रतिबन्धक अथवा सहयोगी होकर सफलता उत असफलता प्रदान करता है। जो पुरुष सदैव शुभकर्म का बन्ध करता है उसे पुरुषार्थ करने पर सद्यः सफलता मिलती है और जो पापकर्म के बन्ध अधिक करता है वह अधिक पुरुषार्थ करने पर भी उसके अनुकूल भूरिफलों को प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसे पुण्यचारित्र्य और पापकर्माओं के परिणाम पुरुषार्थ करने पर भी दैव के नियंत्रण में रहते हैं।

जैन परिभाषा में 'श्रमण' शब्द का अर्थ श्रम की प्रतिष्ठा करने वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो साधु हैं, वे ही सच्चे 'श्रमण' हैं। अपने चारित्रश्रम से उत्तम कोटि का पुरुषार्थ करते हुए वे मोक्ष-साधना करते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें सभी पुरुषार्थ धर्म को मूल मानकर प्रवृत्त होते हैं। अर्थ

का उपार्जन धर्ममूलक होना चाहिए, काम का सेवन धर्मानुकूल होना आवश्यक है। यदि काम और अर्थ के लिए धर्मसम्बन्ध अपेक्षित नहीं रहेगा तो काम उच्छृंखल होकर प्रजाओं में व्यभिचार उत्पन्न करेगा और अर्थ का सम्बन्ध धर्म से रहित हो जाएगा तो अर्थसंग्रह करने वाले येन-केन उपायेन मांसविक्रय से, गोवध से, मिथ्याचार से, पाप-कपट-चौर्य से पुष्कल अर्थाजन करने लगेंगे और वृत्ति की पवित्रता समाप्त हो जाएगी। जयपुर के 'राजकीय संस्कृत कॉलेज' के एक संस्कृत-शिक्षक के विषय में सुनने में आया है कि उनकी कक्षा का निरीक्षण करने के लिए निरीक्षक महोदय पहुँचे तो छात्रवर्ग पढ़ने के 'मूड' में नहीं था और इधर-उधर की बातें कर रहा था। निरीक्षकजी ने पंडितजी से इसकी शिकायत की तो पंडितजी बोले— इन्हें इस वर्ष का पाठ्यक्रम पढ़ा दिया गया है और आप पूछ कर देखें कितना तैयार है? पूछने पर सभी छात्रों ने अत्यन्त सन्तोषजनक उत्तर दिये और प्रसन्न होकर निरीक्षक ने उन पंडितजी की तरक्की (वेतनवृद्धि) के लिए शिक्षा विभाग को अपनी सिफारिश की। जब यह संवाद उन पंडितजी को मिला तो वे शिक्षाविभाग में जाकर अधिकारी से प्रार्थना करने लगे कि उनका मासिक वेतन न बढ़ाया जाए, क्योंकि ''विद्या को बेचकर जो पाप मैं कर रहा हूँ उसमें वृद्धि करना नहीं चाहता।'' उन्होंने अधिकारी को 'राम-दुहाई' शब्दों में शपथ दिलाते हुए निषेध कर दिया। यहाँ अर्थोपार्जन में धर्म का नियन्त्रण ही कारण है। आज धर्म का सम्बन्ध पूजा-पाठ से और देव-गुरु-दर्शन मात्र से लगाने वाले अर्थव्यवसाय में उसे सम्मिलित नहीं करते। परिणामस्वरूप उनके व्यवसाय भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये हैं और कामभोगों में भी धर्म को साझीदार नहीं करते, अतः उनके व्यभिचार की प्रवृत्तियाँ नित्य ही अशान्त रहती हैं। ''धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते'' अर्थात् धर्म से ही अर्थ और कामनाओं का सेवन करना विहित है, अतः तुम ऐसे धर्म को ही क्यों नहीं पालन करते? महर्षियों के ये वचन सदा स्मरणीय हैं। धर्म ही प्रथम पुरुषार्थ है। धर्माचरण से ही धर्म का उपार्जन करना चाहिए। 'अग्निना अग्निः समिध्यते', 'दीपकेन दीपकः प्रज्वाल्यते' अग्नि से अग्नि जलाई जाती है और दीपक से दीपक जलाया जाता है। धर्म से ही धर्मचिन्तन करना उचित है और दूसरे पुरुषार्थों को भी धर्म द्वारा ही साधना चाहिए। मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को धार्मिक उत्तम श्रम करते हुए 'श्रमण' मुनि साधते हैं। इसी से उन्हें मोक्ष-प्राप्ति होती है। अतः पुरुषार्थ के मूल में धर्म की ज्वलन्त सत्ता सन्निविष्ट है। बिना धर्म के कोई पुरुषार्थ नहीं। दैव और पुरुषार्थ धर्म के ही अंग हैं। मनुष्य को आत्मधर्म का पालन करते हुए सतत परिश्रम में लगा रहना चाहिए और यदि परिश्रम के साथ-साथ दैव भी फलता है तो उसे भी परिश्रम का अतिरिक्त पुरस्कार मानकर स्वीकार करना चाहिए। पुरुषार्थ-परायण होकर करने का स्वभाव होना चाहिए। अपने परिणाम का सफल भाग पुरुषार्थ को और असफल भाग दैव को

देकर पुनः शेष के साफल्य के लिए प्रयत्न-संकल्पी रहना चाहिए। जाप्य करते हुए को पातक नहीं लगते और पुरुषार्थ करते हुए को निराशा का मुख नहीं देखना पड़ता। अनेकान्त दृष्टि से दैव और पुरुषार्थ को परस्पर एक-दूसरे का पूरक मानने में विरोधी भावों का परिहार है। पुरुषार्थ पुरुष का श्रम है और दैव उसमें सुगन्धि है। मनुष्य को अपने श्रम की प्रतिष्ठा करने में नहीं चूकना चाहिए। यदि दैव की सुगन्धि उसमें आकर मिलती है तो बहुत अच्छा और न भी मिले तो पुरुषार्थ का परिणाम अपने आप में सुगन्धि से अधिक मूल्यवान है।

दो पात्र समानरूप से आधे-आधे भरे हुए हैं। उनमें एक भाग्यवादी के हाथ में है और दूसरा पुरुषार्थपरायण के। भाग्यवादी अपने भाग्य को कोसते हुए कहता है कि मेरा आधा पात्र खाली है किन्तु पुरुषार्थी कहता है मेरा आधा पात्र भरा हुआ है। एक निराशावाद से अभिभूत है और दूसरा आशान्वित है। आशाधर उसकी पूर्णता की ओर लक्ष्य करता है तथा निराश हुआ दैववादी आधे रिक्त होने को रोता है। इस संसार में जन्म के साथ ही पिता, पुत्र, परिवार, सुख, दुःख, भोग, क्लेश आदि कर्मानुबन्ध से उदय आते हैं। अनन्त मनुष्यों के अनन्त विध कर्म फलोदय को देखकर यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस कार्मण शरीर के परिणामों का भोक्ता मनुष्य यदि दैववाद के चक्कर में पड़ जाता है तो द्वार पर आये हुए पुरुषार्थ के अवसर लौट जाते हैं। क्योंकि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। एक बूढ़ा व्यक्ति लकड़ी के सहारे चलता है। उसके चलने में लकड़ी उदासीन है। तथापि यदि वह लकड़ी को ही अपने चलने में मुख्य मान ले तो क्या यह उचित है, या यदि लकड़ी स्वयं गति दे सकती तो मृतक को भी उसका अवलम्बन मिल जाता। बिना पुरुषार्थ के भाग्यों का आश्रय लेना भी इसी प्रकार है। वृक्ष के नीचे दूसरा वृक्ष नहीं पनपता और भाग्य के सहारे व्यक्ति का पुरुषार्थ उदग्र नहीं होता। यदि भाग्य ने किसी वृक्ष को किसी वृक्ष की छाया में अंकुरित किया है तो पुरुषार्थ से उसे अलग होकर ही अपनी शाखाओं और स्कन्ध का विकास करना चाहिए। अन्यथा यावज्जीवन वह पूर्व-समुत्पन्न वृक्ष पश्चात्-उत्पन्न वृक्ष के ऊँचे उठने में बाधाएँ ही उपस्थिति करेगा। अपना पृथक् स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्माण करने वालों ने भाग्य की रेखा को वज्र संकल्पों से मिटा दिया है। उनके उत्थान का सूर्य उनके पुरुषार्थ की मुट्ठी में है। श्री अमितगति सूरि ने अपनी 'द्वात्रिंशतिका' में कहा है–

**स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।**
**परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥**

जो कर्म अपने द्वारा विहित है, उसी के शुभ अथवा अशुभ कर्म परिणाम को मनुष्य प्राप्त करता है। यदि यह न मान कर ऐसा माना जाए कि किसी पराये से दिये हुए विपाक को मर्त्य प्राप्त करता है तो स्वयंकृत कर्म निरर्थक हो जाएंगे।

कर्म का बन्ध अवश्य होता है यही पुरुषार्थ के परिणाम की निश्चय सूचना है। कर्म का बन्ध कदाचित् होता है और कदाचित् स्वेच्छा से न होता है— यह सामान्य नियम मानने पर तो पुरुषार्थ से फल-प्राप्ति में सन्देह किया जा सकता है। अतः मनुष्य के कर्म ही, उसका पुरुषार्थ ही उसे निर्धन या सधन, सम्पन्न या विपन्न बनाता है। श्री अमितगति सूरि ने ऐसा ही अच्छा श्लोक इस विषय में लिखा है—

**निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।**
**विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुंच शेमुषीम्॥**

अपने पुरुषार्थ से अतिरिक्त कोई किसी को नहीं देता है— ऐसा विचार करते हुए मनुष्य को 'दूसरा कोई देने वाला है'— इस मिथ्या दृष्टि को छोड़ देना चाहिए।

'दैव' का सन्धिविच्छेद है 'द+एव'। अर्थात् जिसमें दयनीयता, दुःख, दैन्य और दे, दे (दीजिए, दीजिए)— ऐसी ध्वनि निकले। 'दैव' वास्तव में विपन्नाक्षर कोष है और 'पुरुषार्थ' में पुंस्त्व की ध्वनि है। इसका आद्य अक्षर 'प' परिश्रम, प्रवृत्ति और परमात्मपद प्रतिष्ठा का वाचक है। 'प' परायण है, 'द' दयनीय है। 'प' से आगे यदि 'द' की प्रतिष्ठा की जाए तो 'पद'='पद' ध्वनित होता है और उसका अर्थ प्रतिष्ठा, उत्कर्ष होता है अर्थात् पुरुषार्थ-मूलक दैव की परिकल्पना तो श्लाघ्य है किन्तु दैव को प्रमुख मानकर पुरुषार्थ को गौण करने से व्यक्ति का व्यक्तित्व बिना तपाये सुवर्ण के समान दैव की खान में पड़ा-पड़ा अपने शुभोदय की वेला की प्रतीक्षा ही करता रहता है। 'भाग्य' उदासीन शब्द है। उसके पूर्व में 'सु' लगाने से 'सौभाग्य' और 'दुर्' लगाने से 'दुर्भाग्य' सूचित होता है। श्रम की प्रतिष्ठा करने वाले के हिस्से में 'सौभाग्य' शब्द आता है और नित्य नियतिदुर्गत तो 'दुर्' को ही पा सकता है। पुरुषार्थ निश्चित सफलता का पर्याय है और दैव संदिग्ध स्थितियों का निर्देशक है। बुद्धिमान् व्यक्ति निश्चित फलदायी मार्ग को छोड़कर सन्देह में प्रवृत्त नहीं होता। अतः पुरुष का उत्थान उसके पुरुषार्थ अथवा दैवमूलक कार्यकलापों की पद्धति देखकर अनुमान किया जा सकता है। पुरुषार्थी के हाथों में पद्म रेखाएँ अंकुरित होती हैं और भाग्यवादी के चक्रवर्ती-चिह्न संशय और प्रतीक्षा के वातावरण में धूमिल हो जाते हैं। एक निर्माता है और दूसरा नियतिनिर्मित का भोक्ता है। एक स्वोपजीवी है, दूसरा परोपजीवी। एक आश्रयदाता है, दूसरा आश्रयापेक्षी। मानव अपना निर्माता स्वयं बने— इसके लिए पुरुषार्थपरायणता पहली प्रतिज्ञा है। दैव के दुर्ग का ध्वंस करके पुरुषार्थ के प्रासाद का निर्माण किया जाता है। 'अल्बाट्रास' नामक पक्षी महासमुद्रों पर चार अहोरात्र (चार दिन, चार रात) एक गति से उड़ता है और बिना सोये, बिना थके या विश्राम लिये निरन्तर सत्रह सौ मील उड़ान भरता है। जो भाग्यवादी महान् कार्यों की विशालता से भीत

होकर कहते हैं कि 'भुजाओं से समुद्र को किसने तरा है' उनके लिए 'अल्बाट्रास' पुरुषार्थ का दूसरा नाम है, स्मरण रखना चाहिए। भाग्य के भरोसे जीनेवाला अकिंचित् कार्यों को भी 'असम्भव' कहता है और पुरुषार्थपरायण की शब्दावली में आत्मपराजय ध्वनित करने वाला कोई शब्द नहीं है। एक नीतिकार कहता है–

**अंगणवेदी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।**
**वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य॥**

जो कमर बाँधकर तत्पर हो जाता है उसके सामने पृथ्वी अपने विस्तार को सिकोड़ लेती है, समुद्र क्षुद्र नदी प्रमाण बन जाते हैं, पाताल उठकर पृथ्वी के बराबर आ जाता है और समेरू पर्वत मामूली मिट्टी के वल्मीक (ढूहर) के समान हो जाता है। 'आल्प्स' नहीं है, यह साहसिकों की भाषा है।

उल्लू के भाग्य में दिन में भी अन्धकार है और 'जुगनू' (ज्योतिरिंगण, खद्योत) अन्धेरी रातों में भी अपना तन जलाकर प्रकाश उत्पन्न कर लेते हैं। 'रँहट' के पात्र भरते और खाली होते रहते हैं और अनुद्यमी के मस्तिष्क में एक विचार जाता और दूसरा आता रहता है। परन्तु उद्यमशील के विचार 'चाँच' के कुएँ में डुबकी लगाने वाले कलश के समान जब ऊपर उठते हैं तो लबालब भरे होते हैं। उद्यम की रात में देवता जागते हैं और भाग्य के दिन में अकर्मण्य स्वप्न (दिवास्वप्न) देखते हैं। 'मोक्षमार्ग-प्रकाशक' में आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने कहा है कि— ''...काललब्धि वा होनहार तो किछु वस्तु नांहि। जिस कालविषै कार्य बनै सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार।'' अतः ''उपदेश तो शिक्षा मात्र है, फल जैसा पुरुषार्थ करै तैसा लागै।'' शुभम्।

❖❖

# अग्नि में जीवत्वशक्ति

प्राणवायु और जल की तरह 'अग्नि' भी प्राणियों के जीवन का अविभाज्य अंग है। हिमयुग की परिकल्पना से अग्नितत्त्व ही जीवन के प्रति आस्था एवं आत्मबल प्रदान करता है। भारतीय चिन्तन में अग्नि को पंचमहाभूतों के एक अंग के रूप में शाश्वत प्राकृतिक भौतिक तत्त्व माना गया है, किन्तु पारदृश्वा ऋषियों-मुनियों ने अपनी सूक्ष्मप्रज्ञा के द्वारा चिरकाल से यह प्रतिपादित किया कि 'अग्नि में जीवत्वशक्ति' है। इसे वैज्ञानिक तथ्य के रूप में आधुनिक वैज्ञानिक भले ही प्रतिपादित और सिद्ध नहीं कर पाये हों, किन्तु यह एक ज्वलन्त सत्य है। मैं अपने अध्ययन और अनुसन्धान से प्राप्त तथ्यों के आधार पर इस बात की सप्रमाण पुष्टि करने की चेष्टा इस आलेख में करूँगा।

## अग्नि की खोज

प्राकृतिक रूप में तो 'अग्नि' पाँच रूपों में सर्वत्र विद्यमान मानी गयी है– 1. दावाग्नि, 2. जठराग्नि, 3. बड़वाग्नि, 4. अन्तःअग्नि और 5. दैवी-अग्नि। इनमें से 'दावाग्नि' तो जंगल में लगने वाली प्राकृतिक (रगड़ से उत्पन्न) अग्नि को कहते हैं। तथा 'जठराग्नि' प्राणीमात्र के पेट में विद्यमान अग्नि है, जो उसके द्वारा ग्रहण किये गये भोजन को पचाने का कार्य करती है। इसीप्रकार 'बड़वाग्नि' समुद्र में विद्यमान वह अग्नि है, जो जल की प्रचंड लहरों के भीषण संघर्षण से उत्पन्न होती है। पौराणिक मान्यता के अनुसार यही अग्नि समुद्र को नियंत्रित रखती है और उसमें बाढ़ नहीं आने देती है। 'अन्तःअग्नि' वह है, जो प्रायः प्रकटरूप में न रहकर विभिन्न पदार्थों के अन्दर निहित होती है तथा परिस्थिति-विशेष में ही प्रकट होती है। ऐसी अग्नि के दृष्टान्तों में विद्वानों ने ज्वालामुखी की आग, शमीवृक्ष (**शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकम्** –रघुवंश महाकाव्य, 3/9 तथा **शमीगर्भादग्निं संन्यसि** –तैत्तरीय ब्राह्मण, 1-1-91, मेघों में निहित अग्नि, जिसे 'तडित् विद्युत्' भी कहते हैं एवं सूर्यकान्त मणि आदि की अग्नि ली है। तथा 'दैवी अग्नि' में सूर्य की अग्नि, जिसके ताप से धरती पर जीवन का संचार प्रतीत होता है एवं उल्का, धूमकेतु आदि प्रमुख हैं। वैदिक परम्परा में यज्ञीय अग्नि को भी 'दैवी अग्नि' कहा गया है, और इसके 'गार्हपत्य', 'आह्वनीय' एवं 'दक्षिण' –ये तीन भेद गिनाये गये हैं। भारतीय

संस्कृति में कई पौराणिक चरित्र ऐसे हैं, जो अग्नि से उत्पन्न माने गये हैं, यथा– कार्त्तिकेय (अग्निभू:)। तथा द्रौपदी एवं धृष्टद्युम्न जैसे महाभारत के पात्र भी यज्ञ के हवनकुण्ड की अग्नि से उत्पन्न माने गये हैं किन्तु मैं इन पौराणिक चर्चाओं में न जाकर अग्नि के वैज्ञानिक आधारवाले निर्विवाद तथ्याधारित स्वरूप का उल्लेख करूँगा, जिसमें जीवत्वशक्ति स्फुटरूप से अनुभूतिसिद्ध है।

आधुनिक वैज्ञानिक यह कहते हैं कि आदिमानव ने क्रमशः विकसित मानसिकता के परिणामस्वरूप दो सूखी लकड़ियों को रगड़कर अग्नि उत्पन्न की थी। इसके पहिले प्राकृतिकरूप से जंगलों में सूखे बाँस व लकड़ियों की रगड़ आदि से अग्नि प्रज्वलित होती थी, किन्तु वह मनुष्य द्वारा अपने प्रयत्न से उत्पन्न अग्नि नहीं थी।

जैन-परम्परा के अनुसार जब भोगभूमियाँ लुप्त होने लगीं तथा कर्मभूमि का युग प्रारम्भ हुआ, तो अन्न को पकाकर कैसे खाया जाये?—इसकी समस्या उत्पन्न हुई। तब प्रजाजन अपनी समस्या लेकर 'कुलकर' के पास गये, जिन्हें 'प्रजापति' भी कहा जाता है। जैन मान्यतानुसार ये 'कुलकर' या 'प्रजापति' वे व्यक्ति कहलाते हैं, जो 'कर्मभूमि' का युग आरम्भ होने पर प्रजा को श्रम करके जीवनयापन की व्यावहारिक शिक्षायें देते थे। तब 'कुलकर' ने उन्हें कहा कि–

**मथिदूण कुणह अग्गिं।**

–आचार्य यतिवृषभ, 'तिलोयपण्णत्ति', 2/1595

अर्थात् दो पदार्थों को, दो पत्थरों या दो सूखी लकड़ियों आदि को मथकर/रगड़कर अग्नि उत्पन्न करो।

यह उनकी मौलिक शोध थी, जो उन्होंने प्रजा को बतलाई; इससे अग्नि उत्पन्न कर उसमें अन्नादि पकाकर भोजन करने की परम्परा प्रवर्तित हुई।

न केवल जैन-परम्परा में अग्नि की चर्चा है, अपितु 'विश्व के प्राचीनतम साहित्य' के रूप में विश्रुत 'ऋग्वेद' में भी ऋषिगण अग्नि के बारे में लिखते हैं–

**अरिणी** –ऋग्वेद, 3-7-3

**त्वमग्ने:** –ऋग्वेद, 2/1/1

अर्थात् तुम्हीं अग्निस्वरूप हो।

**अरणिस्थ यथा ज्योति: प्रकाशान्तरकारणम्।**
**तद्वच्छन्दोपि बुद्धिस्थ: श्रुतीनां कारणं पृथक्॥**

–वाक्यपदीयम्, 1/46

**अर्थ**– जिसप्रकार अरणि (शमी और पीपल की लकड़ी) में स्थित ज्योति दोनों की रगड़ से प्रकाशित होने में कारण है, उसीप्रकार बुद्धि (लब्धि) में स्थित श्रुतरूपज्ञान शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है।

इसी बात को आध्यात्मिक रूप में व्यक्त करते हुए ऋषिगण लिखते हैं–

**ब्रह्म वा अग्निः** –कौशीतकी ब्राह्मण, 9/1/5

**अर्थ**– परमात्मा अग्नि के समान है, तेजःपुंज रूप है।

**वह्निमूर्तिः** –जिनसहस्रनाम, 2/5

**अर्थ**– अग्नि के समान ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से अथवा कर्मरूपी ईंधन को जलाने से आप 'वह्निमूर्ति' कहलाते हैं।

**योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो.....यस्याग्निः शरीरं**

–बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/7/8

**अर्थ**– जो आत्मा अग्निमय स्थित है और अनग्नि से भिन्न है, वही (अग्नि) उसका शरीर है।

अग्नि का स्वरूप उष्णतामय है, उष्णता ही उसका लक्षण है, जैसाकि आचार्य भट्ट अकलंकदेव ने लिखा है–

**यथा अग्नेरात्मभूत उष्णपर्यायो लक्षणं न धूमः**

–तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/13/8

**अर्थ**– अग्नि का आत्मभूत लक्षण उष्णता है, धूमादि नहीं।

फिर भी विद्वानों ने इस अग्नि को अनेकरूप प्रतिपादित किया है–

**एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यः दार्व्यस्त्रिधोच्यते**

–पंचाध्यायी, 2/637

**अर्थ**– अग्नि यद्यपि एक ही है, तो भी वह (i) तिनके की अग्नि, (ii) पत्ते की अग्नि और (iii) लकड़ी की अग्नि –इसप्रकार तीन प्रकार की कही जाती है। इन्हें ब्राह्मणाग्नि, क्षत्रियाग्नि और वैश्याग्नि के रूप में भी जाना जाता है।

**सुद्धागणी य अगणी य** –मूलाचार, 5/211

**अर्थ**– मेघ की अग्नि शुद्ध एवं 'ब्राह्मणवर्णा' मानी गयी है, तथा सूखी लकड़ियों (अरणि) को रगड़ने से उत्पन्न अग्नि 'क्षत्रियवर्णा' मानी गयी है। **अरणी** –ऋग्वेद, 3/7/3 काष्ठ-विशेषों की अग्नि शुद्ध मानी गयी है।

महान् आध्यात्मिक ग्रंथ 'समयसार' की 14वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं– **सप्तार्चिः** अर्थात् अग्नि सात प्रकार की है। इन सात प्रकार की अग्नियों के नामों का उल्लेख 'अमरकोश' में निम्नानुसार मिलता है– 1. काली, 2. कराली, 3. मनोजुषा, 4. सुलोहिता, 5. सुधूम्रवर्णा, 6. स्फुलिंगिनी और 7. विश्वदासाख्या।

## अग्निकायिक जीवों के भेद

**इंगाल-जाल-अच्ची-मुम्मुर-सुद्धागणी य अगणी य।**
**अण्णेवि एवमाई तेउक्काया समुद्दिट्ठा॥**

—पंचसंग्रह 79, पृ. 16, धवला पुस्तक भाग 1, पृ. 273, गाथा 152

अर्थात् अंगार, ज्वाला, अर्चि (अग्निकिरण), मुरमुर (निर्धूम और ऊपर राख से ढँकी हुई अग्नि), शुद्ध-अग्नि (बिजली और सूर्यकान्तमणि **(यथार्ककांत:)** समयसार कलश, 175) से उत्पन्न अग्नि), और धूमवाली अग्नि इत्यादि अन्य अनेक प्रकार के तेजस्कायिक जीव कहे गये हैं।

चार पर्याप्ति— 1. आहार, 2. शरीर, 3. इन्द्रिय और 4. श्वासोच्छ्वास —ऐसी चार पर्याप्तियाँ नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों को प्राप्त होती हैं।

**इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।**
**वण्णादीहि य भेदा सुहुमाणं णत्थि ते भेदा॥**

—वही, जीवसमास, 77

अर्थात् ज्वाला, अर्चि (अग्निकिरण), मुरमुर (निर्धूम राख से ढँकी हुई अग्नि), शुद्ध-अग्नि (बिजली और सूर्यकान्तमणि से प्राप्त अग्नि) और धूमवाली अग्नि इत्यादि स्थूल अग्नि के भेद कहे गये हैं। ये भेद सूक्ष्म अग्नि के नहीं हैं। (सूक्ष्म अग्नि तो अनेक प्रकार की है)।

यही बात आचार्य अमृतचंद्र भी लिखते हैं—

**ज्वालाङ्गारास्तथार्चिश्च मुर्मुर: शुद्ध एव च।**
**अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिका॥** —तत्त्वार्थसार 2ध्64

इसीलिये अग्नि को जीव मानते हुये जैन-परम्परा में अग्निकायिक जीवों की विराधना को पाप माना गया है और प्रतिक्रमण करते समय उसके प्रति खेद व्यक्त किया गया है—

**पुढवी-जलग्गिवाऊ ते वि वणप्फदी य वियलतया।**
**जे जे विराहिदा खुल मिच्छा मे दुक्कडं होॅज्ज॥**

—कल्लाणालोयणं, 16

**अर्थ**— पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव और विकलत्रय जीवों की जो मुझसे विराधना हो गयी हो, उस विराधना से होनेवाला सब पाप मेरा मिथ्या हो।

इसीकारण जैन-परम्परा में यह भी कह दिया कि जो अग्निकायिक जीवों की सत्ता नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा सम्यग्दृष्टि जीव इनकी सत्ता को अवश्य मानते हैं—

**जे तेउकायजीवे अदिसद्दहदि जिणेहिं पण्णत्तं।**
**उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठाणा अत्थि॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार 10/140

**अर्थ**— जो तीर्थंकर देव के कहे हुये अग्निकायिक जीवों और तदाश्रित सूक्ष्म जीवों के ऊपर श्रद्धान रखता है तथा पुण्य-पाप का स्वरूप जानता है, वह मुक्ति-मार्ग में स्थिर रहता है।

महर्षि मनु ने अग्नि को 'वैराग्य का प्रतीक' भी बताया है—

**अनग्निरनिकेतः स्यात्** —मनुस्मृति, 6/43

**अर्थ**— अग्नि वैराग्य का रूप है (अर्थात् विरक्त साधुजनों को अग्नि—प्रज्वालन नहीं करना चाहिए)।

महात्मा बुद्ध ने भी लिखा है कि वे साधु जीवन में अग्नि नहीं जलाते थे—

**सो तत्तो सो सीनो एको मिसनके वने।**
**नग्गो न च आगीं असीनो एकनापसुतो मुणीति॥**

—मज्झिमनिकाय, महासीहनाद सुत्त, 12

**अर्थ**— कभी गर्मी कभी ठंडक को सहता हुआ भयानक वन में नग्न रहता था। मैं आग से तापता नहीं था। मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था।

इस बात की पुष्टि इस वैदिकपुराण में भी मिलती है—

**वह्नौ सूक्ष्मजीववधो महान्** —स्कन्दपुराण, 59/9

**अर्थ**— अग्नि जलाने में अनेकों सूक्ष्म जीवों का महान् वध होता है।

यह कथन यहाँ विशेषतः इसलिये भी मननीय है कि यह एक वैदिक पुराणग्रंथ का उल्लेख है।

जब डॉ. जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति में जीव होने की बात कही, तो उन्हें इस स्थापना का जनक ही मान लिया गया किन्तु उनसे सहस्रों वर्ष पूर्व जैन आचार्यों ने वनस्पति को 'जीवकाय' कहा था। कहा ही नहीं, अमल भी किया था। जैन लोग हरी सब्जी खाने का निषेध 'अष्टमी' और 'चतुर्दशी' तिथियों को आज भी करते हैं। वे उसमें एकेन्द्रिय जीव मानते हैं। उनका यह मानना परम्परानुमूलक है, किसी आधुनिक वैज्ञानिक की स्थापना का परिणाम नहीं। यह दूसरी बात है कि उनकी परम्परा स्वयं अपने में आज के वैज्ञानिक तथ्यों पर खरी उतरती है।

डॉ. बेवस्टर की स्थापना है कि "वनस्पति में अत्यन्त शक्तिशाली संवेदना होती है।" रूस के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी बी.एन. पुस्किन ने अपने अनेकानेक प्रयोगों के बाद लिखा है कि "वनस्पति में भी मनुष्य के नाड़ी-संस्थान जैसा ही कोई शक्तिशाली तत्त्व विद्यमान है।"

वनस्पति की ही तरह जैनाचार्य अग्नि को भी जीव मानते हैं। उन्होंने उसे एकेन्द्रिय (स्पर्शन-इन्द्रियवाला) जीव कहा है। अग्नि के चार भेद होते हैं– 1. अग्नि, 2. अग्निजीव, 3. अग्निकायिक और 4. अग्निकाय। 'अग्निजीव' वह है, जो पूर्वकाय को छोड़कर अग्निकायिक पर्याय को धारण करने के लिए 'विग्रहगति' में होता है अर्थात् जो जीव अभी अग्निकायिक बन नहीं पाया है, बननेवाला है। जिसकी पर्याय अग्निकायिक बनने के लिए निर्धारित हो चुकी है और जो अग्निरूप धारण करनेवाला है; किन्तु अभी तक अग्निरूप हो नहीं सका है। वह चल पड़ा है, रास्ते में है, पहुँचनेवाला है; ऐसा जीव 'अग्निजीव' कहलाता है तथा वह जीव जब अग्नि को शरीररूप से ग्रहण कर लेता है, तब वह 'अग्निकायिक' कहलाता है अर्थात् अग्नि ही जिनका शरीर है, काया है, वे अग्निकायिक हैं। तथा जब जीव अग्नि से निकल जाता है, तब वह 'अग्निकाय' कहलाता है, जैसे मृतक शरीर। मुर्दे में आग लगाई जाती है। आग धू-धू कर जलती है। शरीर राख हो जाता है। और उसका जीव किसी अन्य पर्याय में प्रविष्ट होने के लिए चला जाता है; तब वह 'अग्निकाय' संज्ञा से अभिहित होता है।

जैन-सन्दर्भ में अग्नि को समझ लेना अत्यावश्यक है। विक्रम की सातवीं-आठवीं सदी के दार्शनिक आचार्य भट्टाकलंक ने लिखा है कि **अग्निकायिक जीव अत्यधिक कृपालु होता है।** उनका कथन है– **नव वै प्रदीपः कृपालुतयात्मानं परं वा तमसो निवर्तयति** क्या आप नहीं जानते कि दीपक अपनी दयालुता के कारण ही स्व-पर के अन्धकार को दूर करता है। एक मनुष्य दीपक लेकर अन्धकार में जाता है और वहाँ प्रकाश फैल जाता है, जिससे वहाँ मौजूद सभी वस्तुओं को मनुष्य देख सकता है।

जैन-परम्परा में अग्नि में मात्र जीवत्वशक्ति ही नहीं मानी गयी है, अपितु उसका संसारी प्राणी के रूप में विधिवत् वर्गीकरण करके परिचय प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार अग्नि के चार प्राण होते हैं– कायबलप्राण, स्पर्शनेन्द्रियप्राण, आयुप्राण (उत्कृष्ट तीन दिन या जघन्य अंतर्मुहूर्त), और श्वासोच्छ्वासप्राण।

जैन-परम्परा में शरीर की आंतरिक अस्थि-मज्जागत बंध-विशेष को 'संहनन' कहा गया है। प्रत्येक संसारी प्राणी के कोई न कोई 'संहनन' अवश्य होता है। 'अग्नि' के 'संहनन' के बारे में बताते हुए लिखा है–

**एकेन्द्रिय..... असंप्राप्तासृपाटिकासंहननं भवति।** –तत्त्वार्थवृत्ति, 8ध11

**अर्थ**– अग्नि के एक स्पर्शनेन्द्रिय तथा 'असंप्राप्तासृपाटिका' नामक कोमल संहनन है।

### अग्नि का अर्थक्रियाकारित्व

जैन-परम्परा में प्रत्येक पदार्थ में 'अर्थक्रियाकारित्व' की प्रक्रिया मानी गयी है। इस बात का प्ररूपण करते हुए जैनाचार्य लिखते हैं–

**यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्[1]।**

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, भाष्य 226

**अर्थ**— सत् का परमार्थ लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। यथा—

**सत् द्रव्यलक्षणम्।** —तत्त्वार्थसूत्र, 5/29

**अर्थ**— 'सत्' ही द्रव्य का लक्षण है।

**अनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थक्रियाकर्तृत्वापपत्तेः।**

—आचार्य वीरसेन, धवला 1/1/10, पृ. 168

**अर्थ**— अनेकान्तवाद के बिना उसका अर्थक्रियाकारित्व नहीं बन सकता। जिसप्रकार दीपक के भीतर रुई, आग, तेल और पात्र में तीनों विरोधी और भिन्न-भिन्न प्रकृति की वस्तुयें मिलकर कार्य करती दृष्टिगोचर होती हैं।

**एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्।**

—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धिः 9/3/79

**अर्थ**— अग्नि के एक होते हुए भी इसके एक समय में अनेक कार्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

इसी अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति का प्रक्रियागत व्यापक रूप जैनाचार्यों ने भलीभाँति चित्रित किया है।

## अग्नि की खोज

**जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि फस्सिंदिएण[2] ऍक्केण।**
**कुणदि य तस्सामित्तं थावर-एइंदिओ तेण॥**

—आचार्य वीरसेन स्वामी, 'धवला' ग्रंथ, 1/1/33

**अर्थ**— अग्नि स्थावर-जातिवाला एकेन्द्रिय जीव है, वह अपनी उसी एक स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से जानता है, देखता है, भोगता है, सेवन करता है और (अपने सम्पर्क में आगत ईंधन आदि पदार्थों का) स्वामित्व भी करता है।

अग्नि एकेन्द्रिय जीव है। उसके केवल स्पर्शन-इन्द्रिय होती है, किन्तु वह केवल इसी एक इन्द्रिय से अन्य चार इन्द्रियों— आँख, नाक, कान और मुँह का भी काम ले लेती है। जैनों के वरिष्ठ ग्रन्थराज 'धवला' के रचयिता ने इस कथन को निम्नलिखित शब्दों में पुष्ट किया है— ''स्थावर नामकर्मोदय से जीव एक स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और स्वामीपना

---

1. 'एकं सत्' —ऋग्वेद, 1/164/46
   सत् का परमार्थ लक्षण निश्चय से ही अर्थक्रियाकारित्व है।
2. 'तथैवाचक्षुदर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन स्पर्शन।' —नियमसार टीका, गाथा 14

करता है; इसलिए उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा है। वह लिंग, चिह्न और 'स्पर्श' से जाना जाता है, अतः एक ही इन्द्रिय से पाँच इन्द्रियों का काम लिया जाना संभव है। इसके अतिरिक्त उपयोगरूप भावेन्द्रिय का काम आकार व वस्तु को जानना ही है। एकेन्द्रिय जीवों में चैतन्य के चिह्न स्पष्ट दिखाई नहीं देते और वे चक्षु का विषय नहीं बन पाते किन्तु ऐसा नहीं है कि वे चिह्न उनमें होते ही नहीं हैं। उनमें वे होते हैं, इसीलिए एकेन्द्रिय जीव अन्य चार इन्द्रियों का काम भी कर लेते हैं।'' धवलाकार का उपर्युक्त कथन सत्य ही है।

जैनाचार्यों ने तो अग्निकायिक जीवों की संख्या भी स्पष्टरूप से 'पडिक्कमणसुत्त' (5) में निर्देशित की है–

**चरित्तायारो तेरसविहो परिहाविदो पंच महव्वदाणि, पंच समिदीओ, तिगुत्तीओ चेदि।[3] तत्थ पढमं महव्वदं पाणादिवादादो वेरमणं, से पुढविकाइया जीवा असंखेज्जा-संखेज्जा,[4] आऊकाईया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, तेऊकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वाऊकाइया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा, वणप्फदिकाइया जीवा अणंताणंता॥[5]**

इसके अनुसार अग्निकायिक जीवों की संख्या असंख्यातासंख्यात है।

यहाँ यह बात जानना भी आवश्यक है कि अग्नि की एक चिंगारी में असंख्य जीवों के असंख्य शरीर हैं। हम उन असंख्य जीवों के एकत्रीभूत पिण्ड को ही देख पाते हैं। एक जीव का शरीर तो इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे नहीं देख सकते। इसमें केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है, भले ही वह अन्य चार इन्द्रियों का काम एक ही इन्द्रिय से लेती हो; किन्तु है वह एकेन्द्रिय ही और स्पर्शन ही। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि पाँच इन्द्रियों में स्पर्शन को प्रथम स्थान क्यों दिया गया? इसका प्रथम कारण यह है कि स्पर्शन सर्वव्यापी है, जबकि अन्य इन्द्रियाँ ऐसी नहीं हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय पूरे शरीर में फैली है, जबकि अन्य इन्द्रियाँ शरीर के एक भाग तक सीमित हैं अथवा शरीर के एक ही स्थान पर उपलब्ध हैं, अन्य स्थान पर वे कार्य नहीं कर सकतीं। दूसरा कारण है– विषय की दृष्टि में शक्तिशाली होना। किसी भी वस्तु का पहले स्पर्श होता है, फिर रस आदि की प्रवृत्ति होती है। **विशेषावश्यक भाष्य** –(गाथा 3001) में कथन है– ''सब विषयों का ज्ञान होने की अर्हता के कारण एकेन्द्रिय होते हुए भी कुलवृक्ष पाँच इन्द्रियोंवाला है।''

पतंजलि के 'योगभाष्य' में लिखा है–''स्पर्शन इन्द्रिय प्रत्येक प्राणी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।'' इस एक स्पर्शनेन्द्रिय के साथ-साथ किसी न किसी रूप में

3. 'असंख्येयं लोकमात्र-संयम-परिणामेषः।' –आचार्य वीरसेन, धवला, 1/1/120
4. 'आऊ' इति पुल्लिंगांतः प्राकृतलक्षणवशात्। –पण्णवणा, 367 मलयगिरी
5. 1. पृथ्वीकायिक 7 लाख, 2. जलकायिक 7 लाख, 3. अग्निकायिक 7 लाख, 4. वायुकायिक 7 लाख, 5. वनस्पतिकायिक 10 लाख

विचारशक्ति एवं निर्णय-क्षमता भी उसके होती ही है, भले ही 'मन' उनके नहीं होता है।

आगमकारों के एक कथन के कारण तीसरा प्रश्न समुत्थित हो उठा है। आगमकार साक्षात् द्रष्टा थे। उन्होंने निरूपित किया कि एकेन्द्रिय जीवों के मतिज्ञान तो होता ही है, श्रुतज्ञान भी होता है। श्रुतज्ञान का सम्बन्ध भाषा, श्रोत्रेन्द्रिय और मन की विकसित अवस्था से है, फिर वह एकेन्द्रिय में कैसे होता है? विज्ञान के कुछ प्रयोगों ने इस सच्चाई को सिद्ध कर दिया है। एक वृक्ष पर 'पॉलीग्राफ' यन्त्र लगाया गया। माली आया, तो उसमें कोई कम्पन नहीं हुआ; किन्तु एक लकड़हारा अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी रखे आया, तो 'पॉलीग्राफ' की सुई भय के बिन्दु पर आकर काँपने लगी। इससे सिद्ध है कि वनस्पति में संवेदन है, स्मृति है, पहचान है और दूसरों के मनोभावों को जानने की क्षमता है। –ये सब श्रुतज्ञान के विषय हैं।

सहस्रों वर्ष पूर्व जैनदर्शन ने इस सत्य को प्रमाणित किया था। उसके अनुसार सारा शरीर सीमितरूप में हर इन्द्रिय का कार्य करने में समर्थ है। अंधी कन्यायें उंगलियों से पढ़ लेती हैं। कैसे? विज्ञान अभी तक नहीं जानता। वह नहीं जान सका कि आँख का काम उंगलियाँ कैसे कर लेती हैं; किन्तु जैनधर्म ने इसको समझा था। जैन आचार्यों ने 'संभिन्नसंश्रोतृलब्धि' का वर्णन किया है। यह लब्धि चेतना को इतना विकसित करती है कि समूचा शरीर आँख, कान, नाक, जिह्वा और स्पर्शन का काम करने लगता है। वह शरीर के किसी भी हिस्से से देख सकता है, सुन सकता है, चख सकता है और सूँघ सकता है। पाँचों इन्द्रियों का काम समूचे शरीर से ले सकता है। सारा शरीर हर इन्द्रिय का कार्य करने में समर्थ है। स्पर्शन-इन्द्रियवाले जीव और पंचेन्द्रिय जीव में कोई अन्तर नहीं होता। दोनों में क्रियायें और प्रवृत्तियाँ समान होती हैं। इनमें स्पर्शन-इन्द्रिय की प्रधानता ही कार्यकारी है।

अग्निकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु 3 दिन-रात होती है– **रत्तिं दिणाणि तिण्णि** –मूलाचार, 11/59। यह जीव 'वेद' (Sex) की अपेक्षा से नपुंसकलिंगी होता है। –ऐसा उल्लेख जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मिलता है।

बाह्य रूप से अग्नि के महत्त्व को समूचा विश्व जानता है। घरेलू कार्यों से लेकर युद्ध के भयावह अस्त्र-शस्त्रों तक अग्नि का प्रयोग करते ही हैं। संसार अग्नि के महत्त्व को जानता है। अग्नि के उपकारक स्वरूप पर भी विद्वानों ने अपने चिंतन प्रस्तुत किये हैं। अग्नि जलती-जलाती है एवं प्रकाशित करती है –ये सब उसके उपकारक स्वरूप हैं।

यहाँ एक प्रश्न है कि मनुष्य दीपक को लेकर जाता है, तो मनुष्य का उपकार

दीपक पर हुआ, दीपक का मनुष्य पर नहीं। इसका उत्तर है कि मनुष्य दीपक को अपना स्वार्थ साधने के लिये ले जाता है। अंधकार में वह देख नहीं पाता, किन्तु दीपक के आने पर प्रकाश हो जाता है और वह देखने योग्य हो जाता है। निष्कर्ष है कि दीपक का मनुष्य पर उपकार है।

साधु की कुटिया सूनी है, वह अंधकार-ग्रस्त है। जंगल में होने के कारण कहीं से प्रकाश की क्षीण-रेखा भी नहीं आ पाती। उस कुटिया में दीपक रात-भर जलता है। स्वयं को जला-जला कर मृत्यु की ओर अग्रसर होता है, किन्तु उसको इसकी चिन्ता नहीं है। वह सूनी कुटिया के कोने में रजनी-भर जलकर प्रसन्न होता है। कवि जयशंकर प्रसाद ने लिखा है, ''सूनी कुटिया के कोने में रजनी-भर जलते जाना।''

दीपक रातभर अंधरे से लड़ते हुये प्रातःकाल बुझता है, वैसे ही ज्ञानी लोग अज्ञान से जीवनभर लड़ते-लड़ते अंत में मोक्ष को जाते हैं।

मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) ने 'अग्नि जलती है' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि ''अग्नि इसलिये नहीं जलती कि कोई उस पर पैर रख दे और वह उसे जला डाले। अग्नि इसलिये जलती है कि लोग उसे देखकर सावधान हो जायें। अग्नि जीवन को सतर्क बनाती है। इसी के लिए उसकी रचना हुई है, जलाने के लिए नहीं।'' उनका कथन है कि ''अग्नि इसलिए नहीं जलती कि वह सब कुछ निगल जाये; वह जलती है इसलिए कि चैतन्य में से धुआँ निकल जाये। अर्थात् चैतन्य में समाहित मिथ्यात्व का धुआँ छँट जाये, वह सम्यक्त्वी बन जाये।'' यह काम वही कर सकता है, जिसमें तेज है। अग्नि में एक तड़प होती है, जिसके कारण वह अपने को अनंत की गोद में उत्सर्ग कर देती है, किन्तु ज्योतिहीन बनकर जीना नहीं चाहती। जीवन वही है, जिसमें एक महान् उद्देश्य के लिये अपने को भी होम देने की तड़प होती है। जीवन वही है, जिसमें ज्ञान की ज्योति सदैव जलती रहती है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने दीपक की उदारता का वर्णन करते हुए लिखा है कि पतंगा दीपक की लौ पर गिरकर जान देने आता है, तो दीपक पतंगे से हिल–हिल कहता– ''बन्धु! तू वृथा क्यों दहता है?'' यह दूसरी बात है कि ''पतंगा गिरकर ही रहता है'' किन्तु दीपक उसे बार-बार इन्कार करता है।

अग्नि के सन्दर्भ में जैन-ग्रन्थों में कई प्रश्न महत्त्वपूर्ण ढंग से उठाये गये हैं। जैसे– ''अग्नि और ईंधन का क्या सम्बन्ध है?'' अज्ञानीजन कहते हैं कि ''जो अग्नि है, वह ईंधन है और जो ईंधन है, वह अग्नि है। पहले भी ऐसा था और अब भी ऐसा है, तथा आगे भी ऐसा ही होगा।'' अर्थात् वे अग्नि और ईंधन को एक मानते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का कथन द्रष्टव्य है– **नाग्निरिंधनमस्ति,**

**नेंधनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तींधनमिंधनमस्ति। नाग्नेरिंधनमस्ति नेंधनास्याग्नि-रस्त्यग्नेरग्निरस्तींधनस्येंधनमस्ति।** इसका अर्थ है– अग्नि है, वह ईंधन नहीं है, ईंधन है, वह अग्नि नहीं है। अग्नि अग्नि है, ईंधन ईंधन है। अग्नि का ईंधन नहीं है और ईंधन की अग्नि नहीं है। निष्कर्ष है– परद्रव्य परद्रव्य ही है, वह मुझ-स्वरूप नहीं हो सकता। मैं तो मैं ही हूँ और परद्रव्य नहीं हो सकता हूँ; तथा परद्रव्य परद्रव्य ही है, वह आत्मरूप कभी नहीं हो सकता है अर्थात् आत्मा आत्मा ही है, शरीर शरीर ही है। दोनों अनादिकाल से जुड़े हैं, किन्तु हैं पृथक्-पृथक्। आत्मा और शरीर के धर्म भिन्न-भिन्न हैं।

अग्नि के अनेकों प्रकार के दृष्टान्त भारतीय परंपरा में प्रचलित रहे हैं। यथा–

**अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः**

–नीतिवाक्यामृत, 1/4, पृ. 172

**अर्थ**– दुष्ट व्यक्ति अग्नि के समान अपने आश्रयदाता को भी जला डालते हैं।

जैन-परम्परा में अग्नि के विषय में विविध कथन विविध सन्दर्भों में प्राप्त होते हैं–

**दीवाउ दीवि पज्जलदि बत्ति** –महापुराण, 21/20

**अर्थ**– जैसे दीपक से दीपक में बाती जलती है, इसीप्रकार विद्वान् को आगे ज्ञान का प्रसार करना चाहिए।

**दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः** स्वयम्भूस्तोत्र, 12-1

**अर्थ**– क्या लोग सूर्य की आरती तुच्छ दीपक से नहीं करते?

**दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः।** –पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, 34

दीपक और प्रकाश अथवा प्रताप (उष्णता) और प्रकाश जैसे युगपत् होते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युगपत् होते हैं।

**यह राग आग दहै सदा, तातें समामृत सेइये** –छहढाला

अग्नि के लिये अनेक प्रकार के दृष्टांत और उपमाएँ भी जैनशास्त्रों में मिलती हैं, यथा–

**यथात्र शुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्तमग्निना।**
**मनःसिद्धिं तथा ध्यानी योगिसंसर्गवह्निना॥** –ज्ञानार्णव, 15/30

**अर्थ**– जैसे जगत् में सुवर्ण अग्नि के संयोग से अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार योगीश्वरों की संगतिरूपी अग्नि से ध्यानी मुनिराज अपने मन की शुद्धि को प्राप्त होता है।

'अग्निशिखा' नामक चारणऋद्धि का उल्लेख भी जैनशास्त्रों में मिलता है–

**अविराहिदूण जीवे, अग्गिसिहा-संठिए विचित्ताणं।**
**जं ताण उवरि गमणं, अग्गिसिहा-चारणा रिद्धी॥**

—आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 2/150

**अर्थ**— अग्निशिखाओं में स्थित जीवों की विराधना न करके उन विचित्र अग्नि-शिखाओं पर से गमन करना 'अग्निशिखा-चारणऋद्धि' कहलाती है।

लोकजीवन में अग्नि के महत्त्व को कभी नहीं नकारा जा सकता है। अन्तःरूप से भी अग्नि की भूमिका कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शरीर के भीतर पाचन का कार्य 'जठराग्नि' करती है। यदि वह मन्द पड़ जाये, तो पाचन में गड़बड़ पैदा हो जाती है। मनुष्य बीमार रहने लगता है। शरीर के स्वास्थ्य के लिये पाचन ठीक रहना आवश्यक है। वह मूलाधार है। 'जठराग्नि' तीव्र होनी ही चाहिए।

तीर्थंकर को अनन्त बल-वीर्य का धनी कहा जाता है। यह बल और वीर्य सिवाय अग्नि के और कुछ नहीं होता। जिसमें जितनी अधिक आग होती है, वह उतना ही अधिक बल-वीर्य का मालिक बन पाता है। वह व्यक्ति तेजवान् होता है। तेजस्वी व्यक्तित्व यदि एक ओर आसमुद्रान्त साम्राज्यों की स्थापना में सक्षम हो पाता है, तो दूसरी ओर मोक्षलक्ष्मी का वरण भी वही कर पाता है। सब कर्मों के छुटकारे को ही मोक्ष कहते हैं और समाधितेज से कर्मों से छुटकारा मिलता है। आचार्य समन्तभद्र ने 'स्वयम्भू स्तोत्र' में लिखा है—

**स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्।**
**जगाद तत्त्वं जगतेर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः॥ 4 ॥**

जो अपनी भीतर की विकृतियों को समाधितेज से निर्दयतापूर्वक भस्म कर देता है, वही ब्रह्म पद का अधिकारी होता है और वही अपने अमृत-प्रवचनों से दुःखों से प्रपीड़ित जग को मूल तत्त्व से अवगत करा पाता है।

❖❖

# वैदिक व श्रमण साहित्य में न्यास

**'न्यास' पद की निष्पत्ति और निरुक्ति :**

न्यस्यते न्यसनं वा न्यासः। 'नि' उपसर्गपूर्वक 'असु' धातु से घञ्-प्रत्यय करने पर 'न्यास' शब्द की निष्पत्ति होती है। 'असु' धातु दो गणों में पठित है, अतः इसके अनेक अर्थ हैं। दिवादि-गणपठित 'असु' धातु का अर्थ है– प्रक्षेपण, अर्थात् फेंकना, छोड़ना, त्याग करना, निशाना लगाना आदि। भ्वादिगण-पठित 'असु' (उभयपदी) धातु के अर्थ हैं– गति, दीप्ति और आदान, अर्थात् जाना, लेना, चमकाना, प्रकाशित होना आदि। जब यह 'असु' धातु 'नि' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होती है, तब इसके विशिष्ट अर्थ भी अभिव्यक्त होते हैं। जैसे– सौंपना, सिपुर्द करना, (सुरक्षित) स्थापित करना, सँभाल कर रखना, त्यागना, फेंकना, आरोपित करना आदि। घञ्-प्रत्यय अनेक अर्थों में होता है– भाव तथा कर्तृभिन्न कारक। इस प्रत्यय को उक्त अर्थों में विधान करने वाले दो सूत्र हैं– (1) भावे[1] तथा (2) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्[2]।

भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय मानने पर 'न्यास' पद के अर्थ होंगे– त्यागना, फेंकना, सौंपना, धरोहर के रूप में रखना, (सुरक्षा व सदुपयोग की दृष्टि से, या प्रयोजनविशेष से, व्यक्ति-विशेष या व्यक्तिसमूह की देखरेख में, सीमित या असीमित समय के लिए) धरोहर रख छोड़ना[3], आरोपित करना आदि। किन्तु कर्तृभिन्न कारक अर्थों में घञ् मानने पर विविध अर्थों की अभिव्यक्ति सम्भावित है। जैसे, जिसके द्वारा, या जिस साधन से, या जिसके लिए, या जिस स्थान-विशेष आदि में त्यागने, फेंकने, धरोहर रखने आदि की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, वह व्यक्ति, साधन या स्थान, इनमें से कोई भी 'न्यास' कहा जा सकता है।[4]

1

---

1. द्र. पाणिनि-सूत्र 3/3/18, कातंत्र-सूत्र 4/5/3
2. द्र. पाणिनि-सूत्र 3/3/19, कातंत्र सूत्र 4/5/4
3. राजचोरातिभयाद् दायादानां च वंचनात्। स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासस्तत् परिकीर्तितम् (बृहस्पति-वचन), द्र. भीमाचार्य-रचित 'न्यायकोश', पृष्ठ 451
4. न्यस्यते येन, यस्मै यत्र वा इति न्यासः।

## संस्कृत-कोषों में प्राप्त 'न्यास' शब्द के अर्थ

'न्यास' शब्द के विविध अर्थों को संस्कृत-कोषकारों ने सार रूप में इन निम्नलिखित रूपों में समाहित किया है–

(1) रखना, स्थापित करना, आरोपण करना
(2) चिह्न, छाप, ठप्पा आदि, जो किसी वस्तु पर अंकित किया जाता है
(3) जमा करना, संगृहीत करना
(4) धरोहर, अमानत
(5) सौंपना, वचनबद्ध होना, सिपुर्द करना[5]
(6) चित्रित करना, लिखकर रखना
(7) छोड़ना, उत्सर्ग करना, त्यागना, तिलांजलि देना
(8) सम्मुख रखना, घटाना
(9) खोदकर निकालना, (पंजों आदि से) पकड़ना।[6]

## विविध अर्थों में 'न्यास' शब्द का प्रयोग

वैयाकरण शब्द-निष्पत्ति के अनुरूप, 'न्यास' शब्द लौकिक व्यवहार में तथा भारतीय साहित्य में विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है। जैसे–

(1) गीता में 'त्याग' अर्थ में न्यास शब्द प्रयुक्त है– **काम्याणां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:।**[7] सम्-उपसर्ग के साथ प्रयुक्त 'न्यास' शब्द अर्थात् 'संन्यास' शब्द समस्त लौकिक अभिलाषाओं का त्याग कर शास्त्रोचित जीवनचर्या अपनाने के अर्थ में स्पष्ट प्रयुक्त है ही। 'न्यस्तचिह्न' का अर्थ है– चिह्नों से मुक्त, अर्थात् धार्मिक दृष्टि से धारण किये जाने वाले चिह्नों को छोड़ देने वाला।[8]

(2) लोक-व्यवहार में 'न्यास' का अर्थ धरोहर के रूप में रखी संपत्ति भी होता है[9], और वह संस्था या ट्रस्ट भी होता है, जिसके सदस्यों (ट्रस्टियों) की देखरेख में कोई चल-अचल सम्पत्ति सुरक्षित कर रख दी जाती है।

(3) महाभाष्य आदि ग्रन्थों में किसी अर्थ-विशेष की प्रस्तुति या प्रतिष्ठापना या अर्थयोजना के लिए स्वीकृत व्यवस्था-विशेष के अर्थ में 'न्यास' शब्द प्रयुक्त

---

5. गृहस्वामिनः परोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रक्षेपो गृहस्वामिने समर्पणीयम् इति (मिताक्षरा-टीका, मनुस्मृति 2/67)। द्र. भीमाचार्य-रचित 'न्यायकोश', पृष्ठ 451
6. द्र. संस्कृत-हिन्दी कोश– आप्टे, पृष्ठ 559
7. गीता 18/2
8. द्र. संस्कृत-हिन्दी कोश– आप्टे, पृष्ठ 1290
9. चारुदत्तः— अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम्। बसन्तसेना— पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहादिषु –मृच्छकटिक नाटक, प्रथमांक, पृष्ठ 88-89।

हुआ दृष्टिगोचर होता है।[10]

(4) न्यास का अर्थ 'स्थापना' भी है। जैसे महाकवि कालिदास ने 'खुरन्यास'[11] शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है– (पाँव के) खुरों को जमीन या घास आदि पर स्थापित करना, रखना। पादन्यास, चरणन्यास शब्द भी इसी भाव को अभिव्यक्त करते हैं। इसी तरह, 'चित्रन्यास' व 'चित्रन्यस्त' शब्द का अर्थ है– चित्र रूप में किसी पदार्थ को स्थापित या प्रतिष्ठित या चित्रित करना और चित्र में उपस्थापित (चित्रित) वस्तु।[12] 'विन्यास' का अर्थ है– क्रमपूर्वक रखना या एकत्रित ग्रन्थ-रचना या अक्षर उत्कीर्ण करना।[13] 'केशविन्यास' शब्द केशों की साज-सज्जा को संकेतित करता है। इसी प्रसंग में 'उपन्यास' शब्द भी उल्लेखनीय है। उपन्यास का अर्थ है– विस्तृत विषयवस्तु के निरूपण में, (उप=यानी) निकटतया, अर्थात् सर्वप्रथम प्रस्तावना या भूमिका के रूप में उपस्थापना या प्रस्तुति, अतः प्रस्तावना, भूमिका, विषय-संकेत, सारप्रस्तुति या प्रस्ताव आदि अर्थों को 'उपन्यास' शब्द स्वयं में सन्निहित किये हुए है।[14]

(5) वैदिक और श्रमण—प्रतिष्ठा-पूजासम्बन्धी कृत्यों में 'अंगन्यास' शब्द बहुप्रचलित है, जिसका अर्थ है– शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में भिन्न-भिन्न दैवी शक्तियों का आरोपण कर, उन दैवी शक्तियों का उन-उन अंगों में ध्यान।[15] यहाँ 'न्यास' शब्द 'आरोपण' करने अर्थ को प्रमुखतया अभिव्यक्त कर रहा है।

## व्याकरणशास्त्र की विशिष्ट व्याख्यापद्धति 'न्यास'

संस्कृत-व्याकरण की परम्परा में 'न्यास' नामान्त कई व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उदाहरणार्थ– काशिकान्यास, शब्दार्णवन्यास, शिष्यालोकन्यास, बालबोधिनी-न्यास, महान्यास आदि। 'न्यास' संज्ञक व्याख्याग्रन्थों की महत्ता को संकेतित करने वाला एक प्रसिद्ध पद्य माघ कवि-कृत 'शिशुपालवध' महाकाव्य में प्राप्त होता है–

---

10. क्रियते न्यास एव... तच्चापि क्रियते न्यास एव (महाभाष्य 6/1/13), यथान्यासमेवास्तु –महाभाष्य. 5/3/17।
11. रघुवंश, 2/2
12. संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टे), पृष्ठ 382
13. वही, पृष्ठ 940
14. वही, पृष्ठ 207
    उपन्यासः=उपक्रमः, वाक्यप्रयोगः, विचारः, विश्वासेन अन्यसमीपे द्रव्यन्यासः (उपनिधिः) —न्यायकोश, पृष्ठ 163
15. संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टे), पृष्ठ 10, 559

**अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।**
**शब्दविद्येव नो भाति, राजनीतिरपस्पशा॥**[16]

इस पद्य में आलंकारिक रीति से राजनीति को शब्दविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र के समान बताया गया है। शब्दविद्या 'अनुत्सूत्रपदन्यासा' होती है, अर्थात् वह ऐसे 'न्यास' नामक व्याख्याग्रन्थों से युक्त होती है, जिनमें मूल सूत्र के पदों का उल्लंघन नहीं किया जाता, तात्पर्यतः वह सूत्रानुसारिणी न्यासात्मक व्याख्या से युक्त होती है। दूसरी तरफ राजनीति भी अनुत्सूत्रपदन्यासा होती है, अर्थात् उसमें शास्त्रविरुद्ध 'पद-न्यास' चलना—आचरण नहीं देखा जाता।[17] संक्षेप में महाकवि माघ ने 'राजनीति' की अनाचार-रहितता व सदाचार-संगति के निरूपण के प्रसंग से व्याकरणशास्त्र की परम्परा में 'न्यास' संज्ञक व्याख्या-ग्रन्थों की महत्ता को भी रेखांकित किया है। माघ कवि का समय लगभग 7-8वीं ई. शती माना जाता है, अतः उनके समय तक न्यासग्रन्थों को व्याकरण-परम्परा में पर्याप्त सम्मान व प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी– ऐसा सिद्ध होता है।

वस्तुतः 'न्यास' एक विशिष्ट व्याख्या-पद्धति का वाचक है। 'भण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान', पूना में उपलब्ध 'शिष्यहितान्यास' (कातन्त्र व्याख्या पर, आचार्य उग्रभूति भट्ट द्वारा रचित व्याख्या-ग्रन्थ) की पाण्डुलिपि पर उल्लिखित एक पद्य में 'न्यास' की शैली की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में निर्दिष्ट किया गया है–

**लेशोपदेशनिर्देश-विभागज्ञापकेष्टयः ।**
**निपातो गणसूत्रं चेत्यष्टांगन्यासलक्षणम्॥**

लेश, उपदेश, निर्देश, विभाग, ज्ञापक, इष्टि, निपात और गणसूत्र इन आठ अंगों से युक्त 'न्यास' ग्रन्थ होता है। लेश आदि पदों से क्या अभिप्रेत होता है, उसे 'ए डिक्शनरी ऑफ संस्कृत ग्रामर' के आधार पर निरूपित किया जा रहा है–

(1) **लेश**– अकार से युक्त य् एवं व् का अस्पष्ट उच्चारण एवं अपूर्ण उच्चारण जिसे कि पाणिनि के अनुसार लघु उच्चारण कहते हैं। अर्थात् इन दोनों वर्णों का उच्चारण इस प्रकार किया जाता है कि इन दोनों वर्णों में अकार का सहयोग समाप्तप्रायः है। इस तरह की सूक्ष्म भाषाशास्त्र-सम्बन्धी जानकारी,

16. शिशुपालवधमहाकाव्य (माघ), 2/112
17. उत्सूत्र उच्छास्त्रो नीतिशास्त्रविरुद्धः पदन्यासः एकपदप्रक्षेपोऽपि। स्वल्पव्यवहारोऽपि इति यावत्। स नास्ति यस्यां सा अनुत्सूत्रपदन्यासा। नीतिपूर्वक-सर्वव्यवहारा इत्यर्थः। अन्यत्र, अनुत्सूत्रपदन्यासा अनुत्सृष्टसूत्राक्षरः इष्टि-उपसंख्यान-नैरपेक्ष्येण सूत्राक्षरैरेव सर्वार्थप्रतिपादको न्यासः वृत्तिव्याख्यान-ग्रन्थविशेषः यस्यां सा तथोक्ता –मल्लिनाथ-टीका, माघ— 2/112।

तद्विषयक चर्चा एवं महत्त्वपूर्ण नियमादि का स्पष्टीकरण या निर्देश 'न्यास' ग्रन्थ की विशेषता होती है।

(2) **उपदेश**– तत्तच्छास्त्रों के तत्तद्विषय के प्रामाणिक आचार्यों द्वारा किया गया आदि 'प्रवचन' ही 'उपदेश' कहलाता है। यथा– उपदेश आद्योच्चारणम् (सिद्धान्त कौमुदी, संज्ञाप्रकरण)। इस विषय से सम्बन्धित अपेक्षित स्पष्टीकरण भी 'न्यास' में किया जाता है।

(3) **निर्देश**– किसी भी विषय के बारे में किसी आचार्य द्वारा दिया गया साधिकार वक्तव्य ही निर्देश कहलाता है। 'न्यास' में विशिष्ट आचार्यों के मन्तव्यों का भी निर्देश प्राप्त होता है।

(4) **विभाग**– किसी सूत्र अथवा वाक्य को उसके सार्थक अवयवों में विभक्त करना ही विभाग कहलाता है। उस विभाग से विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि की जाती है। यदि किसी सूत्र आदि का कोई ऐसा योग-विभाग किया गया हो तो उसका भी निर्देश 'न्यास' में होता है।

(5) **ज्ञापक**– व्याकरण शास्त्र में सूत्र एवं परिभाषा के प्रयोजन-सम्बन्धी विचार के समय, जिन सूत्रों एवं परिभाषाओं के अन्तर्गत किसी पद के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं, अपितु अप्रत्यक्ष रूप से जिस विशिष्ट नियम के अस्तित्व के बारे में संकेत मिलता है, वह वस्तु ज्ञापक सिद्ध कहलाती है। न्यास ग्रन्थ में उक्त नियमों का तथा वे किस प्रकार ज्ञापित होते हैं, इसका भी निर्देश प्राप्त होता है।

(6) **इष्टि**– सूत्रों के द्वारा असंगृहीत अर्थ को भी उपलक्षण द्वारा प्रकट किया जाना 'इष्टि' का द्योतक है। अभीप्सितार्थ की सिद्धि के लिए ही ऐसा किया जाता है। इसके द्योतक एवं 'वक्तव्यक्', 'एवमिष्यते', 'एवं व्याख्यातव्यम्' आदि वाक्य होते हैं। 'न्यास' ग्रन्थ में, अध्येता की ज्ञानवृद्धि की दृष्टि से उक्त 'इष्टि' का भी निर्देश होता है।

(7) **निपात**– निपात शब्द यद्यपि यास्क द्वारा शब्द के भेद के रूप में स्वीकार किया गया है, परन्तु व्याकरणशास्त्र में इसका अतिरिक्त अर्थ भी स्वीकार किया जाता है, जिसके द्वारा लक्षण-असाध्य प्रयोगों की तत्तदर्थ-विशेष में साधुता स्वीकार कर ली जाती है।[18] अर्थात् निपातरूप में व्यवहृत शब्दों का भी निरूपण 'न्यास' ग्रन्थ की विशेषता होती है।

(8) **गण सूत्र**– सूत्र के अन्तर्गत किसी 'गण' का निर्देश किया रहता है तथा वह गण अपने में निहित बहुत से शब्दों का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह एक गण के अन्तर्गत प्रयोगसिद्धि की दृष्टि से निर्दिष्ट सीमित पदावली को

18. निपतन्त्यन्येषु अर्थाः इति निपाताः (शिष्यहितान्यास, 1/3/1 कातंत्रव्याकरण)।

गणपाठ कहते हैं। तथा उस गणवाची सूत्र का निर्देश करने वाले को 'गणसूत्र' कहते हैं। जैसे– 'सर्वादीनि सर्वनामानि।'[19] यह एक सूत्र है जिसमें सर्वादिगण का उल्लेख है। यह सर्वादि शब्द व्याकरण शास्त्र में प्रयोग की दृष्टि से सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम आदि शब्दों का ग्राहक है। ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमें विशेष गणपाठ में पठित शब्द उपादेय होते हैं। सूत्र में मात्र 'गण' का नाम-निर्देश ही कर दिया जाता है। अध्येता की सुविधा हेतु व्याख्याकार के लिए यह आवश्यक होता है कि सूत्रोक्त गण-पाठ को पृथक् रूप में निर्दिष्ट करें। 'न्यास' ग्रन्थ में उक्त आवश्यकता को ध्यान में रखकर, गणपाठों का निर्देश किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इन आठों प्रकार की नियमविधाओं का उल्लेख जिस व्याख्या प्रणाली में किया जाता हो उस व्याख्या-प्रणाली को 'न्यास' कहा जाना उपयुक्त है।

## जैन परम्परा में 'न्यास' का विशिष्ट अर्थ

समस्त लोक-व्यवहार भाषा या वचन-प्रयोग पर आधारित हुआ करता है। वचन-प्रयोग शब्दों पर आधारित होता है और ये शब्द नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग व निपात– इन चार वर्गों में से किसी एक से सम्बद्ध होते हैं। इन शब्दों में विशिष्ट अर्थ सन्निहित होते हैं। इनमें 'नाम' (संज्ञा या भाववाचक) शब्दों का विशिष्ट स्थान है। प्रत्येक शब्द का अपना एक विशिष्ट अर्थ होता है, जो प्रकृति-प्रत्ययार्थ पर आधारित या रूढ़ि-परम्परागत होता है। अर्थ का शब्द के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है। जैसे, 'राजा' शब्द का (निरुक्तिगत) अर्थ है– नेतृत्व-ऐश्वर्य-शक्तिसम्पन्न व्यक्ति। अतः राजा शब्द नेतृत्व आदिगुणसम्पन्न व्यक्ति अर्थ को अभिहित करता है, या उस अर्थ का बोध कराने में वक्ता द्वारा प्रयुक्त होता है। किन्तु सूक्ष्मता से देखा जाए तो कभी-कभी व्यवहार में 'राजा' शब्द नेतृत्व आदि गुणहीन व्यक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे 'राजा' नामवाले व्यक्ति को भी 'राजा' कहा जाता है, राजा की मूर्ति को भी 'राजा' कह कर व्यवहार किया जाता है। यह जो शब्द का अपने मूल-विशिष्ट अर्थ तथा उसे भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ करता है, इस पर जैन आचार्यों ने चिन्तन किया है और इसके स्पष्टीकरण हेतु, वैज्ञानिक या भाषाशास्त्रीय नियमों का निरूपण किया है। ये नियम 'न्यास' या 'निक्षेप' या 'स्थापना' के नाम से जैन शास्त्रों में जाने जाते हैं।[20]

---

19. पाणिनि सूत्र. 1/1/27, द्र. सिद्धान्तकौमुदी, अजन्तपुंलिंग प्रकरण।
20. न्यासो निक्षेपः इत्यर्थः. (राजवार्तिक, 1/5/1)। निक्षेपो न्यासः स्थापना इति पर्यायाः (जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति-वृत्ति, पृष्ठ 5)।

## 'न्यास' या 'निक्षेप' की चतुर्विधता

प्रत्येक (नाम-संज्ञावाचक) शब्द का प्रयोग लोक-व्यवहार में अनेक विविध अर्थों का बोध कराने हेतु किया गया दृष्टिगोचर होता है। एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रतिष्ठित होना, वहाँ अध्यारोपित या सम्बन्धित या नियोजित होना अथवा (शब्दबोध्य) अर्थ-विशेष का विविध वस्तुविशेषों में प्रतिष्ठित, अध्यारोपित, या नियोजित हो जाना यही 'न्यास' या 'निक्षेप' है।[21] इस 'न्यास' से जुड़े हुए बोध्य पदार्थ भी न्यासों में वर्गीकृत होकर जाने जाते हैं। यद्यपि ऐसे 'न्यास' रूप पदार्थों की संख्या अनन्त है, किन्तु उन्हें सम्भावित चार रूपों में वर्गीकृत किया गया है[22]– 1. नाम, 2. स्थापना, 3. द्रव्य और 4. भाव[23]। व्यवहार में इन चारों का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है, अतः किसी एक को भी निकाला नहीं जा सकता। किसी एक को भी निकाल देने से 'समग्र व्यवहार' का निदर्शन नहीं कराया जा सकता।[24]

(1) **नाम-न्यास**– गुणविशेष से रहित वस्तु में, व्यवहार की सुविधा हेतु, स्वेच्छापूर्वक तद्गुणवाचक 'संज्ञा' रख देना (उक्त गुणविशेष के वाचक शब्द द्वारा पुकारने लगना) नाम-न्यास है।[25] जैसे, एक नौकर का नाम 'राजा' रख देना 'नामन्यास' है और वह नौकर 'नाम-राजा' है। चूँकि उस नौकर में राजा वाले कोई भी गुण नहीं हैं, फिर भी, उसमें गुणों का आरोप या उनका औपचारिक रूप से आक्षेप (निक्षेप) कर दिया जाता है।[26] वैदिक ग्रन्थों में भी इस निक्षेप का व्यावहारिक दृष्टान्त में प्रयोग देखा जाता है। जैसे मनुस्मृति का कथन है– जो विप्र अध्ययनशील (या ज्ञानवान्) नहीं है, वह तो नाम मात्र का विप्र (ब्राह्मण) है।"[27]

(2) **स्थापना-निक्षेप**– काष्ठ, पुस्तक, मूर्ति, चित्र या पासे-मोहरे आदि पदार्थों को भी जो अभिधेय वस्तु के आकार से समानता रखते हैं या नहीं भी रखते,

---

21. निक्षेपणं, योजनम्, अध्यारोपणं निक्षेपः (सिद्धिविनिश्चयवृत्ति)।
22. ननु अनन्तः पदार्थानां निक्षेपो वाच्य इत्यसत्।
नामादिष्वेव तस्यान्तर्भावात् संक्षेपरूपतः।। (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 2/1/5)
23. निक्षेपः स चतुर्धा नाम स्थापना ततो द्रव्यम्। भावः (पंचाध्यायी, 1/741)। नामस्थापनाद्रव्य-भावतस्तन्न्यासः (तत्त्वार्थसूत्र 1/5)।
24. तदन्यतमापाये सकलसंव्यवहारानुपपत्तेश्च युक्तः सर्वपदार्थानां नामादिभिः न्यासः (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/5, पृष्ठ 117)। लोके हि सर्वैः नामादिभिः दृष्टः संव्यवहारः (तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5/19-30)।
25. अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारात् नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम (सर्वार्थसिद्धि. 1/5/22)। निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम। (तत्त्वार्थराजवार्तिक. 1/5/1)।
26. इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः। (पंचाध्यायी, 1/740)।
27. यश्च विप्रोऽनधीयानः, त्रयस्ते नाम बिभ्रति। (मनुस्मृति 2/157)।

अभिधेय वस्तु रूप में व्यवहृत करना यह स्थापना-न्यास है।[28] जैसे, राजा के चित्र को, उसकी मूर्ति को 'राजा' कहना यह 'स्थापना-न्यास' है, और वह मूर्ति 'स्थापना-राजा' कही जाएगी।

(3) **द्रव्य-निक्षेप**– वर्तमान में गुण-विशेषों, पर्याय/अवस्था-विशेषों के न होने पर भी, पूर्व में या भविष्य में उक्त गुण-विशेषों के निर्देशक शब्दों से व्यवहृत करना जैसे, भूतपूर्व राजा को, या भविष्य में राजा बनने वाले को 'राजा' कहना यह 'द्रव्य-न्यास'[29] है, और वह व्यक्ति 'द्रव्य-राजा' है।

(4) **भाव-निक्षेप**– वर्तमान में गुणविशेषों या पर्यायविशेषों को प्राप्त कर रहे पदार्थ को उन गुणविशेषों व पर्यायविशेषों का संकेत करने वाले शब्दों से अभिहित करना, जैसे वर्तमान में 'राजा' पद पर समासीन व्यक्ति को राजा कहना, यह 'भावनिक्षेप' है[30] और वह व्यक्ति 'भाव राजा' कहा जाएगा।

## चारों न्यासों में अर्थक्रिया

यहाँ यह शंका उठाई गई है कि 'भाव न्यास' में तो अभिधेय व्यक्ति नेतृत्व-ऐश्वर्य-शक्ति सम्पन्नता के साथ अर्थक्रिया करता है, किन्तु अन्य न्यासों में उस रूप में अर्थक्रिया नहीं देखी जाती, अर्थात् नाम का राजा या राजा की मूर्ति शत्रु-नाशादि रूप अर्थक्रिया नहीं करते, अतः अर्थक्रिया के अभाव में नाम-न्यास आदि वस्तु की किसी विशेष रूप में अर्थक्रिया जरूरी नहीं, अपितु कोई-न-कोई सामान्य अर्थक्रिया जरूरी है। नाम-राजा या स्थापना-राजा में भी कोई-न-कोई अर्थक्रिया तो होती ही है, भले ही वह नेतृत्व-ऐश्वर्यादिसम्पन्न रूप में न हो।[31]

## नाम आदि निक्षेपों में 'न्यास' शब्द की सार्थकता

'नि' पूर्वक असु धातु से भाव में या कर्म आदि अर्थों में घञ् प्रत्यय करने पर

---

28. काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना (सर्वार्थसिद्धि, 1/5/22)। सोऽयं तत्समरूपे बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा (पंचाध्यायी, 1/742), सोऽयमित्यभिसम्बन्धेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना (तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5/2)।
29. गुणैः गुणान् वा द्रुतं गतं, गुणैः द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यति इति वा द्रव्यम् (सर्वार्थसिद्धि, 1/5/22)। अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यं नाम... अतद्भावं वा (तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5/3-4)।
30. वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः (सर्वार्थसिद्धि 1/5/22, राजवार्तिक 1/5/8)। तत्पर्यायो भावः (पंचाध्यायी 1/744)।
31. नामादिअर्थक्रियायाः तर्हि भावेन अकरणात्, तस्य अनर्थक्रियाकारित्वमस्तु, कांचिदपि अर्थक्रियां न नामादयः कुर्वन्ति– इत्ययुक्तं तेषामवस्तुत्वप्रसंगात्। न चैतदुपपन्नं भाववत् नामादीनाम् अबाधितप्रतीत्या वस्तुत्वसिद्धेः (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 1/5, पृष्ठ 117)।

'न्यास' शब्द निष्पन्न होता है। इसके अर्थ हैं– धरोहर रखना, प्रक्षेपण, प्रतिष्ठित-प्रतिष्ठापित करना आदि, तथा धरोहर रूप में रखे गए, प्रक्षिप्त, प्रतिष्ठित किये गये अर्थ-विशेष।[32] जैसे कोई निधि का स्वामी अपनी निधि को, अपने विविध अभीष्ट अर्थों-प्रयोजनों की सिद्धि के उद्देश्य से, पृथक्-पृथक् रूप में धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित-प्रतिष्ठापित कर देता है ताकि उस निधि (के पृथक्-पृथक् भागों) का अभीष्ट प्रयोजनों में सदुपयोग हो सके, उसी तरह 'राजा' आदि शब्दार्थ नामधारी राजा, मूर्तिस्थित राजा, भावी या भूत राजा तथा वास्तविक राजा –इन चारों में प्रतिष्ठापित कर दिया जाता है,[33] फलस्वरूप वे पदार्थ 'राजा' शब्द से अभिहित होते हैं।

इसी तरह, जैसे गन्धोदक जैसे पवित्र जल को किसी सामान्य जल के पात्र में निक्षिप्त कर दें तो पात्र का वह जल भी गन्धोदक के रूप में व्यवहृत हो जाता है, वैसे ही, राजा–शब्दार्थ (विशेषकर नाम, स्थापना व द्रव्य-न्यासों में) राजकीय गुणरहित वस्तुओं में भी निक्षिप्त होकर, औपचारिक सत्त्व के कारण उन वस्तुओं से जुड़ जाता है, नियोजित हो जाता है[34] और फलस्वरूप व्यवहार में वे पदार्थ 'राजा' नाम से अभिहित कर दिए जाते हैं। लोकव्यवहार को देखकर, एक शब्द कितने पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयुक्त होता है, या हो सकता है, उन-उन अर्थों की प्रकल्पना 'न्यास' विधि का अंग है।[35]

## 'न्यास' की महती उपयोगिता

उपर्युक्त न्यास-विधि के माध्यम से जीव आदि पदों के विविध व्यापक अर्थों में प्रयोगों की जानकारी प्राप्त होती है, अतः तत्त्वज्ञान की दृष्टि से 'न्यास' विधि का महत्त्व सुस्पष्ट है। इसलिए जैन शास्त्रों में कहा गया कि जीवादि पदार्थों को जानने का उपाय 'न्यास' है,[36] और 'न्यास' विधि से जाने गए पदार्थों को ही प्रमाण व नय विशेषरूप से या विस्तार बोध कराते हैं।[37]

---

32. न्यसनं (न्यासः), न्यस्यते इति न्यासः (तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5/1)।
33. एकस्य अर्थस्य नामस्थापनाद्रव्यभावैर्न्यासः इति आचक्ष्महे (तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/5/21)।
34. निक्षेपणं योजनम् अध्यारोपणं निक्षेपः (सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, 12/1)। इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः (पंचाध्यायी, 1/740)।
35. अथवा बाह्यार्थविकल्पो निक्षेपः (धवला 4/1, 3, 1/2/6)।
36. उपायो न्यास इष्यते (धवला, पु. 1, पु. 17, पु. III, पृष्ठ 18, प्रमाणसंग्रह 86, लघीयस्त्रय 52)।
37. जीवादीनां तत्त्वानां यथोद्दिष्टानां नाम-आदिभिः न्यस्तानां प्रमाणनयैः विस्तराधिगमो भवति (तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य 1/6)।

जब प्रयोजन-विशेष या परिस्थितिविशेष में, एक ही शब्द नाम आदि चार पृथक्-पृथक् अर्थों को अभिहित कर सकता है, तब अमुक शब्द प्रकृत में किस निक्षेप के अधीन प्रयुक्त है– इसका स्पष्टीकरण न हो तो व्यवहार में अनेक प्रकार की भ्रान्ति या व्यभिचार अर्थात् अनिष्ट अर्थ का ग्रहण सम्भव है। अतः प्रकृत अर्थ का बोध तथा अप्रकृत अर्थ का निराकरण करना– यह न्यास-विधि का उद्देश्य या प्रयोजन है, उसकी यह सार्थकता व उपयोगिता है।[38] अर्थात् संशय, विपरीत ज्ञान या अनध्यवसाय (अनिर्णय) की स्थिति से हटाकर निश्चय या सम्यग्ज्ञान में व्यक्ति को प्रतिष्ठित करना यह भी 'निक्षेप' विधि की उपयोगिता है।[39]

निष्कर्ष यह है कि शब्द के अर्थ में भ्रान्ति न हो और वक्ता (व शास्त्र आदि) के अभिप्राय को ठीक से समझा जा सके– इस दृष्टि से 'न्यास' विधि की परम उपयोगिता है, न्यास विधि से शब्द के विविध अर्थों में सम्भावित प्रयोगों को जान कर, प्रकृत में अभिप्रेत अर्थ का निर्णय करना न्यासविधि के ज्ञान से सम्भव है। अन्यथा अर्थ-निर्णय में भ्रान्ति हो सकती है और अनुपयुक्त-अनिष्ट अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। आचार्य अकलंक ने इसी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए, प्रस्तावना में कहा है– व्यवहार में निक्षेप-ज्ञान के अभाव से अनुचित अर्थ का ग्रहण करने से व्यभिचार-दोष (अनिष्ट अर्थ-सेवन) की सम्भावना है, उसकी निवृत्ति हेतु न्यास विधि का निरूपण किया जा रहा है।"[40]

## नाम आदि न्यासों की 'जिन' व जैन पद में संगति

किसी व्यक्ति का 'जिन' या 'जिनेन्द्र' नाम रख दिया गया है, तो वह जीव 'नाम-जिन' है। जिनेन्द्र की प्रतिमा को 'स्थापना-जिन' कहा जाएगा। जो जीव भविष्य में तीर्थंकर या जिनेश्वर स्वरूप को प्राप्त करने वाले हैं, वे 'द्रव्यजिन' कहे जाएँगे, तथा जो वर्तमान में 'जिनत्व' रूप से सम्पन्न होते हुए 'समवसरणस्थ' हैं, उन्हें 'भावजिन' जानना चाहिए। इसी तथ्य को आ. राजमल्लजी ने 'पंचाध्यायी' ग्रन्थ में निम्नलिखित गाथा के माध्यम से स्पष्ट किया है–

**णामजिणा जिणणामा, ठवणजिणा जिणिंदपडिमाए।**
**दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था॥**[41]

उपर्युक्त नाम आदि न्यासों में सूक्ष्मता में देखें तो उनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है।

---

38. अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च निक्षेपविधिना शब्दार्थः प्रस्तीर्यते (सर्वार्थसिद्धि, 1/5/22)। अप्रकृतनिराकरणकारेण प्रकृतप्ररूपको वा (धवला 4/1, 3, 1/2/6)।
39. संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितः, तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपति इति निक्षेपः (धवला 4/1, 3, 1/2/6)।
40. द्र.तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5 की उत्थानिका (संव्यभिचारविशेषव्यभिचारनिवृत्त्यर्थम्)।
41. पंचाध्यायी, 1/744 की टीका में उद्धृत।

जैसे, मात्र नामधारी 'जिनेन्द्र' की अपेक्षा 'स्थापना जैन' अर्थात् 'जिनमूर्ति' की श्रेष्ठता है, क्योंकि उस प्रतिमा के प्रति जनता के आदर एवं अनुग्रह-आकांक्षा का दर्शन होता है।[42] उस मूर्ति की तुलना में वह सचेतन आत्मा, जो भविष्य में जिनेन्द्र-पद प्राप्त करने वाली है, निश्चय ही आदरणीय व श्रेष्ठ कही जाएगी और सर्वश्रेष्ठता 'भाव-जिन' आत्मा की ही है, क्योंकि वह वर्तमान में जिनेन्द्ररूपता को प्राप्त कर, जन-जन के आदर की पात्र व सर्वपूज्य बन चुकी है।

इसी प्रकार, जैन पद में भी चतुर्विध न्यासों की संगमना-उपपत्ति की जा सकती है। जैनकुलोत्पन्न हर व्यक्ति प्रायः अपने नाम के आगे 'जैन' लिखता है। सब लोगों द्वारा उन्हें 'जैन' नाम से पुकारा जाता है। अतः प्रत्येक जैनकुलोत्पन्न व्यक्ति 'नाम-जैन' है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति का नाम ही 'जैन' रख दिया जाय, तो वह भी नाम-जैन कहलाएगा।

जैन यानी रागद्वेषादिरहित वीतराग देव के उपासक। ऐसे किसी उपासक की मूर्ति को 'स्थापना जैन' कहा जाएगा। जो भूत या भविष्य में जिनदेवोपासक या जिन-श्रद्धावान् हुए या होंगे, वे 'द्रव्य जैन' हैं, किन्तु जो वर्तमान में वीतराग में सम्यक्-श्रद्धान रखकर उनके उपदेश पर चलने की इच्छा, कर्मठता से युक्त हैं, वे 'भावजैन' कहे जाएँगे। इन चारों को पूज्य पं. आशाधर जी ने 'सागारधर्मामृत' में इस प्रकार व्यक्त किया है–

**नामतः स्थापनातोऽपि, जैनः पात्रायतेतराम्।**
**स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैः, भावतस्तु महात्मभिः॥**[43]

इस पद्य के हार्द को इस प्रकार समझना चाहिए– 'भाव-जैन' तो अपेक्षाकृत सर्वश्रेष्ठ हैं ही, और यह 'भावजैनता' महान् आत्माओं को ही प्राप्त होती है। किन्तु जो इस भावजैनता को अनन्त जीवन-पथ पर किसी भी समय, भूत या भविष्य में प्राप्त करने वाले 'द्रव्यजैन' हैं, वे भी 'धन्य' हैं, आदरणीय हैं। शेष जो दो 'नामजैन' और 'स्थापनाजैन' हैं, उन्हें भी, हम 'उपेक्षणीय' न मानें, क्योंकि अजैनों की तुलना में, ये भी प्रशस्त सम्मान के पात्र हैं। किसी जिन-भक्त जैनव्रती श्रावक व श्रमण आदि की मूर्तियाँ भी द्रष्टा को जैनत्व की ओर अभिमुख कर सकती हैं और सन्मार्ग-आचरण में निमित्त व प्रेरक हो सकती हैं। इसी प्रकार, जैन नामधारी सामान्य जन भी, अपने नाम के विषय में चिन्तन करता हुआ, उसके गुणों के प्रति भी जिज्ञासु बने और अपने जीवन में उन्हें उतारने का इच्छुक हो– ऐसा होना प्रायः सम्भव है। इन सब दृष्टियों से, 'नाम जैन' भी कभी आदरणीय हो सकता है, अतः वह भी 'सत्पात्र' की श्रेणी में रखा जा सकता है।

---

42. आदरानुग्रहाकांक्षित्वात् स्थापनायाः –(तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/5/12)।
43. सागारधर्मामृत, 2/54

**अकारादिक्षकारान्तं, वर्णाः प्रोक्तास्तु मातृका।**
**सृष्टिन्यास-स्थितिन्यास-संहतिन्यासतस्त्रिधा॥**

–आचार्य जयसेन, प्रतिष्ठा पाठ, 377

अकार से लेकर क्षकार {क्+ष्+अ} पर्यन्त मातृका वर्ण कहलाते हैं। इनका तीन प्रकार का न्यास (क्रम) है– सृष्टिन्यास, स्थितिन्यास और संहारन्यास।

इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। यहाँ वैदिक व श्रमण साहित्य में न्यास-सम्बन्धी जो निरूपण प्राप्त है, उसे संक्षिप्त रूप में, परिचयात्मक स्वरूप में, उपस्थापित कर दिया गया है। विद्वानों व अध्येताओं के लिए इस विषय पर और अधिक अध्ययन व अनुसन्धान की आवश्यकता है, ताकि ज्ञान-विज्ञान की प्राचीन निधि से सभी सुपरिचित हो सकें और स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर सकें।

❖❖

# क्षुल्लक को अर्घ्य देना चाहिए?

## क्षुल्लक (लघु मुनि) अर्चना के योग्य है

**देव्या तयोरर्चनया[1] तयैव, चित्रीयमाणः सह पौरवर्गैः।**
**अवेत्य तौ स्वस्य च भागिनेयौ, स मारिदत्तौ नृपतिर्जहर्षः॥**

—यशोधरचरित्र, 67, पृष्ठ 88

**अर्थ**— उस देवी के द्वारा उन क्षुल्लक और क्षुल्लिका की अर्चना-पूजा देखकर जो नगरवासियों के साथ आश्चर्य कर रहा था ऐसा मारिदत्त राजा उन दोनों को अपना भानजा तथा भानेजन जानकर हर्षित हुआ।

प्रतिग्रहण (रोककर ले आना), उच्च स्थान देना, पाद प्रक्षालन, अर्चना, प्रणाम, मन-वचन-कायशुद्धि और एषणा शुद्धि— ये नवधा भक्ति पुण्य कहलाते हैं।

**भरतस्यानुजा ब्राह्मी, दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।**
**गणिनीपदमार्याणां, सा भेजे पूजितामरैः॥**

—आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 24-15

**अर्थ**— भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्याओं के बीच में गणिनी (साध्वी संघ की प्रधान) पद को प्राप्त हुई थी, उसकी देवता भी पूजा करते थे।

## क्षुल्लक की चर्या : आचार्य शांतिसागर के विचार

'नवधा भक्ति का कारण'— नवधा-भक्ति अभिमान-पोषण के हेतु नहीं है, वह धर्म-रक्षण के लिए है। उससे जैनी की परीक्षा होती है। अन्य लोग धोखा नहीं दे सकते हैं। —चारित्रचक्रवर्ती, पृष्ठ 298

---

1. **(क) अर्च् पूजायाम्।** —नाममाला, पृष्ठ 26, अमरकीर्ति, भाष्य 49
**(ख) चेलोपसृष्टमुनिरिव**— क्षुल्लक कपड़े से ढका हुआ लघु मुनि है।
—रत्नकरण्ड, 102

'क्षुल्लक को समुदाय रूप से अर्घ देना चाहिये।' —वही, पृष्ठ 299

**णिग्गंथ अज्जियाओ, खुड्ढाखुड्ढी च चदुविहो संघो।**
**जे जे विराहिदा खलु, मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज॥**

—आचार्य शिवार्य, कल्लाणालोयणा, 3

**अर्थ**— निर्ग्रन्थ (दिगम्बर[2] मुनि), आर्जिका, क्षुल्लक व क्षुल्लिका— इन चारों प्रकार संघों में से जिस किसी की विराधना (आशातना) अविनय हुई हो तो वह सब मेरा पाप मिथ्या हो।

**आदौ मध्ये तथा चान्ते, येषां वाक्यमदोषवत्।**
**कष दाहै: स्वर्णमिवच्छेदेऽपि स्याच्छुभं शुभं॥**

विद्वानों की बात आदि, मध्य, अंत में एक जैसी ही रहती है। सोने को काटा जाए, चाहे जलाया जाए, वह शुद्ध ही रहता है।

**दीक्षाच्छेद**

**जिनसूत्रापरिज्ञानादुत्सूत्रं वर्णयेत्पुन:।**
**स्वच्छन्दस्य भवेत्तस्य मूलदण्डो विधानत:॥**

—आचार्य नरेन्द्रसेन, सिद्धान्तसार, 10-103

**अर्थ**— जिनेन्द्र-सूत्र का ज्ञान न होने से जो उत्सूत्र प्रतिपादन करता है, उस स्वच्छन्द मुनि और आचार्य को शास्त्रोक्त विधि से मूलदण्ड (दीक्षा छेदकर) देना चाहिये अर्थात् पुनः दीक्षा देनी चाहिये।

❖❖

---

**एकादश प्रतिमाधारी क्षुल्लक**

2. **लोहिताभिजातिनाम् निगण्ठा।**
**एक साटिका तिवदति।।**

—त्रिपिटक, अंगुत्तर निकाय, भाग 3, पृष्ठ 383

अर्थात् निर्ग्रन्थ एकवस्त्रधारी लोहिताभिजाति उच्चकुल से विख्यात है। दिगम्बर जैन परमागम में एकवस्त्रधारी गृहत्यागी एकादश प्रतिमाधारी क्षुल्लक आज भी एक लाल भगवा वस्त्र पहनते हैं। भगवा वस्त्र भगवान् बनने का प्रतीक (लघु मुनि) है।

# 'स्वाहा' पद का गूढार्थ

## [स्वाहा गूढार्थप्रकाशनम्]

**नमः स्वस्ति-स्वाहा-स्वधालंवषट्योगे चतुर्थी।**

—कलाप कातन्त्र[1], कारक, 403, पृष्ठ 73
निर्णयसागराख्ययन्त्रालये, मुम्बई, विक्रम संवत् 1952

'नमः', 'स्वस्ति', 'स्वाहा', 'स्वधा', 'अलम्', 'वषट्' के योग होने पर चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

### सूत्र की परिभाषा

**अल्पाक्षरमसंदिग्धं, सारवद् गूढनिर्णयम्।**
**निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥** —पंचसंग्रह, 585

अर्थ— जिसमें अल्प अक्षर हों, जो संदेह-रहित हो, जिसका गूढ-निर्णय हो, जो निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और तथ्यभूत हो, उसे ही गणधरों ने 'सूत्र' नाम से सम्बोधित किया है।

**न्यासः— उपपदविभक्तेरित्यादिक्रियाकारकयोः सम्बन्धस्य बलीयसी भवति।**

—आचार्य उग्रभूतिभट्ट, कातन्त्रन्यास, 2-4-26 पृष्ठ 240

उपपद विभक्ति (अर्थात् पद के आधार पर होने वाली विभक्ति) के प्रयोग में भी क्रिया और कारक का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध बलवान् होता है, अतः उपपद विभक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

**वृत्तिः (व्याख्यानम्)— नमस्स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगे चतुर्थी नमस् स्वस्ति-स्वाहा स्वधालंवषड्ि भरिति कर्त्तव्ये योगग्रहणं-पर्याप्त्यर्थस्यालंशब्दस्य ग्रहणार्थम्।**

—आचार्य उग्रभूति, कातन्त्रवृत्ति, 2-4-26 पृष्ठ 76

नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, वषड् के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। यहाँ

---

1 कातन्त्रप्रवर्तककालो विक्रमपूर्वतृतीयसहस्राब्दीति मन्यते।
—लेखक— लोकमणिदाहाल, व्याकरणशास्त्रेतिहासः, पृष्ठ 260, 1990
कातन्त्र व्याकरण का काल विक्रम पूर्व 3000 साल है।

पर प्रश्न यह है कि 'पृथक्' रूप से 'योग' का उल्लेख किसलिए किया गया है? जिसका उत्तर वृत्तिकार देते हैं– 'पर्याप्ति' अर्थ वाले 'अलम्' शब्द के लिये योग का ग्रहण किया गया है।

**व्वायरण-सत्थ-कुसलेहिं।**

–आचार्य वीरसेन, धवला, भाग 1, पृष्ठ 71

**अर्थ**– आचार्य पुष्पदंत-भूतबली व्याकरणशास्त्र में अत्यन्त कुशल थे।

'स्वाहा' बीज पद से निर्मित है। इसके गर्भ में अनेक अर्थ छिपे हैं–

**सिद्धिरनेकान्तात्।**

–आचार्य देवनन्दि, जैनेन्द्रप्रक्रिया, 1-2-1

**अर्थ**– शब्दों की सिद्धि अनेकान्त से सम्भव है, एकान्त से नहीं।

**कोरे तर्क की कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं है-**

**आकारं श्वेतवर्णं तु, सर्वलोकवशंकरम्।**
**विश्वस्य स्वामिनं ध्यायेत्, समर्थं बहु कर्मसु॥**

–आचार्य देवनन्दि, वर्ण तथा फल 1

**आ** वर्ण श्वेत रंग का है। यह सभी को वश में करने वाला है। बहुत से कार्यों को करने में समर्थ इस वर्ण से विश्व के स्वामी अर्थात् परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

**सकारं क्षीरवर्णं तु, गम्भीराधिपसंभूतम्।**
**हकारं सर्ववर्णं तु, मंत्र-मूर्तिसमन्वितम्॥** –वही, 49

**स** वर्ण का रंग गाय के दूध के समान होता है। यह शान्ति एवं गम्भीरता से उत्पन्न है। **ह** सर्ववर्णात्मक है। यह मन्त्रात्मक होने से सभी से युक्त है।

**ऊष्माणः शषसहाः।** –कातन्त्र व्याकरण, 17

**ऊष्म उष्णं धर्ममुत्पादयन्तीति शषसहा इत्येते वर्णा ऊष्मसंज्ञा भवन्ति।**

'श, ष, स, ह' वर्ण ऊष्म कहे जाते हैं, क्योंकि इनके उच्चारण के समय गले से बाहर निकलने वाली वायु भीतर में अत्यधिक ऊर्जा प्रदान करती है।

इस मानव-शरीर में बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ हैं, उनका शोधन 'स्वाहा' कार पदस्थ ध्यान से भी होता है, जैसे अग्नि में तप्त धातुओं के दोष। 'तुष माष' शब्द लोक धर्म का है, फिर भी केवलज्ञान हो गया।

**स्वाहा**[2] में वाणी का उच्चारण क्रमशः दाँत, ओष्ठ और कण्ठ से होता है।

---

[2] वकारं श्वेतवर्णं तु, वारूण्यमधिदैवतम्। –आचार्य देवनन्दि, वर्ण तथा फल, 45
– वाशब्दोऽत्र समुच्चयार्थः –यहाँ **वा** शब्द समुच्चय के लिये है।

**सिंहावलोगण्णाएण।** –षट्खंडागम (छक्खंडागम), पु. 13

–यह सिंहावलोकन मात्र है, विस्तार नहीं।

## औचित्य का उल्लंघन न करें

**औचित्यं न लंघयेत्**

स्वाहा इस महापद का अवबोधन स्वीकार करें–

**गुणकोट्या तुलाकोटी, यदेकमपि टीकते।**
**तदप्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य गरलायते॥**

–आशाधरसूरि, अनगार धर्मामृत, 6-25

अर्थात् यदि करोड़ों गुणों को एक तरफ और 'औचित्य' को दूसरी तरफ रखकर देखा जाए तो एक 'औचित्य' का ही प्रमाण अधिक मिलेगा, किन्तु जो नितान्त लुब्धक से आक्रान्त है उसे वह भी विष के समान जान पड़ता है। औचित्य चर्चा मीमांसा ग्रंथ पढ़ने से पता लगता है कि 'औचित्य' पद का क्या महत्त्व है।

सम्यग्ज्ञान का स्रोत अक्षर नहीं, अनुभव है–

**अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा।**
**दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशनम्॥**

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण 21-156

अर्थात् एक अक्षर, एक पद या उसके अर्थ के दाता को विस्मरण करनेवाला पापी है, तब धर्म-उपदेश को विस्मरण करनेवाला महापापी क्यों न होगा?

## 'स्वाहा' आगमसम्मत उत्तर

**बृहद्दीक्षा विधि-**

**ओं ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा ह्रीं स्वाहा।**

**वड्ढमाणविज्जा-**

**.....अपराजिदो भवदु रक्ख-रक्ख स्वाहा।**

**वाग्देवी जप-**

**ओँ ह्रीं श्रीं वदवदवाग्वादिनी स्वाहा।**

–आचार्य मल्लिसेन, सरस्वती कल्प, 9

**गणधरवलय में-**

**ॐ ह्रीं ह्रुं अ सि आ उ सा झ्रौं झ्रौं स्वाहा।**

**ऋग्वेद में-**

**ॐ रक्ष-रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा।** –ऋग्वेद, 2-4-24

साह — आराधना करना।

—अर्धमागधी कोष, भाग 4, पृष्ठ 732

**स्वाहा एक विद्या-**

**विज्जोसाहमंतबलं।**
**विद्या स्वाहाकारान्ता तद्रहिता मंत्रस्य।**

—भगवती आराधना, विजयोदया टीका, 2/1734

अर्थात् जिसके अन्त में 'स्वाहा' कार होता है उसे **विद्या** कहते हैं और जिसके अन्त में 'स्वाहा' कार नहीं उसे **मन्त्र** कहते हैं। 'स्वाहा' पदस्थ ध्यान का निमित्त और पुण्यबंध, पापक्षय का कारण भी है। **स्वाहा** आर्ष पद है, अनघड नहीं।

—बुद्धिमान् साधु परमागम से विचार किए हुए विषय को ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे सत्य महाव्रत, भाषा समिति एवं वचन गुप्ति का ध्यान रखते हैं।

दिगम्बर साधु तो पूर्णतः निर्वृत्त होते हैं, उनके पास समय भी बहुत होता है, अतः उन्हें तो विशेष रूप से स्वाध्यायादि द्वारा शब्दसाधना की वृद्धि करनी चाहिए। प्रतिदिन कम से कम एक-एक शब्द का तो सर्वांग एवं गूढ़ अध्ययन करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। वे अपने ज्ञान का समीचीन विकास इस शब्द-साधना के द्वारा ही कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। कहा गया है कि जिसप्रकार राजा के पास 'कोष' (धन का भंडार) होना आवश्यक है, उसी प्रकार विद्वान् के पास 'कोश' (शब्द का भंडार) होना आवश्यक है—

**कोषस्येव महीपानां कोशस्य विदुषामपि।**
**उपयोगो महान् यस्मात् क्लेशस्तेन विना भवेत्॥**

**स्वाहा : शान्तिकम्।**

—जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, वर्ष 20, दूसरा किरण

**स्वाहा और पूजा का फल-**

**यस्यार्थं क्रियते पूजा, तस्य शांतिर्भवेत् सदा।**
**शांतिके पौष्टिके चैव, सर्वकार्येषु सिद्धिदा॥**

- **साहा** – (स्वाहा) अव्यय

  **देवतायै द्रव्यत्यागार्थं प्रयुज्यमाने शब्दे।** —अभिधान राजेन्द्र कोश, 7/800

- **स्वाहा** परमागम-सम्मत महापद है।
- **साहा** (स्त्री)— प्रशंसा।
- **साहा** अव्यय (स्वाहा)— देवता के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग का सूचक।
- **साहा** स्त्री (शाखा)— एक ही आचार्य की संतति में उत्पन्न अमुक मुनि की

सन्तान-परम्परा। —पाइअसद्दमहण्णवो, पृष्ठ 896

**...गुरुणापि प्रतिपन्नगुरुभावस्य रत्नत्रयपुरः सरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनाऽष्टतयी-मिष्टिं करोमीति स्वाहा।** —सोमदेवसूरि, यशस्तिलक, 8, पृष्ठ 382

- **णमो अरिहंताणं ह्रीं अवतर-अवतर स्वाहा।** —भद्रबाहुसंहिता, पृष्ठ 488
- **साहा अव्यय स्वाहा-समर्पण।** —अर्धमागधी कोष, भाग 4, पृष्ठ 734
- **स्वाहापति** स्वाहापति का अर्थ हवा है। —धनंजय-नाममाला, पृष्ठ 32-33

वैयाकरणों का एक प्रसिद्ध श्लोक है कि शब्द का अर्थ करते समय व्याकरण, निरुक्ति, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सिद्धपद का सामीप्य —इतने अनुबन्धों का ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा अर्थ विपरीत भी हो सकता है।

**स्वाहा और ध्वजारोहण विधि-**

**श्रीमज्जिनस्य जगदीश्वरताध्वजस्य।**
**मीनध्वजादिरिपुजाल जयध्वजस्य॥**
**तन्यासदर्शनजनागमन ध्वजस्य।**
**चारोपणं विधिवदाविदधे ध्वजस्य॥**

—प्रतिष्ठातिलक 5-1, पृष्ठ 85

यानि— जो ध्वजा वीतराग जिनेश्वर देव की जगदीश्वरता, कामदेवादि शत्रु-समूह पर विजय तथा जिनबिम्ब-मूर्ति के दर्शनार्थियों के आवाहन आदि की प्रतीकचिह्न है, मैं ऐसी [**पंचवर्ण केतन्,** प्रतिष्ठातिलक, पृष्ठ 84] महाध्वजा का (विधिवत्— **ओं ह्रीं श्रीं क्षीं भूः स्वाहा**) विधिपूर्वक आरोहण करता हूँ।

**इति ध्वजारोहणविधिं स-भेरीसंताडनं यो विदधाति भव्यः।**

जो भव्य श्रावक, श्राविका इसप्रकार भेरी (शंख-वादित्र) के जयघोषपूर्वक महाध्वजारोहण-विधि को सम्पन्न कराता है, वह मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

'जय' का अर्थ है— सावधान हो, संकल्प करो और सम्यक् श्रद्धा रखो।

**इति ध्वजस्थापनम्।।**

**पंचरंग ध्वज-गीत-**

आदि ऋषभ के पुत्र भरत का, भारत देश महान।
ऋषभदेव से महावीर तक, करें सुमंगल गान।।
पंच रंग पाँचों परमेष्ठी, युग को दें आशीष।
विश्व शान्ति के लिए झुकाएँ, पावन ध्वज को शीष।
'जिन' की ध्वनि जैन की संस्कृति, अग-जग को वरदान।

**बृहत् शान्तिधारा पाठ**

**ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषदोषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये श्रीशान्तिनाथाय शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रव विनाशनाय सर्वारिष्टशान्ति-कराय ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्र: अ सि आ उ सा नम: सर्वविघ्नशान्तिं कुरु कुरु तुष्टिं पुष्टिं कुरु कुरु स्वाहा।** —पूजन-पाठ-प्रवीन, पृष्ठ 484

**गंधोदक देने का मन्त्र-**

**यत्प्रसादाद्धि चारित्ररत्नमासाध्यमुच्यते।**
**भूता भवंतो भव्याश्च प्रणम्य गुरुपादयो:॥**

—जिनेन्द्रपूजापाठ, पृष्ठ 32

**गंधोदक लेते समय व्रती पढ़ते हैं-**

**ओं नमोऽर्हत्परमेष्ठिभ्यो मम सर्वशांतिर्भवतु स्वाहा-गंधोदकेन आत्मपवित्रीकरणम्।**

—जिनेन्द्रपूजापाठ, पृष्ठ 32

**स्वाहा अमलालीढ और पूज्य पद है।**

**हम ज्ञान को परम विवेक के साथ चाहते हैं-**

**अर्हत्परमेष्ठिने जन्म-जरा-मृत्यु-विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।**

—ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृष्ठ 39

**अर्थ**— श्री अरिहंत परमेष्ठि के लिए मैं जन्म, जरा तथा मृत्यु नष्ट करने के लिए जल को **अर्पण** करता हूँ।

शास्त्राभ्यास करनेवाले जिज्ञासु को इस प्रसिद्ध वाक्य को स्मरण करना चाहिये—

**दुर्मेधेव सुशास्त्रे वा तरणी न चलत्यत्।**

—आचार्य शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण 12-254

मनुष्य की दुष्ट बुद्धि हितकर शास्त्रों में चलाने पर भी नहीं चलती है।

**सारांश**— 'नमः' शब्द से अहंकार नष्ट होता है। 'स्वाहा' शब्द आत्म-शांतिकारक है। एतावता परम मंगलमय है।

स्वाहा— मेरी क्रिया स्वस्तिकारक हो।

**हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद् व्यर्थ श्रम: श्रुतौ।** —क्षत्रचूड़ामणि

हेय और उपादेय के ज्ञान बिना शास्त्रों में किया गया सारा श्रम व्यर्थ है।

❖❖

# भूतार्थ का औचित्य

**'सूक्ष्मो भगवद्धर्मो।'** —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 79

**'हेयोपादेय-विज्ञानं न चेत् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ।'** —क्षत्रचूडामणि, 2.44

**सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव-उवलद्धी।**
**उवलद्ध-पदत्थो पुण, हेयाहेयं वियाणादि॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार, 903

**अर्थ**— सम्यक्त्व से ज्ञान—सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान से सब पदार्थों के स्वरूप की पहचान होती है और जो पदार्थों के स्वरूप को अच्छी तरह जान लेता है, वही हेय और उपादेय को जानता है।[1]

**भूतार्थकथन**

**श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।**
**भूतार्थकथने यस्य स्थिरा स्यात् सरस्वती॥**

—कल्हण, राजतरंगिणी, 2/7

अर्थात् वही मनुष्य गुणवान् श्लाघनीय है जिसकी वाणी राग-द्वेषों का बहिष्कार कर एक न्यायमूर्ति के समान भूतार्थ (सत्यार्थ) घटनावलियों को यथार्थ (याथातथ्य) रूप से प्रस्तुत करती है।

बारहवें दृष्टिवादांग के अंतर्गत निरूपित चौदह प्रकारों में दूसरा आग्रायणीपूर्व है— **अग्गायणीय पुव्वं।** —आचार्य कुन्दकुन्द, सुदभत्ति 5, पृष्ठ 181

**आग्रायणीयमीडे।**

—आचार्य पूज्यपाद, श्रुतभक्ति-क्रियाकलाप, श्लोक 10, पृष्ठ 175

**संस्कृत भाष्य— षण्णवति-लक्ष-पदमंगानामग्रभूतार्थस्य प्रधान-भूतार्थस्य प्रतिपादकं आग्रायणीयम् 96000001 ईडे स्तौमि।**

छियानवें लाख पदों वाले, अंगों में अग्रभूत-प्रधान ऐसे भूतार्थ के प्रतिपादक आग्रायणी पूर्व की मैं पूजा एवं स्तुति करता हूँ।

**बीजपदं सूचयति**

**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।** —आचार्य नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह, 13, पृष्ठ 48

**एकबीजाक्षरात् शेषशास्त्रज्ञानं बीजबुद्धिः।** —वृहद्द्रव्यसंग्रह

**थोवम्हि सिक्खदे जिणदि।** —आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार, 10/6

अल्प-शिक्षा से भी रागादि अंतरंग शत्रुओं को जीत सकता है।

**जीवमजीवं दव्वं।** —आचार्य नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह, गाथा 1

**टीका— निर्दोष-परमात्मादि-नवपदार्थानां च स्वरूपमुपदिष्टम्।**

—वृहद्द्रव्यसंग्रह, पृ. 5

**अर्थ**— निर्दोष परमात्मादि नवपदार्थों के स्वरूप का उपदेश किया है।

समस्त विश्व इन्हीं नौ पदार्थों में समाविष्ट है—

**जीवाजीव-पुण्ण-पाप-आसव-संवर-णिज्जर-बंध-मोक्खहि णवहि पयत्थेहि विदिरित्तमण्णं ण किं पि अत्थि, अणुवलंभादो।**

—छक्खण्डागम, पृष्ठ 64

**अर्थ**— जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष —इन नौ पदार्थों के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है; क्योंकि इनके सिवाय अन्य कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता।

**सम्माइट्ठी— ण च णवपयत्थ-विसय-रुइ-पच्चय-सद्धाहि विणा ज्झाणं संभवदि, तप्पवुत्तिकारणं संवेग-णिव्वेयाणं अण्णत्थ-असंभवादो।**

—छक्खण्डागम, पृष्ठ 65

**अर्थ**— वह (ध्याता) सम्यग्दृष्टि होता है। कारण कि नौ पदार्थ-विषयक रुचि, प्रतीति और श्रद्धा के बिना ध्यान की प्राप्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि उसकी प्रवृत्ति के कारण संवेग और निर्वेद अन्यत्र नहीं हो सकते।

एक ही जीवात्मा उपादान कार्य और कारण है—

**उप्पज्जंति कज्जं कारणमप्पा णियं वि जणयंतो।**
**तम्हा इह ण विरुद्धं एकस्स वि कारणं कज्जं॥**

—माइल्लधवल, नयचक्र, 366, पृष्ठ 184

**अर्थ**— कार्य को उत्पन्न करने से जीवात्मा कारण है और स्वयं ही उत्पन्न होने से कार्य है। इसलिए एक ही जीवात्मा का कारण और कार्य होना विरुद्ध नहीं है।

**भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम्।** —पद्मनन्दि पंचविंशति, 12-609

**अर्थ**— जिन भव्य आत्माओं की बुद्धि भूतार्थ मार्ग में स्थित है।

शुद्धनय से जीव तथा अजीव का भेद जानना सम्यक्त्व है—

**भूदत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्णपावं च।**
**आसव-संवर-णिज्जर-बंधो मोॅक्खो य सम्मत्तं॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, 1-13-13

**अर्थ**— भूतार्थ से जाने हुए जीव और अजीव, पुण्य और पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष सम्यक्त्व हैं।

**ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु-भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते।**

**अर्थ**— इसलिए इन नव-तत्त्वों में भूतार्थनय से देखा जाय, तब जीव ही एकरूप प्रकाशमान है।

**भूदत्थेणाभिगदा।** —आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार, 203

**टीका—यद्यप्ययं भूतशब्दः पिशाच-जीव-सत्य-पृथिव्याद्यनेकार्थे वर्तते तथाप्यत्र सत्यवाची परिगृह्यते।**

**अर्थ**— **'**भूतार्थ**'** यद्यपि 'भूत' शब्द पिशाच, जीव, सत्य, पृथ्वी आदि अनेकार्थ में विद्यमान हैं, फिर भी यहाँ पर **'**सत्य**'** अर्थ में लेना चाहिए।

**भूतार्थप्रकाशकम्।** —आचार्य वीरसेन, धवला 1, पृष्ठ 143

**अर्थ**— सत्यार्थ के प्रकाशक, अवबोधन करनेवाली शक्ति-विशेष को ज्ञान कहते हैं।

**भूतार्थशूरो।** —पं. आशाधरसूरि, जिनसहस्रनाम, 10-132, पृष्ठ 132

**स्वोपज्ञ टीका— भूतार्थेन परमार्थेन सत्यार्थेन शूरो भूतार्थशूरः अथवा भूतः प्राप्तः अर्थः आत्म-पदार्थो येन स भूतार्थः युक्तार्थस्तत्र शूरः।**

निश्चयनय भूतार्थ और व्यवहारनय अभूतार्थ है—

**ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।**
**भूदत्थमस्सिदो खलु, सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, 1-11-12

**अर्थ**— व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है —ऐसा ऋषियों ने बताया है। जो जीव भूतार्थ के आश्रित है, निश्चय से वह सम्यग्दृष्टि है।

**ववहारस्स दरीसणमुवदेसो वण्णिदो जिणवरेहिं।** —समयसार, 46

**सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीव इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्।** —आत्मख्याति, 46

ये सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं— ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह अभूतार्थ असत्यार्थ रूप जो व्यवहारनय, उसका मत है।

निश्चय से भूतार्थ (सत्यार्थ) का प्रकाश चमक रहा है—

**जिनपतिमतमह्यां रत्नशैलादपापाद्,**
**इह हि समयसाराद् बुद्धबुद्ध्या गृहीत्वा।**
**प्रहतघनविमोहं सुप्रमाणादिरत्नं,**
**श्रुतभुवनसुदीपं विद्धि तद्व्यापनीयम्॥ 2 ॥**

—देवसेन, श्रुतभवनदीपक नयचक्र

अर्थात् जिनपति तीर्थंकर का धर्म एक पृथ्वी है। उसमें 'समयसार' नामक प्रमाण-नयरूपी रत्नों का पहाड़ है। इस श्रुतभवनदीपक नयचक्र की रचना उसी से की गयी है। यह श्रुतभवनदीपक घने मोहान्धकार को समाप्त करनेवाला है, इसमें सम्यक् भूतार्थ नयादि रत्न भरे हैं।

**प्रायः भूतार्थबोधविमुखः-**

**निश्चयमिह भूतार्थं, व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।**
**भूतार्थबोधविमुखः, प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥**

—आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 5

**अर्थ**— इस आगम में निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं बहुत करके भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय हैं, वे समस्त ही संसार स्वरूप है।

व्यवहारनय से अभूतार्थ और निश्चयनय से भूतार्थ है—

**व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।**
**शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम्॥**

—आचार्य पद्मनन्दि, पंचविंशतिः, 606

**अर्थ**— व्यवहारनय अभूतार्थ असत्य पदार्थ को विषय करनेवाला तथा निश्चयनय भूतार्थ (यथार्थ) वस्तु को विषय करनेवाला कहा गया है। जो मुनिराज शुद्ध निश्चयनय का आश्रय लेते हैं वे उत्कृष्ट पद को प्राप्त करते हैं।

**सारांश-**

**मोक्षकार्ये भूतार्थेन परिच्छिन्नं आत्माद्युपादानकारणं भवति।**

—देवसेन, नयचक्र, 3, पृष्ठ 75

**अर्थ**— मोक्षरूपी कार्य की सिद्धि में भूतार्थ से जाने गये आत्मा आदि ही उपादान कारण हैं।

❖❖

# मिश्रगुणस्थान वाला भी एकदेश जिन है

**धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्।** —पंचाध्यायी, 2/763

**एकः शरणं शुद्धोपयोगः।**

—आचार्य अमृतचन्द्र, प्रवचनसार, गाथा 78

मोक्षाभिलाषी का एक मात्र लक्ष्य शुद्धोपयोग होता है, अतः मोक्षमार्ग का प्रारम्भ शुद्धोपयोग के बिना सम्भव नहीं है।

प्रारम्भ में, साधक दशा में यह शुद्धोपयोग एकदेश होता है। यदि चतुर्थादि गुणस्थानों में एकदेश भी शुद्धोपयोग न माना जाए तो वहाँ साधक दशा का ही अभाव सिद्ध होगा।

शास्त्रों में सासादन नामक दूसरे गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान तक के जीवों को 'एकदेशजिन' की संज्ञा दी गई है, जो पुनः-पुनः गम्भीरतापूर्वक चिन्तनीय है—

**सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते।**

—आचार्य जयसेन, तात्पर्यवृत्ति, प्रवचनसार, 201

**अर्थ**— सासादन से क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थानों वाले जीव एकदेश जिन कहलाते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि एक मिथ्यात्व ही संसार-परिभ्रमण का प्रधान कारण है। मोक्षाभिलाषी को सर्व प्रयत्नों द्वारा इस मिथ्यात्व का विनाश करना चाहिये। मिथ्यात्व का विनाश होने पर जीव एकदेशजिन की कोटि में अवश्य आ जाता है।

शास्त्रों का 'एकदेश' पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे हमें भलीभाँति समझना ही होगा। यह स्याद्वाद जैसा गूढ-गम्भीर व अनिवार्य विषय है। साधक जीव को इसी की अपेक्षा से एकदेश वीतराग, एकदेश मुक्त आदि कहा गया है। 'स्याद्वादकेवलज्ञाने .....' (श्रुतज्ञान-केवलज्ञान में अन्तर नहीं है) आदि कथन इसी अपेक्षा से उचित सिद्ध होते हैं। हमें इसीप्रकार इनका औचित्य समझना होगा।

पं. आशाधरसूरि ने 'अनगारधर्मामृत' में लिखा है—

**गुणकोट्या तुलाकोटिं यदेकमपि टीकते।**
**तदप्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य गरलायते॥** 6/25

**अर्थ**– प्रिय-हित-मित वचनों के द्वारा दूसरों को सन्तोष उत्पन्न करना – इसको औचित्य कहते हैं। यदि करोड़ों गुणों को एक तरफ और औचित्य को दूसरी तरफ रखकर देखा जाए तो एक औचित्य का ही प्रमाण अधिक मिलेगा, किन्तु जो नितान्त लुब्धक से आक्रान्त है उसे वह भी विष के समान जान पड़ता है।

इसी प्रसंग में आचार्य अमितगति का यह कथन भी विशेष उल्लेखनीय है–

**तदन्येषां यथाशक्तिः मनोरोधविधायिनाम्।**
**एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षडादिक्षणगोचरम्॥**

–श्रावकाचार, 15/6

**अर्थ**– उक्त तीन उत्तम संहननों के सिवाय अन्य हीन संहननों के धारक अपने मन को यथाशक्ति एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि क्षणों तक सूक्ष्म समय तक मन को स्थिर कर सकता है।

ज्ञातव्य है कि यह स्थिरता आत्मानुभूति ही है; अतः चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को एकदेश शुद्धोपयोग मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

❖❖

# श्रमण-संस्कृति और उसकी उपलब्धियाँ

'संस्कृति' शब्द शब्द-शास्त्र का अमृत है। मनुष्य की स्थूल शारीरिक व्यापार निष्पत्तियों से परे यह शब्द स्व-समय-पर-समय भाव-सत्ता के दैवी स्वरूप का उद्‌भावक है। जिस देश में और जिस भाषा के पास यह शब्द अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ विद्यमान है, उसके गौरव के साथ विश्व का अखिल वैभव मिलकर भी स्पर्धा नहीं कर सकता।

जैसे 'अहिंसा' शब्द भारतीय जीवन के साथ अभिन्न हो गया है, जैसे 'इक्षु' शब्द माधुर्य का मूलवाचक है, जैसे 'सूर्य' प्रकाश का प्रतीक है; वैसे ही 'संस्कृति' शब्द भी इससे संबद्ध व्यक्ति के सर्वतोमुख उदात्तत्व का प्रमाणपत्र है।

संस्कृति की प्रतिष्ठा ने हमारे गौरव की आधार-भूमियाँ प्रस्तुत कीं, अन्यथा हमारे पास क्या है? आहार, निद्रा, भय, भोग, कलह जैसे वासनाओं और कषायों के सहस्रनाम तो सर्वत्र स्थान-स्थान में सुलभ हैं। मनुष्य यदि इसी परिवेश में घूमता—भटकता रहा तो उसका सर्वनाश अवश्यम्भावी है। प्राणों की थकान, असंतोष के आयाम, अमित क्षुधा के केन्द्र, ये भोग, ये व्यसन, ये भौतिक वैभव मानव-जीवन की आकुलता के अक्षय ईंधन हैं। इनसे सुख-शांति नहीं मिलती। सुख और शान्ति की खोज ने हमें संस्कृति-मणि प्रदान की है।

संस्कृति ने मनुष्य-लोक में प्रतिष्ठित होते ही अपना कर्त्तव्य-कार्य आरम्भ कर दिया। संस्कार अथवा संशोधन उस कार्य का प्रथम चरण था। मनुष्य के एक ओर पशुवर्ग, दूसरी ओर स्वर्ग-नर्क। संस्कृति ने मनुष्य को पशु-धर्म से ऊपर उठाया और स्वर्ग के देव भी ईर्ष्या करने लगे इतना आचार-संपन्न बनाया।

संस्कृति-विहीन अवस्था में मनुष्य विषयों में सुख मानता था; इसलिए इसके साधक-उपकरणों की वृद्धि में लगा था। श्रमण-संस्कृति ने उसे विषय-पराङ्‌मुखता में वास्तविक सुख का अस्तित्व बताया; परिणामतः संयम का प्रादुर्भाव हुआ। संयम ने अपरिग्रह से परिचित किया। अपरिग्रह से लोलुपता का अंत हुआ, आकुलता हटी। मन में स्थिरता आने लगी और स्व-समय विचारों का उदय हुआ। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि एक के अनुगत अनेक सद्‌गुण उपस्थित होने लगे। संस्कृति का आरोपित अंकुर महावृक्ष बनने लगा।

'कृषि और ऋषि' तथा 'जिओ और जीने दो' संस्कृति का यशोगान कृतयुग से लेकर आज के विज्ञान-युग तक होने लगा है। संस्कृति के बिना मनुष्य 'मत्स्य-न्याय' से ऊपर कहाँ उठ पाता है? अहिंसा का उदय श्रमण-संस्कृति की भावधारा से हुआ है। ज्ञानमार्ग पर प्रेरणा के पाठ संस्कृति द्वारा लिखे हुए हैं। चिन्तन और ध्यान की गहराइयाँ संस्कृति के स्व-समय में ही पा सकते हैं। विश्व की सम्पूर्ण सम्पदाओं के प्रति अमोह, अनासक्ति, संस्कृति से प्राप्त सम्यग्दृष्टि का परिणाम है।

सम्यग्ज्ञान और चारित्र श्रमण-संस्कृति की दो शाखाएँ हैं। **(श्रमण-श्रमणा श्रावक-श्राविका लक्षणः स चासौ सुसंघश्च)** जैन-धर्म-परिवारों का जीवन इसी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपासक है। मनुष्य शरीर प्राप्त करने पर 'मैं कौन हूँ' यह ज्ञान आवश्यक है और ज्ञान होने पर चारित्र मार्ग का शक्तितः पथिक होना श्रेयस्कर है। भौतिक उपलब्धियों से ऊपर आत्मोपलब्धि करना श्रमणों को अभीष्ट रहा है, यही उनकी ज्ञान-सम्पदा का परिणाम है। महान् ऐश्वर्य सुख त्याग कर संन्यास ग्रहण करना इस त्याग-पथ की उत्कर्षता का द्योतक है–

**परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान्।**
**तपसा प्राप्य सम्बन्धं तपो हि श्रम उच्यते॥**

–रविषेणाचार्य, पद्मपुराण 6/212

यह संसार हेय है और आत्मा उपादेय है, यह संस्कृति का बीज-मन्त्र है। भारतीय श्रमण मुनि इसी तप, त्याग, ध्यान, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन आदि में प्रवृत्त होते हैं। श्रमण मुनि नग्न रहते हैं; किसी अभाव से नहीं, प्रत्युत हेय-ज्ञान हेतु से। निर्ग्रन्थ मुनियों की परम्परा प्रायः क्षत्रियों, चक्रवर्तियों तथा सर्वैश्वर्य-सम्पन्नों द्वारा परिपालित रही है, जिन्होंने स्वयं इस आकिंचन्य को अंगीकार किया। श्रमण आत्मार्थी हैं, आत्मविद्या में विशारद हैं– **श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः।**

–भागवत, 11/2/20

कृतयुग में भी आत्मज्ञानियों के रूप में श्रमणों की प्रसिद्धि थी। उस समय भी वे नग्न ही रहते थे और अपने निःश्रेयस में लगे हुए थे। वे शान्त, निर्मल, संपूर्ण परिग्रहों से संन्यस्त ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं और कृतयुग में मनुष्य संतुष्ट, करुणाशील, मित्रभाव रखने वाले, शान्त, उदार, सहनशील, आत्मा में रमण करने वाले, समान दृष्टि प्रायः श्रमण मुनियों के होते हैं–

**सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः।**
**आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः॥**

लोक में श्रमण-मुनियों का बहुमान है। चक्रवर्ती, राजा, सम्राट्, श्रेष्ठ नागरिक तथा समस्त जन उनकी परिचर्या में भाग लेना अपना अहोभाग्य मानते थे। राजा लोग भी अंत में संसार से विरक्त होकर जीवन को सफल समझते थे। प्रजापति

श्री वृषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र षट्खण्ड पृथ्वी के एवं नवनिधि के स्वामी थे। उन्होंने भी अन्त्यावस्था में विरक्त होकर तप द्वारा आत्मपद को प्राप्त किया। राजा जनक श्रमणों के उपासक थे और वह यथाविधि आहार भी देते थे। इस प्रकार मुनियों के महान् सत्कार का वर्णन रामायण, भागवत तथा वैदिक पुराण-साहित्य में सुरक्षित है।

श्रमण-संस्कृति व्यक्ति को सुख-दुःख के प्रति एक दार्शनिक दृष्टि देती है। जिसके परिप्रेक्ष्य में वह 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' होता है और दुःख तथा सुख को कर्मपरिणाम-मात्र मानकर विचलित एवं गर्वाकुल नहीं होता। उसकी मान्यता है कि सुख-दुःख, आधि-व्याधि, सम्पन्नता-विपन्नता भौतिक सृष्टि के द्वन्द्व हैं। दिन और रात्रि के समान अपनी कर्मगति पर घूमते रहते हैं। ऐसा जानकर उसमें स्थिति-प्रज्ञता उत्पन्न होती है; किन्तु नितान्त भौतिकवादी की स्थिति इससे विपरीत होती है। वह बाह्य परिग्रहों की वृद्धि-ह्रास से सुख-दुःख अनुभव करता है तथा किसी अतीन्द्रिय सत्य पर विश्वास नहीं रखता। फलतः उसको सुख जितना आनन्दित करते हैं, दुःख उससे भी अधिक पीड़ित करा देते हैं और इस प्रकार संसार के इन द्वन्द्वाघातों से वह पानी पर लहर के समान चल-विचल रह कर सुख-दुःखों के तटों से टकराता रहता है। कहना होगा कि संस्कृति में सुमेरु की दुर्धर्ष स्थिरता है और संस्कृति-शून्य में आँधी के बबूलों की अस्थिर, दिशाहीन उड़ान है और स्थिरता — कुसमयों से विचलित (क्षुब्ध) नहीं होना सम्यग्ज्ञानी का कार्य है–

**कुसमयैरक्षुभितमतिः।** —राजवार्तिक, 45

लोक और शास्त्र में एक व्यक्ति के विविध नाम प्रसिद्ध होते देखे जाते हैं, और वे सभी किसी गुण-विशेष के आधार पर होते हैं, अथवा अन्य किसी विशेषता से होते हैं। शब्द-शास्त्र में प्रत्येक वर्ण, पद, अक्षर और वाक्य का अपना-अपना निर्धारित स्थान है। यदि शब्द-भेद अथवा पद-भेद से शब्दगत अथवा पदगत विविध भेदाख्यान नहीं होता तो विश्व में शब्दकोशों की पृथुलता तथा अनेकवर्णता परिलक्षित न हो पाती जो आज दिखायी दे रही है। प्रत्येक शब्द का इसी अभिप्राय के अनुसार स्वतंत्र अर्थ है तथा स्वतंत्र आस्वाद है। जिस कारण से निश्चित किसी एक वस्तु को अनेक नामों से संबोधित किया जाता है, वह कारण भी अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। जैसे लोक में चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान को अनेक नामों से स्मरण किया जाता है। कभी वर्द्धमान तो कभी महावीर, कभी वीर, अतिवीर या सन्मति। यद्यपि ये नाम एक ही महान् आत्मा के हैं तथापि इनमें उन महापुरुष के किन्हीं-किन्हीं विशेष गुणों की प्रधानता है। जब वे द्वितीया के चंद्रवत् वृद्धिंगत होने लगे तब उन्हें वर्द्धमान कहा गया और जब उन्होंने अपने कार्यों द्वारा वीरता का प्रदर्शन किया तब वीर-महावीर-अतिवीर कहलाये। बुद्धि की उत्तमता से वे सन्मति

प्रसिद्ध हुए। यदि हम इन गुणों का व्यापकता से विचार करें तो इसमें चौबीसों तीर्थंकरों को ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि सभी में उक्त गुणों का अस्तित्व रहा है। इसी प्रकार आचार्य जिनसेन ने **सहस्रनाम** स्तोत्र की रचना यद्यपि प्रथम तीर्थंकर को लक्ष्य करके की; तथापि नामावली के पृथक्-पृथक् सभी गुणों की अपेक्षा सभी तीर्थंकरों को उन सभी नामों में गर्भित किया जा सकता है और किसी पर भी घटित हो जाता है। अन्तर इतना ही है कि जब हम स्तोता की व्यक्तिगत भावना एवं लक्ष्यता को लेते हैं तब स्तोत्र आदिनाथ (वृषभनाथ) तीर्थंकर का होता है और जब गुण सामान्य की अपेक्षा विचार करते हैं तब वही स्तोत्र चौबीस तीर्थंकरों का होता जाता है। बस, इसी प्रकार श्रमण आदि वाच्य महात्मा (महान् आत्मा) अपने विविध गुणों के कारण विविध नामों से प्रसिद्धि पाते रहे हैं—श्रमण, तीर्थंकर, वातरशन, व्रात्य और क्षपणक आदि सब ही नग्न-दिगम्बर संयमियों के नाम है और इन सभी में गुण-प्राधान्य की प्रमुखता है।

जैसा कि पूर्व में उल्लेखित है आत्मशुद्धि-रूप श्रम करने से श्रमण कहलाये, वे ही कालान्तर में तीर्थ (धर्म) के प्रकाशक होने से तीर्थंकर कहलाये। व्रत-उपवास में निराहार रहकर, जब वे ही स्वाभाविक स्वच्छ-अरण्यवायु में (वायु का आधार मात्र) जप-तप-स्वाध्यायादि में लीन रहे, तब उन्हीं को वातरशन (वायु-सेवी) कहा गया। व्रत करने से व्रात्य और कर्म-प्रकृतियों का क्षपण करने से वे ही क्षपणक कहलाये; आदि।

❖❖

# गोरक्षा से अहिंसक संस्कृति की रक्षा

## कामना-कलश की पूर्ति

आज भारतवर्ष गोवंश के लिए अभिशाप-भूमि बन रहा है। जिस देश की संस्कृति, सभ्यता और जीवन गोवंश की समृद्धि पर आश्रित हों, उसी में उसके लिए अरक्षणीय स्थिति का उत्पन्न होना, वास्तव में शोचनीय है। कृषि के महान् उपकारक, सात्त्विक शाकाहार को अमृतरस प्रदान करनेवाले गोवंश का ऋण अमाँसभोजी परिवार की पीढ़ियाँ भी नहीं चुका सकेंगी। शाकाहारी और अहिंसक समाज ने गोवंश से जितना दूध पिया है, उतना पानी भी पिलाने में वह अनुदार दिखायी दे रहा है। यथार्थ में देखा जाए तो गोवंश अहिंसक समाज-रचना का मुख्य आधार है, उसकी प्रथम आवश्यकता है। शाकाहारियों की रसोई का रसमय आलम्बन घृत, दुग्ध, दधि, नवनीत, तक्र, खोवा (मावा) और अनेक संयोगी व्यंजन गो के अमृतमय स्तन्य की देन है। जननी के दूध को बालक कुछ वर्षों पीता है, परन्तु गो-दुग्धपान तो वह जीवन-भर करता है। जननी केवल अपने शिशु-पुत्र को स्तन्यपान कराती है, परन्तु गाय अपने वत्स को पिलाने के साथ-साथ मानव की इच्छाओं के कलश को भी दूध से आकण्ठ-पूरित करती है; इसीलिए यहाँ गो को गृह्य-पशुओं में सर्वप्रथम स्थान दिया गया और 'गोधन गजधन वाजिधन' कहते हुए, उसे धन-सम्पत्ति भी स्वीकारा गया।

## तिनके से क्षीर-समुद्र

गो-रहित भारतीय संस्कृति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्राणीशास्त्र का अध्ययन अनुसंधान करनेवाले पुराण-भारतीयों ने गाय को पृथ्वी के समान गुणशील कहा है। नीतिकार कहते हैं–**तृणं भुक्त्वा पयः सूते कोऽन्यो धेनुसमः शुचिः** (अहो ! तिनके चबाकर दूध उत्पन्न करनेवाली गो के समान और कौन पवित्र है?) यह भारतीयों द्वारा किया गया धेनु-सम्बन्धी निकट का अध्ययन है। इसमें यदि किसी को पक्षपात की गन्ध आये, तो वह गो के इतर पशुओं से विशिष्ट गुण के कारण है। गाय जब जलाशय पर पानी पीने जाती है तो किनारे पर खड़ी रहकर पी लेती है; परन्तु गाय के समान अथवा उससे भी अधिक दूध देनेवाली महिषी (भैंस) जलाशय में उतरकर उसे मलिन कर देती है। खेतों में चरती हुई गाय घास

का मूलोत्पाटन नहीं करती, ऊपर-ऊपर से उसे चर लेती है; जबकि अन्य पशु अपनी जिह्वा और ओष्ठ-सम्पुट का दृढ़ आकुंचन कर मूल उखाड़कर खा जाते हैं। संभवतः इसीलिए श्रमण-जैन-साधु अपनी चर्या के लिए 'गोचरी' शब्द व्यवहार करते हैं; क्योंकि वे अनेक गृहस्थों को अबाधित रखते हुए भिक्षा ग्रहण करते हैं।

## गौचर्या और गोचरी

दिगम्बर-सम्प्रदाय के आहार-विषय में कहा जा सकता है कि दिन निकलने के पश्चात् जिस समय (प्रायः 9 से 10 के बीच) गौयें चरने के निमित्त गोचर-भूमियों के लिए प्रस्थान करती हैं, वह समय मुनियों के आहार का होता है। इसप्रकार गृहस्थ ही नहीं, संन्यास-धर्म का रक्षण करने वाले मुनि, साधुजन भी गौओं के विहार से अपनी-चर्या का अनुबन्ध बताते हैं।

'गोचरी' शब्द का एक अन्य अभिप्राय और भी हृदयंगम करने योग्य है। कहते हैं, जिसप्रकार गौ घास लाकर रखने वाले व्यक्ति की ओर लक्ष्य न रखकर तृण-भक्षण की ओर ही अपना ध्यान लगाती है, उसीप्रकार आहार-निमित्त गृहस्थ के यहाँ पहुँचा साधु आहार-कवल देने वाले की अंग-चारुता, वेषविन्यास, अथवा सौंदर्य पर ध्यान नहीं रखकर गोचरी-ग्रहणमात्र का शास्त्र-विधि-सम्मत ध्यान रखता है।

इसप्रकार गौ के स्वभाव पर चर्या के शब्द का निर्माण करने वाले शास्त्रकारों ने गौ में इतर पशुओं से विशिष्ट गुण का अनुसन्धान कर उचित सम्मान दिया है।

## गायें : आगे, पीछे, सर्वत्र

कृषि-प्रधान भारत के सूक्तिकारों ने **गोभिर्न तुल्यं धनमस्ति किंचित्**—गोवंश के तुल्य अन्य धन नहीं है, कहते हुए गौ को भारतीयों का धन कहा है। पुराणों में गृहस्थों और नृपतियों के वैभव का वर्णन-परिचय उनके गौ-बहुल होने से किया गया है। आश्रम में नवागत शिष्य को प्रायः 'गाश्चारय' (गाय चराकर लाओ) से अध्ययनारम्भ कराया जाता था। सारे देश में घर-घर में गोपालन हो, इसी भावना से प्रत्येक दानादि धार्मिक अवसर पर दक्षिणारूप में गोदान होता था। प्रायः ऐसे सत्रों पर दाता ग्रहीता को वर्ष-भर के लिए घास-फूस तथा अन्य पशु-भक्षणीय अन्नादि भी प्रदान करते थे। परिणामस्वरूप देश—भर में घृत-दुग्ध की नदियाँ प्रवाहित थीं। गृहस्थ अतिथियों के आगमन की प्रतीक्षा किया करते थे तथा कहते थे **अतिथींश्च लभेमहि श्रद्धा च मा नो व्यगमत्** अर्थात् हम अतिथियों को प्राप्त करते रहें, हमारी श्रद्धा कभी कम न हो और सौभाग्यपर्व को उजागर करने वाले अतिथि जब वे उन्हें मिल जाते थे, तब वे उन्हें प्रचुर दुग्ध-घृत पिलाकर उनका सत्कार करते हुए राष्ट्र में प्रचलित उस सूक्त को चरितार्थ करते थे, जिसमें कहा गया है—

'घृतैर्बोधयतातिथिम्' अतिथि का घृत से सत्कार करो। इन सूक्तों का प्रचलन ही इस तथ्य का समर्थक है कि गोवंश की पालना घर-घर में होती थीं। श्रीकृष्ण वासुदेव ने तो गो-संवर्धन के लिए विशेष प्रयत्न किया और पर्वत जैसे इस विशाल, गुरुतर कार्य का भार उठाकर गोवर्धन किया। गायों के परिवर्धन में आर्यों के वैभव का विस्तार देखकर प्रत्येक भारतीय के लिए एक सूक्ति याद आती है– **गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।** गौयें मेरे आगे रहें, गौयें मेरे पृष्ठदेश में हों –इसप्रकार के उद्‌गार व्यक्त करने से ही आज भारत उन्हें 'गोपाल' कहकर पुकारता है।

## अनदुहे-भरे दुग्ध-पात्र

संस्कृत साहित्य में गौ को 'अघ्न्या' (अदण्डनीय) कहा है। उस प्राचीन समय में गृहस्थ 'गवाट' रखते थे, जिनमें क्षीर-धार से क्षोणी (पृथ्वी) का अभिषेक करनेवाली कुम्भस्तनी गौएँ रहा करतीं थीं और वत्सपीतावशेष दुग्ध से बिना दुहे पात्र भर जाते थे। भगवज्जिनसेनाचार्य ने चक्रवर्ती भरत के दिग्विजय-प्रकरण में ऐसी बहुक्षीरा धेनुओं का वर्णन किया है, जिन्होंने गोचर-भूमि को स्वयं-प्रस्तुत दुग्धधार से सींच दिया था और जिनके समूह वनों में निर्बन्ध हरिणों-से विचर रहे थे, चर रहे थे। वे पद्य निम्नलिखित हैं–

**गवां गणानयापश्यद् गोष्पदारण्यचारिणः।**
**क्षीर मेघानिवाजस्रं क्षरत्क्षीरप्लुतन्तिकान्॥**
**सौरभेयान् स शृंगाग्रसमुत्खातस्थलाम्बुजान्।**
**मृणालानि यशांसीव किरतोऽपश्यदुन्मदान्॥**
**आपपीतपयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः।**
**पयस्विनीरिवापश्यत् प्रसूताः शालिसम्पदः॥**

–जैनाचार्य जिनसेन, महापुराण, 26 पर्व, 109, 10, 115

**अर्थ**– चक्रवर्ती भरत ने वनों की गोचरभूमि में चरते हुए गौओं के समूह देखे। वे समूह दूध के मेघों के समान निरन्तर झरते हुए समीपवर्तिनी भूमि को भिगो रहे थे। सींगों के नुकीले अग्रभाग से स्थल-कमलों को उखाड़कर इधर-उधर फेंकने में लगे हुए मानो भरत के यश को फैला रहे उन्मत्त बैलों को भरत ने देखा। उन्होंने यत्र-तत्र फैली हुई धानरूप सम्पदा को गायों के समान देखा, अर्थात् जैसे गौयें जल पीती हैं, उसीप्रकार धान्यक्षेत्र भी जल पिये हुए थे; जिसप्रकार गौओं के स्तनों में दूध भरा रहता है, वैसे धान में भी दूध भरा हुआ था और जिसप्रकार गौयें लोकोपकार करती हैं, वैसे धान भी लोकोपकार करते हैं।

## आज कन्धे ढले हुए हैं

यहाँ गौ के लिए जिस विशेषण पदावली का प्रयोग आचार्य ने किया है, वह

ध्यान देने योग्य है। उन्होंने उन गौओं को क्षीर-मेघ, प्राज्यक्षीर और लोकोपकारी बताया है। उन गौओं के साथ देश का स्वास्थ्य भी पीनपुष्ट और क्षीरस्नात था, इसमें संदेह नहीं। बालक उस समय खड़े दूध पीते थे और बैलों के समान ऊँचे कन्धे वाले होते थे। गौवंश-पालन का यह प्रत्यक्ष लाभ था। जिसके अभाव में आज राष्ट्र के युवाओं के कन्धे ढले हुए हैं और रीढ़ की अस्थि बिना डोरी खींचे धनुष-समान ही झुकी हुई है। यह चिन्तनीय स्थिति है, जो राष्ट्र के बल-वैभव के लिए अभिशाप है।

## आदिनाथ का चिह्न -'वृषभ'

'वाल्मीकि रामायण' में लिखा है कि 'भगवान् श्रीरामचन्द्र ने विद्वानों को विधिपूर्वक कोटि अयुत गौयें देकर गुणशील राजवंशों की स्थापना की–

**गवां कोट्ययुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम्।**
**राजवंशान् शतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः॥**

–वाल्मीकि रामायण

भारत में राजप्रासादों, कृषि और ऋषि-कुटीरों की समान शोभा थी। तुष्टि-पुष्टि के लिए गौ को 'कामधेनु' संज्ञा दी गयी है। उपनिषदों में स्थान–स्थान पर वैदिक ऋषियों को राजाओं ने गोदान किया है। एक बार राजा जनक ने एक सौ गौओं को अलंकृत कर ऋषियों से कहा कि "आप में जो ब्रह्मवेत्ता है, वह इन गौओं को ले जाएं।" महर्षि याज्ञवल्क्य गौओं को हाँककर ले चले। अन्य विद्वान् ऋषियों ने प्रश्न किया कि–"हे याज्ञवल्क्य! क्या आप ब्रह्मज्ञानी हैं?" याज्ञवल्क्य ज्ञानी थे, परन्तु उन्होंने निरभिमानी होकर कहा–"ब्रह्मवेत्ता को तो हम सिर झुकाते हैं। हमें तो दूध पीने के लिए गौओं की आवश्यकता है।"

प्राचीन राजाओं को गोदान प्रिय था। वे मनोविनोद के लिए भी ऐसे प्रकरण ढूँढ़ निकालते थे, जिनमें ब्रह्मचर्चा भी हो जाती थी और गोदान के वांछित अवसर भी सुलभ हो जाते थे। प्रजापति ऋषभनाथ का चिह्न वृषभ है। कर्मभूमि में कृषि के आदि उपदेष्टा के लिए वृषभ-चिह्न धारण करना उपयुक्त ही है; इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने भक्ति-उच्छ्वासित होकर उन्हें कृषि-उपदेष्टा कहते हुए लिखा– **प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।** परन्तु आज का युग विचित्र है। जिनकी जीविका का आलम्बन विद्या है, वे सरस्वती-भक्त नहीं, स्वाध्याय-रसिक नहीं और जो गाय-बछड़े का चिह्न धारण कर स्वयं को वृषभ-भक्त, कृषि-प्रिय, कृषक-मित्र इत्यादि व्यक्त करते एवं उसी से मत प्राप्त कर समाज एवं राष्ट्र में अग्रणी बनते हैं, वे भी अपनी उन उक्तियों पर आचरण कहाँ करते हैं?

## बादल खेती झुलसा रहे हैं

तीर्थंकर पंचकल्याणक-महोत्सव में जिन-जन्म-कल्याणक प्रकरण में कलशाभिषेक

से पूर्व सवत्सधेनु की 'प्रतिष्ठातिलक' में उपस्थितिकरण-विधि है। जिन-जन्म-कल्याणक में उपस्थित की जाने वाली गौ को महीने भर छना हुआ पानी और सूखा चारा दिया जाता है और पूर्ण अहिंसकवृत्ति से उसका पालन किया जाता है। तीर्थंकर महावीर के समक्ष सिंह और गौ को एक पात्र में नीर पीते हुए दिखाया गया है। जहाँ स्वभावतः हिंसक प्राणी के हृदय में एक तरह से अहिंसा की स्थापना की गयी है, वहाँ अहिंसक मनुष्य ही गोरक्षा का विरोधी हो तो कहना होगा कि ''बादल खेती को जला रहे हैं, बाड़ खेत को खा रही है।'' **मेघहिं बरसे तृण जले, बाड़ खेत को खाए। भूप करे अन्याय तो, न्याय कहाँ पर जाए?** इसीलिए 'छहढाला' में दौलतरामजी ने कहा—**धर्मी सों गोवच्छ-प्रीति-सम कर जिनधर्म दिपावे** (3 ढाल, 23वाँ पद)। जैसे गौ अपने वत्स पर प्रीति रखती है, वैसे धर्म-वात्सल्य की रक्षा से धर्मी को जिनधर्म पर ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि **न धर्मो धार्मिकैर्विना** (धार्मिकों के बिना धर्म नहीं रहता)।

### जैन : गो-पालन के सत्याग्रही

धर्म को वाणी-विलास का विषय नहीं, व्यवहार का अंग बनाना आवश्यक है। 'क्षत्रचूडामणि' में जीवन्धर-कथा में गौरक्षा का एक सुन्दर प्रकरण जैन आचार्य वादीभसिंह ने दिया है।

एक समय व्याध-जाति के लोगों ने गोपों की गायों का हरण कर लिया। गोप काष्ठांगार की राजसभा में आकर रोने-चिल्लाने लगे। राजा ने सेना को उन्हें लौटाने के लिए भेजा, परन्तु सेना पराजित हो गयी। उस समय निराशा में डूबते हुए उन गोपालों की गायों को सत्यन्धर-पुत्र जैन राजकुमार जीवन्धर ने पराक्रमपूर्वक व्याधों को विजित कर प्राप्त किया। **ननन्द नन्दगोपोऽपि गोधनस्योपलम्भत:** —इससे गोपाल-कुल में हर्ष छा गया। जैन राजकुमार जीवन्धर ने गोरक्षा के लिए अपने प्राणों की परवाह नहीं की और वीरता से उन्हें बन्धन-मुक्त किया; क्योंकि क्रिया-रहित वाणी निष्फल है।

जो मानव संकल्पों को क्रियाफलवान् बनाता है; वही संकल्पितों का वास्तविक दोग्धा माना जाता है। मुनियों ने वात्सल्य-भाषा का प्रयोग करते समय गौ का अनेक बार दृष्टान्त के साथ वर्णन किया है। जैन लोग गो-पूजा नहीं, परन्तु गोरक्षा और गोपालन के सत्याग्रही हैं। **प्रजा कामदुघा धेनुर्मतान्योन्ययोजिता** —न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा कामधेनु गौ समान है।

**सम्पूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।**
**देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ: करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्र:॥**

**अर्थ**— तीर्थंकर वृषभदेव-महावीर जिनेन्द्र कृपया पूजा-अर्चा करनेवालों, प्रतिपालकों, यतीन्द्रों और सामान्य तपोधनों तथा देश, राष्ट्र, नगर और शासकों के

लिए शान्तिकारक हों।

**इष्ट प्रार्थना**

**क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः।**
**काले काले च वृष्टिं वितरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्॥**
**दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके।**
**जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रसरतु सततं सर्वसौख्य-प्रदायि॥**

**अर्थ**– सम्पूर्ण प्रजाओं का कल्याण हो, शक्तिशाली धर्मात्मा भूमिपाल (शासन, राज्य में) प्रभावशील रहें। समय-समय पर इन्द्र (मेघ) भली प्रकार यथोचित, वर्षा करें, व्याधियों का नाश हो। दुष्काल, चोर और महामारी जगत् को कष्ट देने के लिए क्षण-भर न हों और सबको सुख प्रदान करनेवाला तीर्थंकर वृषभादि का जिनशासन और 'धर्मचक्र' विश्व में निरन्तर प्रभावशील रहे।

**गो-वध : कैसा अर्थशास्त्र?**

आज के दिग्भ्रान्त नायकों ने राष्ट्र को अशुचिता के हाथ बेच दिया है। उदर-भरण के लिए वैदेशिक अन्न का आयात करने पर भी उन्हें मत्स्य-मुर्गी-पालन में राष्ट्रीय क्षुधा की तृप्ति दिखायी देती है, विदेशी-मुद्रा अर्जित करने के लिए गोहत्या आवश्यक प्रतीत होती है। सुभाषित के समान मधुर तथा साधु के समान निर्दोष गौ को मारकर गोपालक गोपालकृष्ण के राष्ट्रीय सहोदर और महावीर भगवान् के अहिंसक देश के प्रतिनिधि व्यापारी किस अन्ध-पातक के अतल-गह्वर में गिरे जा रहे हैं? –यह वक्तव्य क्या जाग्रतप्रबोध मात्र नहीं है! जिह्वा-लोलुपता के शिकार मांस में मांस की आहुति दे रहे हैं। यह शरीर, जिसमें आत्मा का निवास है, जिसके सहयेाग से देवत्व और उससे उत्कृष्ट अमर विभूतिपद मिल सकता है, विवेकहीन होकर उन दुर्गन्धियों के ढेर का चक्कर लगा रहा है, जिन्हें देखकर भी घृणा होती है। संस्कारों के जहाँ संकीर्तन होते हैं, पवित्रता के घण्टे गूँजते हैं, धर्म के दस विभूति-चरणों को जहाँ हृदयंगम किया जाता है, जहाँ के लोग आज भी सात्त्विकता के पक्ष में है, मुनियों, महर्षियों का वैयावृत्त्य जिन्हें प्रसन्न करता है, वहाँ रौरव नरक का दृश्य उपस्थित करनेवाले बूचड़खाने अन्न की कमी के नाम पर, मुद्रास्फीति की दुहाई दे कर और जिह्वा की खोटी माँग से लाचार हो कर चलाये जायें, वहाँ के पाप को गंगा की धारा, अकलंक आचार्य का दिग्विजय और मुनि-महर्षियों का धर्म-प्रवचन कितना प्रक्षालित कर सकता है?

❖❖

# आर्ष परम्परा में आर्यिका दीक्षा

## आर्षवाद

**आर्षग्रन्थेषु कथाकोषादिषु स्वरूपं ज्ञातव्यम्।**

—आचार्य सिंहनंदि, व्रततिथिनिर्णयम्, 254

आर्षग्रन्थों अर्थात् ऋषियों एवं मुनियों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों एवं कथाकोष आदि के ग्रन्थों से स्वरूप का ज्ञान करना चाहिए।

भगवान् ऋषभदेव की आर्ष-परम्परा के अनुगामियों को यह बात विचारणीय है कि क्या आर्यिकाओं की दीक्षा आचार्य, उपाध्याय अथवा साधु मुनिराज के द्वारा दी जाती है? आर्ष-परम्परा के शास्त्रों में आर्यिकाओं की दीक्षा आर्यिकाओं द्वारा ही दी जाने के अनेक प्रमाण पढ़ने को मिलते हैं। कुछ आगमोक्त उदाहरण इस प्रकार हैं—

## ब्राह्मी और सुन्दरी की आर्यिका दीक्षा

**ब्राह्मीयं सुन्दरीयं च समस्तार्यागणाग्रणी:।**
**कुमारीभ्यां प्रिये ताभ्यां मारभंग: स्फुटीकृत:॥**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 12/42

हे प्रिय! यह समस्त आर्यिकाओं की अग्रणी ब्राह्मी है और यह सुन्दरी है। इन दोनों ने कुमारी अवस्था में ही कामदेव को पराजित कर दिया है।

**ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे कुमार्यौ धैर्यसंगते।**
**प्रव्रज्य बहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते॥**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 9/217

धैर्य से युक्त ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कुमारियाँ अनेक स्त्रियों के साथ दीक्षा ले आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गयीं।

पुरुदेवचम्पू में भी इसप्रकार कहा गया है—

**ब्राह्मीसुन्दर्यौ च संसारनिर्वेदनिर्धूतविवाहचिन्ते भट्टारकपादमूले दीक्षामासाद्य गणिनी-गणप्रधाने बभूवतु:।** —अर्हद्दास, पुरुदेवचम्पू, टीका 8/45

संसार से वैराग्य होने के कारण जिन्होंने विवाह की चिन्ता दूर कर दी थी, ऐसी ब्राह्मी और सुन्दरी भी भगवान के पादमूल में दीक्षा प्राप्त कर आर्यिकाओं के समूह में प्रधान हो गयीं।

पुराणसारसंग्रह में भी इस प्रकार मिलता है–

**ब्राह्मी ससुन्दरी तुष्टा प्रपद्य शरणं पुरुम्।**
**अभिषेकमवाप्याभूदार्यिकाणां पुरस्सरी॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, आदिनाथचरित, 3/84

सुन्दरी और ब्राह्मी ने अतिसन्तुष्ट हो आदिनाथ भगवान की शरण ली और मनुष्य तथा देवों से अभिषिक्त होकर आर्यिकाओं में अग्रणी हुईं।

महापुराण में भी इसप्रकार मिलता है–

**भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।**
**गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः॥**

–आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 24/175

भरत की बहन ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों ने कुमारी अवस्था में ही समस्त आर्यिकाओं का गणिनी पद ग्रहण किया।

## सुलोचना की आर्यिका दीक्षा

आर्यिका ब्राह्मी और सुन्दरी से सेनापति जयकुमार की पत्नी सुलोचना ने दीक्षा ग्रहण की। यथा–

**दुःसंसारस्वभावज्ञा सपत्नीभिः सिताम्बरा।**
**ब्राह्मीं च सुन्दरीं श्रित्वा प्रवव्राज सुलोचना॥**
**द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी।**
**एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना॥**

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 12/51-52

दुष्ट संसार के स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ सफेद वस्त्र धारण कर लिये और आर्यिका ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास जाकर दीक्षा ले ली। मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान के गणधर हो गये और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अंगों की धारक हो गयी।

पाण्डवपुराण में भी इस प्रकार मिलता है, किन्तु वहाँ सुलोचना के साथ सुभद्रा ने भी दीक्षा ली थी। यथा–

**सुलोचना वियोगार्ता विरक्ता च सुभद्रया।**
**चक्रिपत्न्या समं ब्राह्मीसमीपे व्रतमग्रहीत्॥**

–आचार्य शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण, 3/277

पति-वियोग से दुःखी सुलोचना ने विरक्त होकर चक्रवर्ती भरत की पत्नी सुभद्रा के साथ ब्राह्मी आर्यिका के समीप दीक्षा ग्रहण की।

## सीता की आर्यिका दीक्षा

**पृथ्वीमत्यार्यया तावद्दीक्षिता जनकात्मजा।**
**ततो दिव्यानुभावेन सा विघ्नपरिवर्जिता।**
**संवृत्ता श्रमणा साध्वी वस्त्रमात्रपरिग्रहा॥**

—आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 105/77-78

सीता राम आदि सभी को सम्बोधित करके पृथ्वीमति आर्यिका से दीक्षित हो गयीं। तदनन्तर देवकृत प्रभाव से जिसके सब विघ्न दूर हो गये थे, ऐसी पतिव्रता सीता वस्त्रमात्र परिग्रह को धारण करनेवाली आर्यिका हो गयीं।

उत्तरपुराण में इस प्रकार मिलता है कि सीता और लक्ष्मण की पृथ्वीसुन्दरी आदि पत्नियों ने आर्यिका दीक्षा श्रुतवती आर्यिका से ली थी। यथा—

**तथा सीता महादेवी पृथ्वीसुन्दरी युताः।**
**देव्यः श्रुतवती क्षान्तिनिकटे तपसि स्थिताः॥**
**रामचन्द्रग्रदेव्याद्याः काश्चिदीयुरितोऽच्युतम्॥**

—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 68/712, 721

सीता महादेवी और पृथ्वीसुन्दरी[1] से सहित अनेक देवियों ने आर्यिका श्रुतवती के समीप दीक्षा धारण कर ली। तदनंतर सीता तथा पृथ्वीसुन्दरी आदि कितनी ही आर्यिकाएँ अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न हुईं।

महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है—

**सीयापुहइहिं सुयवइहिं पाय, आसंघिय भावें चत्तराय।**
**भुवणुट्ठिउ तिट्ठावज्जियाउ, जायाउ ताउ तहिं अज्जियाउ॥**

—महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 79/13/2-3/223

सीता और पृथ्वीदेवी ने भी श्रुतवती आर्यिका के रागशून्य चरणों का भावपूर्वक आश्रय लिया और संसार से विरक्त, तृष्णा से रहित वे दोनों आर्यिकाएँ बन गयीं।

## कुन्ती आदि की आर्यिका दीक्षा

**कुन्ती च द्रौपदी देवी, सुभद्राद्याश्च योषितः।**
**राजीमत्याः समीपेताः, समस्तास्तपसि स्थिताः॥**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 64/144

कुन्ती, द्रौपदी तथा सुभद्रा आदि जो स्त्रियाँ थीं, वे सब राजीमती आर्यिका के

1. पृथ्वीसुन्दरीमुख्याः केशवस्य मनोरमाः। —आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 68-666

समीप तप में लीन हो गयीं।

**राजीमत्यार्यिकाभ्यर्णे कुन्ती हित्वा सुकुन्तलान्।**
**सुभद्रया च द्रौपद्या संयमं परमग्रहीत्॥**

—आचार्य शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण, 25/15

माता कुन्ती ने सुभद्रा और द्रौपदी के साथ राजीमती आर्यिका[2] के पास जाकर केशलोंच किया और आर्यिकाओं का उत्तम संयम धारण किया।

महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है, किन्तु वहाँ राजीमती आर्यिका के स्थान पर राजमती आर्यिका का नाम मिलता है। यथा—

**कोंति सुहद्द दुवइ सुयसत्तउ रायमईहि पासि णिक्खंतउ।**

—महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 92/19/6/249

शास्त्रों में आसक्त कुन्ती, सुभद्रा और द्रौपदी ने आर्यिका राजमती के पास दीक्षा ले ली।

## धनश्री, मित्रश्री तथा नागश्री की आर्यिका दीक्षा

नकुल और सहदेव पूर्व भव में क्रमशः धनश्री और मित्रश्री नाम की कन्याएँ थीं।[3] इनकी छोटी बहिन नागश्री ने मुनि को आहारदान में विष दे दिया था। इस कृत्य से धनश्री और मित्रश्री दोनों ने समस्त संसार-वासना से विरक्त होकर गुणवती आर्यिका के समीप दीक्षा धारण कीं।[4] यथा—

**धनश्रीश्चापि मित्रश्रीर्गुणवत्यार्यिकान्तिके।**
**अदीक्षिषातां निःशेषभववासविषादतः॥**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 64/13

महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है, पर धनश्री के स्थान पर नागश्री का नाम मिलता है, यथा—

**गुणवइखंतिहि पयइं णवेप्पिणु, कामु कोहु मोहु वि मेल्लेप्पिणु।**
**तरुणिहिं संजमगुणवित्थिण्णउ, मित्तणाय सिरिहिं मि वउं चिण्णउ॥**

—महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 92/15/4-5/245

---

2. कुन्ती सुभद्रा द्रौपद्यश्च दीक्षां ताः परां ययुः।
   निकटे राजिमत्याख्यगणिन्या गुणभूषणाः।।—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 72/264-65
3. धनश्रीपूर्वको देवो मित्रश्रीपूर्वकस्तथा।
   नकुलः सहदेवश्च मद्रचां जातौ शरीरजौ।।—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 64/138
4. द्वे ब्राह्मण्यौ परे प्रीते दृष्ट्वा नागश्रियाः कृतिम्।
   गुणवत्यार्यिकाभ्यर्णे प्राव्राजिष्टां विरज्यच।। —आचार्य शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण, 23/110
   स गुणवत्यार्यिकाभ्याशे ब्राह्मण्यावितरे तदा।
   ईयतुः संयमं वृत्तमीदृक्सदसताभिदम्।। —आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 72/236

गुणवती आर्यिका के चरणों को प्रणाम कर काम, क्रोध और मोह को छोड़कर तरुणियों– मित्रश्री, नागश्री– ने भी संयमगुण से विस्तीर्ण (आर्यिका) व्रत ग्रहण कर लिये।

नागश्री पूर्वभव में द्रौपदी का जीव था, तदनन्तर वह दुर्गन्धा[5] नाम की कन्या हुई, जिसका नाम सुकुमारिका भी मिलता है।[6] सुकुमारिका (नागश्री) के पूर्व पापोदय के कारण उसका शरीर दुर्गंधयुक्त था। उसने अपने पूर्वभव की निन्दा करते हुए एक दिन का उपवास किया तथा अनेक आर्यिकाओं से युक्त क्षान्ता नाम की आर्यिका को बड़ी भक्ति से भोजन कराया। तदनन्तर संसार से विरक्त होकर उन्हीं आर्यिका (क्षान्ता) से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की। यथा–

**आत्मानमपि निन्दन्तीं सोपवासान्यदा च सा।**
**क्षान्तार्यामार्यिकायुक्तां भोजयित्वातिभक्तितः॥**
**इति श्रुत्वार्यिकावाक्यं निर्विण्णा सुकुमारिका।**
**तदन्ते सा प्रवव्राज संसारभयवेदिनी॥**

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 64/122, 132

उत्तरपुराण में भी इस प्रकार मिलता है, किन्तु वहाँ क्षान्ता आर्यिका के स्थान पर क्षान्ति आर्यिका का नाम मिलता है। यथा–

**इते दीक्षामिति क्षान्तिवचनाकर्णनेन सा॥**
**सुकुमारी च निर्विण्णा सम्मता निजबान्धवैः।**
**तत्समीपेऽगमद्दीक्षामन्येद्युर्वनमागताम् ॥**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 72/256-57

क्षान्ति आर्यिका के वचन सुनकर सुकुमारी बहुत विरक्त हुई और अपने कुटुम्बीजन की सम्मति लेकर उसने उन्हीं आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली।

## जम्बूस्वामी की माँ एवं पत्नियों की आर्यिका दीक्षा

**जिणवइ सुप्पह-अज्जियहि पासि, दिक्खिय जिणवय-धरि महुरभासि।**
**पउमसिरि पमुहं चारि वि दिणीय, तविस दियाइं महि वण्णणीय।**
**मह उग्ग दित्त तवठाव खीण, हुय सयलि जिणायमि ते पवीण॥**

–जंबूसामिचरिउ, रइधू, 58/1, पृष्ठ 61

मधुर वचन से जिनमति (जम्बूस्वामी की माँ) ने आर्यिकाश्री सुप्रभा से दीक्षा ले ली और वह जैन व्रत का पालन करने लगी। पद्मश्री, कमलश्री, रूपश्री, कनकश्री जम्बूकुमार की सुप्रसिद्ध पत्नियों ने भी आर्यिका व्रत धारण किए और

5. सा सुता भूत्तयोस्तन्वी दुर्गन्धाख्या विगन्धिका।–आचार्य शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण, 24-25
6. सा कुमारी दिवश्च्युत्वा द्रुपदस्य शरीरजा।–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 64-139

सभी ने मिलकर एक जगह उग्र तपस्या करके शरीर को कृश किया और वे सभी जिनागम में प्रवीण हो गई।

जंबूसामिचरिउ में भी इस प्रकार मिलता है–

**जिणवइयए सुप्पहअज्जियासु, तवचरणु लइउ पासम्मि तासु।**
**पउमसिरिपमुह वहुआउ जाउ, पव्वज्जिउ अज्जिउ जाउ ताउ॥**

–वीर विरचित जंबूसामिचरिउ, 10/21/4-5, पृष्ठ 212

जिनमति ने भी सुप्रभा आर्यिका के पास तपश्चरण ले लिया। पद्मश्री आदि प्रमुख जो बहुएँ थीं, वे भी प्रव्रजित होकर आर्यिकाएँ हो गयीं।

## प्रभावती और प्रियदत्ता की आर्यिका दीक्षा

**ततोऽवतीर्य भूभागं श्रीपुरं प्राप्य सद्गुरोः।**
**श्रीपालात्संयमं लेभे विलुब्धो बुधसेवितः॥**
**तन्मात्रा गुणवत्यास्तु दीक्षां प्राप्ता प्रभावती।**
**प्रियदत्ता मुनिं नत्वा प्रभावत्युपदेशतः॥**
**अदीक्षत क्षमापन्ना विरक्तेः फलमीदृशम्॥**

–आचार्य शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण, 3/226-227, 232

श्रीपुर नगर में सद्गुरु श्रीपाल मुनि से (हिरण्यवर्म ने) मुनिव्रत धारण किया॥ उनकी माता जो शशिप्रभा आर्यिका थी, उनके सान्निध्य में रहने वाली गुणवती आर्यिका से प्रभावती ने दीक्षा ग्रहण की। मुनि हिरण्यवर्म को नमस्कार करके प्रभावती आर्यिका के उपदेश से प्रियदत्ता भी क्षमा धारण करने वाली आर्यिका हो गयी।

महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है–

**गुणवइयाइ पहावइ दिक्खिय।**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 30/9/11/268

गुणवती आर्यिका से प्रभावती दीक्षित हुई।

**कयलीकंदलकोमलगत्तइ, किउ णिक्खवणु तुरिउ पियदत्तइ।**
**संतहि दंतहि बहुगुणगणणिहि, चरणमूलि तहि गुणवइगणणिहि॥**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 30/17/3-4/274

केले के वृक्ष की तरह कोमल शरीर वाली प्रियदत्ता ने शान्त-दान्त बहुत से गुणों से गणनीय गुणवती आर्यिका के चरणों में तुरन्त संन्यास (आर्यिका दीक्षा) ले लिया।

## कनकमाला और वसंतसेना की आर्यिका दीक्षा

कनकशांति की दो पत्नियाँ (कनकमाला, वसंतसेना) थीं। वह वन में क्रीड़ा

करने के लिए अपनी दोनों प्रियाओं के साथ गया। वहाँ उसने विमलप्रभ नामक मुनि को देखा। उनके चरणों को वंदन कर उनके मुख से धर्मस्वरूप सुन लिया। उसका मन विरक्त हुआ, तत्काल उसने उन मुनीश के पास दीक्षा ली। कनकशांति की दोनों रानियों ने भी विमला नाम की आर्यिका के पास दीक्षा लेकर तप करना प्रारम्भ किया। जो कुलीन स्त्रियाँ होती हैं, वे अपने पति के अनुकूल ही आचरण रखती हैं। कुलीन स्त्रियों की यह प्रवृत्ति सर्वथा प्रशंसनीय है। यथा–

**दिदीक्षे तत्क्षणे राज्ञ्यौ विमलागणिनीं श्रिते।**
**अदीक्षेतां तपोयुक्ते युक्तं तत्कुलयोषिताम्॥**

–आचार्य शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण, 5/43

पुराणसारसंग्रह में भी इस प्रकार मिलता है–

**प्राव्राजिष्टां तेऽपि निर्विण्णे विमलमतिपार्श्वे।**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, शांतिनाथचरित, 4/35

दोनों रानियाँ (कनकमाला और वसन्तसेना) विमलमति आर्यिका के पास दीक्षित हो गयीं।

## पूतिगन्धिका की आर्यिका दीक्षा

श्रीकृष्ण नारायण की दूसरी पटरानी रुक्मिणी, जो कि पूर्वभव में त्रिपद नामक धीवर की मण्डूकी नामक स्त्री से पूतिगन्धिका नामक पुत्री हुई। समाधिगुप्त मुनिराज ने उसके पूर्वभव सुनाये, जिससे उसने धर्म धारण कर आर्यिका संघ में प्रवेश किया। यथा–

**पुरं सोपारकं याता तत्रार्याः समुपास्य सा।**
**ययौ राजगृहं ताभिः कुर्वाणा चाम्लवर्धनम्॥**

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 60/36

एक बार पूतिगन्धिका सोपारक नगर गयी। वहाँ आर्यिकाओं की उपासना कर वह उन्हीं के साथ आचाम्ल नाम का तप करती हुई राजगृह नगर चली गयी।

## सुमति की आर्यिका दीक्षा

**वज्रमुष्टेः सुभद्रायां सुमतिस्तनयाभवत्।**
**सुन्दर्यार्यिकया पार्श्वे कृत्वा रत्नावलीतपः॥**
**सा त्रयोदशपल्यायुर्ब्रह्मेन्द्राग्रांगनाभवत्॥**

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 60/51-52

नारायण श्रीकृष्ण की तीसरी पटरानी जाम्बवती, जो कि पूर्वभव में वज्रमुष्टि की सुभद्रा स्त्री से सुमति नाम की पुत्री हुई। वहाँ उसने सुन्दरी नामक आर्यिका से प्रेरित हो उनके समीप आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर रत्नावली नाम का तप किया,

जिसके प्रभाव से मरकर वह तेरह पल्य की आयु की धारक ब्रह्मेन्द्र की प्रधान इन्द्राणी हुई।

महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है, किन्तु सुन्दरी नामक आर्यिका के स्थान पर सुव्रता नामक आर्यिका का नाम मिलता है। यथा–

**पुणु वि पुंडरिंकिणिपुरि तरुणिहि, वज्जें वणिएं सुप्पहघरिणि।**
**तुहुं सुय सुमइ णाम संभूई, ता णं धम्में पेसिय दूई।**
**सुव्वय भिक्खामग्गि पइट्ठी, भवणंगणि चडंति पइं दिट्ठी।**
**सहुं परिवाएं पय धोएप्पिणु, दिण्णउं दाणु समाणु करेप्पिणु।**
**अवरु वि तणुसंतवियपयासें, रयणावलिणामेणुववासे।**
**मुय संणासें णिरु णिम्मच्छर, हूई बंभलोइ तुहुं अच्छर॥**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 90/8/14-19/194-95

पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रमुष्टि वणिक् की सुप्रभा नाम की युवती गृहिणी से, हे पुत्री! तुम सुमति[7] नाम से उत्पन्न हुईं। इतने में तुमने धर्म के द्वारा प्रेषित दूती के समान, भिक्षामार्ग में प्रविष्ट, घर के आँगन में चढ़कर आती हुई सुव्रता आर्यिका को देखा। प्रणाम के साथ उनके चरणों को धोकर तुमने सम्मान के साथ आहारदान दिया और शरीर को शान्त करने के प्रयास वाले रत्नावली नाम के उपवास और संन्यास (आर्यिका दीक्षा) से मरकर तुम ब्रह्मलोक में ईर्ष्या से रहित अप्सरा हुईं।

पुराणसारसंग्रह में भी इस प्रकार मिलता है–

**जम्बूपर्वविदेहे दिवोऽवतीर्णाऽत्र पुण्डरीकिण्याम्।**
**तनया तु वज्रमुष्टेर्बभूव सुमतिः सुभद्रायाम्॥**
**गृही व्रतानि जगृहे श्रेष्ठिगृहे सा सुदर्शनार्यायाः।**
**रत्नावलिं चरित्वा विधिवत्प्राणान्प्रहायाऽन्ते॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, नेमिनाथचरित, 5/42-43

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुण्डरीकिणी नगरी में राजा वज्रमुष्टि और रानी सुभद्रा से सुमति नाम की पुत्री हुई। एक दिन उसने सेठ के घर में सुदर्शना नाम की आर्यिका से श्रावकों के व्रत लिये तथा रत्नावली व्रत को विधिपूर्वक पालकर अन्त में मरकर ब्रह्म स्वर्ग में इन्द्र की इन्द्राणी हुई।

---

7. पूर्व भव में सुमति ऐरावत क्षेत्र में विजयपुर नगर के राजा बन्धुषेण की बन्धुमती नामक स्त्री से बन्धुयशा नाम की कन्या हुई। बन्धुयशा ने कन्या अवस्था में ही श्रीमती नामक आर्यिका से जिनदेव प्ररूपित प्रोषधव्रत धारण किए थे। यथा–
बन्धुषेणस्य भूपस्य बन्धुमत्याः सुताभवत्।
नाम्ना बन्धुयशाः कन्या श्रीमत्या प्रोषधव्रतम्।।
–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 60/48-49

## श्रीकान्ता की आर्यिका दीक्षा

**श्रीमत्यामभवत् कन्या श्रीकान्ता नामतः सुता।**
**जिनदत्तार्यिकोपान्ते विनिष्क्रम्य कुमारिका॥**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 60/69-70

नारायण श्रीकृष्ण की चौथी पटरानी सुशीला, जो कि पूर्वभव में श्रीमती नामक रानी थी, जिससे श्रीकान्ता नाम की पुत्री हुई। श्रीकान्ता ने कुमारी अवस्था में ही जिनदत्ता आर्यिका के पास दीक्षा लेकर रत्नावली नाम का तप किया।

ऐसा ही उत्तरपुराण में कहा है किन्तु श्रीमती नामक रानी के स्थान पर सोमश्री रानी का नाम मिलता है। यथा—

**सोमश्रियश्च श्रीकान्ता सुता भूत्वा कदाचन।**
**जिनदत्तार्यिकोपान्ते दीक्षामादाये सुव्रता॥**

—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 71/394-95

सोमश्री रानी के श्रीकान्ता नाम की पुत्री हुई। किसी एक दिन उसने जिनदत्ता आर्यिका के पास दीक्षा ले ली।

महापुराण में भी इसप्रकार मिलता है—

**पुरिहि पुंडरीकिणिहि असोयहु, सोमसिरिहि भुंजियणिवभोयहु।**
**सुयसिरिकंत णाम होएप्पिणु, जिणयत्तहि समीवि वउ लेप्पिणु॥**

—महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 90/12/5-6/198

(इस पूर्व विदेह में पुष्कलावती के सुन्दर शुभंकर देश में) पुण्डरीकिणी नगरी के राजा के ऐश्वर्य को भोगने वाले अशोक और सोमश्री की श्रीकान्ता नाम की पुत्री होकर तुमने जिनदत्ता नामक आर्यिका के पास आर्यिका व्रत ग्रहण कर लिया।

पुराणसारसंग्रह में भी इस प्रकार मिलता है—

**जिनदत्ताऽऽर्यापार्श्वे धर्मं श्रुत्वाऽन्यदा विनिष्क्रान्ता।**
**कनकावलिं चरित्वा महेन्द्रस्याभवत्कान्ता॥**

—आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, नेमिनाथचरित, 5/61

एक समय उसने (श्रीकान्ता) जिनदत्ता आर्यिका के पास धर्मोपदेश सुनकर दीक्षा ले ली और कनकावली तप करने लगी और अन्त में मरकर महेन्द्र स्वर्ग में इन्द्राणी हुई।

## विनयश्री की आर्यिका दीक्षा

**''विनयश्रीर्गुणैः ख्याता नित्यालोकपुरेशिनः।**
**महेन्द्रविक्रमस्यैषा योषिद्गुणसमन्विता॥**

**चारणश्रमणाभ्यां तु धर्मं श्रुत्वा स मन्दरे।**
**राज्ये नियोज्य निष्क्रान्तो नन्दनं हरिवाहनम्॥**
**विनयश्रीस्तु कृत्वासौ सर्वभद्रमुपोषितम्।**
**पंचपल्यस्थितिर्जाता सौधर्मेन्द्रस्य वल्लभा॥''**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 60/90-92

नारायण श्रीकृष्ण की छठी पटरानी गान्धारी, जो कि पूर्वभव में विनयश्री रानी थी, जो गुणों से अत्यन्त प्रसिद्ध थी और नित्यालोक नगर के स्वामी राजा महेन्द्र विक्रम की गुणवती स्त्री थी। कदाचित् सुमेरु पर्वत पर चारण ऋद्धि के धारक युगल मुनियों से धर्म श्रवण कर राजा महेन्द्रविक्रम संसार से विरक्त हो गया और उसने हरिवाहन नामक पुत्र को राज्यकार्य में नियुक्त कर दीक्षा धारण कर ली। विनयश्री ने भी संसार से विरक्त (आर्यिका) हो, सर्वभद्र नामक उपवास किया और उसके प्रभाव से वह पाँच पल्य की स्थिति की धारक सौधर्मेन्द्र की देवी हुई।

उत्तरपुराण में भी इस प्रकार मिलता है, किन्तु विनयश्री के स्थान पर सुरूपा नाम मिलता है।

नित्यालोकपुर के स्वामी राजा महेन्द्रविक्रम की रानी सुरूपा थी। चारणऋद्धिधारी मुनि के उपदेश से वे दोनों परम तृप्ति को प्राप्त हो दीक्षित हो गए—

**''तयोर्नरपतिर्दीक्षामादात्तच्चारणान्तिके।**
**सुभद्रापादमासाद्य सापि संयममाददे॥''**

—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 71/423

उन दोनों में से राजा महेन्द्र विक्रम ने तो उन्हीं चारण मुनिराज के समीप दीक्षा ले ली और रानी सुरूपा ने सुभद्रा नामक आर्यिका के चरणमूल में जाकर संयम धारण कर लिया।

महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है किन्तु विनयश्री और सुरूपा के स्थान पर विमलश्री नाम मिलता है—

**'गोवइखंतिहि पासि कय, विमलसिरीइ सुतवविहि।'**

—महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 90/18/12/206

विमलश्री देवी ने गोवई आर्यिका के पास सुतपविधि अर्थात् आर्यिका दीक्षा स्वीकार कर ली।

## धर्ममति की आर्यिका दीक्षा

**''जिनमत्यार्यिकापार्श्वे तपो जिनगुणाभिधम्।**
**गृहीत्वोपोष्य जातासि महाशुक्रेन्द्रवल्लभा॥''**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 60/102

नारायण श्रीकृष्ण की सातवीं पटरानी गौरी, जो कि पूर्वभव में धर्ममति थी, उसने जिनमति आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण कर जिनगुण नाम का तप लेकर उपवास किये और उनके फलस्वरूप वह महाशुक्र स्वर्ग के इन्द्र की वल्लभा हुई।

## विमलश्री की आर्यिका दीक्षा

नारायण श्रीकृष्ण की आठवीं पटरानी पद्मावती, जो पूर्वभव में राजा श्रीधर की श्रीमति नामक रानी से विमलश्री नाम की पुत्री थी। विमलश्री भद्रिलपुर के राजा मेघनाद के लिए दी गई। उसके संयोग से उसने पृथ्वी पर मेघघोष नाम से प्रसिद्ध पुत्र प्राप्त किया। कदाचित् पति का स्वर्गवास हो जाने पर उसने पद्मावती आर्यिका के समीप दीक्षा लेकर आचाम्लवर्धन नाम का तप किया और उसके प्रभाव से वह स्वर्ग गई। यथा–

**''भर्तरि स्वर्गगते सापि पद्मावत्यार्यिकान्तिके।**
**आचाम्लवर्धमानाख्यं तपः कृत्वा दिवं ययौ॥''**

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 60/119

उत्तरपुराण में भी इसप्रकार है किन्तु मेघनाद के स्थान पर मेघरथ नाम आया है।

भद्रिलपुर के स्वामी राजा मेघरथ की इच्छित सुख देनेवाली विमलश्री नाम की रानी थी। जब राजा ने धर्म नामक मुनिराज के समीप व्रत धारण कर लिया तब विमलश्री भी पद्मावती नाम की आर्यिका के पास दीक्षित हो गई। यथा–

**''साऽपि पद्मावतीक्षान्तिं सम्प्राप्यादाय संयमम्।**
**आचाम्लवर्धनामानं समुपोष्यायुषावधौ ॥''**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 71/456

विमलश्री ने पद्मावती नाम की आर्यिका के पास जाकर संयम (आर्यिकाव्रत) धारण कर लिया और आचाम्लवर्धन नाम का उपवास किया।

पुराणसारसंग्रह में भी इस प्रकार मिलता है–

**पद्मावत्यार्याऽन्ते पत्यौ सा स्वर्गते विनिष्क्रम्य।**
**आचाम्लवर्धमानं समुपोष्यान्ते समाराध्य॥**
**कल्पे तु सहस्रारे देवेन्द्रस्याऽग्रगामिनी भूत्वा।**
**त्रिगुण नवकानि पल्यान्याशीदमराङ्गनासौख्यम्॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, नेमिनाथचरित, 5/116-117

विमलश्री ने पद्मावती आर्यिका के समीप दीक्षा लेकर आचाम्लवर्धन नामक तप को करके अन्त में आराधनाओं को आराधन कर सहस्रार स्वर्ग के इन्द्र की इन्द्राणी हुई।

## सत्यभामा और रूपिणी आदि की आर्यिका दीक्षा

**सच्चहाम-रूविणि सिय सेविहिं, सुण्हहं समउ अट्ठ-महएविहिं।**
**गहियउ वउ रायमइ णवेविणु, भिण्णु सरीरु जीउ मण्णेविणु॥**

—महाकवि सिंह, पज्जुण्णचरिउ, 15/21/15-16/333

अपनी लक्ष्मीसेवी बहुओं के साथ सत्यभामा एवं रूपिणी आदि आठ महादेवियों ने भी राजीमती को नमस्कार कर तथा आत्मा एवं शरीर को भिन्न मानकर आर्यिका व्रत ग्रहण कर लिये।

## देवकी की पुत्री की आर्यिका दीक्षा

देवकी को पुत्री हुई, इस बात को सुनकर कंस ने उस कन्या की नाक चपटी कर दी। उसे धाय ने बड़े प्रयत्न से पाला, जब वह बड़ी हुई तो अपने विकृत रूप को देखकर वैराग्य हो गया। उसने आर्यिका दीक्षा लेकर अपना आत्मकल्याण किया। यथा—

**सा सुव्रतार्यिकाभ्यर्णे शोकात्स्वविक्रताकृतेः।**
**गृहीतदीक्षा विन्ध्याद्रौ स्थानयोगमुपाश्रिता॥**

—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 70/408

बड़ी होने पर उसने (देवकी की पुत्री ने) अपनी विकृत आकृति को देखकर शोक से सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली और विन्ध्याचल पर्वत पर रहने लगी।

## ज्येष्ठा की आर्यिका दीक्षा

वैशाली नगर के चेटक नामक प्रसिद्ध राजा की सुभद्रा नाम की रानी थी। उनकी सात पुत्रियों में से ज्येष्ठा जिसने कि बहन चेलना द्वारा ठगे जाने पर आर्यिका दीक्षा धारण कर ली। यथा—

**तयाहमिति शोकार्ता निजमामीं यशस्वतीम्॥**
**दृष्ट्वा क्षान्तिं समीपेऽस्याः श्रुत्वा धर्मं जिनोदितम्।**
**निर्विद्य संसृतेर्दीक्षां प्राप पापविनाशिनीम्॥**

—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 75/32-33

अन्त में ज्येष्ठा ने अपनी मामी यशस्वती नाम की आर्यिका के पास जाकर जैनधर्म का उपदेश सुना और संसार से विरक्त होकर पापों का नाश करने वाली आर्यिका दीक्षा धारण कर ली।

**चन्दना च यशस्वत्या गणिन्याः सन्निधौ स्वयम्।**
**सम्यक्त्वं श्रावकाणां च व्रतान्यादत्त सुव्रता॥**

—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 75/35

तदन्तर उत्तम व्रत धारण करने वाली चन्दना ने भी स्वयं यशस्वती आर्यिका के समीप जाकर सम्यग्दर्शन और श्रावकों के व्रत ग्रहण किये। महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है–

**बहिणिविओयसोयसंतत्ती, खंतिहि जससईहि उवसंती।**
**पायमूलि तवचरणु लएप्पिणु, थक्क जेट्ठ इंदियइं जिणेप्पिणु।**
**ताहि सुखंतिहि पासि णिहालिउ, चंदणाइ सावयवउ पालिउ।**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 98/11/1-2-6/336-37

अपनी बहिन (चेलना) के वियोग से संतप्त ज्येष्ठा उपशम भाव को धारण कर आर्यिका यशोवती के चरणों में तपश्चरण लेकर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए स्थित हो गई। चन्दना ने भी उन्हीं यशोवती आर्यिका के पास सम्यक्त्व के साथ सुन्दर श्रावक व्रत ग्रहण कर लिये।

## चन्दनबाला की आर्यिका दीक्षा

**प्रापितैतत्पुरं वीरं वन्दितुं निजबान्धवान्।**
**विसृज्य जातनिर्वेगा गृहीत्वान्नैव संयमम्॥**
**तपोवगममाहात्म्यादध्यस्थाद् गणिनीपदम्॥**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 75/68-69

उसी नगर (वत्स देश के कौशाम्बी नगर) में सब लोग महावीर स्वामी की वन्दना के लिए गये थे, चन्दना भी गयी थी और तपश्चरण तथा सम्यग्ज्ञान के माहात्म्य से उसने उसी समय गणिनी (समस्त आर्यिकाओं की अग्रणी) का पद प्राप्त कर लिया।

हरिवंशपुराण में भी इस प्रकार मिलता है–

**सुता चेटकराजस्य कुमारी चन्दना तदा।**
**धौतैकाम्बरसंवीता जातार्याणां पुरःसरी॥**
**सम्यग्दर्शनसंशुद्धाः शुद्धैकवसनावृताः।**
**सहस्रशो दधुः शुद्धा नार्यस्तत्रार्यिकाव्रतम्॥**

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 2/70, 133

राजा चेटक की पुत्री कुमारी चन्दना एक स्वच्छ वस्त्र धारण कर आर्यिकाओं में प्रमुख हो गयी। सम्यग्दर्शन से शुद्ध तथा एक पवित्र वस्त्र को धारण करने वाली हजारों शुद्ध स्त्रियों ने आर्यिका के व्रत धारण किये।

## पद्मावती की आर्यिका दीक्षा

भरत क्षेत्र के हेमांगद देश में एक अत्यन्त सुन्दर राजपुर नाम का नगर था। उस नगर में एक वृषभदत्त नाम का सेठ था। उसकी स्त्री का नाम पद्मावती था।

कितने ही दिन व्यतीत हो जाने पर एक दिन वृषभदत्त सेठ अपने स्थान पर पुत्र जिनदत्त को बैठाकर आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु पत्नी सहित जिनधर्म में दीक्षित हो गया। यथा–

**गुणपालाभिधानस्य लब्धबोधिरदीक्षत।**
**सुव्रताक्षान्ति सान्निध्यं सम्प्राप्यादाय संयमम्।**
**पद्मावती च कौलीन्यं सुव्रता सान्वपालयत्॥**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 75/319-20

ऋषभदत्त सेठ गुणपाल नामक मुनिराज के निकट दीक्षित हो गया और उसकी स्त्री पद्मावती ने भी सुव्रता नाम की आर्यिका के पास जाकर संयम धारण कर लिया तथा उत्तम व्रत धारण कर वह अपनी कुलीनता की रक्षा करने लगी।

## विजया, गन्धर्वदत्ता आदि रानियों की आर्यिका दीक्षा

हेमांगद नाम के देश में राजपुर नाम का शोभायमान नगर था। उसमें राजा सत्यन्धर अपनी विजयलक्ष्मी के समान विजया नाम की रानी के साथ रहता था। उनका पुत्र जीवन्धरकुमार था। जिसकी गन्धर्वदत्ता, गुणमाला, पद्मा, क्षेमश्री, कनकमाला विमला, सुरमंजरी और लक्ष्मणा नाम की सुन्दर पत्नियाँ थीं। राजा जीवन्धर कुमार के दीक्षित हो जाने पर उनकी माँ और पत्नियों ने भी चन्दना आर्यिका के समीप आर्यिका दीक्षा धारण कर ली। यथा–

**सत्यन्धरमहादेव्या सहाष्टौ सद्दृशः स्नुषाः।**
**सद्यो गन्धर्वदत्ताद्यास्तासामपि च मातरः॥**
**समीपे चन्दनार्याया जगृहुः संयमं परम्॥**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 75/683-84

महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है–

**विजयाएविइ सुललियभुयाइ, चंदणहि पासि सुरवरथुयाइ।**
**अट्ठ वि तहु धरिणिउ दिक्खियाउ, सत्थंगोवंगइं सिक्खियाउ॥**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 99/20/8-9/372

विजयादेवी (माँ) और जीवन्धर की आठों पत्नियों ने आर्यिका चन्दना के पास दीक्षा ग्रहण कर ली एवं अंग-उपांग सहित शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण की।

क्षत्रचूड़ामणि में भी इस प्रकार मिलता है किन्तु आर्यिका चन्दना के स्थान पर आर्यिका पद्मा नाम मिलता है। यथा–

**इति वैराग्यतस्तस्याः, सुनन्दापि व्यरज्यत।**
**पाके हि पुण्यपापानां, भवेद् बाह्यं च कारणम्॥**
**ततः कृच्छ्रायमाणं तं, महीनाथं च कृच्छ्रतः।**

**अनुज्ञाप्य ततो गत्वाऽदीक्षिषातां यथाविधिः॥**
**पद्माख्या श्रमणीमुख्या, विश्राण्य श्रमणीपदम्।**
**तन्मातृभ्यां ततस्तं च, महीनाथमबोधयत्॥**

—वादीभसिंह सूरि, क्षत्रचूड़ामणि, 11/14-16

जीवंधर स्वामी की माँ विजयारानी और गन्धोत्कट सेठ की पत्नी सुनन्दा ने संसार से विरक्त होकर पद्मा नामक एक प्रधान आर्यिका से आर्षोक्त विधिपूर्वक आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली।

जीवन्धरचम्पू में भी इसप्रकार मिलता है—

**'तदनु वैराग्यपदवीमनुगच्छन्त्या सुनन्दया सह महादेवी महीनाथं कृच्छ्रायमाणं कृच्छ्रेणानुज्ञाप्य यथाविधि श्रमणीवर्यायाः पद्मार्यायाः सकाशेऽदीक्षिष्ट। श्रमणीनामग्रगण्या पद्मार्या विजयासुनन्दाभ्यां विश्राणितश्रमणीपदा नभसो निपतिता रत्नवृष्टिरिव प्रव्रज्या न प्रतिषेध्येति महीनाथं बोधयामास।'**

**तदन्विति—तदनु तदनन्तरम्, वैराग्यपदवीं विरक्तिमार्गम्, अनुगच्छन्त्यानुयान्त्या, सुनन्दया गन्धोत्कटपत्न्या, सह सार्धम्, महादेवी विजया, कृच्छ्रायमाणं दुःखीभवन्तम्, महीनाथं जीवन्धरम्, कृच्छ्रेण कष्टेन, अनुज्ञाप्य सम्बोध्य, यथाविधि विधिपूर्वकम्, श्रमणीवर्यायाः साध्वीश्रेष्ठायाः, पद्मायाः पद्माभिधानाया आर्यिकायाः, सकाशे निकटे, अदीक्षिष्ट दीक्षां जग्राह। विजयासुनन्दाभ्यां जीवकजननीभ्याम्, विश्राणितं श्रमणीपदं प्रदत्तमार्यिकापदं यया सा, पद्मार्या।**

—महाकवि हरिचन्द्र, जीवन्धरचम्पू, 11/10

उसी समय गन्धोत्कट की पत्नी सुनन्दा को भी वैराग्य उत्पन्न हो गया अतः उसके साथ महादेवी विजया ने अत्यन्त दुःखी राजा जीवन्धर को बड़ी कठिनाई से समझाकर पद्मा नाम की उत्तम आर्यिका के पास विधिपूर्वक दीक्षा ले ली। आर्यिकाओं में अग्रगण्य पद्मा नाम की आर्यिका ने विजया और सुनन्दा के लिए आर्यिका का पद दिया और राजा जीवन्धर को यह कहकर समझाया कि आकाश से पड़ती हुई रत्नवृष्टि के समान दीक्षा का निषेध नहीं करना चाहिए।

## सुप्रबुद्धा की आर्यिका दीक्षा

जम्बूद्वीप के कोशल देश सम्बन्धी अयोध्या नगरी में अरिन्दम नाम के राजा थे। उनकी स्त्री का नाम श्रीमती था। उनकी सुप्रबुद्धा नाम की प्यारी पुत्री थी। जब वह पूर्ण यौवनवती होकर स्वयंवर-मण्डप की ओर जा रही थी, तब उसे पूर्व जन्म के पति कुबेर नामक यक्ष ने समझाया, जिससे उसने प्रियदर्शना नाम की आर्यिका के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली। यथा—

**यक्षेण बोधिता दीक्षामित्वाप्य प्रियदर्शनम्।**

—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 72/35

महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है–

**तं णिसुणिवि सा संजयमणाहि, पावइय पासि पियदरिसणाहि।**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 91/5/3/212

(पूर्वभव ज्ञात कर सुप्रबुद्धा विनीता ने) संयम मन वाली प्रियदर्शना आर्यिका के पास प्रव्रजित (दीक्षित) हो गयी।

## मदनवेगा की आर्यिका दीक्षा

विजयार्ध पर्वत के दक्षिण तट पर वस्त्वालय नाम के नगर में राजा सेन्द्रकेतु और उसकी सुप्रभा नाम की स्त्री से मदनवेगा नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। उसने अपने पूर्वभवों को सुनकर वैराग्य धारण किया। यथा–

**प्रियमित्राभिधां प्राप्य गणिनीं गुणसन्निधिम्।**
**सुधीर्मदनवेगा च कृच्छ्रमुच्चाचरत्तपः॥**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 63/253-54

गुणों की भण्डार स्वरूप बुद्धिमती मदनवेगा प्रियमित्रा नाम की आर्यिका के पास जाकर दीक्षा धारण कर कठिन तपश्चरण करने लगी।

## प्रीतिमती की आर्यिका दीक्षा

विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अरिन्दमपुर नगर के राजा अरिंजय रहते थे। उनकी अजितसेना नाम की रानी थी और दोनों के प्रीतिमती[8] नाम की सती पुत्री थी। कारणवश प्रीतिमती संसार से विरक्त हो आर्यिका दीक्षा के लिए अग्रसर हुई। यथा–

**निर्विण्णा सा निवृत्यार्यिकाभ्यासेऽगात्तपः परम्।**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 70/35

प्रीतिमती ने निवृत्ता नाम की आर्यिका के पास जाकर उत्कृष्ट तप धारण कर लिया।

## अनन्तमती की आर्यिका दीक्षा

चम्पापुरी में जिनेन्द्रभक्त प्रियदत्त नाम का सेठ था। उसकी अंगवती नाम की पत्नी थी। सर्वांग लक्षणों तथा गुणों से युक्त अनन्तमती नाम की उनकी प्रिय कन्या थी। पूर्वकर्म के कारण अनन्तमती ने इस भव में अनेक कष्ट उठाये। संसार की विचित्रता को देखकर उसने मन में आर्यिका दीक्षा के भाव बना लिये। पिताजी के समझाने पर भी वह अपने संकल्प पर दृढ़ रही, उसने आत्मकल्याण हेतु आर्यिका दीक्षा धारण की। यथा–

8. सती प्रीतिमती मेरुगिरेः सकलखेचरान्। –आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 70/31

**एव्वहिं सिवसंगमु पर वंच्छमि,**
**खंति-पयाय समीवें अच्छमि।**
**अज्जिय ताहि पासि॥**

—पुण्यास्रवकथाकोश, 3/7/2, 5

अनन्तमती कहती है— हे पिताश्री! मैं तो केवल शिव (मोक्ष) का संगम चाहती हूँ, अतः अब मैं क्षांतिका आर्यिका के पदों के समीप में ही रहूँगी। पिता ने अनुमति देकर पुत्री को आर्यिका के लिए समर्पित कर दिया। संयता उस पवित्र अनन्तमती ने आर्यिका दीक्षा धारण कर ली।

## रानी चेलना की आर्यिका दीक्षा

**इति ध्यात्वा चिरं राज्ञी निवृत्त्य भवभोगतः।**
**चंदनार्यां समालभ्य स्वस्वसारं प्रणम्य च।**
**जगृहे संयमं सारं राजदारादिभिः समम्॥**

—आचार्य शुभचन्द्र, श्रेणिकपुराणम्, 14/139, 141

रानी चेलना भवभोगों से सर्वथा विरक्त हो गयी और चंदना नाम की आर्यिका के पास गयी तथा अपनी सासू को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अनेक रानियों के साथ शीघ्र ही संयम (आर्यिका दीक्षा) धारण कर लिया।

## अभयमती की आर्यिका दीक्षा

**अभयमई जाय विरत्तभाव, कुसुमावलि अज्जिय सुद्धभाव।**
**तहि पायमूलि खुल्लियहि वित्तु, छड्डेवि घित्तु अज्जियचरित्तु॥**

—महाकवि पुष्पदन्त, जसहरचरिउ, 4/28/22/152

अभयमती ने विरक्तभाव से शुद्धभाव कुसुमावली आर्यिका के चरणमूल में अपना क्षुल्लिका व्रत छोड़कर आर्यिका दीक्षा ग्रहण की।

## हिरण्यवती और रामदत्ता की आर्यिका दीक्षा

दिव्यबल और उसकी रानी सुमति के हिरण्यवती नाम की पुत्री हुई। वह सती हिरण्यवती पोदनपुर के राजा पूर्णचन्द्र के लिए दी गयी। उनकी रामदत्ता नाम की पुत्री हुई। माँ और पुत्री दोनों ने संसार से विरक्त होकर आर्यिका दीक्षा ले ली। यथा—

**माता ते दान्तमत्यन्ते दीक्षिता क्षान्तिरद्य ते।**

—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 59/212

गुरु ने कहा— तेरी माता हिरण्यवती ने आर्यिका दान्तमती के समीप दीक्षा धारण की थी और फिर हिरण्यवती माताजी से रामदत्ता ने दीक्षा धारण की है।

हरिवंशपुराण में भी इस प्रकार मिलता है किन्तु आर्यिका दान्तमती के स्थान

पर दत्तवती आर्यिका नाम मिलता है। यथा–

**दत्तवत्यार्यिकापार्श्वे माता धत्तार्यिकाव्रतम्।**
**पूर्णचन्द्रमुनेः श्रुत्वा रामदत्ताम्बिकार्यिका॥**
**प्रवृत्तिं रामदत्ताया गत्वा बोधयति स्म ताम्।**
**प्राव्रजद्रामदत्ता सा संसारभयवेदिनी॥**

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 27/56-58

माता हिरण्यवती ने दत्तवती आर्यिका के समीप दीक्षा ले आर्यिका व्रत धारण कर लिये। कदाचित् रामदत्ता की माता हिरण्यवती आर्यिका ने अवधिज्ञानी पूर्णचन्द्र मुनि (गृहस्थावस्था के पति) से रामदत्ता का सब समाचार सुना और जाकर सम्बोधित किया। माता के मुख से उपदेश श्रवण कर रामदत्ता संसार से भयभीत हो उठी, जिससे उसने उसी समय आर्यिका दीक्षा ले ली।

## श्रीधरा और यशोधरा की आर्यिका दीक्षा

धरणातिलक नामक नगर के स्वामी अतिवेग विद्याधरा की पत्नी सुलक्षणा थी, श्रीधरा से यशोधरा नाम की पुत्री हुई। यशोधरा की शादी सूर्यावर्त से हुई। माँ श्रीधरा तथा पुत्री यशोधरा दोनों ने संसार से विरक्त होकर आर्यिका दीक्षा ले ली। यथा–

**सूर्यावर्ते तपो याते श्रीधरा च यशोधरा।**
**दीक्षां समग्रहीषातां गुणवत्यार्यिकान्तिके॥**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 59/232

मुनिचन्द्र नाम के मुनि से धर्मोपदेश सुनकर राजा सूर्यावर्त तप के लिए चले गये और श्रीधरा तथा यशोधरा ने गुणवती आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली।

हरिवंशपुराण में भी इस प्रकार मिलता है–

**गुणवत्यार्यिकापार्श्वे श्रीधरा सयशोधरा।**
**सम्यग्दर्शनसंशुद्धा प्रव्रज्यां प्रत्यपद्यत॥**

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 27/82

श्रीधरा और यशोधरा ने भी सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो गुणवती आर्यिका के पास दीक्षा ले ली।

**तइयहुं सिरिजसहरउ विणीयउ, पावइयउ तहिं मायाधीयउ।**
**मुणिचरणारविंदरइमइयहि, पासु वसंतियाहिं गुणमइयहि॥**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 57/20/6-7/307

माँ और बेटी विनीता श्रीधरा और यशोधरा ने भी मुनियों के चरणारविन्द में जिनकी बुद्धि तीव्र है, ऐसी गुणमती वसन्तिका आर्यिका के पास प्रव्रज्या (दीक्षा)

ग्रहण कर ली।

## नन्दयशा, प्रियदर्शना और ज्येष्ठा की आर्यिका दीक्षा

भद्रिलपुर नगर के सेठ धनदत्त तथा सेठानी नन्दयशा के नौ पुत्र तथा प्रियदर्शना और ज्येष्ठा ये दो पुत्रियाँ थीं। कारणवश संसार से विरक्ति हो जाने से माँ और दोनों पुत्रियाँ आर्यिका दीक्षा को धारण करती हैं। यथा–

**तत्तो नन्दयशा पुत्रिकाद्वयेनागमत्तपः।**
**सुदर्शनार्यिकाभ्यर्णे तूर्णनिर्णीतसंसृतिः॥**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 70/189-90

नन्दयशा सेठानी अपनी दो पुत्रियों प्रियदर्शना और ज्येष्ठा के साथ सुदर्शना नाम की आर्यिका के पास गयी और शीघ्र ही संसार के स्वरूप का निर्णय कर आर्यिका दीक्षा धारण की।

## यमुनादत्ता की आर्यिका दीक्षा

मथुरा नगर में शौर्य देश का स्वामी शूरसेन नामक राजा रहता था। उसी नगर में भानुदत्त सेठ रहता था, जिसकी पत्नी का नाम यमुनादत्ता था। भानुदत्त के संयम धारण कर लेने पर यमुनादत्ता को भी वैराग्य हो गया और उसने भी आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली। यथा–

**जिनदत्तार्यिकाभ्यर्णे श्रेष्ठिभार्या च दीक्षिता।**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 71/206

सेठानी यमुनादत्ता ने जिनदत्ता नामक आर्यिका के पास दीक्षा धारण की।

**जउणादत्तइ वणि फुल्लणीवि, वउ लइयउं जिणदत्तासमीवि।**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 89/9/5/172

भानुदत्त सेठ के विरक्त हो जाने पर सेठानी यमुनादत्ता ने भी वन में खिले हुए कदम्ब वृक्ष के नीचे जिनदत्ता नाम की आर्यिका के निकट आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली।

पुराणसारसंग्रह में भी इसप्रकार मिलता है–

**इभ्योऽन्यदा दिदीक्षे श्रुत्वाऽभयनन्दिनः परमधर्मम्।**
**जिनदत्तायाः पार्श्वे प्राव्राजीच्छ्रेष्ठिनी चापि॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, नेमिनाथचरित, 2/43

एक समय उस सेठ (भानु) ने अभयनन्दि मुनि से धर्मोपदेश सुन दीक्षा ले ली तथा सेठानी यमुनादत्ता ने भी जिनदत्ता आर्यिका के समीप आर्यिका के व्रत धारण कर लिये।

## नन्दयशा और रेवती धाय की आर्यिका दीक्षा

हस्तिनापुर नगर में राजा गंगदेव रहता था। उसकी स्त्री का नाम नन्दयशा था। उसकी रेवती नामक धाय थी। रानी नन्दयशा के सातों पुत्र दीक्षित हो जाने के कारण उसको भी संसार से वैराग्य हो गया, साथ में रेवती धाय ने भी दीक्षा धारण कर ली। यथा–

**तथा नन्दयशा रेवती नामादित संयमम्।**
**सुव्रताख्यार्यिकाभ्याशे पुत्रस्नेहाहितेच्छया॥**

–आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 71/287-88

**सुव्वय पणवेप्पिणु संजईउ, जायउणंदयसारेवईउ।**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 89/18/10/183

सुव्रता नाम की आर्यिका को प्रणाम कर नन्दयशा और रेवती धाय भी आर्यिका बन गयीं।

महापुराण में भी इस प्रकार मिलता है और साथ में बन्धुमती की आर्यिका दीक्षा का वर्णन मिलता है–

**देवी च सधात्रीका बन्धुमती सुव्रतार्यिकापार्श्वे।**
**प्राव्राजिष्टां नितरां तदेवं निर्वेदमासाद्य॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, नेमिनाथचरित, 2/102

नन्दयशा रानी ने भी रेवती धाय और बन्धुमती सेठानी के साथ विरक्त होकर सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षा ले ली।

## कनकश्री की आर्यिका दीक्षा

**सुप्पहहि पासि थिय संजमेण, गणणिहि संतिहि कहिएं कमेण।**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 61/11/8/394

कनकश्री उपदिष्ट क्रम और संयम (दीक्षित होकर) के साथ शान्त सुप्रभा आर्यिका के पास स्थित हो गयी।

## प्रसन्नमति और प्रीतंकरी की आर्यिका दीक्षा

**पीइंकरि सुव्वयसंजइहि पासि मुएप्पिणु घरणियलु।**
**चंदायणु चरिवि पसण्णमइ मय पक्खालिवि पावमलु॥**

–महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 61/20/14-15/402

प्रसन्नमति और प्रीतंकरी भी सुव्रता आर्यिका के पास धरिणीतल को छोड़कर चान्द्रायण तप कर तथा पापमल का प्रक्षालन कर मृत्यु को प्राप्त हुई।

## शान्तिमती की आर्यिका दीक्षा

**संतिमइ सुगंथ वियक्खणाहि, हूई सीसिणिय सुलक्खणाहि।**

—महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 61/21/4/402

कन्या शान्तिमती सुशास्त्रों में पारंगत आर्यिका सुलक्षणा की शिष्या (दीक्षित) हो गयी।

## जयसेना और वसन्तसेना की आर्यिका दीक्षा

**वसुसारयणयरि समुद्दसेण, रायहु जयसेण वसंतसेण।**
**णारिहि ण चल मइ जणियसंति, आसंघिय विमलमइ त्ति खंति॥**

—महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 61/22/3, 7/403

वसुसार नगर के समुद्र राजा की जयसेना और वसन्तसेना स्त्रियाँ थीं। वे दोनों ही अविचल मति एवं शान्ति देने वाली विमलमती नाम की आर्यिका से दीक्षित हुईं।

## पृथ्वीतिलका की आर्यिका दीक्षा

**सुमईगणिणिहि सा सरणु गय,**
**कटपंकयलुहियभाल तिलय।**
**तवचरणि लग्ग पुहई तिलय।'**

—महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 62/5/1-2/409

राजा अभयघोष का पृथ्वीतिलका के प्रति स्नेह न होने से पृथ्वीतिलका सुमति नाम की आर्यिका की शरण में चली गयी। अपने हाथ से उसने मस्तक का तिलक पोंछ डाला और आर्यिका हो तपश्चरण में लग गयी।

'पुराणसारसंग्रह' में भी इस प्रकार मिलता है—

**उद्यानेऽविहरन्ती पृथ्वीतिलकाऽवमाननिर्विण्णा।**
**सुमतिगणिन्याः पार्श्वे धर्मं श्रुत्वा प्रवव्राज॥**

—आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, शांतिनाथचरित, 5/19

पृथ्वीतिलका अपमान से विरक्त हो सुमति नाम की आर्यिका के पास धर्मोपदेश सुनकर दीक्षित हो गयी।

## तन्वंगी मंगिया की आर्यिका दीक्षा

**जिणदत्तहि खंतिहि पायमूलि, उवसामियभवयरसल्लसूलि।**
**वउ लइयउं लहुं तणु अंगियाइ, णियचरियविसण्णइ मंगियाइ॥**

—महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 89/13/9-10/177

आर्यिका जिनदत्ता के संसाररूपी कर की फाँस को नष्ट करने वाले पादमूल

में अपने चरित से दुःखी होकर तन्वंगी मंगिया ने भी आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली।

पुराणसारसंग्रह में भी इस प्रकार मिलता है–

**मंगी च तादृगार्याजिनदत्ताग्रे तु सर्वमथ पृष्ट्वा।**
**श्रुत्वाऽत्मकारणत्वं निर्विद्यैषा प्रवव्राज॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, नेमिनाथचरित, 2/62

मंगी ने भी वैसे ही जिनदत्ता आर्यिका से सब वृत्तान्त पूछकर अपने ही चरित्र को वैराग्य का कारण जान विरक्त होकर दीक्षा ले ली।

## सुभद्रा, सुदर्शना और सुज्येष्ठा की आर्यिका दीक्षा

**सुदर्शनार्यिकापार्श्वे सुभद्रा च सुदर्शना।**
**सुज्येष्ठा च तपो ज्येष्ठं सहैव प्रतिपेदिरे॥**

–जिनसेनाचार्य, हरिवंशपुराण, 18/117

सुदर्शना नामक आर्यिका के पास सुभद्रा रानी (मेघरथ की पत्नी) तथा (धनदत्त नामक सेठ की पत्नी नन्दयशा की) सुदर्शना और सुज्येष्ठा नामक दोनों पुत्रियों ने साथ ही साथ दीक्षा धारण कर ली।

पुराणसारसंग्रह में भी इस प्रकार मिलता है–

**ससुतो नृपेण सार्धं नैर्ग्रन्थ्यमुपाददे तदा श्रेष्ठी।**
**देवी सश्रेष्ठिसुता सुदर्शनां प्राप्य चाऽऽर्याऽऽसीत्॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, नेमिनाथचरित, 1/50

राजा के साथ सेठ ने भी अपने पुत्रों के साथ मुनि दीक्षा ले ली तथा रानी सुभद्रा भी उस सेठ की पुत्रियों (सुदर्शना और ज्येष्ठा) के साथ सुदर्शना आर्यिका के पास आर्यिका हो गयी।

## राजीमती की आर्यिका दीक्षा

**षट्सहस्रनृपस्त्रीभिः सह राजीमती तदा।**
**प्रव्रज्याग्रेसरी जाता सार्यिकाणां गणस्य तु॥**

–जिनसेनाचार्य, हरिवंशपुराण, 57/146

छह हजार रानियों के साथ दीक्षा लेकर राजीमती आर्यिकाओं के समूह की प्रधान बन गयी।

पुराणसारसंग्रह में भी इस प्रकार मिलता है–

**सार्द्धं बभूव भक्त्या षट्कसहस्रेण राजपुत्रीणाम्।**
**राजीमतिः प्रव्रजिता जातार्यिकाऽग्रेसरी गणिनी॥**

–(आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, नेमिनाथचरित, 4/70

राजीमती ने भक्तिपूर्वक छह हजार राजकन्याओं के साथ दीक्षा ले ली और आर्यिकाओं की प्रमुख गणिनी हो गयी।

## सुलोचना की आर्यिका दीक्षा

**एकशाटीं विना त्यक्तद्विधासर्वपरिग्रहा:।**
**ध्यानाध्ययनसंसक्ता मुक्तिसंसाधनोद्यता:॥**
**सुलोचनादिमुख्या आर्यिका अस्य पदाम्बुजौ।**
**प्रणमन्त्येव षट्त्रिंशत्सहस्रसंख्यका: परा:॥**

—आचार्य सकलकीर्ति, श्रीपार्श्वनाथचरित, 23/29-30

एक साड़ी को छोड़कर शेष समस्त द्विविध परिग्रह का जिन्होंने त्याग कर दिया था, जो ध्यान और अध्ययन में संलग्न रहती थीं तथा मुक्ति की साधना में उद्यत रहती थीं, ऐसी सुलोचना को आदि लेकर छत्तीस हजार उत्कृष्ट आर्यिकाएँ इनके चरण-कमलों को प्रणाम करती थीं।

पुराणसारसंग्रह में भी वर्णन मिलता है, किन्तु 36,000 के स्थान पर 38,000 आर्यिकाओं की संख्या मिलती है।

**अष्टात्रिंशत् सहस्राणि चासन्ह्यार्या गुणाकरा:।**
**सुलोचनाऽभवत्तासु ज्येष्ठा देवेन्द्रपूजिता॥**

—आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, पार्श्वनाथचरित, 5/24

वहाँ गुणों की खानि स्वरूप आर्यिकाएँ अड़तीस हजार थीं, जिनमें इन्द्रों से पूज्य सुलोचना नाम की आर्यिका प्रधान थीं।

## अनुकोशा की आर्यिका दीक्षा

**पार्श्वे कमलकान्ताया आर्याया सुसमाहिता।**
**सममूर्यानुकोशापि प्रव्रज्य तपसि स्थिता॥**

—आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 30/124

विमुचि की स्त्री अनुकोशा और कयान की माता ऊरी इन दोनों ब्राह्मणियों ने भी कमलकान्ता नाम की आर्यिका के पास दीक्षा लेकर तप धारण कर लिया।

## मन्दोदरी और चन्द्रनखा की आर्यिका दीक्षा

**संसारप्रकृतिप्रबोधनपरैर्वाक्यैर्मनोहारिभि-**
**स्तस्या: प्राप्य विबोधमुत्तमगुणा संवेगमुग्रं श्रिता।**
**त्यक्ताशेषगृहस्थवेषरचना मन्दोदरी संयता,**
**जाताऽत्यन्तविशुद्धधर्मनिरता शुक्लैकवस्त्राऽऽवृता॥**
**लब्ध्वा बोधिमनुत्तमां शशिनखाऽप्यार्यामिमामाश्रिता,**

**संशुद्धश्रमणा व्रतोरुविधवा जाता नितान्तोत्कटा।**
**चत्वारिंशदथाष्टकं सुमनसां ज्ञेयं सहस्राणि हि।**
**स्त्रीणां संयममाश्रितानि परमं तुल्यानि भासां रवेः॥**

—आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 78/94-95

तदनन्तर जो संसार दशा का निरूपण करने में तत्पर शशिकान्ता आर्यिका के मनोहारी वचनों से प्रबोध को प्राप्त हो उत्कृष्ट संवेग को प्राप्त हुई थी, ऐसी उत्तम गुणों की धारक मन्दोदरी गृहस्थ सम्बन्धी समस्त वेश रचना को छोड़ अत्यन्त विशुद्ध धर्म में लीन होती हुई एक सफेद वस्त्र से आवृत आर्यिका हो गयी। रावण की बहिन चन्द्रनखा भी इन्हीं आर्यिका के पास उत्तम रत्नत्रय को पाकर व्रतरूपी विशाल.सम्पदा को धारण करने वाली उत्तम साध्वी हुई। गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक! उस दिन मन्दोदरी आदि ने सूर्य की दीप्ति के समान देदीप्यमान अड़तालीस हजार स्त्रियों ने संयम धारण किया।

## केकई की आर्यिका दीक्षा

**पूर्वमेव जिनोक्तेन धर्माणाऽसौ सुभाविता।**
**महासंवेगसम्पन्ना सितैकवसनान्विता॥**
**सकाशे पृथ्वीमत्याः सह नारीशतैस्त्रिभिः।**
**दीक्षां जग्राह सम्यक्त्वं धारयन्ती सुनिर्मलम्॥**

—आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 86/23-24

वह केकई जिनेन्द्र-प्रणीत धर्म से तो पहले ही प्रभावित थी, इसलिए महान् वैराग्य से प्रयुक्त हो एक सफेद साड़ी से युक्त हो गयी। तदनन्तर निर्मल सम्यक्त्व को धारण करती हुई उसने तीन सौ स्त्रियों के साथ पृथ्वीमती नाम की आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

## राजस्त्रियों की आर्यिका दीक्षा

**प्रथितां बन्धुमत्याख्यामुपगम्य महत्तराम्।**
**प्रयुज्य विनयं भक्त्या विधाय महमुत्तमम्॥**

—आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 113-40

राजस्त्रियों ने बन्धुमती नाम की प्रसिद्ध आर्यिका के पास जाकर तथा भक्तिपूर्वक नमस्कार और उत्तम पूजा कर दीक्षा धारण कर ली।

**सप्तविंशसहस्राणि प्रधानवरयोषिताम्।**
**श्रीमतीश्रमणीपार्श्वे बभूवुः परमार्यिकाः॥**

—आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, 119-42

सत्ताईस हजार प्रमुख स्त्रियाँ श्रीमती नामक आर्यिका के पास आर्यिका हुईं।

## रामदत्ता की आर्यिका दीक्षा

**इंदिर विभवं तन्नै इरु वगियिर् सैदु मयिंद।**
**रंदरं पिरिदोंड्रेंड्रि इंबत्तु ळळुंदुं नाळुळ्॥**
**शिंदुर कळित्तु शीय शेनन् ट्रन् वार्ते केटु।**
**वंदनर् शांतिरन्य मदियेंबा तुरंद मादर्॥**
**अनिचत्तं पोदु कोइवार् पोलनी मयिरै वांगि।**
**पणिचप्पै येनय कोंगै पाणि निर पडत्तिन् वीकि॥**
**तनि चिंत्त वैत्त नंगै तामरै पूवि लन्नं।**
**पनि सुत्तन् सूट्टवेळ् विरुंद दोर् पडि इरुंदाळ्॥**

—वामनाचार्य, मेरुमंदर पुराण, तमिल भाषा, 392, 402

राजमाता की आज्ञा के अनुसार सिंहचन्द्र का राज्याभिषेक करके राज्यपद दिया और पूर्णचन्द्र को युवराज पदवी दी। राजा सिंहचन्द्र सुखपूर्वक राजशासन करने लगा। राजा सिंहसेन के मरण का हाल सुनकर उस नगर में विराजमान शांतिमति व हिरण्यमति यह दोनों आर्यिकाएँ माता रामदत्ता के पास आयीं। तब आर्यिका ने रामदत्ता देवी के मन में तीव्र वैराग्य की भावना को देखकर उसको तथाऽस्तु कहकर दीक्षा की अनुमति दी। उसी समय आर्यिका माता की अनुमति लेकर रामदत्ता ने अपने शरीर के वस्त्र आभरण आदि को उतार दिया और उन्हें त्याग करके बारह भावना का चिंतवन करते हुए मन से एकाग्रचित्त होकर शुद्ध श्वेत वस्त्र धारण कर आर्यिका दीक्षा ग्रहण की।

ऐसा ही विमलनाथ पुराण में कहा है, किन्तु शांतिमती आर्यिका नाम के स्थान पर दांतमती आर्यिका का नाम मिलता है—

**द्रव्यक्षेत्रादिसद्भावं ज्ञात्वाभ्यर्णे तयोस्तदा।**
**जग्राह संयमं शुद्धं रामदत्ता पवित्रधी:॥**

—ब्र. कृष्णदास, विमलनाथ पुराण, 7/161

द्रव्य, क्षेत्र आदि का स्वरूप समझकर राजा सिंहसेन की पत्नी रामदत्ता ने दांतमती और हिरण्यमती आर्यिकाओं के समीप संयम धारण कर लिया।

## वरुणा की आर्यिका दीक्षा

**वरुणाद्यार्यिकाणां च विशुद्धतरचेतसाम्।**
**अशीतिश्च सहस्राणि लक्षमेकं क्षतैनसाम्॥**

**वरुणाद्यार्यिकाणां वरुणार्यिका आद्या मुख्या यासां तासामार्यिकाणां च। एकं लक्षम्, अशीति: सहस्राणि च। अभूवन्॥** —श्रीवीरनन्दी, चन्द्रप्रभचरितम्, 18/150

तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के समवशरण में वरुणा आदि एक लाख अस्सी हजार

आर्यिकाएँ थीं, जिनके समस्त पाप विलीन हो चुके थे और जिनके हृदय अत्यन्त विशुद्ध हो गये थे।

पुराणसारसंग्रह में भी इस प्रकार मिलता है किन्तु वरुणा के स्थान पर सुलसा का नाम मिलता है और एक लाख अस्सी हजार के स्थान पर तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाओं का वर्णन आता है–

**तिस्रो लक्षा अशीतिश्च सहस्राश्च शुभार्यिका:।**
**तासामग्रेसरी नात्रा सुलसा शीलधारिणी॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, चन्द्रप्रभचरित, 1/75

उनके (तीर्थंकर चन्द्रप्रभ) संघ में तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ थीं और उनमें प्रधान सुलसा नाम की आर्यिका थी।

### प्रभावती की आर्यिका दीक्षा

**पद्मावत्यार्यिकापार्श्वे निष्क्रम्योग्रं प्रभावती।**
**रत्नावलिं तप: कृत्वा साऽप्यच्युतमुपेयुषी॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, आदिनाथचरित, 1/49

प्रभावती ने पद्मावती आर्यिका के समीप दीक्षा लेकर उग्र रत्नावली तप तपकर अच्युत स्वर्ग में गयी।

### सुप्रभा की आर्यिका दीक्षा

**सुदर्शनार्यिकापार्श्वे दीक्षित्वोग्रतपोवृता।**
**कृत्वा रत्नावलीं सम्यक् सुप्रभा चाच्युतं गता॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, आदिनाथचरित, 1/57

सुप्रभा ने सुदर्शना आर्यिका के पास दीक्षा ले ली और रत्नावली नामक उग्र तप करके अच्युत स्वर्ग गयी।

### अनन्तश्री और धनश्री की आर्यिका दीक्षा

**कन्या सप्तशतवृता प्राव्राजीत्सुव्रतार्यिकापार्श्वे।**
**कृत्वोग्रतप: सम्यक् साऽन्ते प्राप्तानतं कल्पम्॥**

–आचार्य दामनन्दि, पुराणसारसंग्रह, शांतिनाथचरित, 3/32

अनन्तश्री और धनश्री नाम की दोनों कन्या सात सौ कन्याओं के साथ सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षित हो गयी और उग्र तपकर अन्त में आनत कल्प में देव हुईं।

### मैना सुन्दरी (मदन सुन्दरी) आदि की आर्यिका दीक्षा

**राश्यो मदनसुन्दर्याद्याभव्यो भूभुजा समम्।**
**एक शार्टी बिना संगांस्त्यक्त्वाददुस्तपोद्भुतम्॥**

–आचार्य सकलकीर्ति, श्रीपालचरित्र, 10/96

भव्यात्मा रानियाँ मदनसुन्दरी, मदनमंजूषा, गुणमाला आदि ने एक मात्र साड़ी के बिना शेष परिग्रहों को छोड़कर आश्चर्यकारी आर्यिका व्रत धारण किये।

### जिनदत्त की पत्नियों की आर्यिका दीक्षा

**कृत्वा सारतरं तपो बहुविधं शान्ताश्चिरं चार्यिका:।**
**कल्पं तास्तम वापु रेत्य सकला दत्तो जिनादिर्गत:॥**

—आचार्य गुणभद्रस्वामी, जिनदत्तचरित्र, 9/98

जिनदत्त की भार्याएँ आर्यिका व्रत से अलंकृत हो घोर तपश्चरण करने लगीं। वे शान्त चित्त, विकार रहित शुद्ध सफेद एक साड़ी मात्र परिग्रह धारण कर कठोर साधना करने लगीं। अन्त में कषाय और शरीर को कृश कर उत्तम समाधि कर उसी स्वर्ग को प्राप्त किया, जिसमें श्री जिनदत्त मुनिराज उत्पन्न हुए थे।

### जिनमती सेठानी की आर्यिका दीक्षा

**श्रेष्ठिनी जिनमत्याख्या तदा तद्गुरुपादयो:।**
**युग्मं प्रणम्य मोहादिपरिग्रहपराङ्मुखा॥**
**वस्त्रमात्रं समादाय लात्वा दीक्षां यथोचिताम्।**
**संश्रिता भक्तित: कांचिदार्यिकां शुभमानसाम्॥''**

—आचार्य विद्यानन्दि, सुदर्शनचरित, 5/87-88

जिनमती नामक सेठानी ने उन गुरु के चरणयुगल में प्रणाम कर मोहादि परिग्रह से पराङ्मुख होकर, वस्त्र मात्र ग्रहण कर यथायोग्य दीक्षा लेकर भक्तिपूर्वक शुभ मन वाली किसी आर्यिका का आश्रय लिया।

### मनोरमा की आर्यिका दीक्षा

**त्रिधा सर्वं परित्यज्य वस्त्रमात्रपरिग्रहा।**
**तत्र दीक्षां समादाय शर्मदां परमादरात्॥**
**भूत्वार्यिका सती पूता जिनोक्तं सुतप: शुभम्।**
**संचकार जगच्चेतोरञ्जनं दु:खभंजनम्॥**

—आचार्य विद्यानन्दि, सुदर्शनचरित, 11/89-90

मन-वचन-काय से सब त्याग कर, वस्त्र मात्र स्वीकार कर वहाँ परम आदर से सुख देने वाली दीक्षा ग्रहण कर, मनोरमा सती ने पवित्र आर्यिका होकर जिनोक्त शुभ सुतप किया, जो कि संसार के चित्त को प्रसन्न करने वाला और दु:ख का भंजन करने वाला है।

### चतुर्थ काल की प्रथम आर्यिका

**ब्राह्मीयं सुन्दरीयं च समस्तार्यागणाग्रणी:।**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 12/42

समस्त आर्यिकाओं की अग्रणी ब्राह्मी-सुन्दरी थीं।

## बीसवीं सदी में प्रथम आर्यिका दीक्षा

वर्तमान दिगम्बर परम्परा की सर्वप्रथम दीक्षिता आर्यिकाश्री चन्द्रमती जी थीं। कहा जाता है कि आचार्य शान्तिसागर जी ने अनेक महिलाओं को प्रार्थना करने पर भी दीक्षित नहीं किया था किन्तु केसरबाई को यह कहकर दीक्षित किया कि 'नमूना तो बनो'। सचमुच ही ये भावी आर्यिका संघ के लिए उत्कृष्ट नमूना सिद्ध हुईं।

—आर्यिका रत्नमती अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 407

## पंचम काल की अन्तिम आर्यिका

आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में बताया है कि अयोध्या की रहने वाली पंचम काल की अन्तिम धर्मात्मा सर्वश्री आर्यिका होगी। वीरांगज मुनि, अग्निल श्रावक, सर्वश्री आर्यिका और फल्गुसेना श्राविका— ये चारों ही जीव शरीर तथा आयु छोड़कर सद्धर्म के प्रभाव से प्रथम स्वर्ग में जाएँगे। यथा—

**सर्वश्रीरार्यिकावर्गे पश्चिमः श्रावकोत्तमः।**
**वीरांगजोऽग्निलः सर्वश्रीस्त्यक्त्वा श्राविकापि सा॥**
**देहमायुश्च सद्धर्माद् गमिष्यन्त्यादिमं दिवम्॥**

—आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 76/433, 436

## आर्यिकाओं का स्वतन्त्र स्थान समवशरण में

**ततोऽलंकृतनारीभिरार्यिकाततिराम्बभौ ।**
**स्फुरद्विद्युद्भिराश्लिष्टा शारदीव घनावली॥**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 2/78

**अर्थ**— तीर्थंकर भगवान के समवशरण की बारह सभाओं में से तृतीय सभाकक्ष में नाना प्रकार के अलंकारों से अलंकृत स्त्रियों के साथ आर्यिकाओं की पंक्ति इस प्रकार सुशोभित हो रही थी, जिस प्रकार कि चमकती हुई बिजलियों से आलिंगित शरद् ऋतु की मेघपंक्ति सुशोभित होती है।

**ह्रीदयाक्षान्तिशान्त्यादिगुणालंकृतसंपदः।**
**समेत्योपविशन्त्यार्या सद्धर्मतनया यथा॥**

—आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, 57/151

**अर्थ**— तीसरी सभा में लज्जा, दया, क्षमा, शान्ति आदि गुणरूपी सम्पत्ति से सुशोभित आर्यिकाएँ विराजमान थीं, जो समीचीन धर्म की पुत्रियों के समान जान पड़ती थीं।

## गणिनी आर्यिका के अनुशासन में आर्यिकाएँ

**ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।**
**गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज॥**

—आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, 192

आर्यिकाओं को बिना कार्य के पर-गृह में नहीं जाना चाहिए और अवश्य जाने योग्य कार्य में गणिनी से पूछकर साथ में मिलकर ही जाना चाहिए, अर्थात् आर्यिकाओं को गणिनी आर्यिका के अनुशासन में अपनी चर्या करनी चाहिए।

## आर्यिकाओं द्वारा आचार्यादि की वंदना

**पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।**
**परिहरिदूणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति॥**

—आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, 195

आर्यिकाएँ आचार्य को पाँच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से, साधु को सात हाथ से दूर रहकर गवासन से ही वंदना करती हैं।

## कुशल गणिनी[9] द्वारा प्रायश्चित्त-विधान

**सामाचारः कथितः आर्याणां चेह यो विशेषस्तु।**
**तस्य च भंगेन पुनः गणिना कुशलेन निर्दिष्टम्॥**

—आचार्य इन्द्रनन्दि, छेदशास्त्र, 72

आर्याणां अर्थात् आर्यिकाओं का आचार सम्बन्धी जो कथन यहाँ किया गया है, उसकी विशेषता यह है कि उस संघ की प्रमुखा गणिनी द्वारा वह भिन्न प्रकार से यहाँ विधिवत् निर्दिष्ट है।

**यत् श्रमणानामुक्तं प्रायश्चित्तं तथा यत् आचरणम्।**
**तेषां चैव प्रोक्तं तत् श्रमणीनामपि ज्ञातव्यम्॥**

—आचार्य इन्द्रनन्दि, छेदपिण्ड 289

श्रमणों के लिए मुक्ति पर्यंत जो प्रायश्चित्त तथा जो आचरण कहे गये हैं, वही प्रायश्चित्त तथा आचरण श्रमणियों के लिए भी जानना चाहिए।

## आर्यिकाओं के समूह में गणिनी ही मुनि से वार्तालाप करे

**तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु।**
**गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्व॥**

—आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, 178, पृष्ठ 146

पुनः उनमें से यदि अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर न देवे। यदि गणिनी को आगे करके वह प्रश्न पूछती है तो फिर उत्तर कहना चाहिए।

9. समस्त आर्यिकाओं की प्रमुख साध्वी।

## विनय करने की क्रम पद्धति

**बहुकालप्रव्रजिताया अप्यार्यिकाया अद्य प्रव्रजितोऽपि महान्।**

—आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, टीका 911

बहुत काल से दीक्षित आर्यिका से आज का दीक्षित मुनि महान है।

**निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु, स्यादार्यिकाणां च वंदना।**
**श्रावकस्योत्तमस्थौच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते ॥**

—आचार्य इन्द्रनन्दि, नीतिसार, 51, पृष्ठ 18

**भावार्थ**— निर्ग्रन्थ-दिगम्बर अनगार को 'नमोस्तु', आर्यिकाओं को 'वंदना' तथा क्षुल्लक, ऐलक को 'इच्छामि' शब्दों द्वारा विनय प्रकट करना कहा है, अर्थात् उपर्युक्त शब्दों से ही उनकी वन्दना करनी चाहिए।

यानी— क्षुल्लिका को भी 'इच्छामि' इच्छा-शब्देन नमः उच्यते।

## मुद्रा भी पूज्य है

मुद्रा चाहे शासन वर्ग की हो या धार्मिक वर्ग की हो, वह मान्य होती है— ऐसा नीतिसार में आचार्य इन्द्रनन्दि ने कहा है—

**मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते।**
**राजमुद्राधरोऽत्यंतहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥**

—नीतिसार, आचार्य इन्द्रनन्दि, 77

**अर्थ**— मुद्रा की सर्वत्र मान्यता होती है, मुद्राहीन की नहीं। राजा की राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यन्त हीन व्यक्ति भी राजा माना जाता है, यह नीतिशास्त्र का निर्णय है।

## आर्यिकाओं की कुल संख्या

**णभ-पण-दु-छ-पंचंबर-पंचंक-कमेण तित्थ-कत्ताणं।**
**सव्वाणं विरदीओ, चंदुज्जल-णिक्कलंक-सीलाओ॥**

—आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, गाथा 1188

**अर्थ**— सर्व तीर्थंकरों के तीर्थ में चन्द्र सदृश उज्ज्वल एवं निष्कलंक शील से संयुक्त समस्त आर्यिकाएँ क्रमशः 50,56,250 अंक प्रमाण थीं।

## प्रमुख आर्यिकाओं के नाम

**बम्हप्पकुज्ज-णामा, धम्मसिरी मेरुसेण-अयणंता।**
**तह रतिसेणा मीणा, वरुणा घोसा य धरणा य॥**
**चारण-वरसेणाओ, पम्मा-सव्वस्सि-सुव्वदाओ वि।**
**हरिसेण-भावियाओ, कुंथू-मधुसेण-पुप्फदंताओ॥**

**मग्गिणि-जक्खि-सुलोया, चंदण-णामाओ उसह-पहुदीणं।**
**एदा पढम-गणीओ, एक्केक्का सव्वविरदीओ॥**

—आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, गाथा 1189-1191

**अर्थ**— 1. ब्राह्मी, 2. प्रकुब्जा, 3. धर्मश्री, 4. मेरुषेणा, 5. अनन्ता, 6. रतिषेणा, 7. मीना, 8. वरुणा, 9. घोषा, 10. धरणा, 11. चारणा, 12. वरसेना, 13. पद्मा, 14. सर्वश्री, 15. सुव्रता, 16. हरिषेणा, 17. भाविता, 18. कुन्थुसेना, 19. मधुसेना, 20. पुष्पदन्ता, 21. मार्गिणी, 22. राजमती, 23. सुलोका (सुलोचना) एवं 24 चन्दना नामक एक-एक आर्यिका क्रमशः ऋषभादिक के तीर्थ में रहने वाली आर्यिकाओं के समूह में प्रमुख थीं।

| | तीर्थंकरों के नाम | मुख्य आर्यिका | आर्यिकाओं की संख्या |
|---|---|---|---|
| 1. | ऋषभनाथ | ब्राह्मी | 3,50,000 |
| 2. | अजितनाथ | प्रकुब्जा | 3,20,000 |
| 3. | शम्भवनाथ | धर्मश्री | 3,30,000 |
| 4. | अभिनन्दननाथ | मेरुषेणा | 3,30,600 |
| 5. | सुमतिनाथ | अनन्ता | 3,30,000 |
| 6. | पद्मप्रभ | रतिषेणा | 4,20,000 |
| 7. | सुपार्श्वनाथ | मीना | 3,30,000 |
| 8. | चन्द्रप्रभ | वरुना | 3,80,000 |
| 9. | पुष्पदन्त | घोषा | 3,80,000 |
| 10. | शीतलनाथ | धरणा | 3,80,000 |
| 11. | श्रेयांसनाथ | चारणा | 1,30,000 |
| 12. | वासुपूज्य | वरसेना | 1,06,000 |
| 13. | विमलनाथ | पद्मा | 1,03,000 |
| 14. | अनन्तनाथ | सर्वश्री | 1,08,000 |
| 15. | धर्मनाथ | सुव्रता | 62,400 |
| 16. | शान्तिनाथ | हरिषेणा | 60,300 |
| 17. | कुन्थुनाथ | भाविता | 60,350 |
| 18. | अरनाथ | कुन्थुसेना | 60,000 |
| 19. | मल्लिनाथ | मधुसेना | 55,000 |
| 20. | मुनिसुव्रतनाथ | पूर्वदत्ता | 50,000 |
| 21. | नमिनाथ | मार्गिणी | 45,000 |
| 22. | नेमिनाथ | राजमती | 40,000 |
| 23. | पार्श्वनाथ | सुलोका | 38,000 |
| 24. | महावीर | चन्दना | 36,000 |

# मुनिभक्त क्षेत्रपालों का शास्त्रोक्त स्वरूप

जैनदर्शन में यह सर्वमान्य है कि प्रत्येक चौथे काल में चौबीस तीर्थंकर एवं अन्य अनेक महापुरुष इस वसुधा पर जन्म लेते हैं। तीर्थंकरों का गर्भ-कल्याणक, जन्म-कल्याणक, दीक्षा-कल्याणक, ज्ञान-कल्याणक एवं मोक्ष-कल्याणक मनाया जाता है। ये सभी कल्याणक एवं अनेक मांगलिक कार्य सम्यग्दृष्टि देवों द्वारा किये जाते हैं। वे देव जिनेन्द्र भगवान के उपासक व अनन्य भक्त तथा आगामी भव में मोक्ष पुरुषार्थी होते हैं। जब तीर्थंकर देव का समवशरण लगता है तो उस समवशरण में तीन गति (मनुष्य, देव और तिर्यंच) के भव्य सम्यग्दृष्टि श्रोतागण आकर भगवान की वाणी का रसपान करते हैं। उस समवशरण में चार द्वार होते हैं और उन द्वारों में मनोज्ञ, मनोहारी भव्य सम्यग्दृष्टि क्षेत्रपाल[1] (देव) होते हैं। यथा–

**रक्षार्थमस्य पूर्वादिद्वारं दक्षिणभागके।**
**कुमुदं चांजनं यक्षे, वामनं पुष्पदंतकम्॥**

–जिनेन्द्र-पूजाविधान, पं. आशाधर, 1, पृष्ठ 75

**अर्थ—** समवसरण में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर **द्वारों** पर क्रमशः **कुमुद, अंजन, वामन** तथा **पुष्पदन्त क्षेत्रपाल** विराजमान रहते हैं।

जैन प्रतिष्ठा-ग्रन्थों, पुराणों एवं इतिहास में इनका विशद रुचिकर वर्णन मिलता है। क्षेत्रपाल जिनशासन की प्रभावना करने वाले एवं जिनभक्तों के संकटमोचक होते हैं। जैनधर्म में प्रत्येक मांगलिक कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व इनका आह्वान[2] करके इन्हें उच्चस्थान व यथायोग्य सम्मान दिया जाता है। आध्यात्मिक सत्पुरुष ब्र. शीतल प्रसाद कृत 'प्रतिष्ठासार-संग्रह' में वेदी-शुद्धि विधान के प्रसंग में क्षेत्रपालों का आह्वान इसप्रकार बताया है–

पूर्वदिशा के **द्वारपाल** को निम्न श्लोक पढ़कर पुष्पक्षेपण पूर्वक स्थापन करें–

---

1. **जक्खिंदा दार-रक्खणया।** –तिलोयपण्णत्ति, आचार्य यतिवृषभ, 2/825/248
   –समवशरण में यक्षेन्द्र द्वार-रक्षक होता है।
2. **क्षेत्रपालं गजात्याश्चकोणे पूर्वोत्तरे न्यसेत्।**
   –आचार्य वसुनंदि, प्रतिष्ठासारसंग्रह, 3-61
   **क्षेत्रपालादि स्थापनायाश्च।** –तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, 1-5-69

**पुरुहूतदिशि स्थितमेहि करोद्धृतऋ कांचनदण्डगखण्डरुचे ।**
**विध्निा कुमुदेश्वरसव्यश हे, धृतपंकजशंकितकंकणके ॥**

**अर्थ**– हाथ में उठाये हुये स्वर्णदण्ड की कान्ति से सुशोभित, कमलशोभी, कंकणधारी, विघ्नों के नाशक, हे कुमुदेश्वर! आप पूर्व दिशा में स्थिर हों।

इसी तरह **पश्चिम** दिशा में करें–

**पश्चिमासु विततासु हरित्सु, भूरिभक्तिभरभूकृतपीठा:।**
**अंजन स्वहितकाम्ययाऽध्वरे, तिष्ठ विघ्नविलयं प्रणिधेहि॥**

**अर्थ**– हे अंजन! प्रगाढ़ भक्ति के कारण पृथ्वी पर अपना स्थान बनाने वाले आप स्वजनों की हितकामना से यज्ञ में विशाल पश्चिम दिशा में स्थिर हों और विघ्नों का नाश करें।

निम्न श्लोक पढ़कर **दक्षिण** दिशा में द्वारपाल स्थापित करें, पुष्प क्षेपें–

**वामनाशु यमदिग्विभागत:, स्थानमेहि जिनयज्ञकर्मणि ।**
**भक्तिभारकृतदुष्टनिग्रह: पूतशासनकृतामबंध्यक:॥**

**अर्थ**– भक्ति भाव वश दुष्टों के नाशक, पवित्र आचरण करनेवालों के कार्य-सम्पादक हे वामन! आप जिन-यज्ञ-कर्म में दक्षिण दिशा में शीघ्र उपस्थित हों।

निम्न श्लोक पढ़कर **उत्तर** दिशा में–

**पुष्पदन्त भवनाध्वरमध्ये, सत्कृतोऽसि यत इत्थमवोचम् ।**
**उत्तरत्र मणिदण्डकराग्र: तिष्ठ विघ्नविनिवृत्तविधयी ॥**

**अर्थ**– विघ्नों के विनाशक, हाथ में मणिदण्ड धारण करने वाले हे पुष्पदन्त! आप यज्ञीय मण्डप के मध्य पूजित किए गए हो, अतः उत्तर दिशा में स्थिर हों, ऐसा कहा।

जैनाचार्यों ने भी अनेक स्थानों में क्षेत्रपालों की प्रशंसा करते हुए उन्हें जिनशासन का रक्षक[3] **(सतत जिनगेह-रक्षणकार ते)** कहा है। पं. आशाधरसूरि ने क्षेत्रपाल के स्वरूप व उसकी भक्ति-विषयक स्व-भाव इसप्रकार प्रगट किए हैं–

**जय मंगलं सदा शुभमंगलं। जय क्षेत्रपाल सद्गुणशील ते। जय मंगलं सदा शुभमंगलं॥**

हे सद्गुणों से शोभित क्षेत्रपाल, आपकी जय हो, मंगल हो, सदा शुभ मंगल हो।

**धृतरत्नमयमुकुटरत्नकुंडलहार, धृतशूलखग्करवालकर ते ।**
**जितसमुनशररूप नागसंभववर्ण, जितचंडकरतेज वरधीर ते ॥** 1 ॥

रत्नमय मुकुट, रत्नमय कुण्डल एवं हार से शोभित, हाथों में शूल खड्ग तथा

3. क्षेत्रंपालयति। क्षेत्ररक्षके व्यन्तरविशेषे। मथुरायां क्षेत्रपालसारमेयवाहन तीर्थस्य रक्षां करोति। टिंपुर्यः क्षेत्रपालभुजषट्कभास्वरसंघस्य विघ्नौघमपोहिति। –अभिधानराजेन्द्रकोश, 3/770

तलवार धारण करने वाले, समुनशर को जीतने वाले, नागों के समान वर्ण वाले, सूर्य के तेज से भी अधिक तेजस्वी, हे श्रेष्ठ धीर, आपकी जय हो।

**गजवैरिपोतसमसारमेयारूढ, भुजकिरीटादिभूषणभूष ते।**
**राजेंद्रचंद्रपूजितचरणकमलयुग, द्विजसूत्रधार हितकरभाष ते॥** 2 **॥**

सिंह शावक के समान बलशाली मृग पर आरूढ, किरीट आदि आभूषणों से सुशोभित भुजाओं वाले तथा श्रेष्ठ राजाओं द्वारा पूजित कमल के समान कोमल चरणों वाले, द्विजसूत्र (जनेऊ) धारण करने वाले, हितकारी वाणी वाले, आपकी जय हो।

**व्यंतरामरवंद्य कृतसज्जनामोद, भूतपैशाचभयदूरकर ते।**
**चिंतार्थदायकसुचिंतामणिरत्न, सतत जिनगेहरक्षणकार ते॥** 3 **॥**

देवताओं द्वारा पूजित, सज्जनों को आनन्द देने वाले, भूत-पिशाच से उत्पन्न भय को दूर करने वाले, श्रेष्ठ सुचिन्तामणि के समान सकल कामनाओं को पूरा करने वाले, सदा जिनमन्दिरों की रक्षा करने वाले,[4] आपकी जय हो।

प्रतिष्ठा-ग्रन्थों की भाँति पुराण-ग्रन्थों में भी इनको जिन-शासन के प्रभावक कहा गया है–

**मुनिभक्त**

**स्थितं प्रतिमया रात्रौ जिघांसूस्तांश्च तद्विवा।**
**देवतास्तम्भितान् दृष्टा राजा देशादपाकरोत्॥**

–हरिवंशपुराण, आचार्य जिनसेन, 20/11

उसी दिन रात्रि के समय मुनिराज प्रतिमा-योग से विराजमान थे कि चारों मन्त्री (बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रहलाद) उन्हें मारने के लिए गये, परन्तु देव **(क्षेत्रपाल)** ने उन्हें कीलित कर दिया। यह देख राजा ने उन्हें अपने देश से निकाल दिया।

**उपसर्गं विनाश्याशु बलिं बद्ध्वा सुरास्तदा।**
**विनिगृह्य दुरात्मानं देशाद् दूरं निराकिरन्॥**

–हरिवंशपुराण, आचार्य जिनसेन, 20/60

उस समय देवों ने शीघ्र ही मुनियों का उपसर्ग दूर कर दुष्ट बलि को बाँध लिया और दण्डित कर देश से दूर कर दिया।

**कायोत्सर्गस्थितं रात्रौ मुनिमेकान्तवर्त्तिनम्।**
**जिघांसू खड्गहस्तौ तौ यक्षेण स्तम्भितौ स्थितौ॥**

---

4. क्षेत्रपालः— क्षेत्र की रक्षा करनेवाला देवता।

–संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृष्ठ 320

**करुणावानसौ योगी योगं संहृत्य सुस्थितः।**
**क्षेत्रपालकृतं ज्ञात्वा तमाह विनयस्थितम् ॥**
**क्षम्यतां यक्ष! दोषोऽयमनयोरनयोद्भवः।**
**कर्मप्रेरितयोः प्रायः कुरु कारुण्यमनिगेः॥**
**इत्यासाद्य मुनेराज्ञां राज्ञामिव नियोगतः।**
**यथाज्ञापयसीत्युक्त्वा विससर्ज स तौ तदा ॥**

—हरिवंशपुराण, आचार्य जिनसेन, 43/137, 142-144

रात्रि के समय सात्यकि मुनिराज कहीं एकान्त में कायोत्सर्ग मुद्रा से स्थित थे। उन्हें अग्निभूति और वायुभूति तलवार हाथ में ले मारना ही चाहते थे कि यक्ष ने उन्हें कील दिया जिससे वे तलवार उभारे हुए ज्यों के त्यों खड़े रह गये।

करुणा के धारक मुनिराज अपना योग समाप्त कर जब विराजमान हुए तब उन्होंने यह सब **क्षेत्रपाल** के द्वारा किया जान लिया। उन्होंने विनयपूर्वक बैठे क्षेत्रपाल से कहा कि– हे यक्ष! इनका यह अनीति से उत्पन्न दोष क्षमा कर दिया जाये। कर्म से प्रेरित इन दोनों प्राणियों पर दया करो। इस प्रकार राजाओं की आज्ञा के समान मुनिराज की आज्ञा प्राप्त कर 'जैसी आपकी आज्ञा हो'— यह कह क्षेत्रपाल ने दोनों को छोड़ दिया।

**प्रशासनाः शासनदेवता च ताः, या जिनाँचतुर्विंशतिमाश्रिताः सदा।**
**हिताः सतामप्रतिचक्रयान्विताः, प्रयाचिताः सन्निहिता भवन्तु ताः॥**

—हरिवंशपुराण, आचार्य जिनसेन, 80/43

जिनेन्द्र भगवान् का वर्णन करनेवाला यह शास्त्र महान् उपसर्ग के आने पर रक्षा करनेवाला है, उत्तम शान्ति का दाता है और उत्तम शकुन रूप है, अप्रतिचक्र देवता से सहित, सज्जनों के हितैषी जो शासनदेव और शासनदेवियाँ सदा चौबीस तीर्थंकरों की सेवा करती हैं, उनसे भी मैं याचना करता हूँ कि वे सदा जिनशासन के निकट रहें।

इसप्रकार क्षेत्रपाल का स्वरूप व उनकी जैनधर्म में उपयोगिता को जानकर प्रत्येक विद्वत्वर्ग एवं समाज को उनकी अवहेलना, अवज्ञा व अनादर नहीं करना चाहिए।[5] जो उनका यथोचित सम्मान है उसे बनाये रखना चाहिए। मुनिभक्त क्षेत्रपाल का अनादर करना औचित्य का उल्लंघन है।

❖❖

# विश्व अहिंसा दिवस

**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।**
**देवा वि तं पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो॥**

—जयधवल एवं प्रतिक्रमणसूत्र, पृष्ठ 260

धर्म परम मंगल और उत्कृष्ट है। कौन-सा धर्म? अहिंसा धर्म, संयम धर्म व तपरूप धर्म। जिस भव्यात्मा का मन उक्त धर्म में सदा तल्लीन रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

जैनधर्म ने अपने इन्हीं अहिंसा, संयम, तपादि उत्कृष्ट गुणों के कारण प्राचीनकाल से आज तक अनगिनत व्यक्तियों को प्रभावित किया है। जिन्होंने इन गुणों को अपनाकर स्वयं का जीवन-निर्माण तो किया ही है, साथ ही दूसरे भी कोटि-कोटि लोगों को इन सद्गुणों के सन्मार्ग पर लगाकर उनका भी परमहित किया है।

**णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चहुमुहो बुद्धो।**
**अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं॥**

—भावपाहुड, आचार्य कुन्दकुन्द

अहिंसा भगवान महावीर की दिव्यध्वनि है, चौबीस तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट सम्यग् धर्म है और स्याद्वाद-सिद्धान्त को माननेवाले कोटि-कोटि जैनों का धर्म है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि अहिंसा प्राणिमात्र का आत्मधर्म भी है। यह वस्तुस्वरूप होने से सभी को प्रिय है। **वैरं मज्झं ण केणवि** कहने वाले तीर्थंकर विश्व के सम्पूर्ण जीवाजीव से निर्वैर थे। सब मानवों से, अशेष कीटपतंगों से, विश्व के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अणुमहत् परमाणु पुद्गलों से असीम करुणामय अहिंसक व्यवहार करना अहिंसा-धर्म का आरम्भिक पाठ है। तीर्थंकरों और उनके अनुयायियों ने अहिंसा को चारित्ररूप देकर मानवजाति का महान् उपकार किया है। अहिंसामूलक आचार से आर्यभूमि के कणकण को अपनी स्वेच्छया संचारशील चरणविभूति से निरन्तर पवित्र करने वाले जैनाचार्यों और मुनियों ने मानव को हिंसक पशुवृत्ति से ऊपर उठाकर मानवता की दयामयी मणिशिला पर प्रतिष्ठित किया है।

अहिंसा, माता की गोद के समान, समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने वाली

है। इस शब्द की मधुरता को चखकर प्राणियों के परस्पर वैरभाव का उपशमन होता है। वैरभाव की निवृत्ति से हृदय में शान्ति की शीतल नदी प्रवाहित होती है। शान्ति की इस जलधार में अवगाहन करनेवाला विश्व ही इसप्रकार

अहिंसा परम्परा सम्बन्ध से तत्त्वचिन्ता-परिणामी मोक्ष के लिए मुख्य साधन है। अहिंसा के इस आत्मदर्शनमूलक धर्म का प्रभाव विश्व के सभी धर्मों पर छाया हुआ है। वैदिक धर्म, जिसमें यज्ञानुष्ठान विधि में हिंसा की जाती रही, अहिंसा-धर्म के प्रभाव से वहाँ **मा हिंस्याः** (हिंसा मत करो), **निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव** (जो तत्त्वचिन्तन की ओर प्रवृत्त हो सकता है; इन सब प्राणियों में वैर-रहित है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है), **अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः** (अहिंसा की प्रतिष्ठा रखने से अहिंसक के पास वैर-त्याग की भावना का उदय होता है); इत्यादि जीवन-सूत्र हिन्दू-शास्त्रकार लिखने लगे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध, ब्रह्मचर्य इत्यादि धर्म के दशलक्षणों में वैदिकों ने अहिंसा को धर्म का स्वरूप माना। यह अहिंसाधर्म की महान विजय थी।

**कुतः सर्वांगसौम्येऽपि केनचित् कश्चिदूह्यते।**
**मह्यते कोऽपि पक्ष्यादिर्भक्षकैरपि रक्षितः॥**

—आचार्य वादीभसिंह, स्याद्वादसिद्धि, 1/5

क्या कारण है कि सर्वांग सुन्दर होने पर भी कोई किसी के द्वारा ताड़न-वध-बन्धनादि को प्राप्त होता है और कोई शुक-सारिकादि पक्षी जीवहिंसक व्यक्तियों से भी रक्षित एवं बड़े प्रेम से पाले-पोसे जाते हैं अर्थात् मनुष्य सर्वथा हिंसक नहीं है। पशुवध-जीवी व्याध और कसाई भी अपने परिवार की हिंसा नहीं करते। वे गृह-पशुओं (गाय, भैंस, कुत्ता) तथा पालित शुक-सारिकादि को भी नहीं मारते। यह सहज सिद्ध है कि अहिंसा का बीज उनमें मूल रूप में विद्यमान है। यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभिर्न च पीडयेत्, सिंही हिंसक होकर भी अपने शिशु-सिंहों को मुँह से उठाकर ले जाते समय दंष्ट्रा से पीड़ा नहीं पहुँचाती। इस दृष्टि से एक देश में हिंसक प्रतीत होने वाले जीव कथंचित् दूसरे देश (स्थान) में अहिंसक हैं।

**अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।**
**अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती॥** —ज्ञानार्णव, 8/32

**अर्थ**– अहिंसा ही जगत की माता है, अहिंसा ही आनंद-पद्धति है, अहिंसा ही श्रेष्ठ गति है और अहिंसा की शाश्वतिक लक्ष्मी है।

अहिंसा धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है। उसमें सभी धर्म समाहित हैं। **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** उसका मूलमंत्र है। यह विश्वधर्म की ही बात है। इस सृष्टि के प्रत्येक जीव को जीने का अधिकार है। अहिंसा से ही हम अपने इस अधिकार की और दूसरे प्राणियों के अस्तित्व की रक्षा कर सकते हैं। भगवान महावीर ने 30 वर्ष तक

भारत का भ्रमण करते हुए जन-जन को उस सर्वोदय तीर्थ की शिक्षा दी जिसके अंतर्गत मन में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद तथा व्यवहार में अपरिग्रह एवं समानता का भाव है। महावीर ने किसी जाति-विशेष के लिए उपदेश नहीं दिया। उनकी वाणी में जीवमात्र के कल्याण की बात रही है। महावीर का धर्म प्राणीमात्र का बंधु है। हमें उसी रोशनी में काम करना है। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत ही सर्वोदय धर्म है। प्रत्येक प्राणी के प्रति दया भाव, अहिंसक भाव के कारण महावीर, महावीर बने। महावीर की अहिंसा हमें निर्माण सिखाती है, विध्वंस नहीं। तप द्वारा तपस्वी अहिंसा की पूर्णता पर पहुँच जाता है, उसके सामने गाय व शेर एक घाट पर पानी पीते हैं, उसकी अहिंसा का बहिरंग में भी अत्यन्त प्रभाव पड़ता है। भगवान महावीर जिस वन में जाते थे वहाँ पौधों व पशु-पक्षियों पर भी प्रभाव पड़ता था।

भारत एक शान्तिप्रधान अहिंसात्मक देश है। प्रत्येक स्कूल व कॉलेज में अहिंसा व कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा देनी होगी। यदि धर्म में से वीतरागता और अहिंसा को निकाल दें तो उस धर्म की स्थिति वैसी ही होगी जैसी शरीर से सिर निकालने के बाद शरीर की स्थिति होती है। जो चैतन्य आत्मा ज्ञान रूपी रथ पर आरूढ़ होकर मन रूपी मार्ग पर चलता है वह एक क्षण के लिए भी नहीं भटकता। वीतरागता प्रत्येक संसारी आत्मा के लगे हुए मोह ताले को खोलने वाली एक मात्र सिद्ध कुंजी है। छोटे, बड़े, अमीर, गरीब सबके लिए मोक्षमार्ग की यही एक चाबी है। भगवान महावीर के पाँच आदर्श– अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– हमारे जीवन को पवित्र और सुखी बना सकते हैं। सुख-शान्ति धन-दौलत से नहीं मिल सकती। वह तो मात्र अहिंसा-मार्ग पर चलने से मिलती है। प्रत्येक प्राणी को अपना जीवन आदर्श बनाना चाहिए। दूसरों की सेवा और किसी को दुःख न देने की भावना में ही शान्ति और सुख विद्यमान है।

लोक में माता का स्थान रक्षा करने वालों में सबसे बड़ा माना गया है। पुत्र या पुत्री के संकट में वह साथ नहीं छोड़ना चाहती और जैसे-तैसे भी उनकी रक्षा करती है। यही बात अहिंसा में है। अतः उसे मातृ-रूपा कहा है और इसीलिए उसकी सब याद करते हैं। अहिंसा, माता की गोद के समान, समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने वाली है। शस्त्रों और हिंसा के बलबूते पर कभी भी कोई समस्या हल नहीं होगी। हमें अहिंसा का मार्ग अपनाना होगा। सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर चलकर ही विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है। प्राणियों के ऊपर दयाभाव रखना ही अहिंसा धर्म का स्वरूप है। इसको अभयदान कहते हैं। मानव अहिंसा धर्म से अपना जीवन मंगलमय बना सकता है। बड़े-बड़े शत्रुओं को भी परास्त कर सकता है। अहिंसा को हृदय से पालन करना, व्यवहार से भी हिंसा न हो, उसका ध्यान रखना– यह प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। अबोध बालक के

मुख से जन्म के अनन्तर बिना कुछ सिखाये ही 'माँ' शब्द की ध्वनि निकल पड़ती है। अतः यह सिद्ध है कि **जो रक्षा करे** वह माँ है, इसलिए तो अहिंसा को ब्रह्म (परमात्मा) की संज्ञा दे दी। जीवों की अहिंसा (रक्षा) ही परमब्रह्म परमात्मा है। इसलिए अहिंसा को प्रमुख स्थान देना चाहिए। यदि आप सर्वथा वीतरागी नहीं बन सकें, तो भी पुण्य-संचय की दृष्टि को ध्यान में रखकर अपने परिणाम (विचार) को शुभ रखने का प्रयत्न तो अवश्य करें। यदि आप ऐसा करेंगे तो अपनी और पर की – दोनों की रक्षा कर सकेंगे। स्व-रक्षा में ही पर की रक्षा निहित है और पर की रक्षा में ही स्व की रक्षा निहित है। जब आप हिंसा के मूलकारण—प्रमाद-राग-द्वेष-असावधानी आदि का परित्याग करेंगे, तब आपके भाव ही जीवघात में नहीं होंगे।

जब तक मनुष्य के मन में धर्म रहता है, तब तक वह मारने वालों को भी नहीं मारता। किन्तु जब धर्म उसके दिल और दिमाग से निकल जाता है, तब औरों की कौन कहे, प्रिय पुत्र को पिता मार डालता है और पिता को पुत्र मार डालता है। अतः यह निश्चित है कि इस विश्व की रक्षा का मूल कारण धर्म है और वह अहिंसामय है। इससे यह कहा जा सकता है कि सफल और सुव्यवस्थित जीवन बिताने के लिए अहिंसा-धर्म अनिवार्य है।

हम कह सकते हैं– 'विश्व का सर्वसम्मत, विश्वहितकारी धर्म अहिंसा-धर्म ही है। अतः सम्पूर्ण विश्व में लोकप्रिय धर्म अहिंसामयी है। मनुष्य, जिसप्रकार अपनी हिंसा नहीं चाहता, उसीप्रकार अन्य जीव भी अपनी हिंसा नहीं चाहते। अतः समस्त धर्मों में प्राचीन धर्म अहिंसा-धर्म है। अहिंसा आत्मा का सहज व प्रांजल धर्म है।

अहिंसा और सत्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। अहिंसा के अभाव में सत्य और सत्य के अभाव में अहिंसा की स्थिति नहीं है। अहिंसा निषेधात्मक है और सत्य विधेयात्मक। अहिंसा निषेध करती है कि ऐसा मत करो, वह रोक देती है, पर सत्य विधिसूचक है। अहिंसा की भावना प्राणीमात्र के अंतस् में विद्यमान है। अहिंसा कोई धर्म या सम्प्रदाय की बात नहीं है बल्कि यह एक आदर्श-जीवनशैली है जो प्राणीमात्र को आपस में मिल-जुलकर रहना और सहयोग करना सिखाती है। अहिंसा के बल पर ही मनुष्य का सामाजिक रूप सुरक्षित रह सकता है। यदि समाज को अहिंसक और सदाचारी बनाना है, तो हमें यह संस्कार बचपन से ही देने होंगे। जो अहिंसा को पालता है, वही जैन है।

आधुनिक युग में विज्ञान ने काफी तरक्की की है लेकिन अहिंसा के विषय में किसी ने विस्तृत अध्ययन करके मूल तथ्य निरूपित करने की कोशिश नहीं की। जिसके कारण आज हमारा राष्ट्र भटक रहा है। शास्त्रों में कहा गया है कि जैसा खाओगे अन्न, वैसा होगा मन। जैसा पिओगे पानी, वैसी बोलोगे वाणी। भगवान

आदिनाथ (ऋषभदेव) ने कहा– कृषि करो और ऋषि बनो। कृषि करो का अर्थ है शाकाहारी बनो और ऋषि जीवन व्यतीत करने से मतलब है संयमित रहकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मकल्याण करो। हिंसा-अहिंसा का स्थान मन में और भावना पर आधारित है। डॉक्टर ऑपरेशन के दौरान पेट चीरता है लेकिन उसकी भावना रोग दूर कर राहत पहुँचाने की है। इसे हिंसा नहीं कह सकते। इसी प्रकार किसान के हल चलाने पर असंख्य कीट-पतंगों की हत्या हो जाती है लेकिन उसकी भावना अन्न उपजा कर पेट भरने-भराने की है। अहिंसा धर्म के पालन के लिए संयम रखना आवश्यक है जिसके लिए तप जरूरी है अर्थात् इच्छाओं पर नियंत्रण, रखकर आचरण शुद्ध करके ही अहिंसा धर्म को पाला जा सकता है। जीवन में यह आचरण समस्त समस्याओं का समाधान है।

जैन धर्म पुरुषार्थवादी तथा आत्मधर्म है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति है और वह परमात्मा बन सकता है। छोटे से छोटा प्राणी भी अपने श्रेष्ठ आचरण से महान तथा बड़े से बड़ा व्यक्ति भी अपने निकृष्ट कृत्य से अधम हो सकता है। सुचारु जीवन के लिए सामाजिक व्यवस्था तो आवश्यक है। परिवार को स्वस्थ रखना है तो सत्य और अहिंसा धर्म का पालन करना होगा। इसमें हर व्यक्ति ज़िम्मेदार है। केवल शासन-तंत्र से यह काम नहीं चल सकता। व्यक्ति को स्वयं सत्य का आचरण करना होगा। सच्चा व्यक्ति निर्भय और निश्चिंत होता है।

भारत की मुख्यधारा सदैव अहिंसक रही है और इस धर्मप्रधान देश में कठिनाइयों को दूर करने का यही एक रास्ता है। शांति आत्मा का धर्म है। वह बाजार से खरीदी नहीं जा सकती। हमें मानव-हित की बातें सोचनी चाहिए और दूसरे के दुःख में भागीदार बनकर चलना चाहिए। इस सृष्टि में जितना उपकार पशु-पक्षियों ने मानव पर किया है उतना मानव मानव पर नहीं कर सका है। मानव जाति ने इतनी मात्रा में किसी को जल पिलाकर तृप्त नहीं किया होगा जितना गोवंश ने मानव जाति को दूध पिलाकर पोषण किया है। ऐसे परोपकारी मूक पशु-पक्षियों को मारना कहाँ तक शोभनीय है। भगवान् महावीर के **जियो और जीने दो** के संदेश को हमें घर-घर में फैलाना होगा। समस्त संसार के प्राणियों का कोई धर्म है तो वह अहिंसा धर्म है। हिंसा को रोकने के लिए अहिंसा को अपनाना होगा। जनतन्त्र की रक्षा की जितनी ज़िम्मेदारी जैन समाज की है उतनी और किसी की नहीं, क्योंकि जैनधर्म में अहिंसा का पाठ पढ़ाया जाता है। अहिंसा भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि है, चौबीस तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट सम्यक् धर्म है और स्याद्वाद सिद्धान्त को मानने वाले कोटि-कोटि जैनों का धर्म है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि अहिंसा प्राणिमात्र का आत्मधर्म भी है। यह वस्तु स्वतः स्वरूप होने से सभी को प्रिय है।

तीर्थंकरों और उनके अनुयायियों ने अहिंसा को चारित्र रूप देकर मानव जाति

का महान् उपकार किया है। अहिंसामूलक आचार से जैनाचार्यों और मुनियों ने मानव को हिंसक पशुवृत्ति से ऊपर उठाकर मानवता की दयामयी मणिशिला पर प्रतिष्ठित किया है। अहिंसा जगत की माता है। हिंसा ने आज मानव-मानव में घृणा के भाव पैदा कर दिए हैं, चारों ओर नृशंस हत्याएँ हो रही हैं। एक-दूसरे के प्रति कुटिल भाव पैदा हो रहे हैं। मात्र अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है, जिससे हमारे जीवन में ही नहीं, सारे विश्व में शान्ति स्थापित होगी। विश्व तभी सुरक्षित रह सकता है जब प्रत्येक राष्ट्र व उसके नागरिक अहिंसा को समझें और इसका पालन करें। आप और हम यहाँ पर शांति से अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं तो केवल अहिंसा के कारण। हिंसात्मक वातावरण में हम इस प्रकार शांति से नहीं रह सकते। करुणा अहिंसा की आधारशिला है। बालकों के कोमल मन में आरम्भ से ही करुणा के संस्कार डालने चाहिए जिससे उनमें अहिंसा, दया, करुणा के भाव पैदा हों। हमें दुनिया को नहीं, अपनी आत्मा को देखना है। हमें प्राणी मात्र के प्रति करुणा भाव रखना है।

यह अहिंसा धर्म मानवता का धर्म है, सर्वोदय-तीर्थ है, विश्व-मैत्री का मन्त्र है। इसके लिए विश्व-मैत्री के दिवस नहीं; वर्ष, युग और कल्प भी लगाने पड़ें तो जीवन का सर्वस्व देकर लगाना चाहिए। दिग्भ्रान्त मानव के प्रबोधन के लिए प्रतिदिन दशलक्षण-पर्व और प्रतिक्षण विश्व-मैत्री दिवस मनाये जाने चाहिए। एक दिन एक समय किसी एक स्थान विशेष पर बड़े समारोह के साथ, जिसे समाचार-पत्रों की भाषा में धूमधाम कहते हैं, अहिंसा धर्म के अभ्युत्थान को लेकर कोई कार्यक्रम प्रस्तुत कर दिया जाए —यह पर्याप्त नहीं।

वह धर्म दशलक्षण है। अहिंसा उसका प्रमुख स्तम्भ है। कहना होगा कि एक अहिंसा में ही अन्य सार लक्षण समाये हुए हैं। जो व्यक्ति असत्य नहीं बोलता, वह सत्य की रक्षा करने अथवा सत्य की हिंसा न करने से सत्य-अहिंसक है। जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह अब्रह्म-आचरण न करने से ब्रह्म-रक्षक है अथवा ब्रह्म-अहिंसक है इसी प्रकार प्रत्येक लक्षण का पालन उसकी रक्षा है, उसकी अहिंसा है। इस अर्थ में अहिंसा परमधर्म है।

**सम्पूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।**
**देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्रः॥**

**अर्थ**– तीर्थंकर वृषभदेव-महावीर जिनेन्द्र कृपया पूजा-अर्चा करनेवालों, प्रतिपालकों, यतीन्द्रों, सामान्यों और तपोधनों तथा देश, राष्ट्र, नगर और शासकों के लिए शान्तिकारक हों।

**क्षेमं सर्व प्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः।**
**काले काले च वृष्टिं वितरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्॥**

**दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके।**
**जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रसरतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि॥**

सम्पूर्ण प्रजाओं का कल्याण हो, शक्तिशाली धर्मात्मा भूमिपाल (शासन, राज्य में) प्रभावशील रहें। समय-समय पर इन्द्र (मेघ) भली प्रकार यथोचित, वर्षा करें, व्याधियों का नाश हो। दुष्काल, चोर और महामारी जगत् को कष्ट देने के लिए क्षण भर न हों और सबको सुख प्रदान करने वाला तीर्थंकर वृषभादि का जिनशासन और धर्मचक्र विश्व में निरन्तर प्रभावशील रहे।

आज सम्पूर्ण विश्व में हिंसा का बोलबाला है। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि हर समस्या का हल बन्दूक की नली से निकल सकता है। उनकी मान्यता है कि मरो और मारो, जबकि महावीर ने हमें सिखाया था **जीओ और जीने दो**। आज विश्व आतंकवाद, नस्लवाद और हिंसा से त्रस्त है। इससे बचने का एकमात्र उपाय परमधर्म अहिंसा का पालन ही है। महात्मा गांधी ने कहा था कि भूतदया (जीवदया) जैनों का मुख्यतत्त्व है और मैं सभी अहिंसावादी लोगों को जैन ही समझता हूँ।

अन्त में, मैं सभी अहिंसावादियों का आह्वान करता हूँ कि वे 2 अक्टूबर को विश्व शान्ति एवं मैत्री के लिए **विश्व अहिंसा दिवस** के रूप में मनाएँ।

❖❖

# अपरिग्रह से भ्रष्टाचार-उन्मूलन

भारतवर्ष ने स्वतन्त्रता के पश्चात् विश्व के अन्य राष्ट्रों के समक्ष स्वयं को एक उन्नत राष्ट्र के रूप में उपस्थित कर अपनी उत्कर्ष भावना का परिचय प्रस्तुत कर दिया है। अनेक देशों के पारस्परिक कलह को शान्त करने में, विश्व में मित्रतापूर्ण वातावरण उपस्थित करने में, अणु-आयुधों की प्रलयंकर स्पर्धा को नियंत्रित करने में और अपने विरोधियों को भी सद्भावना से अनुकूल करने में भारत ने परिश्रम किया है और कर रहा है। यद्यपि शान्ति, शील और सहअस्तित्व की नींव पर आधारित भारतीय परराष्ट्रनीति को वह सफलता प्राप्त नहीं हुई जो अपेक्षित थी, तथापि भारतीय नीति ने अपनी नैतिकता की छाप विश्व-राष्ट्रों पर दृढ़ता से अंकित की है और परिणामस्वरूप आज भारत संसार के देशों में विशिष्ट स्थान रखता है। युद्धोन्माद और नाना प्रकार के 'वादों' के इस युग में, इस संक्रमणकाल में अपनी सद्यःप्रसूत स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए विश्व के मंच पर अपने को विविध भूमिकाओं के सूत्रधार के रूप में उपस्थित कर सकना और उसमें सफलता प्राप्त करना निःसन्देह भारतीयों की विलक्षण बुद्धिमत्ता का अकाट्य प्रमाण है। विश्व-राष्ट्रों के आगन्तुक प्रतिनिधि देखते-देखते सम्पन्न हो रही इसकी प्रगति को विस्मयविमुग्ध होकर देख रहे हैं, किन्तु.....

जिस प्रकार किसी सुवर्ण के थाल में कोई लोहे की कील ठोक दे और जैसे कोई श्वेत कपूर में लहसुन की कली रख दे, उसी प्रकार इन सब प्रगतियों के उपरान्त भी लगा हुआ यह 'किन्तु' पद भारत की किसी प्रधान त्रुटि को, किसी अनुपेक्ष्य हीनता को संकेतित करता है। मेरे विचार से राष्ट्र के जीवन में वह जो भयानक रोग पल रहा है, जिसकी ओर 'किन्तु' का संकेत है, वह है 'भ्रष्टाचार' अर्थात् कुशील, अपवित्रता, दुर्गन्ध और मलिनता। भ्रष्टाचार अर्थात् पवित्र सदाचार का विलोम, नैतिकता के उत्थान शिखरों का अवचरण और भ्रष्टाचार माने, दुर्नीतियों को नैतिकता के प्रति न्याय करने की खुली छूट। यह राष्ट्रदोह है। समाज को पतनोन्मुख करने वाला है। मानव का मानव के प्रति विश्वासघात है। धनरहित का भरोसा किया जा सकता है, किन्तु आचरणहीन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। एक भ्रष्टाचारी राष्ट्र को भी बेच सकता है। 'जयचन्द' एक भ्रष्टाचारी था, जिसने शहाबुद्दीन गोरी के हाथों 'भारत' की स्वतन्त्रता को, इसकी

आन-बान को बंधक रखने का सौदा किया था। ऐसे जयचन्द किसी एक काल में होकर निश्शेष नहीं हो जाते, वरन् अवसर मिलते ही बरसात में फूट निकलने वाले अनुप्त शस्य के समान बार-बार उत्पन्न होते रहते हैं। ये ज़हरीले समाज की जड़ों में कोढ़ की तरह फूट पड़ते हैं और सारे समाज और राष्ट्र को अपनी दुर्भगता से दोषविद्ध कर देते हैं। एक भ्रष्टाचारी यदि किसी को भी धोखा देता है तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है? वह स्वयं को भी तो नित्य ही धोखे में रखता है। भ्रष्टाचार छूत की बीमारी है। महारोग के समान फैलती है। अग्निज्वाला के समान जिसे लगती है उसका शील, संयम, आचरणशुद्धि और नैतिक आदर्श सभी को भस्म कर देती है। लोभ भ्रष्टाचार की जन्मभूमि है। वह निर्दयता की पाठशाला में पतन के पाठ पढ़कर वयस्क होता है। जैसे उल्लू को दिन में भी दिखायी नहीं देता, इसी प्रकार एक भ्रष्टाचारी को अपनी अधमता के सिवा कुछ भी नहीं सूझता। वह अपना विवेक, धर्म, मनुष्यत्व सभी कुछ 'भ्रष्ट' आचरण की भेंट चढ़ा देता है। परमार्थ की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

ऐसे लोग जब राजनीति में आते हैं तो अधिकार प्राप्त कर शोषण करते हैं और धर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं तो धार्मिक विप्लव उपस्थित कर देते हैं। व्यक्तिगत सुख भोग के अभिलाषी ये भ्रष्टाचारी समाज के शरीर में 'जोंक' बनकर चिपके रहते हैं और उसका सारा रुधिर पीकर गुब्बारे की भांति फूल जाते हैं। आर्थिक विषमता का प्रथम अध्याय भ्रष्टाचार से ही आरम्भ होता है। राष्ट्र में जो झोपड़ें और महल, अस्थिशेष दुर्बल और फूली तोंदवाले, दीन और अमीर दिखाई देते हैं इनके मूल में भ्रष्टाचार की आधारशिला लगी है। जिसको भ्रष्टाचार की कला आ जाती है, वह कुछ समय में ही 'कौड़ीपति' से 'कोटिपति' हो जाता है। इसप्रकार कोटिपति होने में उसे अनेक प्रकार की हिंसा करनी पड़ती है। शील को निर्वासित करना पड़ता है, पवित्रता को फाँसी देनी होती है और आचार को नरक भेजना पड़ता है। इन सब दुष्कर्मों के साथ सख्य करने से उसे पुष्कल द्रव्य की प्राप्ति होती है और लाखों, कोटियों को नग्न क्षुधित कर एक भ्रष्टाचारी वैभव के विशाल अंबार अर्जित करता है। 'निरवद्यवृत्ति से अर्थोपार्जन असम्भव है' का प्रतिपादन करते हुए 'आत्मानुशासन' में कहा है–

**शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।**
**न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥**

अर्थात् शुद्ध धन के द्वारा सज्जनों की भी सम्पत्तियाँ विशेष नहीं बढ़ती हैं। ठीक ही तो है कि नदियाँ आकाश से बरसने वाले स्वच्छ जल से नहीं भरती हैं अपितु इधर-उधर गली-कूचों से आकर मिलने वाले गन्दे जल से ही उफान पर आती हैं। अतः यदि कोई न्यायोपार्जित धन से कुबेर होने की सम्भावना रखे तो

यह असम्भव है। क्योंकि धन के आगमन का वास्तविक मार्ग तो मायाचार, पापाचार ही है। 'लोभो मूलमनर्थानाम्' लोभ अनर्थों का मूल है और लोभ ही भ्रष्टाचारी का परमप्रिय सखा है। एतावता भ्रष्टाचार राष्ट्र में अनर्थ उत्पन्न करने वाला है।

सर्वोदयी तीर्थ की स्थापना करने वाले भगवान् महावीर ने आचार को मुख्य महत्त्व इसीलिए दिया कि यदि राष्ट्र का आचरण विशुद्ध रहेगा तो वह सुखी, सम्पन्न, धार्मिक और प्रशस्त रहेगा। यद्यपि विचार में भी पवित्रता रहनी चाहिए, तथापि आचरण में परिवर्तित पवित्रता अथवा अपवित्रता अपने तक सीमित नहीं रहकर दूसरों को भी छूती है। पवन के साथ उड़ने वाली अग्नि की एक सूक्ष्म चिंगारी भी गाँव भर को जलाकर भस्म कर देती है। सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने इस राष्ट्रव्यापी विष का शमन करने के लिए कुछ निष्कर्ष निकाले, जिन्हें व्रतों के नाम से पुकारा गया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— ये पाँच व्रत हैं। व्रतों का आरम्भ अहिंसा से होता है और इनका चरम आदर्श अपरिग्रह में समाहित है। परिग्रह रखने से आरम्भी, संकल्पी आदि हिंसाएँ करनी पड़ती हैं, सत्य का लोप करना होता है, चौर्य भी आवश्यक हो जाता है और परिग्रही के पास ब्रह्मचर्य फटकता भी नहीं। इस प्रकार एक परिग्रही हिंसा, मिथ्या, भ्रष्टाचार और चौर्य चारों गुणों का निधान होकर समाज का शीलभंग करता है किन्तु एक अपरिग्रह व्रत पालन से अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है। एक अपरिग्रही संसार भर के प्राणियों से मैत्रीभाव रखता है। वह नियमित आदान से विश्व धन का सर्वग्राही नहीं होता, अतएव सभी को उपार्जन के, लाभ के समान अवसर प्रदान करता है और अशेष संग्रहवृत्ति से होने वाली द्रव्यहिंसा तथा स्वयं में सर्वस्वहरण की भावना से होने वाली भावहिंसा से सर्वदा बचता है। 'अपरिग्रह' व्रती होने से वह सत्यनिष्ठ होता है और राजदेय शुल्क (इनकम टैक्स) का अपलाप नहीं करता, प्रत्युत स्वयं अपनी आय के अनुपात से 'राजदेय' देकर समाज में नैतिकता की स्थापना भी करता है। अनुचित लाभांश न कमाने से वह 'अस्तेय' व्रत का पालन करता है तथा न्यायोपार्जित धन से संतोष रखते हुए धन का सदुपयोग कर ब्रह्मचर्य पालन करता है, आचारभ्रष्ट नहीं होता है। इस प्रकार एक अपरिग्रह-पालक पर्याय से पाँचों महाव्रतों का पालन करने की क्षमता रखता है।

वे लोग जो रात-दिन परिग्रहों के संवर्धन में लगे हुए हैं, उस पेटू के समान हैं जिसके उदर में भोज्य पदार्थ रखने को स्थान नहीं है फिर भी जो भोजन की थाली छोड़ना नहीं चाहता। बहुत से घरों में बासी अन्न जमा होता रहता है और वे उसे रास्ते की नालियों में फेंकते हैं जहाँ कुत्ते और भूखे इंसान इस पर्युषित अन्न-कवल के लिए झगड़ते रहते हैं। ऐसे परिग्रही समाज में 'दानवीर' कहे जाते हैं और सामाजिक सम्मेलनों में अन्यायोपार्जित द्रव्य का कुछ अंश दानार्पित कर जयघोष

सुनने के अभ्यस्त हो गये हैं। शास्त्रों में इस प्रकार के अन्यायोपार्जित वित्त की निन्दा करते हुए कहा गया है–

**त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।**
**स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति॥**

जो व्यक्ति निर्धन होते हुए धनलिप्सा इसलिए करता है कि उससे दान करेगा और कल्याण-साधन करेगा, मानो वह स्नान करने के लिए पंक-विलेपन करता है। यद्यपि स्नान करना अच्छा है, किन्तु स्नान करने के लिए कीचड़ में सनना तो बुद्धिमत्ता नहीं। अनियमित, असीम परिग्रह की भावना भ्रष्टाचार को जन्म देती है और भ्रष्ट आचरण मनुष्य को सबसे नीचे गिराकर ही दम लेते हैं। इस भ्रष्टाचार से लड़ना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। भला जो व्यक्ति पहरुआ होने का दम्भ करे और मुसाफिर को लुटने देने के लिए सो जाए, उससे गली-मोहल्ले की सम्पत्ति-रक्षा कैसे सम्भव है? राष्ट्र के कर्णधारों को तब तक नींद नहीं आनी चाहिए जब तक भ्रष्टाचार को समूल-उन्मूलन करके अतल सिन्धु में न फेंक दिया जाए। प्राचीन भारत में शासकों के लिए विख्यात था कि वे क्या करते हैं, इसका पता वे क्या कर चुके हैं इससे लगता था। उनके लिए कालिदास ने 'फलानुमेय' शब्द लिखा है। अर्थात् वे क्या करना चाहते थे, प्रजा उसके परिणामों से ही जान पाती थी। आज करने से पूर्व ढिंढोरा पीटना शुरू कर देते हैं और प्रचार विभाग खोलकर करिष्यमाण कार्य की 'फाइलें' खोल दी जाती हैं किन्तु कार्यकर्त्ताओं का इतिहास तो अपने कार्य में ही विश्वास करने का अभ्यस्त होता है। वे उस सिपाही के समान होते हैं जो शत्रु के मोर्चे को छिन्न-भिन्न कर, उसकी ध्वजा छीनकर या तो विजयी होता है या शत्रु की संगीन उसके सीने में उतर चुकी होती है। शहीद होकर या विजयी होकर ही वह अपने कार्य की सूचना देता है, इससे पूर्व डींग नहीं मारता।

भ्रष्टाचार के समूल उन्मूलन में राष्ट्र के प्रत्येक सचेता को अपना योगदान करना चाहिए। स्मरण रहे, बहुमत भ्रष्टाचार के विरुद्ध है, किन्तु आवश्यकता है आत्मबल की, संगठन की और जाने-पहचाने भ्रष्टाचारियों के प्रति कठोर रुख अपनाने की। जब हमारे अपने शरीर का भी कोई अंग गलना-सड़ना आरम्भ कर देता है तो हम स्वयं उसे काट फेंकते हैं तब राष्ट्र की जड़ों को खोखला करने में लगा हुआ यह भ्रष्टाचार जिस किसी के पोषण, संरक्षण में हो क्या उसे समाप्त करने के लिए हमें निष्पक्ष भावना से अपनी सेवाएँ अर्पित नहीं करनी चाहिये? हमें अवश्य आगे आकर सदाचार का वातावरण निर्माण करने में अपनी सेवाएँ देनी चाहिये। गन्दा नाला जहाँ भी होगा, बदबू देगा और भ्रष्टाचार जहाँ पलेगा, वहाँ से अन्याय, अनीति, दुश्चारित्र और उन्मार्ग की दुर्गंध आती रहेगी।

संसार के जितने विकार हैं वे परिग्रही के मन में पलते रहते हैं। उन विकारों

से राष्ट्र का शरीर रुग्ण हो जाता है। वातावरण विषाक्त हो जाता है। उस देश का हवा-पानी दूषित हो उठता है। स्वतंत्रता के साथ सौदेबाजी करने वाले नारकीय जीव बढ़ने लगते हैं। यह स्थिति राष्ट्र के लिए घोर घोरतर है। इस भ्रष्टाचार के बीजाणु हाट-बाजार में फैलते हैं और वस्तुओं में मिलावट शुरू हो जाते है। आफिसों में पहुँचते हैं तो जनता के कार्य समूह लालफीतों में बन्द हो जाते हैं। अधिकारी के पास चले जाते हैं तो न्याय महँगा और पक्षपाती हो जाता है। धनिकों के द्वार खटखटाने लगते हैं तो वस्तुओं के भाव आकाश छूने लगते हैं। भ्रष्टाचार राजा नल के मुकुट पर बैठा हुआ 'कलि' है जो आत्मा की सम्पूर्ण नैतिकता को दाँव पर लगा देता है। भ्रष्टाचार के वश में होकर युधिष्ठिर जुआ खेलते हैं और द्रौपदी को भी दाँव पर लगाने से नहीं चूकते। भ्रष्टाचार का विषाक्त फल ऊपर से सुनहरा है और मोह-उद्यान के सभी वृक्षों पर ऐसे ही लोचनलोभनीय फल लगे हुए हैं। भ्रष्टाचार से धन, मान, न्याय उपार्जित करने वाले राष्ट्र के सदाचार-मार्गियों को मति-विभ्रम में डालते हैं। स्पर्धा की आग उत्पन्न कर वे भोले और भले लोगों के लिए भी असामयिक चिता प्रज्वलित कर देते हैं। भ्रष्टाचारियों के प्रासाद पाप की ईटों से चिने गये हैं और उन प्रासादों के रंग में ईमानदारी का लहू लगा है।

हमारे देश की परम्परा आध्यात्मिक रही है। 'जीओ और जीने दो' के मंगल सूत्र हमारे सहस्रमुखों में बसे हुए हैं। इसीलिए यह शोक है, ग्लानि है कि जिस देश की धार्मिकता ने, संस्कृति ने शरीर को भी परिग्रह माना, 'साम्यं मे सर्वभूतेषु' कहकर विश्व-मानवों से अपना बन्धुत्व स्थापित किया, 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' सबके सुख में अपना सुख तलाश किया और जहाँ सर्वोदय तीर्थ के नेता दिगम्बर होकर वीतराग धर्म का प्रचार करते रहे, जहाँ सम्राटों ने भी भिक्षु-दीक्षा लेकर अपने को कृतार्थ समझा, जहाँ त्याग को सदैव भोग से उत्कृष्ट माना गया, उसी आर्यावर्त भरत क्षेत्र में लोग कषायों से, विषय-वासनाओं से बुरी तरह प्यार करने लगे। महात्मा गांधी को अभी बहुत समय नहीं हुआ, वह अपरिग्रहवाद के कितने सच्चे हिमायती थे। गोलमेज कान्फ्रेंस में सम्मिलित होते समय उन पर वेशभूषा की पाबन्दी लगाई गई तो उन्होंने वहाँ जाना अस्वीकार कर दिया। जिन भारतीयों के अधनंगे अधभूखे शरीरों के वे प्रतीक थे, क्या सम्राट् की सभा में जाते समय उसे वह भूल सकते थे? चर्खा, खादी, स्वदेशी वस्तुओं से प्रेम, थर्ड क्लास में यात्रा– ये सब गांधीजी के अपरिग्रहसूचक थे। अपने 'सादा जीवन, उच्च विचार' से वह समस्त भारतीयों को आचरण की मूर्त शिक्षा देते थे। आज भी दिगम्बर मुनियों का नग्नत्व देश की जनता को यथासम्भव सात्त्विक वेष और आवश्यकताओं को 'कम से कम' करने की ओर इंगित करता है। ऐसे देश में भी यदि 'भ्रष्टाचार' पल रहा है और 'अपरिग्रह' के प्रति लोग उदासीन हैं तो कहना पड़ेगा कि लोग अन्तर्बाह्य रूप से दो हो गये हैं। वे 'जीओ और जीने दो' कहते हैं, किन्तु इसका 'जीओ'

पद ही व्यवहार्य मानते हैं, 'जीने दो' की मंगल भावना का अन्त हो गया है। मंदिर में सामायिक के समय 'साम्यं मे सर्वभूतेषु' शुकपाठ के समान बोल जाते हैं, किन्तु मन्दिर की सीढ़ियों से उतर कर धर्मपाठ को भूल जाते हैं। आज का जीवन कुछ और है, दिखायी कुछ और देता है। कुविचारों की स्याही पर लोग तिलक लगाकर घूमते हैं कि वह आकृति पर दिखायी न दे। बाह्याचार की शुद्धि लोकदृष्टि में अपने नैतिक मानों को सुरक्षित रखने के लिए है। अन्तर की कलुषता की जाँच कौन कर पाता है? आचार के प्रति यह छद्मवेष यह मायाचार परिणाम की भव्यता को विनष्ट कर रहा है।

स्वतन्त्र देश में स्वतन्त्र जीने वालों! परिग्रह मोह में आमूल मग्न होकर एकान्त आनन्द अनुभव करने वालो! उठो, जागो, सर्वजनहितकारी मंगलसूत्रों का पाठ करो। जीवन मिला है तो सुख बाँटकर चलो, मानव से देवत्व की ओर नहीं बढ़ सकते तो मानवीय धरातल से नीचे तो मत गिरो। क्या ब्रिटिशों के चले जाने से ही अपने को स्वतन्त्र मान बैठे हो? तुम्हारे मनोराज्य में कितने कलुष पल रहे हैं? पर-पदार्थों ने कितना जकड़ रखा है तुम्हें? पतन के ये बन्धन, अनय-अनीतियों की यह शृंखला, मात्र आत्मपोषण के ये दुर्जेय अविचर-गूढ़! क्यों इनके रहते हुए भी अपने को स्वतन्त्र कहते हो? जूठन पर उठने वाले हाथों की गणना करो, भूख से बिलबिलाते करोड़ों लोगों के पीठ से चिपके उदर की अपने तुन्दिल शरीर से तुलना करो। शराब, जूआ और पर-स्त्रीगमन में लक्ष्मी को अभिसारिका बनाने वालो! कुछ धर्म, नीति, सदाचार और सात्त्विकता खरीदो। अपने 'पोर्च' की छाया में क्षण भर हाथ फैलाकर आने वाली राष्ट्रव्यापी निर्धनता पर दया करो। गगनचुम्बी प्रासाद और फुटपाथों में समन्वय करने का अवसर मिला है। मत चूको! यह मैदानों की धूल आँधी बनकर अट्टालिकाओं पर छा जाए, इससे पूर्व ही तुम वसन्त-समीरण बनकर इनमें फूल खिला दो। प्यासी धरती पर आकाश सदा से बरसता आया है, नहीं बरसने पर तो आँधी के तूफान आकाश को आच्छन्न करते नहीं चूकते। परस्पर समन्वय करते चलो। कुछ बूँद पानी से यदि धरती की तृषा शान्त होती है तो उसके लिए सूर्य का तपना, सागर से याचना करना भी ठीक है। यह मानवता का सहज कर्त्तव्य है, कुछ दातृत्व का अभिमान नहीं। मानव मानव को एक मुट्ठी चावल देकर दाता का अभिमान करे यह तो अपने शील के प्रति व्यभिचार के समान है। कभी वह याचक हाथ तुम्हारा भी हो सकता है। ऐसा होना असम्भव तो नहीं? यह सोचकर पवित्रता से उपार्जन करो, उपार्जित का विभाग कर धर्म, दान, अतिथि-गुरु-देवार्चनादि में व्यय करो। सात्त्विक अन्न रसोई में पकेगा तो बुद्धि, विवेक, आचरण, विचार सभी शुद्ध होंगे और पवित्रता की यह सुगन्ध नन्दनवन तक महक उठेगी । सदाचार से तुम्हारे विमान देवभूमियों की यात्रा करेंगे। नहीं तो नरक के द्वार तुम स्वयं पहिचान ही लोगे।

वर्तमान शासन ने 'भ्रष्टाचार-उन्मूलन' के लिए शपथ ली है। मानो, राष्ट्र को सचमुच स्वतंत्रता का सुख अर्पित करने की ओर ध्यान लगाया है। इस भ्रष्टाचार से कोटि-कोटि जन सन्तप्त हैं। किसान जैसे बादलों की ओर देखता है, जनता पवित्र व्रत की शपथ लेने वालों की तरफ आशा की टकटकी बाँधे देख रही है। यदि ये बादल बिना बरसे चले गये तो आशा पर तुषारपात हो जाएगा। बड़े दिनों की प्रतीक्षा के पश्चात् जनता को इस मनभावती घुमड़कें देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। अब तो आनन्द तब है कि यह गरजे उतना ही बरसे। उतना बरसे कि तन-मन इसमें डूब कर सराबोर हो जाए। भ्रष्टाचार का दुर्भिक्ष पलायन करे और सदाचार के अंकुर जनमन के खेतों में लहराने लगें। अनिर्वेद श्री का मूल है। अश्रान्त पद चलने वाला यात्री हजार मील लम्बी मंजिल तय कर लेता है। **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'** अच्छे कार्य में विघ्नों की सम्भावना रहती है परन्तु साहसिक आरोही प्रतिकूल परिस्थितियों में ही अपने जय के खेमे गाड़ते हैं। **'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति'** बार-बार विघ्नों से कदर्थित भी उत्तम व्यक्ति स्वीकृत कार्य से विमुख नहीं हुआ करते। क्योंकि **'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति'** जो स्वीकार कर लिया उसका प्राण देकर भी पालन करना यह अच्छे कार्यशीलों का स्वभाव है। जिस प्रकार गजराज के दाँत मुख से बाहर निकल कर वापस नहीं होते, उसी प्रकार श्रेष्ठ व्यक्तियों के वचन नहीं लौटते। सुग्रीव ने बालि-वध के प्रसंग में राम की सहायता पर उनके वचन पर सन्देह किया तो राम ने कहा **'रामो द्विर्नाभिभाषते'** राम दो बार नहीं बोलते। सत्यभाषी दृढ़मना मनस्वी की धीरे से कही हुई बात मिथ्याभाषियों के उच्चैः स्वर में किये गये उद्घोषों (घोषणाओं) से कहीं अधिक मूल्यवान है। अधिकार की कुर्सी कर्त्तव्यपालन करने वाले को पाकर कृतार्थ हो उठती है।

सच्ची भावनाएँ कर्त्तव्यपालन से फलती-फूलती हैं। जो भावना को मन में ही रखता है अथवा वचन द्वारा व्यक्त करने मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है वह वास्तव में अपनी भावना की आप भी कद्र नहीं करता। भावनाओं को अस्तित्व देनेवाला तो उन्हें चारित्र के राजमार्ग पर प्रवर्तित करके ही विरत होता है। एक शिल्पकार किसी पत्थर को मूर्ति में बदलने से पूर्व क्या अपनी साधना के प्रति ईमानदार कहा जा सकता है? भावना तो कच्चे कुम्भ के समान हैं। उन्हें कर्त्तव्य की अग्नि में पकाकर ही जीवनोपयोगी बनाया जा सकता है। एक लगनशील जब कर्त्तव्यपरायण होता है तो आने वाले अवसर की बाट नहीं जोहता, वह अवसर को स्वयं उत्पन्न करता है और निष्ठा से कार्य आरम्भ कर देता है। **'अयमेव हि न कालः पूर्वमासीदनागतः'** यह विचार सच्चे मनस्वी के सामने अवसरों, उपायों और सफलता के समूह उपस्थित कर देता है। उत्तरदायी आसन पर विराजमान होकर लोक-कल्याण के लिए 'भ्रष्टाचार' शब्द को अतीत के गर्भ में विलीन कर देना

चाहिए। ठण्डी आंच में रोटी चीठी हो जाती है और मृदु न्याय से अपराध ढीठ हो जाता है। लोकमानस में भ्रष्टाचार के प्रति तीव्र घृणा है, अतः प्रशासक वर्ग को इसके उन्मूलन में कठिनाई नहीं होगी। सम्पन्नता की लम्बी आयु भोगने वाले आज अपने अपराधों को भाग्य और ईश्वर के मत्थे मँढ़कर साफ छूट जाना चाहते हैं, किन्तु कर्म करते समय जो कषाय और वासना उनके भीतर पलती रही है, क्या उसके प्रति बरते गये ममत्व से वे इन्कार कर सकेंगे? दूध-पानी को अलग-अलग करने की क्षमता वाले राजहंसों के सामने मिलावट कितनी देर टिकेगी?

भ्रष्टाचार-उन्मूलन के लिए अपने विचार से एक पंचसूत्री योजना प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है, गन्तव्यदिशा में इससे मार्गदर्शन मिलेगा।

(1) पाठ्यक्रम में सदाचार और नैतिकता की शिक्षा प्रचालित कर छात्र-छात्राओं को सात्विकता की ओर प्रवर्तित करना चाहिए। इसकी क्रियान्वयिता के लिए उन्हें परीक्षा समय में वार्षिक जाँचपत्र के आधार पर अतिरिक्त अंक मिलने चाहिए जो उत्तीर्णतांकों में अवश्य सम्मिलित किये जाएँ।

(2) नगरों में सदाचार समितियों की स्थापना कर जनता की एतत्-सम्बन्धी असुविधाओं को मुख्य केन्द्र तक पहुँचाने का प्रबन्ध होना चाहिए और स्थानीय प्रशासन को समिति की सिफारिश पर तुरन्त मामले की जाँच करनी चाहिए।

(3) महँगाई और बेकारी भी भ्रष्टाचार संवर्धन में निमित्तभूत हैं अतः सरकार को जीवन की नित्योपयोगी वस्तुओं की महर्घता पर तत्परता से नियन्त्रण करना चाहिए और कालाबाजार करने वालों को दण्डित करने में मृदुता न बरतनी चाहिए। लोगों को रोजगार देने के सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

(4) अश्लील सिनेमा और साहित्य पर प्रतिबन्ध होना चाहिए।

(5) एक प्रमाणित भ्रष्टाचारी को समाज सेवाओं में न लेकर उसे आचरणविशुद्धि तक सामाजिक मान-सम्मान से वंचित रखना चाहिए। साथ ही उत्तम चरित्र का पालन करने वालों को सम्मान प्रदान करना चाहिए।

भ्रष्टाचार-उन्मूलन की दिशा में भारत की वर्तमान सरकार ने जो प्रयत्न आरम्भ किया है, उसका प्रत्येक सदाचारी अभिनन्दन करेगा। जो राष्ट्र अपनी चरित्रसम्पदा से सम्पन्न होता है, उसकी उन्नति के स्तूप देवताओं के हृदय को भी आकर्षित कर लेते हैं। धर्मनिरपेक्ष भारत में यदि चरित्र को धर्म का पवित्र पद प्रदान किया जा सके तो यह मानव के शील की बहुत बड़ी प्रतिष्ठा होगी। पुष्प की सुगन्धि पवन का सहयोग पाकर दिशाओं में फैलती है किन्तु सच्चरित्र की महक तो अपने आप उड़कर सुदूर दिगन्तों तक पहुँच जाती है। मानव के भौतिक ठाठ में चरित्र ईश्वरीय रूप है वही उसे परमात्मपद तक ले जाता है। सदाचार की दिशाओं को आलोकित करने के लिए यह नन्दा दीप अखण्ड रहे। ❖❖

# जैन समाज और वात्सल्य भाव

**न धर्मो धार्मिकैर्विना।** —आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड, 27

अर्थात् धर्म धार्मिक पुरुषों के बिना नहीं होता है।

एक व्यक्ति से धर्म और समाज नहीं चलता—

**उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।**
**नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥**

—आचार्य सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 8-365

अर्थात् तीर्थंकर जिनेन्द्र भगवान का यह धर्म उत्तम, मध्यम और जघन्य गृहस्थों से भरा हुआ है। जैसे गृह एक खम्भे पर नहीं ठहर सकता, वैसे यह धर्म भी एक पुरुष के आश्रय से नहीं ठहर सकता।

जैन चतुर्विध संघ के प्रति भेदभावरहित होता है—

**चतुःसंघे नरो यस्तु कुरुते भेदभावनां।**
**मिथ्यादृष्टिः स विज्ञेयो जिनधर्मविवर्जितः॥**

—पं. आशाधर, पूजापाठ, पृष्ठ 1

**अर्थ**— जो जैनी चतुर्विध संघ (श्रमण, श्रमणा, श्रावक, श्राविका) में भेदभाव करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, जैनधर्म से रहित है— ऐसा जानना चाहिए।

श्रमण, श्रमणा, श्रावक और श्राविका चतुःसंघ-समाज के अनेकान्त के अनुसार संख्यात अंग हैं।

अपनी-अपनी जीविका के अनुसार पुरुष अनेक प्रकार के होते हैं, परन्तु धर्म के क्षेत्र में वे सब एक हैं—

**कला बहत्तर पुरुष की, तामें दो सरदार।**
**एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥**

**जगत् का बन्धु जैनधर्म-**

**जिनधर्मं जगद्बन्धुमनुबद्धमपत्यवत्।**
**यतींजनयितुं यस्येत्तथोत्कर्षयितुं गुणैः॥** —सागार धर्मामृत, 2-71

**अर्थ**— जैसे श्रावक अपने वंश की परम्परा चलाने के लिए संस्कारसम्पन्न बच्चे

को गोद लेकर उसे गुणी बनाने का प्रयत्न करता है, उसी तरह लोकोपकारी जैनधर्म की परम्परा को चालू रखने के लिए नवीन त्यागियों को उत्पन्न करने और वर्तमान त्यागियों को श्रुतज्ञान, चारित्र आदि से उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

**श्रावक की परिभाषा-**

**सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।**
**यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्॥**

—आचार्य सोमदेव, यशस्तिलकचम्पू, 8-22

**अर्थ**— निस्सन्देह जैनों को वह समस्त लौकिक विधान प्रमाण है, जिसमें उनका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता और शुद्ध खान-पान दूषित नहीं होता।

**जैनों के भेद-**

**नामतः स्थापनातो वा, जैनः पात्रायते तराम्।**
**स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैः भावतस्तु महात्मभिः॥** —सागार धर्मामृत, 2-54

नाम तथा स्थापना से भी जैन हो तो वह भी (अजैन पात्रों से) विशिष्ट पात्र होता है। द्रव्य से जैन पुण्यवानों को प्राप्त होता है और भाव से जैन अर्थात् भावलिंगी श्रावक सम्यग्दृष्टि तो किन्हीं महाभागों को ही मिलता है।

जिस प्रकार माँ श्याम वर्ण वाले पुत्र तथा सुन्दर वर्ण वाले पुत्र दोनों को ही दुग्धपान कराती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक जो नाम से जैन अथवा स्थापना से जैन हो तो भी दोनों का ही सम्मान करता है, किसी का भी तिरस्कार अथवा निन्दा नहीं करता है।

**प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य-**

**तत्थ भावा देस-महव्वादिणो असंजद-सम्मादिट्ठिणो च पवयणा...तेसु अणुरागो आकंखा ममेदं भावो पवयणवच्छलदाय णाम। तीए तित्थयरकम्मं बज्झदि।**

—आचार्य वीरसेन, छक्खंडागम, 3/41, पृष्ठ 90

**अर्थ**— उन प्रवचनों अर्थात् देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टियों में जो अनुराग, आकांक्षा अथवा ममेदं बुद्धि होती है, उसका नाम प्रवचनवत्सलता है। उससे तीर्थंकर प्रकृति बंधती है।

**धर्मी सों गौ-वच्छ प्रीति सम, कर जिनधर्म दिपावै।** —छहढाला, 3-13-45

**वत्सलत्वं पुनर्वत्से धेनुवत्सं प्रकीर्तितं।**
**जैने प्रवचने सम्यक्श्रद्धानं ज्ञानवत्स्वपि॥** —तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, 6/24/16

**अर्थ**— जिस प्रकार तत्काल प्रसूता गाय अपने बच्चे में अकृत्रिम स्नेह करती है, उसी प्रकार जैनमतानुयायी अच्छे वचन सुनने वाले विद्वानों में और समीचीन

श्रद्धान-ज्ञान वाले जैन साधर्मी पुरुषों में भी जो पुनः-पुनः प्रमोदबहुल वत्सलता करना है, वह प्रवचनवत्सलत्व भावना अच्छी कही गयी है।

**वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्।**

—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, 6/24/656

**अर्थ**— जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती है, उसी प्रकार साधर्मियों पर स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है।

**यथा सद्यःप्रसूता धेनुः स्ववत्से स्नेहं करोति तथा प्रवचने सधर्मणि जने स्नेहलत्वं प्रवचनवत्सलत्वमभिधीयते।** —श्रुतसागरसूरि, तत्त्वार्थवृत्ति, 6/24, पृष्ठ 229

**अर्थ**— गाय और बछड़े के समान प्रवचन और साधर्मीजनों में स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है।

**वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्। यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति तथा सधर्माणमवलोक्य तद्गतस्नेहार्द्रीकृतचित्तता प्रवचनवत्सलत्वमित्युच्यते। यः सधर्मणि स्नेहः स एव प्रवचनस्नेह इति।**

—आचार्य अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, 6/24, पृष्ठ 530

**अर्थ**— जैसे गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह करती है, उसी तरह धार्मिक जन को देखकर स्नेह से ओत-प्रोत हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है। जो धार्मिकों में स्नेह है वही तो प्रवचनस्नेह है।

**जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि।**
**सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, 235

**अर्थ**— जो जीव मोक्षमार्ग में स्थित आचार्य उपाध्याय साधु पद सहित आत्मा में अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में वात्सल्यभाव करता है वह वत्सलभावसहित सम्यग्दृष्टि जानना।

**चादुवण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे।**
**वच्छलं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी॥** —मूलाराधना, 263

**अर्थ**— चतुर्गतिरूप संसार में तिरने के कारणभूत मुनि आर्यिकादि चार प्रकार संघ में, बछड़े में गाय की प्रीति की तरह प्रीति करना चाहिए, यही वात्सल्य गुण है।

**जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए।**
**पिय वयणं जप्पंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स॥** —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 421

**अर्थ**— जो सम्यग्दृष्टि जीव प्रिय वचन बोलता हुआ अत्यन्त श्रद्धा से धार्मिक जनों में भक्ति रखता है तथा उनके अनुसार आचरण करता है, उस भव्य जीव के वात्सल्य गुण कहा है।

**अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।**
**सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥**

—आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 29

**अर्थ**— मोक्षसुखरूप सम्पदा के कारणभूत धर्म में, अहिंसा में और समस्त ही साधर्मी जनों में लगातार उत्कृष्ट वात्सल्य वा प्रीति का अवलम्बन करना चाहिये।

**वात्सल्यगुणस्वरूपं-**

**स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।**
**प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥** —रत्नकरण्डक, 17

**अर्थ**— अपने सहधर्मी बन्धुओं के समूह में रहने वाले लोगों के प्रति अच्छे भावों से सहित और माया से रहित उनकी योग्यता के अनुसार आदर सत्कार आदि करना वात्सल्य गुण कहा जाता है।

**यो मदात्समयस्थानामवाह्लादेन मोदते।**
**स नूनं धर्महा यस्मान् न धर्मो धार्मिकैर्विना॥**

—आचार्य सोमदेव, यशस्तिलक, 8/453, पृष्ठ 471

**अर्थ**— जो मनुष्य घमण्ड में आकर अपने साधर्मी भाईयों और मुनियों का अपमान करके प्रसन्न होता है, वह निश्चय से धर्मघातक है; क्योंकि धार्मिकों के बिना धर्म नहीं है।

**धार्मिक व सामाजिक संगठन के चार सूत्र-**

**भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा।**
**धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं॥**

—भगवती आराधना, गाथा 737

**अर्थ**— भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग तथा धर्मानुराग— इस प्रकार चार प्रकार से जिनशासन में जो अनुरक्त है।

तत्त्व का स्वरूप मालूम नहीं भी हो तो भी जिनेश्वर का कहा हुआ तत्त्व स्वरूप कभी झूठा होता ही नहीं— ऐसी श्रद्धा करता है उसको भावानुराग कहते हैं। जिसके ऊपर प्रेम है उसको बारम्बार समझाकर सन्मार्ग पर लगाना— यह प्रेमानुराग कहलाता है। मज्जानुराग पाण्डवों में था अर्थात् वे जन्म से लेकर आपस में अतिशय स्नेहयुक्त थे। वैसे धर्मानुराग से जैनधर्म में स्थिर रहकर उसको कदापि मत छोड़ो। —भगवती आराधना/भाषा/737/908

**रत्नत्रय का उपदेश गृहस्थों में सम्भव नहीं-**

**दयाबुद्धीए साहूणं णाण-दंसण-चरित्तपरिच्चागो दाणं पासुग-परिच्चागदा णाम। ण चेदं कारणं घरत्थेसु संभवदि, तत्थ चरित्ताभावादो। तिरयणोवदेसो वि ण घरत्थेसु**

**अत्थि, तेसिं दिट्ठिवादादि उवरिम सुत्तोवदेसणे अहियाराभावादो। तदो एदं कारणं महेसिणं चेव होदि।** —आचार्य वीरसेन, छक्खंडागम, बंधसामित्तविचओ, 3-41

**अर्थ**— दयाबुद्धि से साधुओं द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के परित्याग या ज्ञान दान का नाम प्रासुक परित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थों में सम्भव नहीं है, क्योंकि, दृष्टिवादादिक उपरिम श्रुत के उपदेश देने में उनका अधिकार नहीं है। अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है।

**धार्ष्ट्यपूर्ण वक्तृत्व या पाण्डित्य का उपहास किया है-**

**दैवखातं च वदनं, आत्मायत्तं च वाङ्मयम्।**
**श्रोतारः संति चोक्तस्य, निर्लज्जः को न पण्डितः॥**

—आचार्य सिद्धसेन, द्वात्रिंशिका, 12-1

**अर्थ**— सारांश यह है कि मुख का गड्ढा तो दैव ने खोद रखा है। प्रयत्न यह अपने हाथ की बात है और सुनने वाले सर्वत्र सुलभ हैं ही। इसलिए वक्ता या पण्डित बनने के लिए यदि जरूरत है तो केवल निर्लज्जता की है। एक बार धृष्ट बन कर बोलिए फिर सब कुछ सरल है। सम्प्रदायाभिनिवेश वश अपढ़ एकान्तवादी व्यक्ति भी आज के विज्ञान-युग में अपने अज्ञान को प्रकट करते हैं।

**भावलिंगी श्रावक की चर्या-**

**स्वाध्यायः संयमस्तपः।** —पद्मनन्दि-पंचविंशतिका, 7

**धन्यास्ते जिनदत्ताद्याः गृहिणोऽपि न येऽचलन्।**
**तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते जिनधर्मतः॥**

—स्व. देवकीनंदनजी के लेख से उद्धृत

जो गृहस्थ होकर भी शास्त्रप्रसिद्ध और असाधारण उपसर्गों के आने पर जिनधर्म से चलायमान नहीं हुए वे सेठ जिनदत्त वगैरह धन्य हैं—प्रशंसनीय हैं।

अर्थात् भावलिंगी श्रावक वही है जो जिनागम का स्वाध्याय करते हुए संयम और तप का आचरण करता है। देखो! पुराण-पुरुष सेठ सुदर्शन, सेठ जिनदत्त आदि अनेक भावलिंगी श्रावक घर में रहकर भी तत्त्वज्ञान और वैराग्यसम्पन्न होकर श्मशानादि में कायोत्सर्ग को धारण करते थे। शास्त्रोक्त कथन है कि गृहस्थ भी गृहस्थ अवस्था में उत्तम व्रतों का पालन करते थे।

इस प्रकार सच्चे भावलिंगी श्रावक कर्मक्षय करने में सदा तत्पर रहते हैं।

❖❖

# पुरुष और स्त्रियों का समाज में स्थान और कर्त्तव्य

समाज की रचना में पुरुष और स्त्री दो समान अविभाज्य अंग हैं। पुरुष के बिना समाज गतिहीन है और स्त्री के बिना स्थितिहीन। पुरुष का कार्य 'पौरुष' कहा जाता है और उदग्र पौरुष के लिए गतिमय होना आवश्यक है। प्रगति और आगे बढ़ने के उपायों की सर्जना पुरुष ही करता है। वह शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से सबल होता है, अतः पुरुषार्थों के सम्पादन में अग्रसर रहकर न्याय, व्यवस्था, शासन और प्रगति के बहुमुखी बहूद्देश्य कार्यों में प्रसक्त रहता है। इस प्रकार वह 'गति' का दृष्टा है, उत्पादक है और उसकी मंजिल के पड़ाव सूर्य, चन्द्र, ताराओं की सीमा को छूते रहते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों की अर्धांगिनी होकर भी 'स्थिति' की प्रतीक हैं। सनातन मार्ग से आने वाली संस्कृति की रक्षा में स्त्रियों का बहुत भारी सहयोग है। जिस प्रकार घर की देहरी पर धरा हुआ दीपक बाहर और भीतर समान उजियाला करता है, उसी प्रकार पुरातन मर्यादाओं के खेमे में रहते हुए भी महिलाएँ नित्य बदलती स्थितियों के साथ समन्वय करने की सहज बुद्धि रखती हैं। रथ का चक्र जब घूमता है तो उसमें दो क्रियाएँ एक साथ होती रहती हैं, एक गति और दूसरी आगति। गत्तिक्रिया से चक्र आगे बढ़ता है और आगति-क्रिया से वह अपनी कीली (केन्द्र) से सम्बद्ध रहता है। कुम्भकार के चक्र पर यह बात अधिक सुगमता से समझ में आ सकती है। यदि घूमते हुए चक्र को नियन्त्रित करने वाली कीली न हो, उसकी केन्द्रसत्ता न हो तो वह चक्र अपने स्थान से च्युत होकर कहीं विशीर्ण हो जाएगा, टूट जाएगा। अंगुलि में किसी चक्र गति से प्रेरित होकर आगे बढ़ेगा और कुछ दूरी पर घूमता हुआ गिर जाएगा। यदि आटा पीसने की चक्की में भी कीली न हो तो वह अपनी धुरी से हट जाएगी और कार्य नहीं कर सकेगी। स्त्री का स्थान पुरुष की गति को नियन्त्रित करने में उस कीली के समान है जो अपनी स्थिति से उसे गतिमय रखती है और अन्धगति से उत्पन्न होने वाली दुर्घटनाओं से बचाती है। अतः स्थिति और गति के दो संयुक्त स्वभावों का मिथुनीभाव ही 'पुरुष और स्त्री' का दाम्पत्य है। यह ध्यान देने योग्य है कि गति से स्थिति सर्वथा विपरीत होती है। **समान-शील-व्यसनेषु सख्यम्**— 'जो लोग समान शील हों उनमें ही मित्रता स्थिर रहती हैं— इस नीतिवाक्य से विपरीत पुरुष और स्त्री सभी स्वभावों में, शरीरसंस्थानों में एक दूसरे

से नितान्त भिन्न होते हैं और भिन्नता की यह स्थिति ही उनमें अभिन्नता उत्पन्न करती है। पुरुष और स्त्री की भिन्न-लिंगता ही उनकी जीवन-मैत्री का प्रमुख कारण है। यदि स्त्री भी गति की प्रतीक बन जाती है तो दोनों की गति मिल कर स्थिति का संहार करने लगती है। स्थिति का संहार होने का अर्थ है– परम्परा, धर्म, मर्यादा, संस्कार, शील और चारित्र की समाप्ति। क्योंकि स्त्री जब तक स्थिति की अधिष्ठात्री बनी रहती है तब तक गतिमय पुरुष पुनः-पुनः लौट कर वहीं 'आगति' करता है। इससे उसके शील-संस्कार भी सनातन से अभिन्न रहते हैं और उनका कुल सह-पीढ़ियों की परम्परा के साथ सम्पृक्त जुड़ा हुआ रहता है। किन्तु यदि वह अपनी गति में उन्मत्त होकर स्थितिस्थापक कीली को भी उखाड़ ले चलता है तो दोनों अपने उद्देश्य से भटककर कहाँ गिरेंगे— यह कह सकना कठिन हो जाएगा। अथवा 'स्थिति' रूप स्त्री ही 'गति' करते हुए पुरुष की चर्या के प्रति आकृष्ट होकर अपनी स्थिति को पंगुता मानते हुए गतिमय होने में पुरुष से होड़ लेने लगती है तब भी दोनों की गति स्पर्धा और संघर्ष को जन्म देकर गतिहीन हो जाएगी, क्योंकि गति के साथ आगति का नित्य सम्बन्ध है और आगति का नियामक स्थल 'कीली' है। यदि गति को नियामक न मिले तो उसके 'गति' प्रेरक तत्त्व ही समाप्त हो जाते हैं और स्थिति की प्रतीक 'स्त्री' के गतिरूपान्तरित होने पर पहले जो पोष्यपोषक भाव उनमें था, जो परस्परोपग्रह था, वह समाप्त हो जाएगा और एक दूसरे को आलम्बन देने वाले, एक दूसरे के पूरक कहे जाने वाले तत्व परस्पर विरोधी और स्पर्धा करने वाले हो जाएँगे। इस प्रश्न का दूसरा पहलू और भी भयानक है कि जब स्थिति गति के साथ स्पर्धा करने के आवेश में अपने स्थान से हट जाएगी तो वह स्थान रिक्त हो जाएगा। रिक्त स्थान पर कोई भी अधिकार जमा लेगा तब स्त्री के स्थित्यात्मक स्वरूप के साथ जो शीलाचार था, उसकी समाप्ति होकर दुर्गुण, दुराचारों की अभिवृद्धि होने लगेगी। स्त्री स्वयं भी 'स्थिति' पद छोड़ने से प्रगति की बहक में बाहर से रोचिष्ठ, विषय-कषायों के जाल में फँस जाएगी। पुरुष वर्ग से अधिक चारित्र की रक्षा स्त्री-वर्ग ने ही की है और आज तक धर्म के प्रति पुरुष वर्ग ही धार्मिकता निमित्त है। 'स्थिति' की स्थिति से उखड़ जाने पर तो धार्मिकता और सांस्कारिकता की जड़ें हिल जाएँगी। आज तक जो स्त्री-समाज घर में रहकर घर को स्वर्ग समान बनाने में योग देता रहा है, वही आज क्लबों, आफिसों और समानाधिकार के नाम पर यत्र तत्र सर्वत्र स्वच्छन्द विचरण करने लगा है। पाश्चात्य देशों के जनजीवन के आधार पर भारतीयों की नकल करने की प्रवृत्ति जोर मार रही है। स्त्रियाँ उपार्जन में लगी हैं और पुरुषों को मात कर देना चाहती हैं। जिसे प्रकृति ने मातृत्व से, भगिनीत्व से और पुत्रीत्व तथा जायात्व से सम्पन्न करते हुए उसमें प्रेम, ममता और दया का अमृत सिंचन किया है, वही इन सद्गुणों को दूर कर 'कामरेड' होने में सुख मानने लगी हैं। हाट-बाजारों में चाट खाने के लिए समूहबद्ध होकर मँडराती हुई ये आधुनिकाएँ

घरों को होटल बना रही हैं। पति-पत्नी काम से लौटे तो एक पिक्चर में चले गए और दूसरा 'क्लब' में। वहाँ से अर्धरात्रि तक निबटे तो आकर सो रहे और सबेरे से फिर वही 'रोटेशन' चालू। सन्तान न होने के उपाय बरतने से प्रथम तो सन्तति होती ही नहीं और हो भी जाए तो उसके पालन-पोषण का भार आयाओं पर। माता-पिता को तो उन्हें सम्भालने का अवकाश भी नहीं। तब पीढ़ियाँ उन माताओं और पिताओं के वंशानुगत किस आचार को, मर्यादा को अथवा धर्म को जाने, पहचाने या पालन करे। आधुनिक समाजशास्त्रियों की योजना के अनुसार धर्महीन तथा वर्गहीन सन्तानें इसी पथ पर चलकर आगे जा सकती हैं। स्थिति और गति की यह स्थापना कोई व्यक्तिगत विचार नहीं हैं अपितु नारी और नर के शरीर-संस्थान तथा विवेक से सोच-समझ कर अपनाया हुआ सही मार्ग है।

यदि संसार को देखते हुए स्त्री-पुरुषों की भारतीय-जीवन पद्धति पर विचार किया जाए तो आज की अपेक्षा उस पुराने समय में लोग अधिक सुखी थे— ऐसा कहना न्याय-संगत होगा। आज लोगों की आय बढ़ी है। सुख-सुविधा उत्पादक भौतिक साधन बढ़े हैं और जीवन-स्तर जिसे पश्चिम से उधार लेकर लिविंग स्टैण्डर्ड से रूप में हमने अपना लिया है, उसमें भी तरक्की हुई है। आज के लोग इस दशा को प्रगति के नाम से पुकारते हैं और गम्भीर अध्ययन के अभाव में अपने पूर्वजों के ज्ञान-विज्ञान पर सन्देह करते हैं और संस्कृति पर कीचड़ उछालते हैं। आचार-विचार में शुद्धि रखने वाले को 'संकीर्ण' कहकर पुकारते हैं। जातीय उच्च परम्परा पालक को साम्प्रदायिक सम्बोधन करते हैं। जूते पहनकर खाने वाले को यदि जूते उतारकर खाने का अनुरोध किया जाए तो कहने लगेंगे कि 'क्या जूता मुँह में जाता है?' यदि मिट्टी के प्लेटों, गिलासों में खाने की दोषाावलि की ओर ध्यान दिलाया जाए तो हँसेंगे। चौके की पवित्रता जीवन में क्या कुछ देती है, इसकी ओर उनका ध्यान नहीं है। केवल फैशन के नाम पर पढ़े-लिखे भी साधारण 'हाइजीन' (स्वास्थ्य) का पाठ भी भूल गए हैं। अपने वस्त्रों की क्रीज़ का तो खास ध्यान रखते हैं, किन्तु चाट खाते समय खुले पदार्थों पर उड़कर गिरने वाली रास्ते की दूषित मिट्टी, मक्खियाँ और घटिया किस्म के उपादानों की ओर उन सर्वभुक्त जूठी प्लेटों की ओर तथा चाट बेचने वाले के मैल से काले नाखूनों की ओर जिनसे वह कचौड़ियों को तोड़ता है, किसी का ध्यान नहीं जाता। बहुत समय नहीं हुआ, जब लोग घर से बाहर, बाजारों में जिस किसी के द्वारा सिद्ध किया अन्न नहीं खाते थे। यह विचार केवल 'संकीर्णता' को ध्यान में रखकर नहीं किया था किन्तु, स्वास्थ्य की उन्नति और सुरक्षा के लिए था। आज बाबुओं के मुख 'चटोरे' हो गए हैं और 'आधुनिक जोड़े' प्रायः घर से बाहर भोजन करने में ही आनन्द अनुभव करते हैं। नीतिकारों ने नारी के भारतीय सात्त्विक रूप का जैसा चित्रण किया है उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है–

**कार्येषु मन्त्री वचनेषु दासी, भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा।**
**धर्मानुकूला क्षमया धरित्री, षड्भिर्गुणैः स्त्री कुलतारिणी स्यात्॥**

स्त्री कैसी होनी चाहिए— इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह पति के कार्यों में मन्त्रणा देने वाली हो, वाणी के व्यवहार में दासी हो (मृदुभाषिणी, विनययुक्ता हो), पति को भोजन कराते समय माता के समान हो, शय्या पर रम्भा (अप्सरा) के समान हो, धर्म का पालन करे, क्षमागुण में पृथ्वी के तुल्य होकर सभी गार्हस्थित सुखों-दुःखों को सहन करे। इस प्रकार छह गुणों से युक्त कुलवधू कुल को तारने में सफल होती है।

बहुत-से गुणों का आधार नारी है। उसे केवल 'भोगिनी' समझने की भूल करके पुरुष वर्ग ने उसकी योग्यताओं को कदर्थित कर दिया है, सीमित कर दिया है।

एक व्यक्ति को अनेक रूप से नाना प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है। अपनी विविध भूमिकाओं के कारण ही वह एक होकर भी अनेकवत् प्रतीत होता है। जिस प्रकार केन्द्र (मध्य) में रखी हुई कोई वस्तु दिशाभेद से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में दिखाई देती है, उसी प्रकार ध्रौव्यगुण वस्तु अपने उत्पाद और व्यय से विविध दीखती है। एक पुरुष अथवा स्त्री किसी के लिए पिता-माता हैं तो किसी के लिए भाई-बहिन। वैसे ही भावात्मक गुण सत्ता में स्त्री पति की पत्नी होते हुए भी माता, भगिनी, मन्त्री, दासी आदि हो सकती है। यद्यपि व्याकरणशास्त्र में पुरुष और स्त्री जातिवाचक अथ च व्यक्तिपरक संज्ञाएँ मानी गई हैं तो भी इनमें मन्त्री, दासी, भगिनी और माता इत्यादि का परिकल्पन नितान्त भावात्मक है— ऐसा स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं। अतः स्त्री को अथवा पुरुष को उसकी पारिवारिक, सामाजिक और कार्यिक दृष्टियों से बहूद्देश्यीय आंकना उसके व्यक्तित्व-विकास में सहायक है। पुरुष की अपेक्षा नारी को समाज में स्वतः सम्मानित स्थान प्राप्त है। वह मातृ जाति है इसलिए सम्मान की पात्र है। 'जननी' जैसा पवित्र शब्द उसके मातृत्व का सूचक है। तीर्थंकरों की प्रसविनी होने से स्त्री-जाति पुरुषों द्वारा सदा नमस्य है। 'भक्तामर' स्तोत्र में एक हृदयग्राही श्लोक है–

**स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,**
**नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।**
**सर्वा दिशो दधति भानि, सहस्ररश्मिं,**
**प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥**

"हे भगवन्! सैकड़ों स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करती हैं, किन्तु जिस माँ ने आपको जन्म दिया, वह तो उन सैकड़ों में एक ही है। सभी दिशाओं में तारे उदय होते हैं, किन्तु सहस्रों किरणों से दीप्तिमान दिवाकर को तो पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है।'

तीर्थंकर भगवान् की माता का स्मरण करते हुए कवि ने मातृजाति के महत्त्व

को वर्णित किया है। मातृजाति का यह स्तवन उनके गुणों का स्तवन है। गुणों को भावात्मक माना गया है। द्रव्य में भावसत्ता की जितनी गहरी प्रतिष्ठा होगी, द्रव्य उतना ही महत्त्वशील होगा। यदि भावात्मक सत्ता की विशिष्टता नहीं तो वह द्रव्य उन संस्कारी गुणों से वंचित रह जाता है। एक अशिक्षित में और सुशिक्षित में शरीर-पर्याय से (द्रव्य-परिणमन से) क्या अन्तर है? उनमें द्रव्यदृष्ट्या साम्य होते हुए भी जो भावदृष्टि से पार्थक्य है वही उन्हें उत्तम और अधम बनाता है। भावात्मक सत्ता से ही किसी कुलस्त्री में और गणिका में भेद-रेखा की सृष्टि हुई है। 'माँ' यह शब्द कान में आते ही स्तनों में दूध छलछला उठाता है। 'बहिन' सुनते ही आँखों की कोर भाई के स्नेह से गीली हो जाती हैं। यह द्रव्य में स्थित मोहविकार की ही सत्ता है। संस्कारों से ही 'हीरा' परिधानीय (पहनने योग्य) बनता है और पुरुष अथवा स्त्री भी संस्कारों से ही सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक बनते हैं। इसलिए तो कहा है कि 'नर-नर में है अन्तर, कोई हीरा कोई पत्थर।' यहीं तक नहीं किसी फक्कड़ ने तो पुरुष को, यदि वह संस्कारहीन है तो, पशु-पर्याय से भी हीन बता दिया है। वह दोहा इस प्रकार है–

**पशु की होत पनहिया, नर का कुछ नहीं होत।**
**यदि नर करणी करै तो, नर नारायण होत॥**

यहाँ 'करणी' संस्कारों से प्रेरित आचरण का ही नाम है। पुरुष हो अथवा स्त्री हो, अपने आचरण से ही ऊपर उठ सकते हैं। इसलिए कोई व्यक्ति सातवीं मंजिल पर ऊपर है अथवा दूसरा नीचे 'फुटपाथ' पर खड़ा है इससे उसकी ऊँचाई-नीचाई नहीं जानी जा सकती, अपितु जिसका मन संस्कारों की छाया में पला है वही उन्नत है। उन्नत का मानदण्ड उसका पैसा नहीं, उसके संस्कार हैं, उसका शील है। **उन्नतं मानसं यस्य भाग्यं तस्य समुन्नतम्।**

आज के युग में लोग सातवीं मंजिल पर अधिक हैं और फुटपाथों पर कम। किन्तु जो संस्कारों की सातवीं मंजिल पर हैं वे इने-गिने हैं और असंस्कृत लोग अधिक संख्या में ऊँचे महलों की सातवीं मंजिल पर हैं। इसलिए संस्कार विशुद्धि की परिभाषा के अनुसार सातवीं मंजिल पर लोग कम हैं और फुटपाथों पर अधिक। इस लोक के व्यवहारों के प्रति राई-रत्ती का हिसाब रखने वाले परलोक के लिए कानी कौड़ी नहीं जुटाते— यह आश्चर्य का विषय है। लोग, क्या स्त्री क्या पुरुष, सभी भौतिक प्रपंच-वृद्धि के उपाय जुटाने के लिए रात-दिन दौड़ रहे हैं। कोई मोटर पर, कोई वायुयान में तो कोई फुटपाथ पर पैदल, किन्तु दौड़ सभी रहे हैं। किसी के पास बात करने को अवकाश नहीं। शरीर यन्त्र के 'पुर्जे' रात-दिन घिस रहे हैं और लोग धीरे-धीरे रंगमंच से उतरकर समाप्ति की ओर जा रहे हैं। किन्तु आत्माधिष्ठित पवित्र उद्देश्य के लिए समर्पित शरीर के पुर्जे उन हीनकोटि के उद्यमों में ही अविश्रान्त लगे रहकर क्यों समाप्त हो रहे हैं, इस ओर किसी का

ध्यान नहीं जाता। अच्छे संस्कारों से वंचित होकर उनका जीवन अन्धे के समान बीत जाता है। भौतिक वृद्धि इतनी बढ़ी है कि नर-नारी प्रतिक्षण अपने शारीरिक वेष-विन्यास में, आभरण-सज्जा में, शृंगार-विलासों में डूबे हैं। अपने लिबास को सात्त्विक करने के बजाय उसे वीभत्स करते हुए आज की महिलाएँ, बालिकाएँ एक प्रकार का गर्व अनुभव करती हैं। छायावादी कवियों ने जैसे छन्दभंगकर 'रबर छन्द' के प्रयोग किए, वैसे ही वस्त्रों के इतिहास में आज के लोग स्वच्छंद प्रयोग कर रहे हैं। वस्त्र पहना भी है और नहीं भी पहना— ऐसा उनके वस्त्रों को देखकर प्रतीत होता है। पहनने वालों का उद्देश्य भी यही है कि कपड़ा तो शरीर पर बना रहे किन्तु हमारी अन्तश्छन्न असंस्कृत अभिलाषा की पूर्ति भी होती रहे। भारत में वस्त्रों के पहनने के प्रकार को भी शील का अंग माना है। धर्म के मार्ग पर भी इसका व्यतिक्रम प्रशंसनीय नहीं कहा गया। दिगम्बर जैन श्राविकाएँ भी दो वस्त्र रखने को बाध्य हैं। महाव्रतधारी मुनि लँगोटी भी नहीं रख सकते, किन्तु माताएँ दो वस्त्र रखते हुए महाव्रतधारिणी हैं। यह व्यवस्था उपगूहनांग की वीभत्सता को छिपाने के लिए है। वासना के पक्ष को निरस्त करने के लिए है। आज की पोशाक जो तंग चुस्त होती हैं, अवयवों के उभार को बताती हैं और समाज में इससे शील को धक्का लगता है। दृष्टिविकार से आरम्भ होकर मन और शारीरिक विकारों तक मनुष्य ग्रस्त हो जाता है। स्त्रियाँ यदि मन्दिर जा रही होती हैं तो भी शृंगार करेंगी और मुनिपरमेष्ठियों के दर्शन करने प्रस्थित हैं तब भी उत्तमोत्तम शृंगार करेंगी— यह उनकी मानसिक कुरुचि का परिचय है।

शृंगार साहित्यशास्त्र में वर्णित एक रस है जिसकी पूर्ति के लिए स्त्रियों को अपने पतियों के लिए एकान्त में शृंगार-रचना करनी चाहिए। उसको बाजारों में निकलते समय अनुचित रूप से भड़कीला करना अस्वस्थ, अपरिमार्जित और वासनाविद्ध मन की रुग्णता है। अतः वेष-भूषा ऐसी रखनी चाहिए जिससे वस्त्र पहनने के प्रयोजन की सिद्धि तो हो किन्तु सात्त्विकता की रक्षा को आँच न आने पाए। अभी तक पुरुषों का वेष तो इतना विकृत नहीं हुआ है, किन्तु कालेजों में पढ़कर, विदेशी स्त्रियों के लिबास को देखकर भारतीय नारियों का वेष सन्देह कोटि को पहुँच गया है। उत्तमकुलीन स्त्रियों को इससे बचना चाहिए। इस समय देश को जो विष नित्य मिल रहा है, वह है सिनेमा और रेडियो गीत। प्रायः घरों में रेडियो हैं और उन पर गीत आते रहते हैं। वे कभी श्लील और कभी (अधिकतर) अश्लील होते हैं। ऐसे पद, जिन्हें पिता-पुत्री, माता-पुत्र एक साथ सुनने में संकोच अनुभव करते हैं, (धीरे-धीरे अभ्यस्त होने से यह संकोच भी दूर होता जा रहा है) घर-घर में सुनाई देते हैं। सिनेमा में मनोरंजन के नाम पर भद्दे गीत और अस्वस्थ कथानक दिखाए जाते हैं। बाजारों में 'बीड़ी' का विज्ञापन करने वाले लड़कों को 'लड़की' के वेष में सजाकर भद्दे गाने बुलवाते हैं और दर्शकों की भीड़ खींचकर

उसे 'बीड़ी' के 'फ्री सेम्पल' के साथ चारित्र-दोष देते हैं। अच्छे घरों में भी सवेरे-सवेरे रेडियो के शृंगार-गीत सुनने को मिलते हैं। सिनेमा हॉल सदैव 'हाउस फुल' चलते हैं और आज के नवयुवा उसकी टिकटें खरीदने में स्पर्धा करते हैं। भीड़ में चाकू, छुरे चल जाने की घटनाएँ होती रहती हैं और बन्द सिनेमाघरों में निरन्तर बैठने से दूषित वायु का असर शरीर पर होता है। हल्के-भद्दे-गीतों से मन में पाप-विकार उत्पन्न होते हैं। यह परिस्थिति शोचनीय है और धर्म को, चारित्र को, सादगी को समाप्त करने वाली है। समाज के नर और नारी यदि इससे नहीं बचेंगे तो उनका आहार, विहार, धर्म सभी खतरे में समझिए। एक 'अण्डा' खाने के लिए लोग उसे 'जीवरहित' 'शाकाहार में शामिल' इत्यादि दलील देते हैं। किन्तु जो मूल में 'जरायुज' है, जिसकी उत्पत्ति पशुओं और मनुष्यों के समान गर्भ से होती है, जो तिर्यंजों के रजोवीर्य का मिश्रण है उसे 'उद्भिज' श्रेणी के वनस्पतियों के साथ रखना बुद्धि का दिवालियापन नहीं है क्या? तर्क यदि तर्क तक सीमित रहे तो ठीक, किन्तु जब दुराग्रह से कुतर्क बनने लगे तो भयानक है। अण्डा खाने की भ्रष्ट लालसा ने उसे 'वनस्पति' करार दे दिया तो क्या ऐसा होना सम्भव है? तो, वर्तमान समाज इस प्रकार के निरर्थक तर्क उपस्थित करता है। इन तर्कों का पोषण बहुमत करता है। यदि 'डालडा' वनस्पति को लाखों लोग खाते हैं तो वह 'खाद्य' हो गया। बाजार की मिट्टी की तश्तरियों में बहुत लोग खड़े-खड़े खाने लगे हैं तो नए अनभ्यस्त और संस्कारी भी उधर प्रवृत्त होने में संकोच का त्याग करने लगे। बहुमत तो लड़कों का है, यदि वे मिलकर 'एकमत' वाले अपने वृद्ध पिता को घर से निकालने के निर्णय पर एकमत हो जाएँ तो यह बहुमत से सम्मत होने से निर्दोष हो गया?

लोक में, सर्वत्र बहुमत के आधार पर निर्णय नहीं लिए जाते। हास्पिटल के रोगी बहुमत से मिठाई खाने का निर्णय करें और डॉक्टर एक मत से उसे ठीक नहीं माने तो क्या 'बहुमत' होने मात्र से उन्हें मिठाई खाने की अनुमति मिल जानी चाहिए? समाज के बहुत लोग जिन सिद्धान्तों पर चलते हैं उनके निर्माता तो बहुत नहीं होते। कुछ वीतराग अपने निर्दोष सम्यग्ज्ञान से संसार की भलाई का, निःश्रेयस का मार्ग देख पाते हैं और बताते हैं। एक सूर्य बहुत-से लोकों को प्रकाश देता है। अतः यदि आज बहुत लोग 'अण्डा' खाते हैं, मदिरा पीते हैं, सिनेमा हाउसफुल चलते हैं, बीड़ी अधिक बिकती है, सिगरेट के विज्ञापन ज्यादा छपते हैं और मक्खियों के समान लोग बाजारों में जूठी प्लेटें चाटते हैं तो यह केवल बहुमत होने से सबके लिए व्यवहार्य तो नहीं हो जाता! विवेकीजन अपने विवेक को ऐसे ही सन्देह-स्थलों के लिए सुरक्षित रखते हैं। उनके कार्य की कसौटी बहुमत नहीं, शास्त्र होते हैं। **आगमचक्षुः साधुः**— सज्जन व्यक्ति शास्त्रों से देखते हैं, बहुमत से नहीं।

## नारी जन्म की सार्थकता

नारी नर की जन्मदायिनी है, इसीलिए उसे 'जाया' कहते हैं। वह पति की अर्धांगिनी होने से 'पत्नी' कहलाती है। अर्धांगिनी का अर्थ है पति के सुख-दुःख की समभागिनी। कुलस्त्रियाँ व्यसनों में फँसे हुए पति को उत्थान की ओर ले जाती हैं। वह एक ऐसी मित्र है जिस पर विश्वास रखकर जीवन शान्ति से यापन किया जा सकता है। नारी का इतिहास तप, त्याग और सेवा का पाठ सिखाता है। विवाह होने पर उसे एक साथ पिता का घर छोड़ना होता है और पतिगृह में नए जीवन का आरम्भ करना होता है। पिता-माता के पास सीखे हुए सत् संस्कारों से वह शीघ्र ही श्वसुरकुल में प्रिय हो जाती है।

सती स्त्रियों ने नारी को धन्य किया है। सती सीता, अंजना, चंदनबाला इत्यादि से स्त्री-पर्याय को गौरव, प्रतिष्ठा और सम्मान मिला है। सती स्त्रियाँ धर्मपथ से विचलित नहीं होतीं। रावण के पास रहकर भी सीता ने पतिव्रत धर्म नहीं छोड़ा। जब श्रीरामचन्द्र ने लोकापवाद से सीता का परित्याग कर दिया और सेनापति कृतान्तवक्र उन्हें वन में छोड़कर आने लगा, तब सीता ने उसे जो सन्देश दिया वह चिरस्मरणीय है। उसने कहा– श्रीराम से कहना कि लोकापवाद के भय से जैसे मुझे छोड़ दिया वैसे कभी धर्म का परित्याग न करें। भारतीय सती ही ऐसा कह सकती है।

आज स्त्रियाँ आधुनिक होने में होड़ ले रही हैं। उन्हें सीता के चरित्र से अधिक चित्रपट की तारिकाओं का रहन-रहन, वेषभूषा, आचरण अधिक प्रलोभनीय लगने लगा है। वे माँ कहलाने के स्थान पर 'मम्मी' कहलाना पसन्द करती हैं, पत्नी के स्थान पर 'वाइफ' होकर अपने को ऊँचा मानती हैं। अपने ही पुत्रों को अपना स्तन्य नहीं पिलातीं, मानों उन्हें मातृवात्सल्य की निर्झरिणी से वंचित करती हैं। भारतीयता के नाम से जो अच्छा भी है उसमें उन्हें दोष दिखाई देते हैं और यूरोप से आया हुआ भौतिकवाद का जहर उन्हें पसन्द है।

यूरोप की स्त्रियाँ तलाक लेकर भी दुःखिनी हैं और भारतीय स्त्रियाँ उसी दुःखमार्ग पर चलने के लिए कानून की माँग करने लगी हैं। अविच्छेद्य विवाह सम्बन्ध में विश्वास निर्माण होता है और इसीलिए भारतीय भाषा में पत्नी को 'जीवन-संगिनी' कहते हैं। जहाँ तलाक होने लगेंगे वहाँ जीवन-संगिनी कहाँ रह जाएगी? इसलिए भारतीय मर्यादित जीवन सुख-शान्तिपूर्ण है।

भारतीय धर्मशास्त्र में विधवा-विवाह नहीं माना गया। विधवा को धार्मिक जीवन बिताना चाहिए। उसे ब्रह्मचर्य व्रत लेकर आत्म-कल्याण में प्रवृत्त होना हितकर है। आज सरकार धर्मनिरपेक्ष है और भौतिक जीवन व्यापक हो रहा है। अनियन्त्रित काम-भोगों से जनसंख्या बढ़ रही है और 'परिवार-नियोजन' पर सरकार बल दे रही है। परन्तु हमारे धर्मशास्त्रों ने पहले से ही 'परिवार- नियोजन'

को प्रचलित कर रखा है। संन्यास लेना, वानप्रस्थ का पालन करना, ब्रह्मचर्य लेना, पुनर्विवाह न करना, इत्यादि कितने प्रकार के परिवार-नियोजन थे। यहाँ उन्हें धर्मनिरपेक्षता के नाम से उच्छिन्न कर अब भौतिक सूत्रों से परिवार-नियोजन का पाठ पढ़ा रहे हैं। यह बुद्धि का दिवालियापन नहीं तो क्या है?

नारी संयम का पाठ सिखाने वाली संस्था है। उसे आधुनिक शिक्षा ने असंयम की ओर ढकेलना आरम्भ कर दिया है। यह राष्ट्र के लिए अमंगल-जनक है। पुरुष का संयम नारी के धार्मिक संस्कारों की छाया में पलता है। नारी यदि मर्यादारहित हो गई तो विश्व का चारित्रिक पतन अनिवार्य हो जाएगा। विश्व भर की भौतिक दृष्टि से प्रगतिशील नारियों को एक दिन आदर्श भारतीय नारी की शरण में आना होगा। हमारी माताओं और बहनों को उस दिन के लिए अपनी प्राचीन चारित्र-सम्पत्ति को भेंट लेकर तैयार रहना चाहिए।

नारी की सम्पत्ति उसका पतिव्रत, शील और धर्मनिष्ठा है, परन्तु आधुनिक फैशन तथा वातावरण ने उसको पथभ्रान्त करने का दुष्प्रयत्न किया है। वह अब धार्मिक मान्यताओं के स्थान पर भौतिक उच्छृंखलताओं की दासी बनती जा रही है। उत्थान से पतन की ओर जाने वाला यह मार्ग नारी के लिए शोभनीय नहीं।

जब श्रीरामचन्द्र वन-गमन करने लगे तो सीता भी साथ जाने को उद्यत हुईं। श्रीराम ने उन्हें रोकना चाहा और वन के कष्टों का स्मरण दिलाया। तब सीताजी ने कहा– **अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्**— मैं तो आपके मार्ग में आने वाले कुशों और कण्टकों को अपने पैरों से कुचलती हुई आगे-आगे चलूँगी। यह भारतीय नारी का सहज आदर्श है। वे सम्पत्ति में पति के पीछे-पीछे चलती हैं, किन्तु विपत्ति में आगे होना चाहती हैं। विदेश में होने वाली तलाक-कथाओं को पढ़कर भारतीय नारी के गौरव, स्नेह, भक्ति के प्रति नतमस्तक होना चाहिए।

यूरोप में 'एक स्त्री ने अदालत में प्रार्थना-पत्र दिया कि मेरे पति रात में जोर से खर्राटे लेते हैं जिससे मैं ठीक से सो नहीं पाती, अतः सम्बन्ध-विच्छेद किया जाए।' एक दूसरी स्त्री ने तीसरी बार तलाक लेकर किसी पुरुष से अदालत में अपना चौथा विवाह किया। किन्तु दूसरे ही दिन वह पुनः तलाक देने अदालत में आ गई। पूछने पर उसने बताया कि कल मैंने जिस पुरुष से विवाह किया था वह मेरा प्रथम विवाह का पति था, जिसे तलाक देकर मैंने दूसरा विवाह किया था। यह पता घर जाने पर उसे लगा। जहाँ विवाह- संस्था की यह दुर्दशा हो, वहाँ जीवन कितना अविश्वासपूर्ण होगा? तथा बच्चों का भविष्य क्या होगा तथा वे बालक जो परम्परा किन्हीं दूसरे-दूसरे माता-पिताओं से पैदा हुए होंगे, उनमें कितना वात्सल्य होगा? और दुःख है कि भारत उधर ही जा रहा है।

❖❖

# पावनपर्व : रक्षाबन्धन

**वात्सल्य-पूर्णिमा** : रक्षापर्व– 'रक्षाबन्धन' राष्ट्र का मैत्रीपर्व है, सौहार्द महोत्सव है। देश का द्विजाति समुदाय इसे उपाकर्म और संस्कार-विशुद्धि पर्व के रूप में मनाता है। जैन जगत् के लिए यह पर्व-दिन 'वात्सल्य-पूर्णिमा' के नाम से स्मरण किया जाता है। मल्लिनाथ तीर्थंकर के समय में हस्तिनापुर के राजा पद्मराय के राज्य में मुनिमहाराजों पर दारुण उपसर्ग आया था और मुनि विष्णुकुमार द्वारा उसका उपशम श्रावण पूर्णिमा के दिन किया गया था, इसीलिए इसे 'रक्षापर्व' कहते हैं। इस दिन दक्षिण हाथ की कलाई पर 'रक्षासूत्र' बाँधने की मंगलप्रथा है। प्रत्येक घर और नगर में इस दिन बड़े उत्साह से बहिनें अपने भाइयों को 'राखी' बाँधती हैं और मोदक-मिष्ठान्न तथा दक्षिणा प्राप्त करती हैं। किन्तु इतने मात्र से इस पर्व को सीमित नहीं किया जा सकता। 'रक्षाबन्धन' इन दो शब्दों में व्यापक अर्थ की विशाल सम्भावनाएँ निहित हैं। अहिंसक परिभाषा के अनुसार उक्त पर्व का प्रथम शब्द 'रक्षा' है और उत्तर शब्द 'बन्धन'।

**रक्षा किसकी?**– 'रक्षा' और 'बन्धन' में 'द्वन्द्व' समास मानें तो समानकोटि पर दो भावनाओं को क्रियान्वित करने की ओर 'रक्षाबन्धन' का संकेत है। एतावता रक्षा माने–प्राणिमात्र की रक्षा, आत्मरक्षा, देश, जाति और विश्व की रक्षा, मानव-मात्र की रक्षा, अपने व्रतों की रक्षा, मिथ्या नहीं बोलकर वचन की रक्षा, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों की रक्षा तथा साहित्य, संस्कृति, समाज, अल्पसंख्यक और विदेशियों की रक्षा। रक्षा अपने राष्ट्र की सीमाओं की, सैनिकों और मर्यादाओं की। प्रतिक्षण मन में, वचन में, काय में जो अविशुद्ध तत्त्व पल रहे हैं उनके पाशविक आक्रमण से अपने श्रेयोमार्गी आत्मा की रक्षा। गौ हमें दूध देती है, बछड़ा देकर कृषिकर्म में सहयोग देती है, उसके दूध-घी से राष्ट्र के जीवन में पुरुषार्थ की क्षमता आती है, ऐसे परम-उपयोगी, परोपकारी कामधेनु पशु की रक्षा, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू और प्रान्तीय भाषाओं के विवाद से हमारी सार्वभौम भावात्मक एकता खतरे में है, उस भावात्मक एकता की रक्षा, अन्न की दुष्कर उपलब्धि और महँगाई के विरुद्ध व्यापक परिमाण में अन्न की रक्षा। अतिचारों से, अपवादों से, सप्तव्यसनों से आत्मरक्षा। इसप्रकार 'रक्षा' का विशाल अर्थ परिकल्पित कर जीवन के बहुमुखी विकास में

बाधक तत्त्वों से अपने देश, धर्म, संस्कृति की रक्षा करना आज के दिन की शपथ है।

**व्रत ग्रहण करें**– सदाचारी मानव चींटी को भी बाधा नहीं पहुँचाते (रक्षा करते हैं) किन्तु अपने देश, जाति और संस्कृति की रक्षा के लिए बड़े से बड़े शत्रु को भी नष्ट करने में पीछे नहीं हटते। अतः आज के दिन स्त्रियाँ अपने शील की रक्षा का व्रत लें, विद्यार्थी पठन-पाठन में मनोयोग का व्रत ग्रहण करें, गृहस्थी स्वाध्याय की रक्षा का संकल्प पढ़ें और मुनि शिथिलाचार से अपनी रक्षा करने को तत्पर हों। राष्ट्र पर आये हुए इस अन्नसंकट के समय में धनिक और व्यापारी अन्न से देश के क्षुधाक्लान्त, महँगाई-पीड़ित कोटि-कोटि जनों को उबारें और सारे राष्ट्रजन अपने सदाचार की, चारित्र की रक्षा करें।

**अन्न-संकट और कृषि की परम्परा**– भारतीय आर्य जो इस कर्मभूमि के प्रथम कृषक हैं, कृषि-कौशल के मार्ग-द्रष्टा हैं, जिन्हें आदिनाथ भगवान् द्वारा प्रवर्तित अन्नकूट पर्वों का परम्परा-प्राप्त अनुभव है, आज भयंकर अन्नसंकट से गुज रहे हैं और जनसाधारण को भरपेट आहार मिलना कठिन हो गया है। अन्न के अभाव की पूर्ति के लिए सरकार की ओर से मत्स्यपालन, कुक्कुटपालन और मांस-भक्षण, अण्डा-भक्षण को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। 'गोवध' को चालू रखते हुए इन क्षुद्र मत्स्य-कुक्कुट-पालन से राष्ट्र को मांसाहारी और असात्त्विक बनाने के ये प्रकार भारतीयता के मूल में असि-संचालन है। जब विश्व में शाकाहारियों की संख्या बढ़ रही है, उस समय विदेशों में परित्यक्त हो रहे अण्डा-मांस-निषेवण को 'उद्योग' के नाम से प्रोत्साहन देना राष्ट्र का नैतिक वध करने के समान है। रक्षा के व्यापक अर्थ पर चित्रण करनेवालों को अहिंसा और जीवरक्षा को दृष्टिपथ में रखकर अपनी कलाई पर रक्षा अहिंसा का यह बन्धनसूत्र बाँधना चाहिए।

**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**– गोरक्षा तथा कृषि-उत्पादन पर विशेष श्रम करना आवश्यक है। और यदि विदेशों के आयात पर निर्भर रहकर तथा क्षुद्र मत्स्य-मुर्गी-उद्योगों की पापवृत्तियों को उत्साहित कर राष्ट्र के कर्णधार निश्चिंत रहें तो वह समय दूर नहीं रहेगा जब थैले भर नोटों में पॉकेट भर अन्न मिलना कठिन हो जायेगा। मनुष्य अन्नजीवी प्राणी है। वह नंगा रह सकता है, बिना मकान, प्रसाधनोपकरण और वस्त्रों के मर नहीं सकता। प्रासादों के अभाव में झोपड़ी, वृक्ष की छाया में गुजर कर सकता है। किन्तु अन्न के अभाव में जीवित नहीं रह सकता। 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणः' प्राणियों के प्राण अन्न-निर्भर हैं। उस अन्न का उत्पादन बढ़ाकर ही राष्ट्र के जीवन की रक्षा की जा सकती है और 'रक्षा' शब्द की तभी सार्थकता हो सकती है। केवल मणिबन्धन पर कुंकुम और हरिद्रारस में डूबे हुए धागे को बांधने मात्र से 'रक्षा' शब्द की चरितार्थता नहीं हो सकती। सामूहिक रूप से एक दूसरे की सामर्थ्य-योग्यतानुसार सहायता करना 'परस्परोपग्रहो

जीवानाम्' को व्यवहार में लागू करना 'रक्षा' शब्द का अर्थ है।

**बन्धन तो नियमन है**– 'वात्सल्य-पूर्णिमा' के उत्तर पद में 'बन्धन' शब्द है। यहाँ 'बन्धन' का अभिप्राय है— नियमन, अनुशासन। अपने मन को, अपनी पंचेन्द्रियों को बन्धन में (नियमन में) रखना, अनुशासित रखना। नदी दो किनारों से बँधी हुई है, अतएव उसका जल समुद्र तक पहुँच पाता है, खेतों को नहरों और नालियों से उर्वर बनाता है। यदि वह बन्धन में न हो तो अपनी मंजिल को नहीं पा सकता, प्रत्युत अनिश्चित प्रवाह से गांवों को डुबा सकता है, खेती को उन्मूलित कर विनाश उपस्थित कर सकता है। अतः बन्धन अर्थात् नियमों और व्रतों से अपने आत्मानुशासन को चारित्रमय करना। मानवसमाज बँधा हुआ है प्रेम से, संस्कारों की डोर से, जातीयता के पवित्र ऊँचे आदर्शों से। बन्धन से निश्चित मार्ग पर चलने में सुविधा होती है और निर्बन्धन स्वच्छन्दता की ओर कदम बढ़ाता है। माता अपना स्तन पिलाकर शिशु को पालती-पोसती है, इसमें ममता का बन्धन ही हेतु है। महानदियों पर बन्धन (बाँध और सेतु) लगाने से उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। तिनके-तिनके को बल देकर रस्सियाँ बँटते हैं जिनसे गजों को बाँध दिया जाता है। यह बन्धन संगठन का रूप है, शक्ति और ऊर्जा का अवतार है। निर्बन्ध हुए मुनि भी महाव्रतों के बन्धन में अपने अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं। आश्चर्य है और ग्रन्थियों (बन्धनों)-नियमों की शृंखला से युक्त होकर भी वे निर्ग्रन्थ अथच मोक्षगामी होते हैं। ऐसे बन्धन भी मोक्ष देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने नैतिक बन्धनों में बँधा हुआ है। यदि बन्धनों को खोल दिया जाए तो हत्या, अपराध, चौर्य और लूट-खसोट की प्रवृत्ति बढ़ जाए, इसलिए राष्ट्र में शासन और न्यायालयों के बन्धन हैं। सीमाओं की चौकसी न की जाए तो शत्रु के आक्रमण राष्ट्र के जीवन को विषाक्त कर सकते हैं, इसलिए सीमान्तों पर सतत जागरूक प्रहरियों की रक्षापंक्ति का बन्धन है। इस प्रकार जो रक्षा करना जानता है, वही पंचेन्द्रियों को बन्धन में रखकर मुक्त हो सकता है।

**बन्धन से मुक्ति पाने की साधना**– बन्धन में से मुक्ति पाने का यह अद्‌भुत प्रकार है। सूत्ररूप में जो 'राखी' मणिबन्ध पर बाँधी जाती है, वह उत्तम गुणों की रक्षा और मन, वचन, काय को नैतिकता के बन्धनों में नियमित रखने के लिए दिया हुआ (अथवा स्वीकारा हुआ) प्रतिज्ञावाक्य है। इस सूत्र को कलाई पर इसलिए बाँधते हैं कि कार्य करनेवाले कर्मशूर अपने हाथ पर बँधी राखी को देखकर स्वीकार किए हुए कर्त्तव्यों को सतत स्मरण रखें। यह सूत्र प्रतिक्षण आँखों के सामने रहे और ध्येय की पगडंडियों पर अग्रसर करता रहे। अभी हम दूसरे देशों को राखी भेजते हैं, रक्षा चाहते हैं। किसी से 'अन्न' की याचना करते हैं तो कहीं से औद्योगिक विकास के उपकरणों का आयात करते हैं। हमारी यह स्थिति 'कर्मवती' द्वारा 'हुमायूँ' को भेजी गई राखी के समान है जो आज भी हमारे

चिरन्तन दैन्य को पुकार-पुकारकर ललकार रही है। हमारे स्वाभिमान को चुनौती देती है। रक्षा के जिम्मेदारों को हरिद्रा में डूबा हुआ यह धागा, जो शौर्य का प्रतीक है, इस मजबूती से कलाई पर बाँधना चाहिए कि उसका दबाव प्राणवाहिनी धमनियों को उत्तेजित कर दे। इस धागे को बाँधकर सतियों के शील को बल मिले, जीवन में नियमितता का आविर्भाव हो। चौराहे की हरी-लाल रोशनी हमारी गति को सुरक्षित रखने के लिए है और राखी के हरे-लाल डोरे हमारे उत्तरदायित्व के चैतन्यबोध के लिए है। अक्षर जब अर्थ से अनुबन्ध करते हैं तो उन्हें क्रमविशेष से बँधना पड़ता है, तभी लोक में उनकी 'सार्थक शब्द' संज्ञा होती है। यों 'ककहरे' के अक्षर निरक्षर हैं। मात्राओं के प्रयोग लयरहित हैं। हम रक्षा के क्षेत्र को विश्व के सीमान्तों तक विस्तार दें, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के चारित्रिक जाप्य जपें और अशेष मानव जगत् को प्रेम के, सौहार्द के बन्धन में बाँधें, तो हमारी कलाई पर बंधी राखी के फूल मुस्करा उठेंगे और 'बन्धन', 'कर्त्तव्य' का समानार्थी बन जाएगा।

**अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।**
**तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर॥** —दर्शनपाठ

**स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,**
**नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।**
**सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं-**
**प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥** —भक्तामर स्तोत्र

**रक्षाबन्धन की कथा**— एक समय पंचगिरि पर्वत पर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का समवशरण आया हुआ था। समवशरण के प्रताप से उस क्षेत्र में बिना ऋतु के वसन्त का आविर्भाव हुआ। फलों और पुष्पों से वनावलि उल्लसित हो उठी। शाश्वत विरोधी पशुओं एवं पक्षियों ने वैरभाव का विस्मरण कर दिया। सिंह और गौ एक स्थान पर प्रीति और वात्सल्य से मिलने लगे। गाय अपनी सींगों से सिंह के अयालों को सहलाने लगी और काँटेदार झाड़ी में फँसे हुए गौ के पुच्छ को अतीव मृदुता के साथ (कंघी करता हो जैसे) केसरी सुलझाने लगा। यह अद्‌भुत, अतर्कित व्यापार देखकर वनपाल को महान् विस्मय हुआ और वह त्रिलोकीनाथ भगवान् के समवशरण को समझकर 'राजगृही' के तत्कालीन प्रतापी सम्राट् श्रेणिक की सेवा में पहुँचा। वनपाल ने विनय और नम्रता भरे स्वर में राजराजेश्वर श्रेणिक नृपति से कहा कि पृथ्वीनाथ! पुण्यों का उदय पराकाष्ठा पर है, वृक्ष स्वयं अभीष्ट फल देने लगे हैं। हे भूमिपते! बिना ही याचना के अचिन्त्य चिन्तामणि की प्राप्ति हुई है। आपके पंचगिरि शैल पर भगवान् महावीर का समवशरण आया हुआ है। सुनते ही राजा श्रेणिक भगवान् त्रिलोकपूज्य वर्धमान की वन्दना के लिए उठ खड़े हुए। उन्हें सात्त्विक रोमांच हो आया और आनन्द से पुलकायमान होकर भगवान् के समवशरण की दिशा में सात पैर चलकर उन्होंने

साष्टांग नमस्कार किया। इस शुभ संवाद को फैलते देर नहीं लगी और नगर में 'आनन्द-भेरी' के निनाद गूँज उठे। राजा श्रेणिक अविलम्ब पदाति चल पड़े और समवशरण-स्थान पर पहुँचकर उन्होंने प्रशान्त वीतरागमुद्रा में विराजमान भगवान् के दर्शन कर अपने को कृतपुण्य माना और मन, वचन, काय से स्तुति-पूजन किया। तदनन्तर भगवान् के उपदेशामृत का पानकर तृप्त हुए राजा ने गौतम गणधर से स्तुति-वन्दना कर 'रक्षाबन्धन' के विषय में जिज्ञासा की। राजा की धार्मिक रुचि से प्रसन्न हुए गौतम गणधर ने कहा–

कुरुजांगल प्रदेश में 'हस्तिनापुर' नगर था। उसमें महापद्म नामक राजा राज्य करता था। राजा के पद्मराय और विष्णुकुमार दो पुत्र थे। यथासमय राजा के वैराग्य धारण करने पर ज्येष्ठपुत्र पद्मराय राजसिंहासन पर बैठा और मोक्षसुख के अभिलाषी विष्णुकुमार ने मुनिदीक्षा ले ली। उस समय मालवदेश की राजधानी उज्जयिनी में 'श्रीवर्मा' राज्य करता था। उसके बलि, नमुचि, वृहस्पति और प्रहलाद नामक चार मन्त्री थे। वे चारों ही ब्राह्मणधर्म के पालक और जैनमत के द्वेषी थे। एक बार अकम्पनाचार्य नामक जैनमुनि 700 शिष्यों सहित उज्जयिनी के बाह्योद्यान में आकर ठहरे। श्री अकम्पनाचार्य द्वादशांग के विद्वान और निमित्तज्ञानी थे। उन्होंने अपने निमित्तज्ञान से आगमिष्यत् संकट की सम्भावना कर सम्पूर्ण शिष्यों से कहा कि यहाँ के मन्त्री अभिमानी और मिथ्यादृष्टि हैं अतः किसी से किसी प्रकार का विवाद नहीं करना और विवाद का प्रसंग उपस्थित होने पर 'मौन' धारण कर ध्यानावस्थित हो जाना। शिष्यों ने 'एवमस्तु' कहकर गुरुमहाराज को आज्ञापालन का आश्वासन दिया, किन्तु उस समय 'श्रुतकीर्ति' नाम के मुनि नगर में आहार लेने गये हुए थे, गुरु के इस आदेश को वे नहीं जान सके। जब श्रावकों को मुनिसंघ के शुभागमन का समाचार मिला तब वे पंक्ति बाँधकर, हर्ष से उल्लसित हो समूह के समूह दर्शनार्थ आने लगे। राजा ने भी प्रासादशिखर पर खड़े होकर जनसमूह को नगर से बाहर अलंकृत, आभूषित जाते देखा और यह जानकर कि दिगम्बर श्रमण उसके नगर को पवित्र करने स्वयं पधारे हैं, मन्त्रियों को साथ ले दर्शनार्थ चल पड़ा। उन मंत्रियों ने मुनियों की निन्दा करते हुए उन्हें 'अदर्शनीय' कहा। किन्तु 'अमृत देखे अमर न होय, विष देखे से मरे न कोय' कहकर राजा ने मंत्रियों को निरुत्तर कर दिया। स्वयं अकम्पनाचार्य और उनका समस्त संघ राजा तथा मन्त्रियों को आता देखकर आसन बाँधकर ध्यानस्थ हो गया। राजा उनको ध्यानयोग में देखकर प्रसन्न हुआ और प्रत्येक को प्रणाम निवेदन कर लौट आया। किन्तु मुनियों की ध्यानस्थ मुद्रा को मन्त्रियों ने दर्प और पाखण्ड समझा तथा अपने मन के कषायानुबन्ध से प्रभावित होकर वे मुनियों के व्यवहार को राजा का अपमान बखानने लगे। इसी समय 'श्रुतिकीर्ति' मुनि आहार लेकर नगर से लौट रहे थे। उन्होंने गुरुमहाराज की आज्ञा नहीं सुनी थी, अतः जब

मन्त्रियों ने उनके लिए तिरस्कारकारी शब्दों का प्रयोग किया और शास्त्रार्थ का आह्वान किया तब वह उदासीन होकर उसे अस्वीकार नहीं कर सके। मुनि के शास्त्रज्ञान और युक्तिबल के आगे, सूर्यताप से मेघों की तरह अल्पकाल में ही वे मन्त्री उच्छिन्न हो गये और कुछ बोल नहीं सके। जय-पराजय में समभावी वीतराग मुनि महाराज मन्त्रियों को निरुत्तर कर संघ में आ गये। श्रुतिकीर्ति से मन्त्रियों के साथ शास्त्रार्थ की बात सुनकर गुरु अकम्पनाचार्य भावी उपसर्ग की आशंका से अस्वस्थ हो उठे। सम्पूर्ण संघ पर आनेवाले 'उपसर्ग' को टालने के लिए गुरु से आज्ञा लेकर श्रुतिकीर्ति अकेले ही संघस्थान से निकलकर दिन में जहाँ शास्त्रार्थ हुआ था, उस स्थान पर आ गये। गुरु अकम्पनाचार्य का निमित्त-ज्ञान अव्यर्थ था। रात्रि का अन्धकार घनीभूत होने पर वे चारों मन्त्री वैरनिर्माण के लिए नग्न खड्ग लेकर संघस्थान की ओर चल पड़े। मार्ग में ध्यानमुद्रा में अवस्थित मुनि श्रुतिकीर्ति को देखकर उनका हिसंक भाव जाग उठा और इसी ने हमें नीचा दिखाया है— कहकर मारो-मारो चिल्लाने लगे और खड्ग-प्रहार के लिये तैयार हो गये। किन्तु प्रहार को उठे हुए हाथ ऊपर ही उठे रह गये, वनरक्षक देवता ने उन्हें कीलित कर स्तब्ध कर दिया। प्रातःकाल यह सब सुनकर राजा वहाँ उपस्थित हुआ और उनके कुकृत्य से क्रोधित हो, उन्हें गर्दभारूढ़ कर राज्य से निर्वासित कर दिया। इस प्रकार मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ।

उज्जयिनी से निर्वासित चारों मंत्री हस्तिनापुर पहुँचे और वहाँ के राजा पद्म को युक्तिपूर्वक प्रसन्न कर सम्मानित पदों पर नियुक्त हो गए। पद्म राजा का 'सिंहबल' नामक एक शत्रु राजा था। बल में सिंह के समान होने से वह 'सिंहबल' के नाम से प्रसिद्ध था। राजा को विशेष प्रसन्न करने के लिए 'बलि' ने उसे बन्दी बनाकर पद्म के सम्मुख उपस्थित किया। 'पद्म' बलि के पौरुष से प्रसन्न हुआ और इच्छावरदान मांगने को कहा। बलि ने किसी उपयुक्त समय के लिए उस वरदान को राजा से सुरक्षित करा लिया।

कुछ दिनों बाद संघ सहित अकम्पनाचार्य हस्तिनापुर पहुँचे और 'चातुर्मास' योग धारण किया। चारों (बलि, नमुचि, वृहस्पति और प्रहलाद) अपने अपमान को नहीं भूले थे और किसी उपाय से मुनियों को पीड़ित करने की इच्छा रखते थे। इसी ऊहापोह में बलि को अपना पद्म राजा पर 'सिंहबल' को पराजित करने का उपकार तथा राजा द्वारा दिया हुआ वचन स्मरण हो आया। फलतः उसने राजा से सात दिनों के लिए राज्याधिकार माँग लिया। किसी अनिष्ट की आशंका से पद्म कम्पित हो उठा, किन्तु अपनी शपथ का निर्वाह करते हुए उसने बलि को एक सप्ताह के लिए शासक नियत कर दिया। शासक होने के तुरन्त बाद बलि ने मुनियों को उत्पीड़ित करने की योजना कार्यान्वित कर दी। उसने संघस्थान के चारों ओर विशाल यज्ञकुण्ड बनाया और उसमें अग्नि जलाकर पशुहोम और

'नरमेध' करना आरम्भ कर दिया।

उस समय अपने ऊपर दारुण उपसर्ग आया जानकर मुनियों ने आहारपानी का त्याग कर दिया। हस्तिनापुर के वरदानी राजा पद्म के भाई विष्णुकुमार (जो मुनि हो गए थे) के गुरुमहाराज श्रुतसागरजी उस समय मिथिला में वर्षायोग कर रहे थे। उन्होंने रात्रि में कांपते हुए श्रवण नक्षत्र को देखा और निमित्तज्ञान से किसी अनिष्टकारी दुर्योग को जानकर उनके मुख से 'हा' शब्द निकल पड़ा। गुरु के मुख से 'हा' सुनकर पुष्पदन्त नामा क्षुल्लक ने गुरु महाराज से इसका कारण पूछा और यह जानकर कि संघ सहित अकम्पनाचार्य पर घोर उपसर्ग आया हुआ है, पुष्पदन्त ने गुरु के आदेश से विक्रिया ऋद्धिधारी और पद्म राजा के सहोदर मुनि विष्णुकुमार के पास तत्काल प्रयाण किया। विष्णुकुमार को अपनी विक्रिया ऋद्धि का ज्ञान नहीं था, किन्तु पुष्पदन्त द्वारा ज्ञात होने पर परीक्षार्थ उन्होंने अपनी भुजा को फैलाया तो वह समुद्र का स्पर्श करने लगी। तत्काल वह हस्तिनापुर पहुँचे और पद्म को धिक्कारा। पद्म ने दुःखप्लावित स्वर में कहा– मेरे हाथ कटे हुए हैं। मैं बलि से वचन हारा हूँ। प्रभो! आप ही मेरी सहायता कर संघ को उबारिए। मुनि ने ऋद्धिप्रभाव से अपना रूप 'वामन' के रूप में परिवर्तित किया और बलि के यज्ञमण्डप में पहुँचे।'अहोभाग्य' कहकर बलि ने वामनकाय ब्राह्मण से यथेच्छ वस्तु माँगने की प्रार्थना की। वामन ने तीन डग भूमि अपने पैरों से मापकर लेने का प्रस्ताव रखा। बलि उस छोटे कद के ब्राह्मण की इस याचना का अर्थ समझे बिना ही 'हाँ' कह बैठा और तब विराट रूप धारण करते हुए विष्णुकुमार ने एक डग सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर। तीसरा डग भरने के लिए स्थान नहीं रहा और अभिभूत हुए बलि ने अपनी पीठ पर तृतीय पाद रखने की प्रार्थना की। वामन के उस विक्रम से पृथ्वी हिल उठी, आकाश में स्थित देवगण विस्मित हो स्तुति करने लगे। उन्होंने बलि को बाँध लिया। इस प्रकार मुनिसंघ का उपसर्ग दूर हुआ। स्वयं बलि ने पुनः मुनिवेष में आए हुए विष्णुकुमार से क्षमा प्रार्थना की। उसने हिंसा पर आधारित यज्ञों के यूप उखाड़ दिए। वध के लिए एकत्रित पशुओं के बन्धन खोल दिए और साथियों सहित भगवान् ऋषभनाथ के अहिंसाधर्म को स्वीकार कर अपने को कृतार्थ किया। वह दिवस श्रावण शुक्ल पूर्णिमा का था। इस दिन मुनियों की रक्षा हुई, अतः इसे 'रक्षाबन्धन' कहते हैं। यूपों से बँधे हुए खड्गप्रहार के प्रतीक्षक पशुओं को रक्षा मिली, जीवमात्र के प्रति अहिंसक वात्सल्य का प्रवाह तरंगित हुआअतः इसे 'वात्सल्य पूर्णिमा' भी कहते हैं।

**धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्।**
**अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्य विक्रम॥**

–महाभारत (वन पर्व), 131/11

जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुँचावे, दूसरे धर्म से रगड़ पैदा करे, वह धर्म नहीं, वह तो कुमार्ग है। धर्म तो वह है जो धर्म का विरोधी नहीं होता। ❖❖

# राष्ट्रीय पर्व : दीपावली

आकाश में झिलमिल-झिलमिल जगते तारे और धरती पर जगमग-जगमग जलते दीप, मानों पृथ्वी और आकाश अपना रूप संवार रहे हों अथवा दोनों किसी विशेष आनन्द में नहा रहे हों। घरों, गलियों, बाज़ारों और हाट-दुकानों पर दीपक-मालाएँ स्नेह पी-पीकर नाच रही हैं। सजे-सँवरे हुए बालक, युवा और वृद्ध नगर शोभा देखने निकल रहे हैं। श्वेत पताकाओं से अलंकृत घरों और मन्दिरों की शोभा किसी विशेष बात की सूचना दे रही है। आज स्वर्ग के देव पृथ्वी पर उतरे हैं। वे भगवान् महावीर की निर्वाणपूजा के लिए एकत्र हो रहे हैं, क्योंकि यह पर्व भगवान् वर्द्धमान की निर्वाण-पूजा का दिन है।

'निर्वाण' का अर्थ है मुक्ति, जीवन की सबसे उत्कृष्ट उपलब्धि। संसार की चौरासी लाख योनियों के भवचंक्रमण से छुटकारा। वह प्राप्तव्य, जिसके लिए लोग तप तपते हैं, महाव्रत लेते हैं और वीतराग होकर अनेक परिषह सहन करते हुए अपने लक्ष्य की ओर स्थिर गति से बढ़ते हैं। वही निर्वाण की प्राप्ति आज भगवान् को हुई है। जिन-भक्तों ने घरों के समक्ष 24 दीप जलाकर तीर्थंकरों की आत्मज्योति का जैसे दर्शन किया है। ज्योति को स्नेह (तैल) देकर उजागर करनेवालों के मन भगवान् की अनन्त ज्ञानमयी मुद्रा को अपने में प्रतिष्ठित कर रहे हैं। आज भगवान् को 'निर्वाण-मोदक' चढ़ाने की उमंग में सबके मन मुदित हो उठे हैं। अहो! यह कितने आनन्द की वेला है! जिनका जीवन ज्ञान, चरित और प्रकाश देता रहा, उनकी निर्वाणविभूति से श्रद्धा ने मानो शृंगार किया है। लोगों के हृदय गन्धर्व-विद्यालयों के स्नातक होकर निकल रहे हैं। उमंग ने आकाश पर उदयसुन्दरी की आभा लगा दी है।

**अद्य दीपोत्सवदिने वर्धमानस्वामी मोक्षं गतः।** –आलापपद्धति, पृष्ठ 169

आज वर्द्धमान स्वामी मोक्ष गये, इस स्मृति से भव्य भावुकों का मन अतीत के स्वर्णकाल से क्षण भर के लिए ऐक्य स्थापित कर लेता है। वह डूब जाता है भावना के समुद्र में और सोचने लगता है– अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व हमारे आराध्य के चरणकमल इसी पृथ्वी पर संचार करते थे, उनकी समवसरण सभा में बैठे गणधर गौतम दिव्यध्वनि को अक्षरात्मकता देकर लोक के लिए बोधगम्य कर रहे थे, आज

उसी तीर्थंकर परमदेव की पवित्र निर्वाणपूजा-तिथि है।

पूर्वजों ने अपनी जीवन-परम्परा में कार्तिक कृष्ण अमावस्या को दीपक की लौ में उस दिव्य निर्वाण-ज्योति को जीवित रखा है। वर्ष, युग और शताब्दियों के बाद सहस्राब्दियाँ बीतीं, किन्तु निर्वाणज्योति आज भी उसी जगमग द्युति के साथ जल रही है, दीपकों में और श्रद्धासिक्त हृदयों में। समय की आँधियाँ इसे बुझा नहीं सकीं और विस्मृति के 'मोर' इसकी वर्तिका को मन्द नहीं कर सके। अमन्द आनन्दमयी यह प्रभा प्रभावना के सहस्र स्नेहघृत पीकर साधकों के हृदय में अमर अक्षय दीप बन गई है। त्रिरत्न के शरावों में, दशलक्षणों की वर्तियों में, चरित्र की अकम्प शिखा में कोटि-कोटि हृदयों के 'दीवट' पर यह निर्वाणज्योति सस्नेह मुस्करा रही है। श्रद्धा के आँच आँधियों को परास्त कर रहे हैं, अडिग विश्वास के छोर इसकी 'लौ' में लीन हो रहे हैं।

दीपोत्सव पर लोग अपने घरों को बुहारते हैं, सफेदी पोतकर उन्हें उज्ज्वल बनाते हैं तथा दीपक जलाते हैं। इसका आत्मिक आशय यह है कि भगवान् के इस निर्वाण-स्मृति-दिवस में लोगों को अपना शरीररूपी घर बुहारना चाहिए। इसमें राग, द्वेष, काम, क्रोधादि का जो कूड़ा-कचरा है, उसे ज्ञान की बुहारी से निकाल बाहर करना चाहिए। आत्मशुद्धि की सफेदी पोतनी चाहिए और स्वच्छ हुए इस घर में ज्ञानोपयोग का दीपक जलाना चाहिए। मुँडेरों पर धरे हुए दीपक आत्मा के पीठ पर धरे जाने आवश्यक हैं। नहीं तो धुआँ उगलने वाले ये दीप जब भोर में ताराओं के समान निष्कांति हो जाएँगे तब रात भर जलने का परिणाम-मूल्य किस रूप में अंकित करोगे। 'दीपक से दीपक जलता है' इसे आत्मदीपक आलोकित कर सिद्ध करो। श्वासों की बाती में प्राणों के दीवट पर आत्मभुवन में 'सहस्रवाट' का ऐसा दीपक जलाओ जो सदा के लिए अंधियारी रातों का आगमन निरस्त कर दे। आज के धनोपजीवी लोग इस 'धन्य' दिवस को 'धन' मान बैठे हैं। जो निर्वाण से धन्य है, उसे अकिंचन धन से धन्य मान बैठे हैं। मोक्षलक्ष्मी के पूजन का दिन भौतिक लक्ष्मी की आराधना में लगा हुआ है, क्योंकि आज जीवन के मानदण्ड बदल गये हैं। मनुष्य की सात्त्विक वृत्तियाँ भौतिक ऐश्वर्य की चकाचौंध में सम्यक्त्व को देख नहीं पा रही हैं। सहस्र दीपक जलाकर भी मानव आत्मप्रदेश में एक दीपक भी जलाना नहीं जानता। बाहर की कांति देखकर प्रसन्न होता है, किन्तु भीतर प्रकाश करना भूल गया है। तप, त्याग और संयम के स्थान पर विलासी, परिग्रही और स्वच्छन्द हो गया है। इसलिए बाहर तो दीपकों का उजाला है परन्तु भीतर आत्मा में 'दीया तले अंधेरा' है। यदि दीपावली के दिन अभ्यन्तर दीपक की ओर मानव का ध्यान रहे तो बाहर-भीतर प्रकाश आलोकित हो उठे।

दीपक का काम प्रकाश विकीर्ण करना है। प्रकाश का पर्याय है आलोक। लोकने (देखने) की शक्ति प्रकाश से ही उपलब्ध होती है। प्रत्येक मानव कुछ देखना चाहता है। मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति सम्भव करने के लिए पृथक् सम्यक्त्व– विशिष्ट 'दर्शन' का स्थान है। नेत्रों की 'लोचन' संज्ञा है जिसका अर्थ भी 'देखना' ही है। यह अवलोकन, लोचन और वस्तुदीपन प्रकाश के सहयोग से ही साध्य है। अन्धकार घनीभूत होने पर, दीपक बुझ जाने पर और आंखें मूँद लेने अथवा नष्ट हो जाने पर जागतिक सौर-प्रकाश प्राप्त करना अशक्य हो जाता है। इसलिए संसार अन्धकार-निवारण के लिए दीपक जलाता है। यह दीपक बाहर के तिमिर को हटाता है और प्रकाश देता है। इस दीपक को देखकर प्रसन्नता इसलिए होती है कि आत्मा प्रकाशमय और ज्ञानमय है। आत्मधर्म का सधर्मी होने से दीपक आनन्द-दीपक है। कवि बिहारी ने कहा है– 'ज्यों बड़री अँखियाँ निरखि, आँखिन को सुख होत' जैसे बड़ी-बड़ी आँखों को देखकर आँखों को सुख मिलता है, इसी प्रकार अपने सगोत्र, सधर्मी और समशील को देखकर चित्त प्रमुदित हो जाता है। इसका आशय यह है कि भीतर का प्रकाश ही हमें बाहर प्रकाश करने की प्रेरणा प्रदान करता है। प्रकाश से आह्लादित होने का यही अर्थ है।

यह दीपक मिट्टी के पकाये हुए शराव का नाम है। इसमें गुण और स्नेह (रूई और तेल) पूरित किये गये हैं। इस प्रकार मिट्टी के अधरों पर चैतन्य का सम्पर्क हुआ है और उस चेतन का स्पर्श पाकर जड़ मिट्टी नाचने लगी है। क्या इसी प्रकार हमारा आत्मजुष्ट शरीर नहीं है? पृथिव्यादि परमाणु-पुंजों को गर्भ के 'आवे' में परिपक्व किया गया है और रस-रक्त-शुक्र इत्यादि स्नेह पदार्थ सींचकर इसका स्कन्ध-देश निर्माण किया गया है, इसे घनीभूत किया गया है। आत्मा की 'लौ' इसके ओठों से लगी हुई है। इस प्रकार यह शरीर-दीपक जल रहा है, प्रकाश बांटने के लिए और स्वयं प्रकाशित होने के लिए। कहा भी है–

**जेहि विधि माटी घड़े कुंभारा।**
**तेहि विधि रचित सकल संसारा॥**

यह कर्मरूपी कुम्भकार शरीररूपिणी मिट्टी को निरन्तर (कर्मानुसार) घड़ रहा है और इसलिए विविध कर्मप्रचोदना से चौरासी लाख योनियों का यह विराट विकट भवारण्य संकुल हो रहा है। इस शरीर में जो आत्मरूप चेतन विराजमान है वही वास्तविक दीपक है जो मोक्ष के मार्ग को दिखा सकता है, कोरी मिट्टी से बना हुआ दीपक तो बाहर-बाहर प्रकाश फैला सकता है, अतः शाश्वत प्रकाश प्राप्त करने के लिए आत्मदीपक की लौ को ऊँचा उठाना चाहिए। दीपावली की रात्रि में जैसे लक्ष-कोटि दीपकों की पंक्ति जगमगाने लगती है, उसी प्रकार कोटि-कोटि मनुष्यों के हृदय में आत्मज्योति जगमगा रही है, अकम्प और अबुझ। किन्तु जैसे

कोई अजान व्यक्ति निकट रहते हुए भी परिचय के अभाव में उस वस्तु से अनभिज्ञ ही रह जाता है, उसी प्रकार अपने भीतर आत्मदीपक विद्यमान होते हुए भी अनात्मज्ञ को प्रतीति नहीं होती। वह अनात्मज्ञ अपने पास मणि रखते हुए भी उसको पहचान नहीं पाता। कथा है कि किसी विदेश जाते पति को उसकी पत्नी ने चार मधुर मोदक बनाकर पाथेय के लिए दिये और उनके भीतर बहुमूल्य 'लाल' रख दिये। किन्तु उसे पता नहीं था और मार्ग में किसी अत्यन्त भूखे व्यक्ति को देखकर उस दयार्द्रहृदय ने वे मोदक उसे दे दिये। इस प्रकार उसकी अनभिज्ञता से वे 'लाल' भी लड्डुओं के साथ चले गये। इस शरीर रूपी मोदक में 'लाल' रूप आत्ममणि छिपी हुई है। उसका ज्ञान न रखने से कालभिक्षु को लोग शरीरसहित मणियाँ दे रहे हैं। परन्तु शरीर के साथ, जो वास्तव में काल का भोग है, हम भीतर छिपी हुई रत्नराशि भी दे बैठते हैं, यह ज्ञान ही बहुतों को नहीं है। किसी कवि ने ठीक इसी अवसर के लिए लिखा है–

**सबके पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं।**
**यातें भयो कंगाल, गांठ खोल देखी नहीं॥**

गाँठ खोलकर उस मणि को, जो रात-दिन अपने पल्ले से बँधी हुई है, अपने ही अंचल में है, देखने वाले विरले ही होते हैं। शेष तो अपनी सम्पत्ति से अनजान यों ही पछताते-पछताते कंगाल ही चले जाते हैं। इस आत्ममणि के अक्षय प्रकाश की खोज करना ही जीवन का उद्देश्य है। जो इसे ढूंढ़ लेता है, मालामाल हो जाता है और जिसे इसकी प्राप्ति नहीं होती वह गाँठ में रुपया होने से अनभिज्ञ के समान कंगाल ही मर जाता है। यह मृत्यु उसकी अपमृत्यु है और इसी के परिणामस्वरूप वह बारबार जन्मता है और मरता है। कवि 'बच्चन' ने भवसंक्रमण के इस रहस्य को कविता की भाषा में लिखा है– 'दीप का निर्वाण फिर-फिर, नेह का आह्वान फिर-फिर'। जब दीपक में स्नेह निश्शेष हो जाता है, वह बुझ जाता है किन्तु दीपक की बाती पर से उड़ी हुई 'लौ' फिर किसी स्नेहगुणपूरित शराव के मुख पर अपना अस्तित्व व्यक्त करने के लिए मचलती रहती है और जैसे ही कर्म की उदय शलाका जलने के लिए तैयार शराव (दीपक) के मुख पर छुआ दी जाती है, वह पुनर्जन्म ग्रहणकर फिर से अन्धकार निगलने और प्रकाश उगलने लगता है। 'शान्ति की शपथ' में कवि ने जैसे इसी स्थिति से प्रेरित होकर लिखा है–

**फूल बनते खाद, फिर से, खाद में गुल खिल रहे हैं,**
**मृत्यु जीवन और जीवन, मृत्यु में घुल-मिल रहे हैं।**
**नाश को निर्माण का, निर्बाध, रूपक छल रहा है,**
**प्रलयसरिता के तटों पर, सृजन का क्रम चल रहा है।**

दीपकों के जीवन और मरण की यह गाथा रूपक होकर प्राणियों के साथ लागू हो रही है। मिट्टी के शराव का बुझना और जलना निरन्तर चालू है। प्रकाश

की खोज में कदम बढ़ाते हुए मानव ने अपनी अन्तःसंज्ञा को ही 'लौ' के रूप में बाहर प्रतिष्ठित किया है। दीपावली के दिन पंक्तिबद्ध दीपकमाला हमें संकेत करती है निरन्तर प्रकाशमय होने के लिए; तेज, दीप्ति, कान्ति और उज्ज्वलता को अपनाने के लिए। क्षण-क्षण जलता हुआ, न्यून होता हुआ स्नेह पुकार-पुकार कर कहता है– मुझे जलती हुई यह 'लौ' पिये जा रही है। काल अन्तर के तत्त्वों को समाप्त करने में लगा हुआ है। जीवनाधर बादल के अन्तःकरण में बिजली के तार बिछे हुए हैं। जब तक आयु का सत्र चालू है, इस 'ज्ञान' के पाठ्यक्रम को पूर्ण कर संपूर्ण सिद्धियों का दोहन करना अभीष्ट है, क्योंकि

**ज्ञानेन पुंसः सकलार्थसिद्धिः।**

ज्ञान से मनुष्य को सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि होती है।

यह ज्ञान प्रकाश का ही नामान्तर है। जब आयु का 'योग' समाप्त हो जाएगा, शाला से छुट्टी मिल जाएगी। फिर सत्र को चालू रखना सम्भव नहीं– **नहि अत्यायुषः सत्रमस्ति**। इसलिए स्नेहपूर्ण दीपक की बाती पर लगी हुई 'लौ' सम्पूर्ण तैल को जलाकर शराव में उतर कर बत्ती को खाने के लिए घोराग्नि का रूप धारण करे– इससे पूर्व ज्ञान का दीप्तिमान आलोक सूर्य प्राप्त कर लो। फिर इस शराव के जलने, बुझने का अथवा टूटने का कोई भय नहीं। ऐसे कृतार्थ दीपक की उपमा महावीर भगवान् को प्राप्त है, जिनके निर्वाण पर भी आनन्द मनाया जाता है और जैसे एक दीपक ने निर्वाण होते-होते कोटि-कोटि दीपों का मुख आभा से छुआकर ज्योतिर्मय कर दिया है, ऐसी दीपावली की यह रात्रि झिलमिल-झिलमिल जगर-मगर द्युति बिखेर रही है।

देखो, कितने शलभ इस ज्योति को पाने के लिए आ रहे हैं? प्रकाश की कितनी तीव्र पिपासा पतंगों के मन में है? छोटे-छोटे जीवों का प्रकाश से प्यार क्या शिक्षा ग्रहण करने की वस्तु नहीं? मक्खी कितना घिनौना जीव है किन्तु उसे भी अन्धकार प्रिय नहीं लगता। यदि किसी कक्ष (कमरे) में मक्खियाँ भिनभिना रही हैं तो उसे बन्द कर देखिए, सभी मक्खियाँ मीठे की थाली छोड़कर बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ने लगेंगी। अन्धेरा अकिंचन मक्खी को भी अच्छा नहीं लगता। किन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य अनेक जन्मों तक अन्धकार में ही भटकता रहता है और आत्मा के सहस्रातिसहस्र 'वाट' के 'बल्ब' की रोशनी को देख नहीं पाता। मानो, दीपावली के दीपकों की कतार इसी हमारे अज्ञान पर हँस रही है। उनकी जलती देहों से हँसी के स्रोत बह रहे हैं। 'अरे !' वे कहती हैं, 'तुम हमें जलाते हो किन्तु आयु-कर्म के बन्धन में तुम भी तो ठीक हमारी ही तरह जल रहे हो। चेतो, जागो, सवेरा होने से पहले सावधान होकर अन्धकार को मिटाने का प्रयत्न करो। यदि अन्धकार मिटाने से पूर्व सवेरा हो गया, आयुकर्म पूर्ण हो गया, तो काल-समीरण

फूँक मारकर बुझा देगा। यह 'लौ' जीवन की दीप्ति के रूप में जलती रहे तभी तक ठीक है, 'चिता की ज्वाला' बने– इससे पहले आत्मा के आलोक को पहचान लो। दीवाली की रात पटाखों की आवाज में डूब रही है, जुए की कौड़ियों से खनखना रही है। इसे यों ही मत जाने दो। जीवन की ज्योति को कौड़ियों के मूल्य खो रहे हो? बारूद की ढेरी पर बैठकर स्वयं आग लगा रहे हो? वैसे ही, जैसे कोई मणियों को गुंजा के विनिमय में बेच दे। जीवन अजस्र जलने का नाम है, प्रकाश का पर्याय है। ज्योति की उपासना का समय है। इस भवाटवी में कितनी भ्रमान्धकार की गुफाएँ हैं, कितने विषम मार्गों से चलकर उद्देश्य के चूलों को छूना है, कितनी अजस्र चेतना इसमें आवश्यक है? क्या उसके स्वरों को पटाखों की आवाज में डुबा देना चाहते हो? क्या उसके लम्बे यात्रापथों से थक कर, जुआ खेलकर उस दूरी को जीत लेना सम्भव समझते हो? ऐसा कभी हुआ है? साहसिक यात्रियों ने एक-एक अगले कदम में सिद्धियों की समीपता अनुभव की है। उनकी लगन, चेतना, शक्ति और विश्वास प्रतिक्षण ज्योति के दर्शन करते बीते हैं। उनका प्रत्येक क्षण दीपावली होकर मुस्कुराता है। भटके हुए मनुष्यों को दीपों की पंक्तियाँ मुंडेरों से उतारकर आत्मा के अन्तराल में रख लेनी चाहिए और निर्वाण को गये हुए भगवान् तीर्थंकर परमदेव के पदचिह्नों को अनुसरण करते हुए मोक्षमार्ग पर दृढ़ता से कदम बढ़ाये चलना चाहिए।

पटाखे और द्यूत तथा मद्यपान तो व्यसन हैं, अन्धकार हैं। प्रकाश के सामने भी यदि यह अन्धकार खुलकर खेलता रहा तो इसका नाश कैसे होगा? तुम्हारे आत्मा में यदि इन लाखों दीपों से भी प्रकाश नहीं पहुँचा तो अन्धेरा कभी मिटने वाला नहीं। ये ज्योति के सन्देशवाहक तुम्हारे घरों में, गलियों में रोशनी का संदेश (समाचार) लेकर आये हैं। बारह महीनों में एक बार आते हैं। जैसे मानसरोवर से राजहंस पक्षी उत्तरप्रदेश की नदियों के विशाल पाट पर लौटे हों। तुम यदि इन्हें मुक्ताफल नहीं दोगे, ये निराश लौट जायेंगे। आत्मा की अक्षय झोली में अमर मुक्ताफल हैं, उन्हें राजहंसों को देकर मुक्त हो जाओ। यह ज्योति की उपासना, संगति जीवन का सर्वोत्कृष्ट परिणाम है, आचार्य समन्तभद्र कहते हैं– 'चन्दन और चन्द्रमा की रश्मियाँ, गंगा का जल और मोतियों की मालाएँ इतनी शीतल नहीं जितनी निर्मल मुनियों की वाणी रूप किरणें।' इसमें मुनिवाणी को ज्ञानसोपानपद्धति बताया है।

ज्ञान (आलोक) की प्राप्ति से सिद्धियों की प्राप्ति होती है। जैसे घर में अन्धेरा होने से रखी हुई वस्तुएँ भी दिखाई नहीं देतीं, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञानदीप जलाये बिना स्व-पर पदार्थ का ज्ञान नहीं हो पाता।

लोहे को पारद का सिद्ध रसायन स्वर्ण बनाता है किन्तु पारद और लोहे के भक्ष्य

में थोड़ी सी कागज की बाधा हो तो सुवर्ण होना संदिग्ध है। वैसे ही कषायों के पत्र लगे रहने पर आत्मा का सुवर्ण रूप में परिणत होना अशक्य है; अतः दीपावली को मात्र दीपकों की अवली तक सीमित न रखो, आत्मा की गहराई में उतर कर देखो, एक दीपक वहाँ भी जलाओ, जिसकी शिखा निर्वाण तक जलती रहे।

'हरिवंशपुराण' के 66वें सर्ग में भगवान् के इस निर्वाण महोत्सव का हृदयहारी वर्णन निम्न श्लोकों में किया गया है–

**जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्ततं, समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।**
**प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीम्, मनोहरोद्यानवने तदीयके॥** 15 **॥**
**ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैर्दीपितया प्रदीप्तया।**
**तदा स्म पावानगरी समन्ततः, प्रदीपिताकाशतला विराजते॥** 18 **॥**
**ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्, प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।**
**समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं, जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्॥** 19 **॥**

अर्थात् सर्वज्ञता की प्राप्ति के पश्चात् भगवान् महावीर भव्य जनसमूह को सर्वतः तत्त्वोपदेश देते हुए 'पावा' नगरी को पधारे। वहाँ मनोहर नाम के उद्यानवन में विराजमान हुए और स्वाति नक्षत्र के उदित होने पर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में घातिया कर्मों का नाश कर निर्वाण प्राप्त किया। उस निर्वाण-महोत्सव को व्यक्त करती हुई 'पावा' नगरी दीपमालिकाओं से प्रकाशमान हो उठी। दीपों की पंक्तियाँ ऐसे शोभायमान थीं मानो आकाशतल ही उतरकर पृथ्वी पर आ गया हो। उसी समय से प्रतिवर्ष आदरपूर्वक भारत में दीपावली पर्व मनाया जाता है। इस दिन भगवान् जिनेश्वर की पूजा की जाती है।

महात्मा बुद्ध को शाक्यों में विहार करते हुए आनन्द ने भगवान् महावीर के निर्वाण की सूचना दी थी। महात्मा बुद्ध ने इसे आनन्दप्रद समाचार माना था। 'पाली' में लिखित वे पंक्तियाँ हैं– **एकं समयं भगवो सक्केसु विहरति.....तेन खो पन समयेन निग्गंठो नातपुत्तो पावायं आधुना कालगतो होति**– आनन्द ने कहा कि निग्गण्ठ नाथपुत्र भगवान् महावीर का 'पावा' पुरी में निर्वाण हो गया है। भारत में प्रचलित संवत् में वीर संवत् प्राचीन है। यह कार्तिकी अमावस्या को समाप्त होता है और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है। वर्ष के आरम्भ की इस तिथि को 'वीर प्रतिपदा' कहते हैं ऐसा उल्लेख 'वामन पुराण' में है। 'जयधवला' ग्रन्थ (कषायप्राभृत) में लिखा है–

**कत्तियमास किण्ह पक्ख चौदस दिवस केवलणाणेण सह एत्थ गमिय परिणिव्वुओ वड्ढमाणो। अमावसीए परिणिव्वाण पूजा सयल देविहिं कया।**

–कार्तिक मास की कृष्ण पक्ष चतुर्दशी को भगवान् वर्द्धमान निर्वाण गये और अमावस्या को समस्त देवों ने 'निर्वाणपूजा' की।

'निर्वाणपूजा' करते हुए श्रावकगण अत्यन्त पवित्रता और विनय भक्ति से भगवान् को 'मोदक' अर्पित करते हैं, जिसे 'निर्वाण लड्डू' कहते हैं। यह 'निर्वाणपूजा' भव्यजनों की आत्यन्तिक भक्ति की सूचक है। जैसे वीतराग तीर्थंकर परमदेव को मोदक, फल या नारियल भी अर्पित किया जा सकता है। बौद्धों में इस रात्रि को 'यक्षरात्रि' कहा गया है। मुस्लिम कवि 'अब्दुल रहमान' का 'सन्देशरासक' नामक एक प्रसिद्ध रासकाव्य है। इसकी रचना का समय ईसा की बारहवीं शती है। अपभ्रंश भाषा के इस काव्य में दीपावली का सौन्दर्य-वर्णन करते हुए कवि लिखता है–

**दितिय णिसि दीवालिय दीवय, णव ससिरे सरिस करि लीअय।**
**मंडिय भुवल तरुण जोइक्खिहिं, महिलिय दिंति सलाइय अक्खिहिं॥** 176 ॥

दीपावली की रात्रि में दीपक जगमग कर रहे हैं। दीपकों की कलिकाएँ नवीन बाल चन्द्रमा की रेखा के समान दीप्त हो रही हैं। सारा भुवनतल ज्योति से झिलमिला रहा है और महिलाएँ ताजा पारे हुए कज्जल को शलाका से आँखों में आँज रही हैं।

मान्यखेट के राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय के शासनकाल (सन् 959ई.) में जैनाचार्य सोमदेवसूरि ने 'यशस्तिलकचम्पू' लिखा, जो संस्कृत-साहित्य की गद्यपद्यात्मक चम्पू रचनाओं में अपूर्व है। दीपोत्सव का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि दीपावली के समय में लोग घरों की लिपाई-पुताई में लगे हैं, उन पर श्वेत ध्वजाएँ उड़ा रहे हैं, आमोद-प्रमोद में निमग्न हैं, गीत-वाद्यों के स्वर मुखरित हो रहे हैं। घरों की छतों पर, मुँडेरों पर दीप-पंक्तियाँ प्रज्वलित कर वातावरण को ज्योतिर्मय कर रहे हैं।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत 'ज्ञानेश्वर' ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' में दीपावली का उल्लेख किया है। ज्ञानेश्वर का समय ईसा की तेरहवीं (1260) शताब्दी है। 'आईन-ए-अकबरी' में अबुल फजल (1560) ने लिखा है कि दीपावली वैश्यों का सबसे बड़ा त्यौहार है। इस दिन रात्रि में दीपक जलाकर खूब रोशनी की जाती है।

इस प्रकार विविध जैन और जैनेतर ग्रन्थों में प्रसंगान्तःपाति दीपावली-वर्णन-विषयक कवित्व, ऐतिह्य गुँथे पड़े हैं जो दीपोत्सव की परम्परा को प्राचीन सिद्ध करते हैं। प्रकाश का यह पर्व अन्धकार को ही नहीं, हृदयगुहा में निविष्ट अज्ञान-अन्धकार को भी जला सके, तभी इसकी सार्थकता है। निर्वाण-पर्व को केवल भौतिक समृद्धि के उपाय-चिन्तन में ही व्यतीत करना 'दीपोत्सव' के अधिष्ठाता परमदेव की पवित्र स्मृति से दूर है। कर्म-धूलि दूर करने के स्थान पर अतिरिक्त कर्म-कषायों के पंक में सनना प्रमत्त योग का आमंत्रण करना है। दीपों की झिलमिल कान्ति में अपना पुनर्निरीक्षण करते हुए जीवन में पवित्रता प्रसूत

करनेवाले उत्तम क्षमादि धर्मांगों को अपनाना वांछनीय है। नूतनता के गवाक्ष से झाँकने वाले आधुनिक शिक्षादीक्षित नयी पीढ़ी के युवा न केवल दीपोत्सव अपितु सभी धार्मिक पर्वोत्सवों के प्रति आस्थाशील हों, इसके लिए उनके संरक्षकों पर यह दायित्व-भार है कि वे पर्व-समयों की उज्ज्वल वास्तविकता से उन्हें परिचित कराएँ और द्यूतादि व्यसनों से परे रहते हुए पर्वों को मात्र क्रीड़ा-कौतुक का रूप न दें। नहीं तो प्रौढ़ होते हुए उनके मस्तिष्क कुरीतियों में जीवित रहने वाले पर्वों को सहेतुक श्रद्धान देने में अपने को विपन्न पाएँगे। आजकल लोगों की जीवनचर्या में एक त्वरा है, क्षिप्रकारिता है, हड़बड़ी है। स्वास्थ्य-शिक्षा के नियमों में यदि भोजन के एक-एक कवल को 32 बार चबाकर निगलना लिखा है तो आज का अधिकांश व्यक्ति बत्तीस चर्वणों में तो पूरा भोजन ही समाप्तप्रायः कर लेता है।

उदाहरण का आशय यह है कि जीवन बैलगाड़ियों से उतरकर अतिस्वन विमानों में उड़ने लगा है और एक दौड़ लगी हुई है। यही दौड़ देवस्थानों पर जानेवालों के मन में भी घुमड़ रही है। प्रायः लोग समयाभाव में ही पहुँचते हैं और घृतपुष्कल दीपक लेकर लड्डुओं, फलों, नारियलों की बौछार करते हुए भगवान् के दर्शन कर लौट आते हैं। ऐसे लोग यदि विनय-भक्ति का यथावत् संरक्षण न कर रहे हों, तो इसमें क्षिप्रगामी समय को दोष देना उचित है अथवा जाने-अजाने कथंचित् प्रमत्तयोग के शिकार हुए भव्यजनों को? लोक में किसी मान्य या सम्भ्रान्त व्यक्ति के समीप जाते समय लौकिक जन कितनी सावधानी रखते हैं किन्तु मन्दिरों में जिन-बिम्ब के समक्ष उपस्थित होने वाले भीड़ बना लेते हैं, धक्का-मुक्की होती है, बहुत शोर मचाते हैं और भगवान् को निर्वाण-लड्डू भी यथाविधि नहीं दे पाते हैं। जो विश्ववन्द्य हैं, सम्राटों और देव-देवेन्द्रों के मुकुट-मणिकलापों से जिनके नखाग्र रंजित हैं, उनकी भावोपस्थिति का भान करने वाले भव्यजन परमदेव के समक्ष भी विनय-रक्षा नहीं कर पाते। यह शोभनीयता की किस कोटि में आते हैं, यह तीर्थंकर परमदेव के अर्चक ही निर्णय करें।

भगवान् को दीपक अर्पण करती भावनाओं में अशिष्टता की उग्र गन्ध जब मिल जाती है तो वह विनय की शालीनता के साथ अभद्र हो उठती है। अतिमात्रा में पूरित घृत दीपशरावों में पड़े रहते हैं, बत्तियाँ बुझ चुकी होती हैं और पतंगों के जले-अधजले शव उनमें तैरते रहते हैं। किन्तु त्वराशील श्रावक तो इसे देखता नहीं, उसे अवकाश भी नहीं है। तथापि न देखने से अहिंसा धर्म के देवता के समक्ष होने वाली इस अहिंसा का प्रायश्चित्त नहीं लगेगा क्या? वह घृत आँगन में फैलकर कीच मचा देता है और दीप की (दीपदान की) वास्तविकता को छलता है। यह अनुशासनहीनता है, अविनय है और 'होम करते हाथ जले' की लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाला पुण्यबंध के लिए उद्यत को कथंचित् पुण्येतर बन्ध का कारण भी हो सकता है। वीतराग भगवान् की पूजा दुरितक्षय और पुण्योपचय के लिए उतनी नहीं है जितनी उभय-व्यतिरिक्त

मोक्षलब्धि के लिए है। भगवान् के पूजक समवेत स्वर में गाते हैं–

**अर्हत्पुराणपुरुषोत्तम पावनानि, वस्तून्यनूनमखिलान्ययमेक एव।**
**अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ, पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि॥**

हे भगवन्! मैं लौकिक प्रयोजनों का प्रार्थी नहीं हूँ। मैं तो आपके समक्ष केवलज्ञान रूप अग्नि में सम्पूर्ण पुण्यों को दग्ध करने उपस्थित हुआ हूँ, क्योंकि पुण्य और पाप दोनों मोक्ष के प्रतिबन्धक हैं। दीप जलाने वाले भी अपने अशेष पुण्यापुण्य कर्मों के दीपकों को ज्ञान-शलाका से जलाने भगवान् के समक्ष उपस्थित हुआ करें तो उनके उद्देश्य मार्ग कितने प्रशस्त न हो जाएँ?

दीपों का यह पर्व जो निर्वाणप्राप्त भगवान् की पूजा से महिमान्वित है, उन्हीं के चिन्तन से तद्गुणलब्धिसौकर्य उपस्थित करनेवाला हो और सम्यक्त्व-परिच्छिन्न ज्ञानदीप को आत्मा में प्रज्वलित कर सके, यही इसका उद्देश्य होना चाहिए।

## दीपावली : अँधेरे से संघर्ष

दीपावली किसी संप्रदाय-विशेष का पर्व नहीं है, यह तो समस्त विश्व का पर्व है। इस दिन हम दीपक जलाते हैं और अपने घरों में उजियाला करते हैं। दीपावली का संकेत है कि अपने हृदय में सत्य का प्रकाश करो। आज ही के दिन तीर्थंकर महावीर ने अपनी आत्मा के सभी विभावों पर विजय प्राप्त कर आत्मा के असली शुद्ध स्वरूप को प्राप्त किया था।

हम हर वर्ष दीपावली मनाते हैं, पर यह नहीं देखते कि हमारा कितना दिवाला पिट चुका है। आज देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना नहीं है। जब तक देश में बनी वस्तुएँ विदेशी मुहर लगाकर बिकती रहेंगी, हम विदेशों पर निर्भर रहेंगे। आज भारत की जनसंख्या लगभग पचपन करोड़ है, यह कोई महत्त्व का तथ्य नहीं है, देखना हमें यह है कि इनमें से सच्चे भारतीय कितने हैं, जिनमें भारतीयता की भावना जिन्दा है।

देश में आज हजारों डॉक्टर हैं, यह कोई विशेष बात नहीं है, पर देखना यह है कि इनमें से कितने डॉक्टर सेवाभाव से रोगी को नीरोग करते हैं। आज देश में हजारों इंजीनियर हैं, यह भी कोई खास बात नहीं है, पर देखना यह है कि इनमें से कितने इंजीनियर ऐसे हैं जो अपना कार्य निष्ठापूर्वक करते हैं। इसी तरह आज देश में हजारों अध्यापक हैं, पर देखना यह है कि कितने अध्यापक ऐसे हैं जो अपने चरित्र को ऊँचा रखते हुए छात्रों को ऐसी शिक्षा देते हैं, जिससे उनके हृदय में भारतीयता की भावना उत्पन्न हो। आज सारे देश में चहुँ ओर साधु बिखरे पड़े हैं, किन्तु हमें देखना यह है कि इनमें से कितने साधु ऐसे हैं जिनमें साधु के गुण हैं। आज रावण तो गली-गली में मिलते हैं, किन्तु राम का मिलना बहुत कठिन हो

गया है।

आज कई व्यापारी मिलावट का धन्धा करते हैं, बहुत से ऐसे हैं जो अपनी चीजों पर विदेशी ठप्पा लगाकर ऊँची कीमतों पर बेचते हैं। मूल बात यह है कि आज हम अपने देश की बनी वस्तुओं को हेय दृष्टि से देखते हैं। देश में खुशहाली तभी आयेगी जब हम अपने देश से प्यार करेंगे। जो व्यापारी धोखा करते हैं, वे देश को कमजोर करते हैं। ऐसे लोगों से देश की दौलत और ताकत नहीं बढ़ती। यदि हममें स्वाभिमान की भावना नहीं है, तो हमारा जीवन व्यर्थ है।

संसार में सारे पाप अंधेरे में होते हैं, इसलिए अँधेरे को दूर करने के लिए तथा संसार में प्रकाश भरने के लिए दीपक जलाये जाते हैं; पर सच्चा दीपक वही जलाता है, जो अपने अन्दर से क्रोध, मान, माया और लोभ को निकाल कर ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश करता है। ज्ञान का अंजन लगाने से ही आत्मा प्रकाशमान होती है।

श्रमण-संस्कृति में दीपावली का विशेष महत्त्व है। आज ही के दिन 2517 वर्ष पूर्व तीर्थंकर महावीर को पावा में निर्वाण प्राप्त हुआ था। निर्वाण का संवाद सुन कर समस्त नर-नारी असंख्य दीप संजोकर उस स्थान पर पहुँचे थे; तभी से तीर्थंकर महावीर के पुण्य-स्मरण में प्रतिवर्ष कार्तिक बदी अमावस्या को 'दीपावली' उत्सव मनाने का प्रचलन हुआ।

आज तीर्थंकर महावीर के परिनिर्वाण-दिवस पर यदि हम अपनी बुराई हटा कर अच्छी बातों को अपनाने की प्रतिज्ञा करें तो कहा जाएगा कि हमने सही अर्थों में दीवाली मनायी है। बहुत-से लोग पैसे के पीछे पड़े रहते हैं। आदमी पैसे के लिए नहीं जन्मा है, पैसा आदमी के लिए है। उसकी आवश्यकता लोक-व्यवहार में पड़ती है। लक्ष्मीवान् वही है जो त्याग-भावना से अपना जीवन बिताते हुए गरीबों और दुखियारों की मदद करता है, अन्यथा फिर चाहे जितना पैसा हो जाए यदि त्याग-भावना नहीं है तो फिर वह लक्ष्मी का स्वामी नहीं, चेरा है, दास है।

❖❖

# सोने का पिंजरा

संसार के सभी प्राणी स्वतन्त्रता चाहते हैं। बन्धन को कोई पसन्द नहीं करता। जीव मात्र सुखों की इच्छा करते हैं और दु:खों से भयभीत होते हैं। यह जीवधारियों की सामान्य प्रकृति है। नीम की शाखा पर बैठकर कडुवे पत्तों को चबाना अच्छा है, किन्तु हीरे-मोतियों की झालर लगे सोने के पिंजरे में अंगूर, अनार और भाँति-भाँति के रसीले, मीठे फल खाना तोते को पसन्द नहीं। क्योंकि उस नीम के पत्ते में स्वतन्त्रता की मिठास मिली हुई है और अंगूर के मीठे मोतिया दाने में पराधीनता का कडुवा विष घुला हुआ है। **स्वतन्त्रता संसार की सबसे प्रिय वस्तु है**। इसका सच्चा आनन्द स्वतन्त्र होकर ही जाना जा सकता है। मिठास को गाकर नहीं, खाकर पहचाना जाता है। किसी पर्वतशिखर की ऊँचाई गजों, फुटों या मीटरों से नहीं मापी जा सकती, उसे नापने के लिए स्वतन्त्रता से उठे हुए कदम ही समर्थ हैं। राग की मधुरता को गायक ही पहचानता है। फूल-फूल पर उड़ने का आनन्द तितली को ही मालूम है। रात्रि का अन्धकार हटते ही पक्षियों में नया जीवन आ जाता है। अब वे खुले आकाश में उड़ सकते हैं, वह तिमिर की दीवार जो हट गई है। वृक्षों की टहनियों पर झूले डालकर जब वे चुंकार करने लगते हैं तो सारी प्रकृति उस मधुर गान से आनन्द विभोर हो उठती है। स्वतन्त्र कंठों से गाया गया वह संगीत जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। **फूल कांटों पर खिला और सेज पर मुरझा गया—** कविता की पंक्ति का यही आशय है कि स्वतन्त्रता की मुस्कान कांटों में भी जीवित रहती है और स्वतन्त्रता छिन जाने पर वह कोमल शय्या पर भी मुरझा जाती है। पिंजरे के पंछी का दर्द दूसरा कौन जान सकता है? वह पिंजरा सोने का हो, मणिमुक्ताओं से जड़ा हो या केवल लोहे की शलाकाओं से बना हो, बन्धनपरिणाम उपस्थित करने में सब समान है। बन्धन में पड़े हुए के पंख कट जाते हैं, शरीर गल जाता है और 'आनन्द' राग गाने की शक्ति नष्ट हो जाती है। पहले जो घण्टों तक उड़कर भी आकाश की सीमा नहीं पाता था, अब पंख फड़फड़ाते ही दीवारों से टक्कर होती है। ऐसे बन्धन में पड़े हुए प्राणीमात्र को कष्ट होता है। यह बन्धन कर्मों का परिणाम है। जो असत् कर्म करता है, उसे उनका फल भुगतना पड़ता है। बिना फल भोगे बन्धन से छुटकारा

नहीं। एक मनुष्य अपराधी होकर न्यायालय में उपस्थित होता है और दूसरा धर्मासन पर बैठकर उसके लिए दंड-व्यवस्था करता है, ये दोनों व्यक्ति अपने कर्म का फल ही भोगते हैं।

प्राचीन भारत में लोग स्वतन्त्र थे। बन्धन को, दण्ड को कोई नहीं जानता था। वह मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का युग था। कोई अपराध नहीं करता था और कदाचित् परिस्थितिवश किसी से अपराध हो जाता था तो उसे देखकर **हा** कह दिया जाता था। इतना सुनते ही उसकी मृत्यु हो जाती थी। कालान्तर में अपराध वृत्ति कुछ अधिक हुई तो उसे **मा** (ऐसा मत करो)— यह वर्जना दी जाती थी और इसके आगे आने वाले युग में **धिक्** कहना अपराधी के लिए पर्याप्त होता था। 'धिक्कार' सुनकर जीवित रहना कोई नहीं चाहता था। ये 'हा-मा-धिक्' मनुष्य के लिए सर्वोच्च दण्ड थे। इस कलिकाल में जब मनुष्य में नैतिक पतन अधिक हुआ तो राजनीति ने साम, दाम, दण्ड और भेद की नीतियों का आविष्कार किया। इस पर भी कालप्रभाव से अपराधों में कमी नहीं आई और कारागारों में, हॉस्पिटलों में रोगियों के समान, अपराधी भरने लगे।

मनुष्य काम से, लोभ से, ईर्ष्या से, कषाय से, असंस्कार से अपराध का मार्ग पकड़ लेता है। वह अपनी पाँचों इन्द्रियों का दास बन जाता है। इन्द्रियाँ जब व्यसनी मनुष्य को एक बार पहचान लेती हैं तो उस पर सवार हो जाती हैं। वह उनके अधीन होकर उसी प्रकार चलता है जैसे पाँच सिंहों से घिरा हुआ एक छाग (मेमना)। वे इन्द्रिय-सिंह उसे मिल कर खा जाते हैं और गहरे गड्ढे में डाल देते हैं। इन्द्रियों के गुलाम की सर्वत्र यही दशा होती है। वह अकर्मण्य इन्द्रियों के मीठे-मीठे मोह में फंसकर उन्हें अपना मित्र मानने लगता है। किन्तु जिनको रक्त का आस्वाद आ जाता है वे अपनी हड्डियों को भी चबा डालते हैं। यही दशा इन्द्रियों की है। कभी ये उत्तम स्वाद का खाना पसन्द करती हैं, कभी नाच देखना, कभी गीत सुनना और कभी स्वच्छन्द भोगविलास करना। जो इन्द्रियों की इन इच्छाओं को मान लेता है वही इनके लिए साधन जुटाने में असमर्थ होने पर पाप करता है। चोरी, डकैती, खून और अनैतिकता के मूल में मनुष्य की इन्द्रियों की दासता प्रमुख है। जिसकी जौ की रोटी खाने की शक्ति है वह राजमहलों के भोजनालय में पकने वाले मोहनभोग खाना चाहता है और उसे प्राप्त करने में अपराधवृत्तियों का सहारा लेता है। परिणाम में उसे दंड भोगना पड़ता है और राजदंड भोगते समय उसके मन और आत्मा पर जो अपार वेदना, खेद और दुःख का भारी पत्थर पड़ा रहता है वह आत्मा की ओर से मिला हुआ मानसिक दंड होता है। इन परिणामों को भुगतते-भुगतते उसकी कमर टूट जाती है और जिन सुखों को पाने के लिए, जिस क्रोध विकार को तृप्त करने के लिए, जिस काकाचार की सिद्धि के लिए उसने अपराध-प्रयत्न किया था, वे सुख सदा के लिए उससे दूर चले जाते हैं। बन्धनों

की रात बीतते-बीतते जीवन का दीपक बुझ जाता है और मनुष्य जन्म के सुख-सपने कोरे सपने रह जाते हैं। अपराध करके महलों का सपना देखने वाले सदा से कारागारों में रहे हैं और उल्लू के समान दिन के प्रकाश में सबके सामने आने का साहस उनमें कभी नहीं हुआ।

यह सब इन्द्रिय-वासना के अधीन होने का दंड है, अपने किये का दंड है। किसी दूसरे ने हमारे हाथों में बेड़ियां नहीं पहनाई, अपितु हमारे कर्म ही बेड़ियों-हथकड़ियों तक हमें खींच लाये। यदि इन हथकड़ियों से पीड़ा होती और उत्तम जीवन बिताने के लिए मन अकुलाता है तो इन्द्रियों के शासक बनो। देखो, एक राजा अपने पांच मुसाहिबों से घिरा हुआ चलता है तो वे मुसाहिब राजा की इच्छाओं को पढ़ते रहते हैं। जैसी वह आज्ञा करता है वैसा ही करते हैं। सिर झुकाकर उसका आदेश पालन करते हैं। उसकी टेढ़ी भृकुटी से कांप उठते हैं क्योंकि वह शासक है, राजा है। जो इन्द्रियों को अपने अनुकूल वश में रखता है वह भी एक पराक्रमी राजा है। इन्द्रियाँ उसका अहित नहीं कर सकती और वह इन्द्रियों से उत्तम से उत्तम सत्कार्य लेता है। ऐसे व्यक्ति को इन्द्रियाँ बांध नहीं सकतीं। कर्म उसका अशुभ नहीं कर सकते। तप से, त्याग से, संस्कारों की विशुद्धता से यह उज्ज्वल जीवन मिल सकता है।

यदि पाँव चूक जाएगा तो उसमें मोच आ जाएगी। दूसरी बार मोच न आए इसके लिए पाँव को सम्भाल कर रखो। आंख में पवित्र देवदर्शन का अमृतांजन डालो, कानों में प्रभुनाम की पिचकारी छोड़ो, मुख में सत्य-मृदुवचन की मिश्री रखो और मन में इन्द्रियों के स्वेच्छाचारनिरोध के संकल्प पढ़ो। देखते-देखते जीवन बदल जाएगा। ऊँचा उठने में कुछ प्रयत्न तो करना ही पड़ता है। पर्वत के शिखर पर चढ़ने वाले की साँस फूलने लगती है और ढलाव पर उतरते को श्रम नहीं करना पड़ता। पतन के मार्ग को चुनने में क्या बहादुरी है? जीवन मिला है तो उसे किसी ऊँचे ध्येय के लिए समर्पित कर दो। देखो, जवाहरलाल नेहरू को! विश्व ने उनके वियोग का शोक मनाया और श्रद्धांजलि दी, क्योंकि राष्ट्रहित के लिए उन्होंने अपने सुख-चैन को भुला दिया। एक उद्देश्य को लेकर जीना ही तो जीवन है। रात भर अन्धकार से लड़ कर सवेरे यदि दीपक बुझ जाए तो उसका जलना भी सार्थक है। जीवन का दूसरा नाम है कुछ देना। जितने जीवित पदार्थ हैं कुछ न कुछ देते हैं। सूर्य प्रकाश देता है, पुष्प सुगन्ध देता है, पानी जीवन देता है, वृक्ष छाया और फल देते हैं। विश्व का जीवन आदान-प्रदान का ही दूसरा नाम है। जिसके पास जैसी शक्ति है उसी से वह राष्ट्र की, संस्कृति की रक्षा करे, कुछ दे, तभी वह लोक में कीर्तिमान और परलोक में विभूतिमान होता है।

पं. जवाहरलाल ने कहा— 'मेरी भस्म को खेतों में बिखेर दिया जाए'। बीज

जब मिट्टी में मिल जाता है तभी अंकुर फूटते हैं। यदि बीज मिट्टी में मिलने से इन्कार करे तो दूसरा बीज कैसे तैयार होगा? और यदि दूसरा बीज तैयार नहीं हुआ तो उस कृतघ्न बीज पर अपने पूर्ववर्ती बीज का जो ऋण है, वह कैसे चुकेगा? अगर हठधर्मिता करके वह मिट्टी में नहीं मिलना चाहेगा, राष्ट्र के नवजीवन का खाद नहीं बनेगा तो समय आने पर प्रकृति अपने आप उसे मिट्टी बना देगी। तब जीतने के लिए बाजी को अपने हाथ में रखना क्या बुद्धिमानी नहीं है? स्वयं मिट्टी बनोगे, मुक्त हो जाओगे, दूसरे बलपूर्वक अखाड़े में उतारेंगे तो मिट्टी कर देंगे। यह जानकर बुद्धिमान हमेशा उत्तम पक्ष को अपनाते हैं। इसमें यश है, सफलता है, वाह-वाह है। केवल इसलिए नहीं, अपितु यह व्यक्ति के प्रति समय का, समाज का, नैतिकता का तकाज़ा है, आग्रह है। इसी से राष्ट्र उन्नत बनता है, धर्म गाथाओं में नये अध्याय जन्म लेते हैं और भव्य परम्पराओं में नया जीवन आता है। हमारे लिए यह बात नवीन या अश्रुतपूर्व नहीं है। सदा से यहाँ की उज्ज्वल गाथाओं को देवताओं ने गाया है। यहाँ के चरित्र को तीर्थंकरों में देखा है। सामान्य गृहस्थों में ऋषियों-जैसी भव्यता के दर्शन किये हैं। यहाँ के नाम से लोग नत-मस्तक हुए हैं, क्योंकि यहाँ सदा से उन्नत धार्मिक जीवन व्यक्तियों के रुधिर में पलता रहा है। नैतिकता के उच्चादर्श उनके व्यावहारिक जीवन में उदाहरण बन गये हैं। विश्व भर में भारत की इस उज्ज्वलता ने सम्मान पाया है। कुछ उदाहरण देने से यह विषय अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

एक बार विश्वकवि **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** चीन गये। उनका भारतीय वेष देखकर वहाँ के लोगों ने उनके चरण स्पर्श किये। विश्वकवि ने जब उनसे ऐसा करने का कारण पूछा तो बोले कि आप भारतीय हैं और भारत ऋषियों की भूमि है। वहाँ के लोग सच्चरित्र, उदार, तपस्वी, सभ्य, सुसंस्कृत और सात्त्विक होते हैं। यह सुनकर रवीन्द्र की आंखों में आँसू छलछला उठे। बोले, भाई! अब भारत वैसा नहीं रहा। विश्व के लोग आदर्शों की छाया में पलने वाले भारतीयों को कितने गौरव से देखते हैं— यह उदाहरण उसका ज्वलन्त प्रमाण है। नैतिक आदर्शों का मान रखने वाले **श्री गणेश प्रसादजी वर्णी** ने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए बिना टिकट यात्रा नहीं की, अपने व्यक्तिगत प्रभाव को भी काम में नहीं लिया, किन्तु सप्ताह भर सड़क के पत्थर ढोकर टिकट खरीदा। गुरु **गोपालदास बरैया** मुरैना वालों ने अपने सहयात्री पुत्र का 'आधा टिकट' बीच रास्ते में स्टेशन पर उतर कर 'पूरे टिकट' के रूप में इसलिए बदलवाया कि उस दिन-रात के बारह बजे के बाद जन्मतिथि के अनुसार लड़का पूरे टिकट का अधिकारी हो चुका था। आचार्य **श्री शान्तिसागर** महाराज ने अपने पर दारुण उपसर्ग करने वाले को क्षमा कर दिया और **बनारसीदास** जैन कवि ने अपने घर में चोरी के लिए आने वालों को अपना ही सामान स्वयं उठाकर माथे पर रख दिया।

ये नैतिकता के मंगलसूत्र हमारे जीवन के पथ-प्रदर्शक हैं। जीवन में ऋजुता लाने के लिए इन गुणों को आत्मा से स्वीकार करना परमावश्यक है। ऐसा करने से जीवन मंगलमय बनता है, चरित्र में शुद्धि आती है, और जिस प्रकार छने हुए पानी में कीटाणु और मलिनता नहीं रहती, इसी प्रकार जीवन में कालिमा नहीं लगती। जैसे छना हुआ पानी पीने योग्य है, वैसे ही वह चारित्र से सना हुआ जीवन जीने योग्य बन जाता है। काठ की नौका जैसे स्वयं पार उतरती है और दूसरों को भी पार लगाती है, वैसे ही विशुद्ध जीवन अपना कल्याण भी करता है और लोक को अपने कल्याण से मार्गदर्शन भी कराता है। सूर्य को जिस प्रकार अन्धकार स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार पुण्यवान् को, साधु-चरित्र को, शील-संयम-तप-त्याग धारण करने वाले को पाप नहीं छूता। जैसे चन्दन अपने पास-पड़ोस के निम्ब वृक्षों में सुगन्धि भर देता है, उसी प्रकार एक शिष्ट व्यक्ति लोकजीवन में अपनी कायिक, वाचिक, मानसिक विशुद्धि से पवित्रता का संचार करता है। प्राणि-मात्र को सुख पहुँचाने की यह निर्मल भावना पंच महाव्रतों के पालन से क्रियात्मक रूप में सुलभ हो जाती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— ये पाँच अणु या महत् रूप में स्वीकार किये गये व्रत साधक को रत्नत्रय की सम्पदाओं से भर देते हैं।

अहिंसा सब धर्मों का मूल है। 'मेरा सभी प्राणियों से मैत्री भाव है, किसी से वैर नहीं हैं।' यह अहिंसा का तत्त्वचिन्तन है। चारित्र रूप में अहिंसा का पालन करने से हिंसक प्राणियों में भी वैरत्याग की भावना कार्य करने लगती है। अहिंसक व्यक्ति विश्व का मित्र होता है। उसे 'अजातशत्रु' कह सकते हैं। राग-द्वेष और दम्भ-अहंकार तथा नाना प्रकार के कषायों का उदय हिंसा से होता है। अहिंसा के शिलान्यास से सर्वजीवानुकम्पा के मंदिर की रचना होती है। उस अन्तःप्रवाहिनी निर्मल नदी का शान्तिजल सिंह और हिरण को समान रूप से मिलता है और उसे पाकर वैर-विद्वेष और घृणा का अन्त होता है।

सत्यपालन से विश्वासपात्रता आती है। मन निर्भय रहता है। **सत्ये नास्ति भयं क्वचित्,** सांच को आंच नहीं। सत्य की अपार शक्ति असत्य के पर्वतों को तिनके के समान उड़ा देती है। सत्य का कवच पहन कर मनुष्य अजेय योद्धा बनता है। सत्य की अंगूठी में आत्मबल का हीरा शोभा पाता है। मनुष्य जीवन का शृंगार सत्य धारण करना है। यह सत्य मिथ्या की उग्र ज्वाला में भी नहीं जलता। सत्य मनुष्य का आभ्यन्तर तप है।

अस्तेय की पर्याय 'अचौर्य' है। जिस कार्य को समाज के, आत्मा के साक्ष्य में करने से संकोच हो वह चौर्य है। अतएव समाज द्वारा निन्दित आचरण चौर्य है। चौर्य वृत्ति से आत्मा का पतन होता है, लोकगर्हित कर्मों की ओर प्रवृत्ति होने लगती

है। साधु व्यक्ति जिन कार्यों को स्वप्न में भी नहीं कर सकता, हीन वृत्ति वाला उन्हें सबके समक्ष हंसते-हंसते कर लेता है। समाज के सांस्कृतिक मान उन कुत्सित आचरणों से गिर जाते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति का चौर्य शीतला रोग के समान समाज में बढ़कर उसको विद्रूप कर देता है। चोर रात के अन्धेरे को पसन्द करता है। अन्धकार को पसन्द करना ही असत्य, अनीति और दुश्चारित्र से मैत्री करने का संकेत है। सृष्टि के समस्त पुण्यकर्म सूर्य के निरभ्र आलोक में सम्पन्न होते हैं।

अस्तेय कर्म का पालन करना आत्मोन्नति का साधन है। **अदत्तादानं स्तेयम्** शास्त्र की इस परिभाषा के अनुसार अपेक्षित, आकांक्षित वस्तु को न्यायपूर्वक प्राप्त करना ही अस्तेय व्रत है। ऐसा करने से आज की चोरबाज़ारी, मुनाफाख़ोरी और पारस्परिक कपट-व्यवहारों का अन्त होकर दैवी वातावरण का निर्माण हो सकता है। इह और परलोक के सुख की प्राप्ति के निमित्त इस दैवी वातावरण का प्रसार होना अत्यंत आवश्यक है।

ब्रह्मचर्यपालन से मनुष्य स्वस्थ, दीर्घजीवी, सात्त्विक और प्रशान्तात्मा बनता है। शारीरिक और मानसिक रूप से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। अष्टवीर्य को ब्रह्मचारी कहते हैं। जो अपने शुक्रसंचय को देह में ही पचा लेता है उस ऋषि के सामने आगम-रहस्य स्वयं ही प्रत्यक्ष हो उठते हैं। इस प्रकार दैहिक ब्रह्मचर्य मानसिक ब्रह्मचर्य का उपकारक है। ब्रह्मचर्य-पालन से मेधा (धारणाशक्ति) की वृद्धि होती है। शतावधान का प्रयोग ब्रह्मचर्य-पालन से ही सिद्ध किया जाता है। **मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्**— ब्रह्मचर्य का यह मूल सूत्र है। निरन्तर स्वाध्याय, तप, शौच और आत्मविशुद्धि में लगे रहने से ब्रह्मचर्य का पालन सुगम हो जाता है। ब्रह्मचर्य महान तप है,सर्वोत्तम व्रत है और ज्ञान-विज्ञान की शोध में सहायता करने वाला तीसरा नेत्र है। ब्रह्मचर्य का पालन अमृत है और इसका नाश ही मृत्यु है। **अमृतान् मृत्युर्निवर्तते**— अमृत से मृत्यु पराजित हो जाती है। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता है वही उत्तम शील का पालन करता है। द्वादशांग के रहस्य, आत्मा की निर्विकार स्थिति और मोक्ष का मार्ग ब्रह्मचर्य से ही सुगम हो सकते हैं। जो ब्रह्मचर्य धारण करता है वह सहस्र-कोटि देवताओं के पराक्रम को पराजित करने की शक्ति रखता है।

'अपरिग्रह' का अर्थ है— क्षणभंगुर-पदार्थों का भार संचित न करना। संसार में जो अत्यधिक निर्धनता और अत्यधिक धनिकता दिखाई देती है वहाँ परिग्रह की अपरिमित वासना ही कारण है। पूँजी का अधिक संचय करते जाना राष्ट्रीय अपराध है। इससे अर्थ का सन्तुलन बिगड़ जाता है; एक ओर बड़े-बड़े महल अपनी ऊँचाई के बोझ से दबे जा रहे हैं तो दूसरी ओर घास-फूस के छप्पर आंधी के भार से टिक नहीं पाते। अतः परिग्रह का परिमाण करते हुए विश्व-मानवता को फलने-

फूलने का अवसर देना मनुष्यता का लक्षण है। **अधिक परिग्रही भी चोर है**। वह विश्व के मानवों के प्रति हृदयहीन है, श्रम की प्रतिष्ठा को भंग करने वाला है, केवल अपने को जीवित रखने की उत्कट लालसा रखता हुआ वह सम्पूर्ण अर्थत्रस्त, निपीड़ित, मानव जाति के प्रति अपराधी है। अतः इसके विपरीत परिग्रह को सीमित करने वाले अन्तरात्मा ने विश्वात्मा के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं। वह त्यागवृत्ति अपनाने से महान् है, तपस्वी है। अलोभवृत्ति से व्यापार करना, अचौर्य भाव से लाभांश लेना और अपनी आकांक्षाओं को सीमित करना उत्तम सात्त्विक प्रकृति के लक्षण हैं।

इन पाँच व्रतों का पालन बन्धनों से मुक्ति दिलाने में सहयोग करता है, समाज में सम्मान प्रदान करता है, व्यक्ति के जीवन को उन्नत बनाता है; अतः बन्धन से मुक्ति पाने के लिए स्वतन्त्रता को भगवान का वरदान समझ कर ग्रहण करना, उसमें अपने मन की स्वच्छन्दता को न मिलने देना तथा प्रतिक्षण अपने और जगत् के लिए समान-हितकारी विचारों पर चलना कल्याण का मार्ग है। अतः स्मरण रखो, **जीवितात्तु पराधीनाद् जीवानां मरणं वरम्** पराधीनता से मौत अच्छी है। उठो, जागो और सत्य संकल्पों से, आत्मा की सच्चाई के प्रकाश में, अपने पवित्र कर्त्तव्यों की रेती से लोहे की अथवा सोने की जो जंजीरें तुम्हारे हाथों में पड़ी हैं उन्हें काट दो। भगवान महावीर के 'जीओ और जीने दो' संदेश को अपने निरपराध जीवन से गुंजायमान कर दो और मुक्त हो जाओ।

❖❖

# सुपुत्रः कुलदीपकः

पुत्र संसार की परम्परा चलाने वाली शृंखला है। यह अनादि विश्व पुत्र के पुत्रों से शाश्वत है। पुत्रों की यह क्रीड़ाभूमि पृथ्वी उनके लिए वात्सल्यदायिनी धात्री है। प्रकृति के अपत्य इसमें खेलकूद कर पिता बनते हैं और पुनः पुत्र बनकर इसकी नैरन्तर्यधारा का संगोपन करते रहते हैं। इस दृष्टि से पुत्र का बड़ा महत्त्व है; आकाश के पश्चिमचूल पर रेखामात्र उदित हुए द्वितीया के नवीन बालचन्द्र को लोक उत्सुकता और श्रद्धा से देखता है, क्योंकि वह शुक्लपक्ष का बालपुत्र है। पूर्णिमा को सम्पूर्ण कलाओं से उदित होकर जब यह कृष्ण पक्ष की द्वितीया को निकलेगा, तब इसे कोई नहीं पूछेगा। क्यों? क्योंकि वह दिन-दिन क्षीयमाण पितृपक्ष का प्रतिनिधि है और शुक्लपक्षीय वह बालेन्दु पूर्णता की ओर अग्रसर, अमृतकलाओं की सुभग सम्भावनाओं से आकीर्ण है। वह पुत्र है, जो वर्धिष्णु होने से समुद्रों के पानी को उछालकर नहाता है, धीरे-धीरे पश्चिम से पूर्व पर्यन्त आकाश को तैरने में दक्षता प्राप्त करता है और एक दिन जब सम्पूर्ण कलाओं से ज्योतिर्मय होकर निकलता है तो लोग उसकी पूर्णकान्ति को देखकर पीयूष में नहा उठते हैं। प्रत्येक कुल में इन्दु के प्रतिनिधि पुत्रों के जन्म-महोत्सवों को लेकर आते हैं। जैसे वसन्त में नई कोपलें फूटी हों, जैसे तालाब में नया पानी बरस गया हो, जैसे कमलपत्र पर मुस्काती हुई शबनम ने मोती के विभ्रम उत्पन्न कर दिए हों और जैसे प्रकृति-वधू के मस्तक पर सौभाग्य की बिन्दी रच उठी हो। ये सारी संभावनाएँ पुत्रों के जन्मोत्सव पर साकार हो उठती हैं। नई जन्मकुण्डली बनती है तो नई आशाओं के मेघ कुंकुम बरसाने लगते हैं। यह पुत्रजन्म की गाथा है। सृष्टि के अनादि-निधन होने की रहस्यमय कथा है और सूर्यप्रसविनी उषाओं के गर्भांकुरों को ऊपर उठाने का आमंत्रण है।

पुत्रजन्म पर कांसे बजाये जाते हैं और माताएँ उन्हें 'लोरियाँ' सुनाती हुई कहतीं हैं– मैंने तुम्हें उज्ज्वल दूध पिलाया है, तुम इसे अपने सुकृतों से अधिक श्वेत बनाना, अकीर्ति की कालिमा का मिश्रण नहीं करना और वस्तुतः यह सत्य है। यदि पुत्र सुपुत्र है तो माता-पिता और वंश के लिए कीर्तिकर है और 'पुनाति त्रायते इति पुत्रः' इस निरुक्ति का पात्र है। वह वंश को पवित्र करता है और उसकी रक्षा करता

है। ये दोनों धर्म सुपुत्र में होते हैं, किन्तु यदि वह 'सु' विशेषणधर्मा नहीं है, तब इसका विलोमपाठ करने से त्रपु (पुत्र—त्रपु) समान है, त्रपु के समान मलिन है। ऐसे पुत्र के लिए नीतिशास्त्रकारों ने भर्त्सना के शतशः श्लोक लिखे हैं। एक सूक्ति है– **किन्तेन जातु जातेन मातुः यौवनहारिणा।** उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या, जो केवल माता के यौवन को ही हरण करता है, क्योंकि **स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।** उसी का उत्पन्न होना श्रेयस्कर है जिससे वंश की प्रतिष्ठा बढ़े। आकाश में टिमटिमाने वाले तारे कितने हैं? किन्तु एकमात्र चन्द्रमा ही रात्रितिमिर का नाश करने में समर्थ है। सुपुत्र ही कुलदीपक होता है। उसके उत्पन्न होने से कुल में व्याप्त अन्धकार का नाश हो जाता है। आह्लाद की रोशनी जगमगा उठती है। जैसे विशाल भवन स्थूणाओं पर टिका रहता है, उसी प्रकार वृद्ध माता-पिता सुपुत्र का अवलम्बन लेते हैं, किन्तु कुपुत्र इससे सर्वथा विपरीत है। किसी कवि ने खूब लिखा है–

**कुल कपूत और दीप की, गति एकै कर जोय।**
**बारे उजियारो लगे, बढ़े अंधेरो होय॥**

## कुपुत्र और दीपक की समान गति

कुपुत्र और दीपक समान गति वाले हैं। दीपक बालने पर (बारे) उजियाला करता है और बुझाने पर (बढ़े) अन्धेरा। इसी प्रकार कुपुत्र बाल अवस्था (बारे) तक अच्छा लगता है, किन्तु बुरे आचरणों से बिगड़कर जब बढ़ता है, जैसे-जैसे बड़ा होता है, अन्धेरा कर देता है। ऐसे पुत्र सम्पन्न-समृद्ध कुलों में अभाव और अयश की कालिमा उत्पन्न कर देते हैं। ऐसे कुलांगारों के लिए ही **पुत्तसमो वेरिओ णत्थि**— पुत्र समान वैरी और कोई नहीं— ऐसे कठोर शब्दों का प्रयोग प्राचीन साहित्यकारों ने किया है। किन्तु सुपुत्रों के लिए कवियों की सुभाषितवाणी मूक नहीं हुई है। **सत्पुत्रेण कुलं नृपेण वसुधा पूर्णेन्दुना शर्वरी** अच्छे पुत्र से कुल, राजा से पृथ्वी और पूर्णचन्द्रमा से रात्रि शोभायमान होती है। भगवान् आदिनाथ, भगवान महावीर, भगवान् श्रीरामचन्द्र, महापंडित टोडरमल, आचार्य शान्तिसागर महाराज, पूज्य वर्णीजी तथा गुरु गोपालदास बरैया आदि इसी प्रकार के सुपुत्र थे। ऐसे पुत्रों की स्तुति में श्रेष्ठ कवियों का तप वाणीरूप में व्यक्त होता है। मानतुंगाचार्य ने 'भक्तामर स्तोत्र' में लिखा है–

**स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,**
**नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।**
**सर्वा दिशो दधति भानि, सहस्ररश्मिं,**
**प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम्॥** 22 ॥

इस संसार में जन्मबेलाओं का अटूट क्रम लगा है। प्रतिक्षण कितने प्राणी

उत्पन्न होते हैं— इसकी गणना नहीं की जा सकती है, किन्तु भगवान् आदिनाथ जैसी जन्मबेला और नहीं। तारे सभी दिशाओं की गोद में खेल रहे हैं, किन्तु सूर्य को जन्म देने वाली दिशा पूर्व ही है।

सत्पुत्र की स्तुति में वर्णनाओं के छन्द अपने आप अवतीर्ण होते हैं, जैसे पहाड़ से फिसलते जलस्रोत अनायास पृथ्वी तक उतर आते हैं। इसमें गुणसंग्रह की प्रवृत्ति ही कारण है। **गुणैः सर्वत्र पदं निधीयते** श्रेष्ठ गुण सब स्थानों पर अपना 'पद' बना लेते हैं। **पात्रत्वे क्रियतां यत्नः पात्रमायान्ति सम्पदः** मनुष्य पात्र होने का यत्न करे, सम्पदाएँ तो पात्र में अपने-आप दौड़ी चली आती हैं। यह पात्रता सुरुचिपूर्ण संस्कारों से आती है। जब तक पात्र अशुद्ध, असंस्कारित रहता है, उसमें अच्छी वस्तु नहीं रखी जाती। 'छात्रावस्था' बालकों की 'पात्रावस्था' है। उसी वय में वे राष्ट्र के, माता-पिताओं के, धर्म और समाज के सत्पुत्र बनते हैं, क्योंकि **सन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्** जो संस्कार कच्ची अवस्था में किए जाते हैं, वे अन्त तक स्थायी रहते हैं। पकने पर किए गये संस्कारों का प्रभाव नहीं होता। धारणशक्ति का अतिशय छात्रावस्था में ही होता है, क्योंकि उसी में ब्रह्मचर्य-पालन और स्वाध्याय के लिए निराकुलता मिलती है। विश्व के प्रपंच उस अवस्था में बाधित नहीं करते।

प्राचीन भारत में जितने चरित्रवान छात्र हुआ करते थे, उतने अब नहीं होते। उनकी दिन और रात्रिचर्या बड़ी कठोर थी। भूमि पर सोना, हाथ में खाना, केश आदि शृंगार न करना, अत्यन्त कीमती और भड़कीले वस्त्र नहीं पहनना, गुरुशय्या के पास में चटाई बिछाकर सोना, स्निग्ध पदार्थों का आग्रह नहीं रखना, अधिक भोजन और निद्रासुख नहीं लेना इत्यादि आत्मसंयम के कठोर धरातल पर उनके जीवन का सुनहला भोर उदय होता था। इसी बल पर उनका मध्याह्न (यौवन) सूर्य के समान तपता था। ज्ञान की सभी दिशाएँ उनके आलोक से उद्भासमान रहती थीं। अपने विषय के वे पारंगत विद्वान् होते थे। आश्रमों में रहते हुए वे गुरु और उसके परिवार की सविनय सेवा करते थे। **गुरुस्नेहो हि कामसूः** गुरु का स्नेह सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाला है— यह उनका दृढ़ विश्वास था। वे माता, पिता और गुरु तीनों के प्रति श्रद्धा-भक्तिमान् होते थे। ज्ञानार्जन के प्रति उनका आग्रह अपरिसीम था—

**क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।**
**क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम्॥**

क्षण-क्षण का उपयोग करके विद्योपार्जन करना और कण-कण जोड़कर लाखों की संपत्ति उपार्जन करना— ये दोनों शास्त्र और अर्थशास्त्र के असंदिग्ध सिद्धान्त हैं। जो क्षण के मूल्य से अपरिचित है, वह शास्त्रों के अध्ययन में पूर्णता नहीं पा सकता। आचार्य सोमदेव ने कहा है—

**'धर्मश्रुतधनानां लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः'**

अर्थात् धर्म, शास्त्र और धन का 'लव' भी प्रतिदिन संग्रह करने पर समुद्रों से अधिक हो जाता है। क्या समुद्र एक ही दिन में भर जाता है? क्या सरस्वती की विभूति निरन्तर उपासना के बिना उपलब्ध हो सकती है? इन्हें संचित करने वालों से पूछो। मधुमक्खी के छत्ते में कितना मधु भरा है? उसे एकत्र करनेवाला प्राणी कितना छोटा है? किन्तु उसका अदम्य उत्साह और निरन्तर कार्यशीलता की प्रवृत्ति बड़े-बड़ों से भी बढ़कर है।

## कुलदीपक और अज्ञान का अन्धकार

जब लोग बैठे-बैठे जम्भाइयाँ लेते रहते हैं और नींद उड़ाने को चुटकी बजाते हैं, तब दुनिया के व्यस्त लोग अपने बहुत से धन्धे निपटा लेते हैं। आज के बालक आधुनिकतम वेशभूषा में सजकर, वाहनों में बैठकर स्कूल-कॉलेज पहुँचते हैं और आरामदेह कुर्सियों पर अधलेटे रहकर अध्यापकों का 'लेक्चर' सुनते हैं। सप्त व्यसन में से बहुत से व्यसन उनके अभी से मित्र होते हैं। सिगरेट, पान, सिनेमा, अण्डा, मद्य, मिथ्या, चौर्य, प्रमाद, आलस्य, उच्छृंखलता, अविनय, ब्रह्मचर्यभंग इत्यादि अनेकानेक दुर्गुण उनमें बस जाते हैं। कभी-कभी तो ये इतने उग्र हो उठते हैं कि प्राणियों पर उसी की अनिवार सत्ता के दर्शन होते हैं। छात्रता का भान भी उनमें नहीं होता। अनुचित मार्ग में उत्तेजना के साथ वे प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। तोड़-फोड़, अविनय, अध्यापकों की दुर्दशा, राष्ट्रीय सम्पदा की हानि, उनके व्यूहबद्ध क्रियाकलाप हैं। वे प्राध्यापक के 'सिगरेट मित्र', 'सिनेमा सखा', 'पिकनिक सहचर' बनकर अपने छात्र जीवन की स्वयं दुर्दशा कर लेते हैं और यदि शिक्षक उनकी अवहेलना अथवा उपेक्षा कर अपना स्तर ऊँचा एवं असंपृक्त रखना चाहे तो उसे अपमानित, असफल और पलायित करने के अछूते प्रयास छात्रों की ओर से किये जाते हैं। यह स्थिति राष्ट्रीयता के लिए भय उत्पन्न करने वाली है।

## आज के बालक कल के नेता

आज के बालक कल नेता होंगे, कार्यक्षेत्रों में उतरेंगे और छात्र जीवन के अनुत्तरदायी स्वभाव एवं चेष्टाओं को अपने अधिकृत क्षेत्र में प्रचारित करेंगे। एक हल्की, घटिया मनोवृत्ति के शिकार होने से राष्ट्र में व्यापक स्तर पर वे भ्रष्टाचार और अनैतिकता को जन्म देंगे। क्या इस भारी भय से आज के शिक्षाशास्त्री और धीर विज्ञजन असावधान हैं या अपरिचित हैं? ये लक्ष-लक्ष कुलदीपक कुलों के लिए ज्ञानज्योति सीखने जाकर अज्ञान का अन्धकार ही संचित कर रहे हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो छात्रों के ये उग्र प्रदर्शन, तोड़-फोड़, विध्वंसकारी प्रयाण देखने में नहीं आते। वर्तमान शिक्षा में से धर्म को निकाल दिया गया, अध्यात्मवाद की इतिश्री कर दी गई और छात्र तथा शिक्षक के बीच का सम्बन्ध नूतनता के दर्पण

में साधारण कर दिया गया। 'गुरु' का गुरुपद नई शिक्षा ने 'लघु' कर दिया। जिसके संचित ज्ञानकोष का विद्यार्थी एकान्त संग्राहक था, आज वैसे गुरुओं का निर्माण रुक गया। कल उच्छृंखलता करनेवाले छात्र आज शिक्षक बन गए और अध्यापक की गरिमा को अभिशाप लग गया। विद्यार्थियों की जिज्ञासा जाती रही और अध्यापकों का उत्साह डूब गया। उच्चकोटि का विद्यार्जनसंघर्ष लीलाविलासरसिक छात्रों को अरुचिकर हो उठा। इसीलिए तो एम.ए. और आचार्य उपाधिकारी कोरे पन्ने के समान विश्वविद्यालयों में भीड़ बढ़ा कर निकलते जा रहे हैं। उनको देखने से कोई ज्ञानोपासना की, सात्त्विकता की, सौजन्य और सौमनस्य की प्रतीति नहीं हो पाती। बहुमूल्य वस्त्रों, जूतों, टाई और सिगरेट की धुआँ उगलते हुए युवक वीणावादिनी के चरणों की ज्ञानधूलि से कभी परिचित रहे हों— ऐसा नहीं लगता। खाये हुए अन्न की लालिमा आकृति पर दमकती है और अधीत शास्त्र की स्पष्ट छाप जीवन के चारित्र अंग पर झलकती है। पठित का परिचय उसकी ज्ञानभास्वर आँखों से बिना कहे मिलना चाहिए। कागज के प्रमाणपत्र यदि उसके अभिज्ञान हुए तो अध्ययन अधूरा है। प्रमाणपत्रों का प्रमाण होना गर्व की बात है। प्रमाणपत्रों से प्रमाणित होना द्वितीय श्रेणी का अध्ययन है। अद्वितीय, अनुत्तम ज्ञान प्राप्त करने वाले ही गुरुओं के सच्चे अन्तेवासी हो सके हैं। किसी ने कहा है–

**गुरु कुलाल सिख कुम्भ है, घड़-घड़ काढ़त खोट।**
**अन्दर हाथ पसार के, बाहर मारत चोट॥**

गुरु कुम्भकार है और शिष्य कुम्भ है। कुम्भ के निर्माण में गुरु का ही प्रयत्न है। यदि वह चाहे तो उसे निर्दोष और परिपक्व बना सकता है। पक्व होकर ही वह जीवन धारण के योग्य बनता है। ऐसा गुरु कच्ची मिट्टी के लोंदे के समान शिष्य को ठोक-पीटकर आकृतिमान् बनाता है। घड़ते समय (निर्माण करते समय) वह भीतर अपना हाथ रखता है। हाथ रखने से गुरु की कुम्भ-निर्माण के प्रति वात्सल्य भावना तथा सावधानी सूचित होती है। वह जो चोट मारता है सो कुम्भ की कुशलता के लिए ही। यदि कुम्भ पक जाने पर बाँका, तिरछा या भद्दा रह गया तो बाजार में उसकी रचना पर लोग तालियाँ पीटेंगे। ऐसा अवसर गुरु और शिष्य दोनों के लिए ही हास्यास्पद कहा जाएगा। बाजार में आने से पूर्व सब प्रकार की तैयारी कर लेना यशस्कर होता है। इस प्रकार की सम्पूर्ण तैयारी करने वाला पुत्र स्वयं यशस्वी होता है तथा अपने कुल को कीर्तिमान् करता है। इहलोक और परलोक उसकी यशःपयस्विनी में अवगाहन कर धन्य होते हैं।

यदि शिक्षा प्राप्त करने पर भी संस्कारों में शुचिता नहीं आई, चारित्र को बल नहीं मिला, लोकजीवन लाभान्वित नहीं हो सका तथा परलोक की पुण्य-प्राप्ति संदिग्ध रही तो उसे नाम का ही शिक्षित कहना चाहिए। जैसे एक घृत रखने का

घड़ा है और रीता है तथापि उसे लोकव्यवहार में 'घी का घड़ा' कहा जाता है, उसी प्रकार शिक्षा से प्राप्त होने वाले संस्कारों से वर्जित यह स्नातक विद्याशाला में बिना नहाया हुआ 'स्नातक' नाम मात्र है, विद्यात्व से वंचित है।

## यन्त्रयुग में कुलदीपक विश्वदीपक बनें

आज का युग यन्त्रयुग है। विश्व यांत्रिक साधनों के बहुत समीप आ गया है। रॉकेटों ने अन्तरिक्ष क्षेत्रों की ऊँचाई को नमित करने के प्रयास आरम्भ कर दिये हैं और मनुष्य, चन्द्र, मंगल आदि नक्षत्रों के देश उड़ जाना चाहता है। ऐसे समय में व्यक्तिचेतना का विस्तार कुल, जाति, समाज और देश से ऊपर उठकर मानवतावादी और विश्वनागरिक के रूप में होने जा रहा है। जैसे महानदियाँ समुद्र में मिलने को आकुल रहती हैं, उसी प्रकार आज के व्यक्ति की लघु-लघु व्यष्टिचेतना विराट् में, समष्टि में एकाकार होने को आतुर है। इस परिभाषा ने **कुलदीपक** को **विश्वदीपकता** की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी है। इस युग के व्यक्तियों में ऐसे ही **विश्वपुत्र** अथवा **विश्वकुलदीपक** कहे जाने योग्य व्यक्तित्व उभर रहे हैं। भौगोलिक सीमाओं के उस पार, जातीय आग्रहों से परे, अपने गुणों से आगे बढ़कर अनमित ऊँचाइयों को झुका देने वाले साहसियों के अभियान चल रहे हैं। इस विराट् भूमिका में अभिनय करने के लिए आग्रहशील को जहाँ एक ओर विशाल विभूतियों के परिकर उपलभ्य हैं, वहाँ एक त्रुटि भी साथ-साथ चल रही है। वह यह कि आज मानव मात्र विज्ञान में जी रहा है, ज्ञानमूलक अध्यात्म उसे रुचता नहीं, पचता नहीं। वह अध्यात्म को वीतराग मुनि-महर्षियों की ही आवश्यकता समझता है और इस प्रकार एक विश्वहितैषी विभूति को संकुचित सीमा में अवरुद्ध कर देना चाहता है। इसमें गत एक सहस्राब्द के राजनीति-मूलक परिवर्तन और धार्मिक क्रियाकाण्ड ने सहयोग दिया है। विगत दश शतकों में धर्म को निरंतर संकोच मिलता गया। इससे वह सिमटकर मन्दिरों, अर्चकों, त्यागियों और कतिपय वृद्धजनों के पास रह गया। जनसाधारण उससे प्रथम वंचित हुआ, फिर शनैः-शनै अभ्यस्त होने पर उपेक्षावान् हो गया। अब, जब वह बहुलत्व से परोक्ष हो गया और शरीरप्रधान पश्चिम की संस्कृति ने बहुसंख्यक समाज को नयी दिशा, नया मोड़ दे दिया, तब उसे पुनः खींचना कठिन प्रतीत हो रहा है। पुनः खींचने में कारण है, भारतीय संस्कृति से भारतेतर देशों की संस्कृति का हीन होना।

## विदेशी शासन का कुप्रभाव

वैदेशिक शासन-बेला के इन वर्षों में देश की मानवता पतनोन्मुख हुई है, उसके आचार में ह्रास आया है, न कि उत्थान। परिणामस्वरूप राष्ट्र और धर्म विपन्न हो उठे हैं। धर्म के प्रति इतनी अनादर भावना भारत में पहले कभी नहीं आई। धर्मनिरपेक्षता की घोषणा के बाद धर्म राष्ट्रीय स्तर से गिरकर जातीय स्तर

पर आ गया। भारत में रहने वाली जातियाँ धर्म का पालन अपने तक रखने में स्वतन्त्र है किन्तु देश की मूर्धन्यसत्ता के केन्द्र से धर्म का तारा डूब गया, टूट गया। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश सत्ता के समय जो पादरियों के समूह भारत में धर्म (ईसाईयत) फैलाने में शासन की ओर से निरापद थे, वे अब भी उसी प्रकार धर्मपरिवर्तन और ईसाइयत के प्रचार में निरंकुश रह गये। यह स्थिति पहले की अपेक्षा अब अधिक भयावह हो उठी, क्योंकि प्रजातंत्र-मूलक शासन-प्रणाली में मतों से निर्वाचन होकर शासनतंत्र चलता है। धीरे-धीरे यदि यहाँ ईसाई समाज, जो भारत को अपनी पवित्र भूमि, देवभूमि, तीर्थभूमि और पितृ-मातृभूमि नहीं मानता, भारतीयों को ईसाई बनाने में लगा रहा (और वह लगा हुआ है) तो कुछ वर्षों के बाद भारतीय पुनः धर्म, संस्कृति और सत्ता के दृष्टिकोण से गुलाम हो जायेंगे। इस गुलामी को दूर करने का कोई उपाय भारतीयों के हाथ में नहीं रह जायेगा। आज इसका प्रतिकार सोचने की आवश्यकता है।

## श्रीमद् रायचन्द्र और गांधीजी

श्रीमद् रायचन्द्र ने एक बार महात्मा गांधी को, जब वे अफ्रीका से हिन्दुस्तान आये, ईसाई होने से बचाया था और आज दुःख है कि श्रीमद् रायचन्द्र के विचारों का अनुगमन करने वाले बहुत ही कम हैं। जिन बालकों के लिए सुपुत्र और कुलदीपक होने की चर्चा कर रहे हैं, उनमें विवेकपूर्ण विचारों का अभाव-सा है और जातीय पराक्रम को वे उदासीन होकर देख रहे हैं। यह शुभ लक्षण नहीं, इससे धर्म को बहुत बड़ा धक्का लग सकता है, क्योंकि **न धर्मो धार्मिकैर्विना**— धार्मिकों के बिना धर्म कहाँ? शरीर के बिना प्राण की स्थिति कैसी? इसलिए उन कुलदीपकों को अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक होना चाहिए और सुख, शान्ति, सदाचार तथा उदात्त जीवन की प्राप्ति के लिए धार्मिकता को आत्मसात् करना चाहिए। सींचने की आवश्यकता नये पौधों को होती है। जो वृक्ष बन गये, उनको अपना जीवन प्राप्त करने के उपाय और सामर्थ्य प्राप्त हैं, किन्तु बालांकुरों को यदि वैचारिक पोषण नहीं मिलता तो वे विजातीयता की आंधी में उड़ जायेंगे। ऐसा होना किसी भी दृष्टि से प्रशंसनीय अथवा सहने योग्य नहीं। चिड़िया अपने घोंसले के लिए तिनका बीनती है और दीपक अपने स्नेह के लिए जलता है। अपने गुणों की रक्षा के लिये श्रेष्ठ सत्कुलप्रसूत जन आगे आते हैं और समाज को अभ्युत्थान देते हैं। पुत्र के लालन-पालन में माता-पिता जितना कष्ट सहन करते हैं उसका बदला सौ वर्षों में भी नहीं चुकाया जा सकता— **न तस्य निष्कृतिः कर्तुं शक्या वर्षशतैरपि**– सौ वर्ष उसके प्रतिदान के लिए अल्प हैं। अतः कुलपरम्परा को उज्जीवित रखने के लिए पुत्रों को व्रत लेना चाहिए। उन्हें ईसाई मिशनरियों से सीखना चाहिये कि अपने धर्म की प्रभावना के लिए वे किस प्रकार जुटे हुए हैं। कहावत है कि– **हजार मील लम्बी यात्रा भी एक कदम से शुरू होती है** और

**रोम एक दिन में नहीं बसा।** यह सोचकर जब आँख खुली तभी से सवेरा मानकर कार्यक्षेत्र में उतर जाना चाहिये।

## संस्कृति के संरक्षण के लिए कुलदीपक बनें

संस्कृति के संरक्षण के लिए कुलदीपकों के सामने कितने अवसर मुँह देख रहे हैं? वे सुयोग्य अध्यापक होकर छात्रों के जीवन की दिशा बदल सकते हैं, उन्हें उन्नत, सुसंस्कृत करने में सहयोग कर सकते हैं। डॉक्टर बनकर, इस वर्ग में जो नितान्त धनलिप्सु प्रवेश पा गये हैं, उन्हें अपने सात्त्विक साहस से अपदस्थ कर, दीन-दुखियों की सेवा कर सकते हैं। उत्तम व्यापारी बनकर संकटकालीन परिस्थिति में अन्न के गोदामों को 'लॉक' लगाकर शोषण चाहने वाले मुनाफाखोरों को राष्ट्रीय कर्त्तव्य का पाठ पढ़ा सकते हैं। ईमानदार और सच्चे वकील बनकर झूठ की पैरवी करने वालों को पराभूत कर सकते हैं। भाखरा और नंगल के बाँधों में सीमेंट के स्थान पर मिट्टी मिलाने वाले कुकर्माओं की परम्परा को अपने अभ्रष्ट कर्त्तव्य से समाप्त कर सकते हैं। हृदय में सम्यक्त्व की ज्योति जगाकर वे सभी क्षेत्रों में अन्याय के वातावरण को चुनौती दे सकते हैं। विधानसभाओं और लोकसभाओं में प्रवेश पाकर देश, धर्म और राष्ट्रीयता की रक्षा कर सकते हैं। सभी सम्भावनाओं के द्वार खुले हैं उनके लिए, जो भारत की पवित्र धार्मिक निधि को अपना हृदयहार बनाते हैं। माता-पिता और गुरु के प्रति आत्मिक भक्ति रखना तथा शौच, संयम, तप, त्याग, सत्य, मार्दव, दया आदि का पालन करना इसके लिए नितान्त अपेक्षित है।

गुलाब की सुगन्धि किंशुकों से नहीं आ सकती और उत्तम गुणों की प्राप्ति आदर्श जीवन के बिना नहीं मिलती। यदि कोई भारत की महत्ता को बताते हुए कलकत्ता, मुम्बई, अहमदाबाद और ऐसे ही कुछ नाम लें तो वह महत्ता में गणना करने योग्य विषय वस्तुओं से अपरिचित कहा जायगा। विशालता में इनसे कई गुणा अधिक विश्व के अन्य कितने ही नगर हैं, समृद्धि में और जनसंख्या में बढ़े हुए हैं।

भारत की समृद्धि तो उसकी आध्यात्मिक विभूति है। यदि इस मूलनिधि को आधुनिकता की भेंट चढ़ा दिया गया तो ये बड़े नगर, ये चौड़ी सड़कें और ऊँची अट्टालिकाएँ तथा **टेरेलिन** के परिधानों में बसे हुए लोग भारत की उदात्तता की रक्षा त्रिकाल में भी नहीं कर पायेंगे। इस देश को चारित्र-सम्पन्न महापुरुषों ने ही उत्थान दिया है। संस्कृति का यह विशाल भवन आचारविशुद्ध तीर्थंकरों, महापुरुषों (शलाका पुरुषों) और संयम मार्ग के पथिकों के बल पर अवस्थित है। यदि सद्गुणों का समवाय निकल गया तो ये प्लेन, प्लान निष्प्राण हो जायेंगे।

## राष्ट्रीय सम्पत्ति की सुरक्षा

आज राष्ट्र स्वतंत्र है। राष्ट्रीय सम्पत्ति हमारी है। जनता के बल-वैभव पर शिक्षा, परिवहन, उद्योग, प्रतिरक्षा सभी कुछ अवलम्बित हैं। यदि रास्ते चलते किसी सार्वजनिक सम्पत्ति को कोई नुकसान पहुँचाता है, तो यह उसका स्वयं का नुकसान है, किन्तु उत्तेजित बालक इस बात को नहीं जानना चाहते। वे तार, टेलीफोन, रेलपथ और बिल्डिंगों को ध्वस्त करते हुए अपने प्रदर्शन करते देखे जाते हैं। बिना टिकट यात्रा करना तो उनके लिए साधारण बात है। उचित-अनुचित का विवेक न रखते हुए वे तोड़-फोड़-नीति पर विश्वास करते हैं। उनके मस्तिष्क के चिन्तन-सूत्र अभी अपरिपक्व होते हैं। ओठों पर से माँ का दूध भी अभी नहीं सूखा होता है— ऐसे बालक राजनीति में, सत्याग्रह करने में, अपने गुरुओं-प्रिंसिपलों और अध्यापकों के रखे रहने या हटा दिये जाने में मत-बल संचित करते हैं। संभव है, ऐसा करते हुए वे एक दिन अपने 'मम्मी और डैडी' पर भी प्रस्ताव पास कर उन्हें मान्यता देने से इन्कार कर दें। यह कुसंस्कार है, अज्ञान है। इस परम्परा को जीवित रखकर वे स्वयं भी निरापद जीवन नहीं बिता सकते। कल जब वे अधिकारी होंगे तो आगे आने वाली पीढ़ी के बालक उन्हीं के प्रति पथराव करते क्या चूकेंगे? अतः इस उन्मार्ग से लौटकर तत्काल सन्मार्ग ग्रहण करना उन्हीं के अपने हित में है। कुल-परम्परा में लौटते हुए उन्हें जब सम्यक्त्व की सम्पदा मिलेगी, उचित-अनुचित-पथ का विवेक होगा और सर्वोदय तथा समता के पाठ हृदयंगम होंगे, तभी उन्हें सही अर्थों में 'कुलदीपक' कहा जा सकेगा।

❖❖

# विश्वकर्मा एवं वास्तु-विद्या

हम वास्तु ज्ञान को विवेक के साथ चाहते हैं–

**विश्वकर्ममतं[1] चास्मै, वास्तु-विद्यामुपादिशत्।**
**अध्यायविस्तरस्तत्र, बहुभेदोऽवधारित:॥**

–आचार्य जिनसेन, महापुराण, 16-122, पृष्ठ 357

इसी चौथे पुत्र **विश्वकर्मा** के लिए **वृषभदेव** ने सूत्रधार का सौ अध्याय में वास्तु-विद्या तथा मंदिर मूर्तिकला और मकान बनाने के **वास्तु शास्त्र** का उपदेश दिया था।

**वास्तु (पु.)** कार्तिक शुद्ध 2 दूज, **श्री विश्वकर्मा जयन्ती**

**विधाता विश्वकर्मा च.....।**

–आदिनाथपुराण, 16/122

**अर्थ**– प्रजा भगवान ऋषभदेव को **विधाता** और **विश्वकर्मा** नाम से पुकारती थी।

**विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वर:।**
**विश्वदृग् विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वर:॥**

–जिनसेनाचार्य, जिनसहस्रनामस्तोत्रम्, टीका अमरकीर्ति, 2/5/11

---

1. **विस्सकम्म विश्वकर्मन् (पु.) – ऋषभदेवस्य चतुर्थे पुत्रे।**

–अभिधान राजेन्द्र कोश, 6/1271

प्राकृतभाषा में विश्वकर्मा, जिसे संस्कृत में विश्वकर्मन् कहते हैं,विश्वकर्मा ऋषभदेव के चतुर्थ पुत्र थे।

**पुर गाम पट्टणादी।** –त्रिलोकसार, 802

–पुर ग्राम, पत्तन आदि की वृषभदेव ने रचना की थी और उपदेश भी दिया।

**वास्तु च गृहम्।** –सर्वार्थसिद्धि, 7-29, पृष्ठ 251

–रहने के स्थान को **वास्तु** कहते हैं।

**गृहहट्टा अपवरकादिवास्तु।** –कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सं. टी., पृष्ठ 246

–गृह-घर, हट्ट-बाजार, अपवरक-भीतर का कमरा, शयनागार, मकान, दुकान, ज़मीन, जायदाद आदि वास्तु।

–संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे, 1163, वही, पृष्ठ 51

**वास्तुविद्यां च भवननिर्माणविद्यां च।**

–पुरुदेवचम्पू, प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, 7 पृष्ठ 255

**टीका**— ''विश्वस्मिन् जगति कर्म्म लोकजीवनकरं क्रिया यस्य स **विश्वकर्मा**, कर्म अत्र असिमषिकृष्यादिकं राज्यावस्थायां ज्ञातव्यम्।''

**अर्थ**— सब मनुष्यों के जीवनयापन के लिए असि, मषि, कृषि आदि षट्कर्म आवश्यक हैं— ऐसा प्रभु ने राज्यावस्था में प्रजा-पालन करते समय उपदेश दिया, अतः वे विश्वकर्मा हुए।

**विश्वकर्मा का मंदिर भी काश्मीर में बना था-**

**षड्विंशद्गृहलक्षाणि, पुरं तत्प्रपथे पुरा।**
**यस्यास्तांवर्धनस्वामी विश्वकर्मा च सीमयो॥**

—कल्हण, राजतरंगिणी, 3/357, पृष्ठ 63

**अर्थ**— उस नगर की सीमा पर (काश्मीर में) **वर्धन स्वामी** तथा **विश्वकर्मा** का सुंदर मंदिर बना हुआ था। लोगों का कहना था कि नगर में लाखों घर थे।

**लोकोपकारार्थ-**

**किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत्।**
**तत्सर्वमादिकर्त्तासौ स्वाः समन्वशिषत् प्रजाः॥**

—आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 16/125

इस विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है? संक्षेप में इतना ही बस है कि लोक का उपकार करने वाले जो-जो शास्त्र थे, भगवान आदिनाथ ने वे सब अपने पुत्रों को सिखलाये थे।

**विश्वकर्मा वास्तुविशारद था-**

**देवदत्तमहाराजो विश्वकर्मावदनन्यासाधारणवास्तुविशारदो भूयादश्रान्तम्।**

—देवदत्त महाराज विश्वकर्मा के समान अनन्य असाधारण अर्थात् अनुपम एवं सम्पूर्ण वास्तुशास्त्र विद्या के ज्ञाता थे। 'वास्तु' मकान के पर्यायवाची, नाममाला कोश में 24 नाम हैं—

**सदनं सद्म भवनं[2], धिष्ण्यं वेश्माथ मन्दिरम्। गेहं निकेतनागारं, निशान्तं निर्वृतं गृहम्॥**
**वसत्यवसथावासं, स्थानं धामास्पदं पदम्। निकायं निलयं वस्त्यं, शरणं विदुरालयम्॥**

—महाकवि धनञ्जय, नाममाला, 132-33, पृष्ठ 54

**अर्थ**— सदन, सद्मन्, भवन, धिष्ण्य, वेश्मन्, मन्दिर, गेह, निकेतन, आगार, निशान्त, निर्वृत, गृह (न.पु.) वसति, अवसथ, आवास (पु.), स्थान, धामन् आस्पद, पद (न.), निकाय, निलय (पु.) वस्त्य और शरण (न.) —ये सब आलय (मकान) के नाम हैं।

---

2. **भुवनं।** —अनेकार्थ नाममाला, 4, पृष्ठ 78
—भुवन शब्द संसार और जल है।

**वास्तुशास्त्रं न लंघयेत्।** —आशाधर, प्रतिष्ठासारोद्धार, 1-17

—वास्तु शास्त्र का उल्लंघन मत करो।

**वास्तुशास्त्रं नोल्लंघयेत् कदा।** —आचार्य वसुबिंदु, प्रतिष्ठापाठ, 358, पृष्ठ 110

—कभी भी वास्तुशास्त्र का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

**प्रतिष्ठाचार्य वास्तु एवं शिल्प शास्त्र का ज्ञाता होता है-**

**श्रावकाध्ययनज्योतिर्वास्तुशास्त्रपुराणवित्।**

—श्री नेमिचन्द्रदेव, प्रतिष्ठातिलक, 1-34

**अर्थ**— श्रावकाचार, ज्योतिष, **वास्तुशास्त्र** और पुराण शास्त्रों का ज्ञाता हो।

धर्म व वास्तुविद्या भूमि संबंधी शुभाशुभ है—

**[3]वत्थुविज्जं भूमि संबंधमण्णं पि, सुहासुहकारणं वण्णेदि।**

—धवला, जीव. 1-1-2, पृष्ठ 114

वास्तुविद्या भूमि से सम्बन्धित तथा उसके शुभ एवं अशुभ कारणों का वर्णन करती है।

**वास्तु व समाजशास्त्री-**

**कामतन्त्रेऽर्थशास्त्रे च, गान्धर्वे नाटकेऽपि वा।**
**सूपशास्त्रे तथा वैद्ये, वास्तुविद्यादिवस्तुषु॥**

—महावीराचार्य, गणितसारसंग्रह, उद्धृत भारतीय ज्योतिष, पृष्ठ 97

अर्थात् कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, संगीतशास्त्र, नाट्यशास्त्र, सूपशास्त्र (पाकशास्त्र), आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र विद्याविभागों में (निपुण व्यक्ति समाज में पूज्य होता है।)

1. **कामशास्त्र (कामदं मोक्षदं)**—श्री वादिराज विरचित, **यशोधरचरित**, सम्पादक—डॉ. के. कृष्णमूर्ति, प्रकाशक—कर्नाटक विश्वविद्यालय, सन् 1963
2. **अर्थशास्त्र**—सोमदेवसूरि विरचित, **यशस्तिलकचम्पू**, सम्पादक—प्रो. हंदकी, आसाम, प्रकाशक—जीवराज गौतम चन्द, सोलापुर
3. **संगीतशास्त्र**—आचार्य पार्श्वदेवकृत, **संगीत शास्त्र**, सम्पादक— आचार्य कैलाशचन्ददेव बृहस्पति, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

---

3 **वत्थुविज्जा (स्त्री.)**—

**वास्तुनो गृहभूमिर्विद्या वास्तुविद्या। वास्तु-शास्त्रप्रसिद्धे गुणदोषविज्ञानरूपे कलाभेदे।**

—अभिधान राजेन्द्र कोश, 6/880

**वास्तुविद्या**— वास्तु की गृह और भूमि विद्या को वास्तु विद्या कहा जाता है। वास्तुशास्त्र में प्रसिद्ध गुण-दोष का विशिष्ट ज्ञान 72 कला का ही एक भेद है।

4. **नाट्यशास्त्र**–आचार्य मल्लिसेन विरचित, **सुभद्रा पर नाटक**, प्रकाशक–माणिक चन्द ग्रन्थमाला, बम्बई
5. **सूपशास्त्र (पाकशास्त्र)**–मंगअरस विरचित, **सूपशास्त्र**, प्रकाशक–धारवाड़ युनिवर्सिटी, **(कूपशास्त्र, शुचि भूमिगतं तोयं।। 2।।)** –श्रीशर्ववर्मा
6. **आयुर्वेद**–उग्रादित्याचार्य, **कल्याणकारक**, प्रकाशक–रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर
7. **वास्तुशास्त्र**–मानसार, **जैनलक्षणं वास्तु**, प्रकाशक–लंदन, 1934
8. **ज्योतिषशास्त्र**–आचार्य श्रीधर विरचित, **जातकतिलकम्**, सम्पादक– एस. एन. कृष्ण जोयिस, प्रकाशक–मैसूर विश्वविद्यालय, 1959

**...वास्तु दिव्येन्द्र संपदा।** –भद्रबाहुसंहिता, 1-19

**वास्तु**– वास स्थान को वास्तु कहा जाता है। वास करने के पहले वास्तु का शुभाशुभ स्थिर करके वास करना होता है। लक्षणादि द्वारा इस बात का निर्णय करना होता है कि कौन वास्तु शुभकारक है और कौन अशुभकारक। इस प्रकरण में गृहों की लम्बाई, चौड़ाई तथा प्रकार आदि का निरूपण किया जाता है।

–भद्रबाहुसंहिता, डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, प्रथमोऽध्यायः, पृष्ठ 14

## उत्तरदिक् पूर्वदिक् च लोके पूज्या

**उत्तर पुव्वा पुज्जा।** –बृहत्कल्पसूत्र, 457

–उत्तर दिशा एवं पूर्व दिशा संसार में पूज्य हैं।

**परिखागोपुराट्टालवप्रप्राकारमण्डितम् ।**
**नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम्॥** 169 **॥**
**पुरमेवंविधं शस्तमुचितोद्देशसुस्थितम्।**
**पूर्वोत्तरप्लवाम्भस्कं प्रधानपुरुषोचितम्॥** 170 **॥**

–आदिपुराण, आचार्य जिनसेन, प्रथम भाग, पृष्ठ 361

**अर्थ**– जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट **वप्र**–प्राचीर (Compound Wall) और प्राकार से सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जो बगीचे और तालाबों से सहित हो, जो उत्तम रीति से अच्छे स्थान पर बसा हुआ हो, जिसमें पानी का प्रवाह पूर्व और उत्तर के बीच वाली ईशान दिशा की ओर हो और जो प्रधान पुरुषों के रहने के योग्य हो वह प्रशंसनीय **पुर** अथवा **नगर** कहलाता है।

**पृथ्वीविकारात्सलिलप्रवेशादग्नेश्च दाहात्पवनप्रकोपात्।**
**चोरप्रयोगादपि वास्तुदेवश्चैत्यालयं रक्षतु सर्वकालम्॥**

–प्रतिष्ठातिलक, वास्तुबलिविधानम्, 56

**अर्थ**– पृथ्वी में होने वाले विकार अर्थात् भूकम्प, शीलन, क्षार आदि से, जल के

प्रवेश अर्थात् वर्षा एवं बाढ़ के कारण अन्दर जल प्रवेश से, अग्नि के प्रकोप से, वायु के प्रकोप से अर्थात् आँधी, तूफान, झंझावात से, चार प्रयोग अर्थात् विभिन्न प्रकार के जादू-टोने एवं तान्त्रिक प्रयोगों से वास्तु के देवता चैत्यालय की सर्वदा रक्षा करें।

**तिर्यक्प्रचारादशनिप्रघाताद्बीजप्ररोहाद् द्रुमखंडपातात्।**
**कीटप्रवेशादपि वास्तुदेवश्चैत्यालयं रक्षतु सर्वकालम्॥**

—प्रतिष्ठातिलक, वास्तुबलिविधानम्, 57

**अर्थ**— पक्षियों एवं पशुओं के गमनागमन से, अशनि अर्थात् तडित् (आकाशीय विद्युत्) के गिरने से, वृक्षों के अंकुरण अर्थात् पीपल, वरगद, गूलर, निम्ब आदि वृक्षों, जटा के प्ररोह से, वृक्षों की शाखाओं के गिरने से, कीट प्रवेश अर्थात् विषैले तथा भित्ति को नष्ट करने वाले दीमक, चींटी आदि कीटों से वास्तु के देवता चैत्यालय की सर्वदा रक्षा करें।

**निमित्त-नैमित्तिक कारण-**

**साडियाए अग्गिदद्धं वा मूसयभक्खियं वा एवमादि।**

—जयधवला, आचार्य वीरसेन, गाथा 13-14, पृष्ठ 282

**समाधान**— जो स्त्री **जली** हुई और चूहों द्वारा खाई हुई **साड़ी** को पहनती है, उसके दुर्भाग्य और अलक्ष्मी का समागम देखा जाता है। इससे जाना जाता है कि साड़ी का अग्नि से जल जाना आदि दोष है।

**कुतो निमित्तद्वेषिणां योगक्षेमः-**

**जीवपरिणामहेदुं, कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।**
**पोग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमदि॥**

—समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द, 3-12-80

**अट्ठविहं होदि णिमित्तं-**

**अट्ठंग महाणिमित्त पारगेण।** —धवला, जीवट्ठाण, पु. 1, पृष्ठ 67-68

**अर्थ**— आचार्य धरसेन अष्टांग महानिमित्त के पारगामी थे।

**णमो अट्ठंग महाणिमित्तकुसलाणं।** —महाधवला, 14

**अर्थ**— अष्टांग महानिमित्त विद्या में प्रवीण जिनों को नमस्कार हो।

**विशेषार्थ**— अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न—ये आठ महानिमित्त कहे जाते हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, ताराओं के उदय, अस्त आदि से भूत-भविष्यत् सम्बन्धी फल का ज्ञान करना **अन्तरिक्ष ज्ञान** है। पृथ्वी के घन, सुषिर, रूक्षतादि के ज्ञान से अथवा पूर्वादि दिशाओं में सूत्र निवास करने से वृद्धि, हानि, जय, पराजय आदि ज्ञान करना तथा भूमि में छिपे हुए स्वर्ण, चाँदी आदि का परिज्ञान करना **भौमज्ञान** है। अंग-उपांगों के देखने आदि से त्रिकालवर्ती

सुख-दुःखादि को जान लेना **अंगज्ञान** है। अक्षरात्मक या अनक्षरात्मक शुभ-अशुभ शब्द को सुनकर इष्ट-अनिष्ट फल को जान लेना **स्वरज्ञान** है। मस्तक, ग्रीवा आदि में तिल, मशक आदि चिह्नों को देखकर त्रिकालसम्बन्धी हित-अहित का जानना **व्यंजनज्ञान** है। श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, भृंगार, कलश आदि लक्षणों को देखकर त्रिकालवर्ती स्थान, मान, ऐश्वर्य आदि का विशेष ज्ञान करना **लक्षणनामक** निमित्तज्ञान है। वस्त्र, शस्त्र, छत्र, आसन, शयनादिकों में देव, मानुष, राक्षसादि विभांगों से शस्त्र, कण्टक, चूहा आदिकृत छेदन को देखकर त्रिकालसम्बन्धी हानि, लाभ, सुख, दुःखादि को सूचित करना **छिन्न** नामक ज्ञान है। वात, पित्त, कफ दोषों के उदय से रहित व्यक्ति के रात्रि के पिछले भाग में चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, समुद्र आदि का अपने मुख में प्रवेश करना सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल का उपगूहन आदि शुभ स्वप्न तथा घृत या तैल लिप्त अपना शरीर देखना, गर्दभ, ऊँट पर चढ़े हुए इधर-उधर भटकते फिरना आदि अशुभ स्वप्न के दर्शन से आगामी जीवन, मरण, सुख, दुःखादि का ज्ञान करना **स्वप्नज्ञान** है।

इन महानिमित्तों में जो कुशलता है, वह अष्टांग-महानिमित्तता है।

### वृक्ष विशेष (टेंपल फ्लॉवर)-

**असोग-सत्तच्छद-चंपयंबवणेहिं।** –धवला, वग्गणा. पु. 13, पृष्ठ 290

–अशोक, सप्तच्छद, चंपा एवं आम के वृक्ष होते हैं उस स्थान को **नंदन वन** कहते हैं।

### स्थान तथा क्षेत्र का महत्त्व-

**अरिहंतसिद्धसागर पउमसरं खीरपुप्फफलभरिदं।**
**क्षीरपुण्यफल-भरिद [4]सामीप्यात्स्थानं।**

–आचार्य शिवार्य, भगवती आराधना एवं विजयोदया टीका, 560

**भावार्थ**– अरिहंत, सिद्ध, सागर, कमल पुष्पयुक्त सरोवर, क्षीरयुक्त तरु, पुष्पयुक्त पेड़, फलयुक्त वृक्ष— ये स्थान पवित्र हैं। ऐसे उद्यान में समाधि निर्विघ्न होती है, बाह्य निमित्त है।

–सोने की खान में ही **धववृक्ष** उगता है–

1) **न धवस्य अप्राप्तनिधिग्राहिण उपलम्भात्।** –धवला, वग्गणा, 5-5-24, पृष्ठ 220

नहीं, क्योंकि धववृक्ष अप्राप्त निधि को ग्रहण करता हुआ देखा जाता है।

---

4. **तरंति आपदं इति तरवः।**
–छाया, फल, प्राणवायु आदि प्रदान करने से वृक्ष महा उपकारी है।
**परस्परोपग्रहो जीवानाम्।** –तत्त्वार्थसूत्र
**अण्णोण उवयारेण जीवा।** –कार्तिकेयानुप्रेक्षा

2) **जिनाय स्वाहा। जिनोत्तमाय स्वाहा। धवाय स्वाहा। धवोत्तमाय स्वाहा।**
—प्रतिष्ठातिलक, 7/3/249

3) **धव:।** पार्श्वनाथ दीक्षा वृक्ष। —प्रतिष्ठातिलक, 10-2-4

4) **धव, (पु.) -धववृक्षे।** —अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 4, पृष्ठ 3739

**वृक्षविशेष धवादीनां।** —आप्तपरीक्षा, 5, पृष्ठ 31

5) **धवश्च।** —कातन्त्र, समास, 440, पृष्ठ 89

## पार्श्वनाथ दीक्षा एवं केवलज्ञान वृक्ष है धव-

**एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थित प्रदेश एक प्रारोह-मुक्त्यन्यथा-नुपपत्तित: स्पर्शनस्याप्राप्तार्थग्रहणसिद्धे:।** —धवला, सत, 1.1.115, पृष्ठ 357

एकेन्द्रियों में उनका योग्य देश में स्थित निधियों के होने पर जिस प्रदेश में निधिस्थित है उस प्रदेश में ही अंकुरों का फैलाव अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिये स्पर्शन इन्द्रिय के अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है।

## निमित्त-नैमित्तिक संबंध है-

**विश्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्, वर्द्धते समुद्रश्चन्द्रवृद्ध्यन्यथानुपपत्ते:, चन्द्रकान्तो-पलात्स्रवत्युदकं चन्द्रोदयान्यथानुपपत्ते:, उदेष्यति रोहिणी कृतिकोदयान्यथानुपपत्ते:, म्रियते राजा रात्राविन्द्रचापोत्पत्यन्यथानुपपत्ते:, राष्ट्रभंग: राष्ट्राधिपतेर्मरणं वा प्रतिमारोद-नान्यथानुपपत्ते:, इत्यादीनि साधनानि अत्रिलक्षणान्यपि साध्यसिद्धये प्रभवन्ति।**
—धवला, 5-5-43, पुस्तक 13, पृष्ठ 246

विश्व अनेकान्तात्मक है, क्योंकि, वह सत्स्वरूप है। समुद्र बढ़ता है, अन्यथा चन्द्र की वृद्धि नहीं बन सकती। चन्द्रकान्त मणि से जल झरता है, अन्यथा चन्द्रोदय की उपपत्ति नहीं बन सकती। रोहिणी उदित होगी, अन्यथा कृत्तिका का उदय नहीं बन सकता। राजा मरनेवाला है, अन्यथा रात्रि में चन्द्रधनुष्य की उत्पत्ति नहीं बन सकती। राष्ट्र का भंग या राष्ट्र के अधिपति का मरण होगा, अन्यथा प्रतिमा का रुदन करना नहीं बन सकता। इत्यादिक साधन तीन लक्षणों से रहित होकर भी साध्य की सिद्धि करने में समर्थ हैं।

## ताल (पु.) मान-माप (शिल्पशास्त्र)-

**कुदो? जदो देव-मणुस्स-णेरइयाणमुस्सेधो दस-णव-अट्ठतालपमाणेण भणिदो।**
—धवला, आचार्य वीरसेन, 1-3-3, पृष्ठ 40

**समाधान**— चूँकि देव, मनुष्य, नारकियों का उत्सेध दस (10), नौ (9), आठ (8) ताल के प्रमाण से कहा गया है, इसलिये यहाँ पर उत्सेध के दसवें भाग प्रमाण विष्कम्भ लिया है।

**प्रमाण**– **प्र** उत्कृष्ट, **मा** अंतरंग केवलज्ञान बहिरंग समवशरण तथा **अण** दिव्यध्वनि अर्थ है।

### चतुर्विंशति तीर्थंकर मूर्ति दस ताल-

**उत्तमं दशतालेन देवाङ्गैं स मानयेत्।**
**चतुर्विंशतितीर्थानां दशतालेन कारयेत्॥**
**निराभरणसर्वाङ्गं निर्वस्त्राङ्गं मनोहरम्।**
**समवक्षःस्थले हेमवर्ण श्रीवत्सलाञ्छनम्॥**

–मानसार, 55-46, पृष्ठ 364

**भावार्थ**– चौबीस तीर्थंकर की मूर्ति दशताल से बनवानी चाहिए, वही उत्तम मूर्ति है। उसके सर्व अंग आभरण-रहित होने चाहिये और वह निर्वस्त्र तथा मनोहर (सुन्दर) होनी चाहिये। उसके वक्षस्थल पर श्रीवत्स का लांछन अंकित होता है। दिगम्बर जैन मूर्ति आत्म-संस्कृति की प्रतीक है।

**सर्वेषां वास्तुवस्तुनि, प्रतिमादि यथोक्तवत्।**
**कारयेत्सर्वसम्पत्त्यै, भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्॥**

–मानसार, जैनलक्षणं, 67/71

**अर्थ**– प्रतिमा आदि में जैसा कहा गया है, उसी प्रकार सभी वास्तु का विधान सभी प्रकार की सम्पत्तियों एवं भुक्ति-मुक्ति के फल को देता है।

**अज्ञानाद् वास्तु वस्त्वादि, विपरीतं चेद् विपत्करम्।**
**तस्मात्परिहरेद् विद्वान्यथा पूर्वोक्तं सर्वतः॥**

–मानसार, जैनलक्षणं, 67-72

**अर्थ**– अज्ञान के कारण यदि वस्तुओं में वास्तु का विधानशास्त्र विपरीत हो जाता है तो उससे विपत्ति पैदा होती है, अतः कहे गए विधान के अनुसार विद्वान् व्यक्ति सर्वत्र वास्तुगत दोष का परिहार करें।

### वैदिक साहित्य में भी चौबीस तीर्थंकर-

**अस्मिन्वै भारते वर्षे जन्म वै श्रावके कुले।**
**तपसा युक्तमात्मानं केशोत्पाटनपूर्वकम्॥**
**तीर्थकराश्चतुर्विंशत्तथा तैस्तु पुरस्कृतम्।**
**छायाकृतं फणीन्द्रेण ध्यानमात्रप्रदेशिकम्॥**

–वैदिक पद्मपुराण, 5/14/389-90

**अर्थ**– (इस भारतवर्ष में 24 (चौबीस) तीर्थंकर श्रावक (क्षत्रिय) कुल में उत्पन्न हुए।) उन्होंने केशलुंचनपूर्वक तपस्या में अपने आपको युक्त किया। उन्होंने इस निर्ग्रन्थ दिगम्बर पद को पुरस्कृत किया। जब वे ध्यान में लीन होते थे, फणीन्द्र

नागराज उनके ऊपर छाया करते थे।

चौबीस तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं– 'ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभनाथ, पुष्पदन्तनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्यनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वीरनाथ।'

**सारांश–**

**नामूलं लिख्यते किञ्चित्।**

अर्थात् हमें हर बात प्रमाण-सहित कहनी चाहिए, बिना प्रमाण/निराधार कुछ भी नहीं कहना-लिखना चाहिए। मराठी भाषा में भी कहावत है कि 'बाप दिखाओ या श्राद्ध करो।'

**पाँच समवाय और सम्यग्दृष्टि-**

**कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।**
**मिच्छत्तं ते चेव य, समासओ होंति सम्मत्तं॥**

–सम्मइसुत्तं, आचार्य सिद्धसेन, 3/53

**अर्थ**– काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ[5]— इनमें से किसी एक का एकान्त से पक्षपात करने में मिथ्यात्व है। इन पाँचों को स्वीकार करने में सम्यक्त्व है।

**अनेकान्तवाद-**

**तुह वयणं चिय साहदि, णूणमणेगंतवायविहडपहं।**
**तह हिदयपदीपयरं, सव्वणत्तणमप्पणो णाह॥**

–पद्मनंदि पंचविंशति, उसहत्थोत्त, 33, पृष्ठ 310

**अर्थ**– हे वृषभदेव तीर्थंकर! आपके वचन (दिव्यध्वनि) ही निश्चयनय से अनेकान्तवादरूपी जो विकट मार्ग है, उसको सिद्ध करते हैं तथा हे नाथ! यह जो आपका सर्वज्ञपना है वह समस्त भव्य मनुष्यों के हृदय को प्रकाशित करनेवाला है।

**अनेकांत ज्ञानाकुंश है-**

**तस्यानेकान्तवादस्य, लिङ्गं स्याच्छब्द उच्यते।**
**तदुक्तार्थे विना भावं, लोकयात्रा न सिद्ध्यति॥**

–आचार्य जटासिंहनन्दि, वरांगचरित्र, 26-83

**अर्थ**– उस अनेकान्तवाद का प्रमुख चिह्न 'स्यात्' पद (शब्द) कहा जाता है।

---

5. **पुरुषार्थ**– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों आगम में मान्य हैं।

'स्यात्' शब्द अर्थ के बिना लौकिक यात्रा (व्यवहार) भी सिद्ध नहीं होती।

**व्यवहार का साधक अनेकान्तवाद है-**

**जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।**
**तस्स भवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥**

—आयरि सिद्धसेण, सम्मइसुत्तं, 3-69

**अर्थ**— अनेकान्तवाद व्यवहार तथा परमार्थ दोनों का आश्रय स्थान है। इसका आश्रय लिए बिना परमार्थ और व्यवहार दोनों ही नहीं बन सकते। उस तीन लोक के अद्वितीय गुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

## वास्तुविद्या [Architect]

1. वास्तु कला, 2. वास्तुकार, 3. वास्तुविज्ञान, 4. वास्तुशास्त्र, 5. वास्तुविद्या, 6. वास्तुशिल्प —The Oxford Hindi-English Dictionary, Page 916

भवन-निर्माण की योजना बनाने वाला व्यक्ति, वास्तुशिल्पी, स्थापत्यविद्।

—अंग्रेजी-हिन्दी-शब्दकोश, पृष्ठ 58

**मकान के नाम** —नाममाला, पृष्ठ 54

House— घर, भवन, समुदाय, गृहस्थी, परिवार या जाति, वंश।

—भार्गव डिक्शनरी, पृष्ठ 382

**बहुरो रिषभ बडे जब भये, नाभि राज दे वन को गये।**
**रिषभ-राज परजा सुख पायो, जस ताको सब जग में छायो॥**
**रिषभदेव जब बन को गये, नवसुत नवौ-खण्ड-नृप भये।**
**भरत सो भरत-खण्ड को राव, करे सदा ही धर्म अरु न्याव॥**

—सूरसागर, पंचम स्कन्ध, पृ. 150/51

**अहावरे तिदिए महव्वदे सव्वं भंते! अदिण्णादाणं पच्चक्खामि,**
**जावज्जीवं, तिविहेण मणसा-वचसा-काएण, से देसे वा, गामे वा, णयरे।**
**वा, खेडे वा, कव्वडे वा, मंडवे वा, मंडले वा, पट्टणे वा, दोणमुहे वा,**
**[6]घोसे वा, आसण वा, सहाए वा, संवाहे वा, सण्णिवेसे वा॥**

—बृहद् प्रतिक्रमण, अचौर्य महाव्रत

**अर्थ**— भगवन्! अब तीसरे अचौर्य महाव्रत में मन से, वचन से, काय से तीनों प्रकार से जीवनपर्यंत सभी प्रकार से अदत्तादान का मैं त्याग करता हूँ। उस अचौर्य महाव्रत में देश, ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मटंब, मंडल, पत्तन, द्रोणमुख, घोष, आश्रम, सभा, संवाह, सन्निवेश में। यहाँ घोष पद का अर्थ गूढ़ है।

---

6. **गङ्गायां घोषः।** —झोपड़ी, ग्वालों, अहीरों की बस्ती।

—संस्कृत-हिन्दी-कोश, आप्टे, पृष्ठ 365

**शांतिधारा में भी ग्राम आदि वास्तुओं का उल्लेख है-**

**सर्वजीवानंदनं कुरु कुरु, जनानंदनं, भव्यानंदनं गोकुलानंदनं च कुरु कुरु। सर्वराजानंदनं कुरु-कुरु, सर्वग्राम-नगर-खेड-कर्वट-मटंब-द्रोणमुख-संवाहनानंदनं कुरु कुरु। सर्वानंदनं कुरु कुरु स्वाहा।**

**यत्सुखं त्रिषु लोकेषु, व्याधि-व्यसन-विवर्जितम्। अभयं क्षेममारोग्यं स्वस्तिरस्तु विधीयते॥ श्री शांतिरस्तु आदि।**[7]

**वंदनवार और तोरण बाँधने से अनेक दोष दूर होते हैं-**

**वंदणमालबंधणट्ठं पुरदो ट्ठविद रुक्ख विसेसा तोरणं णाम।**

—आचार्य वीरसेन, खण्ड 5/41/39, पृष्ठ 39

**अर्थ**— वंदनमाला बाँधने के लिए आगे जो वृक्ष विशेष रखे जाते हैं, वह तोरण कहलाता है।

**सुपात्र को विद्यादान-**

**इति वयणादो जहाछंदाईणं विज्जादाणं संसार-भय-वद्धणमिदि चिंतेऊण सुट्ठुसुमिण-दंसणेणेव अवगय-पुरिसंतरेण धरसेण-भयवदा पुणरवि ताणं परिक्खा काउमाढत्ता। सुपरिक्खा हियय-णिव्वुइ करेत्ति। तदो ताणं तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ। एत्थ एया अहियक्खरा, अवरा विहीणक्खरा। एदाओ छट्ठोववासेण साहेहु त्ति। तदो ते सिद्धविज्जा विज्जा-देवदाओ पेच्छंति, एया उद्दंतुरिया अवरेया काणिया। एसो देवदाणं सहावो ण होदि त्ति चिंतेऊण मंत-व्वायरण-सत्थ-कुसलेहिं हीणाहियक्खराणं छुहणावणयण-विहाणं काऊण पढंतेहि दो वि देवदाओ सहाव-रूव-ट्ठियाओ दिट्ठाओ। पुणो तेहि धरसेण-भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुट्ठु तुट्ठेण धरसेण-भडारएण सोम्म-तिहि-णक्खत्त-वारे गंथो पारद्धो। पुणो कमेण वक्खाणंतेण तेण आसाढ-मास-सुक्क-पक्ख-एक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समाणिदो। विणएण गंथो समाणिदो त्ति तुट्ठेहि भूदेहि तत्थेयस्स महदी पूजा पुप्फ-बलि-संख-तूर-रव-संकुला कदा। तं दट्ठूण तस्स 'भूदबलि' त्ति भडारएण णामं कयं। अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थ-वियत्थ-ट्ठिय-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स 'पुप्फयंतो' त्ति णामं कयं॥**

इस वचन के अनुसार यथाछन्द (स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करनेवाले) श्रोताओं को विद्या देना संसारभय को बढ़ानेवाला है— ऐसा विचार कर, शुभ स्वप्न के देखने मात्र से ही यद्यपि धरसेन भट्टारक ने उन आये हुए दोनों साधुओं के अन्तर को जान लिया था, तो भी फिर से उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया, क्योंकि उत्तम प्रकार से ली गई परीक्षा हृदय में संतोष को उत्पन्न करती है। इसके बाद

---

7. **देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शांतिं भगवान् जिनेन्द्रः।**

—आचार्य पूज्यपाद, शांतिभक्ति, 14

धरसेनाचार्य ने उन दोनों साधुओं को दो विद्याएँ दीं। उनमें से एक अधिक अक्षरवाली थी और दूसरी हीन अक्षरवाली थी। दोनों को दो विद्याएँ देकर कहा कि इनको षष्ठभक्त उपवास से सिद्ध करो। इसके बाद जब उनको विद्याएँ सिद्ध हुईं, तो उन्होंने विद्या की अधिष्ठात्री देवताओं को देखा कि एक देवी के दांत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है। 'विकृतांग होना देवताओं का स्वभाव नहीं होता है'— इस प्रकार उन दोनों ने विचार कर मन्त्र-सम्बन्धी व्याकरण-शास्त्र में कुशल उन दोनों ने हीन अक्षरवाली विद्या में अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षरवाली विद्या में से अक्षर निकालकर मन्त्र को फिर से सिद्ध करना प्रारम्भ किया, जिससे वे दोनों विद्या-देवताएँ अपने स्वाभाविक सुन्दर रूप में स्थित दिखलाई पड़ीं। तदनन्तर भगवान् धरसेन के समक्ष, योग्य, विनय-सहित उन दोनों के विद्या-सिद्धि सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त के निवेदन करने पर 'बहुत अच्छा' —इस प्रकार संतुष्ट हुए धरसेन भट्टारक ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ वार में ग्रन्थ का पढ़ाना प्रारम्भ किया। इस तरह क्रम से व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान से उन दोनों ने आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष की एकादशी के पूर्वाह्नकाल में ग्रन्थ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया, इसलिए संतुष्ट हुए भूत जाति के व्यन्तर देवों ने उन दोनों में से एक की पुष्प, बलि तथा शंख और तूर्य जाति के वाद्यविशेष के नाद से व्याप्त बड़ी भारी पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारक ने उनका 'भूतबलि' नाम रखा तथा जिनकी भूतों ने पूजा की है और अस्त-व्यस्त दन्तपंक्ति को दूर करके भूतों ने जिनके दाँत समान कर दिये हैं ऐसे दूसरे का 'पुष्पदन्त' नाम रखा।

❖❖

# मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण

## आमुख

मोहन-जो-दड़ो[1] का अर्थ है– 'मृतकों का टीला'। पुरातात्त्विक महत्त्व का यह स्थान पाकिस्तान के लरकाना जिले (सिन्ध) में स्थित है।[2] इसके उत्खनन का कार्य 1922-1927 ई. के मध्य सरकार के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण विभाग ने सम्पन्न किया था।[3] खुदाई में जो सीलें प्राप्त हुई हैं उनसे जैन संस्कृति की प्राचीनता असंदिग्ध और स्पष्ट बनती है। प्राप्त तथ्यों तथा निष्कर्षों का भारत के प्राचीन इतिहास की धारणा पर भी अचूक प्रभाव पड़ा है। अब तक ऋग्वेद को ही भारतीय संस्कृति/सभ्यता का अन्तिम बिन्दु माना जाता था; किन्तु सिन्धुघाटी की संस्कृति से सम्बन्धित छानबीन से हमारा ध्यान प्राग्वैदिक भारत की ओर भी बरबस गया है।[4] यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सिन्धुघाटी के निवासी कौन थे? उनकी धार्मिक आस्थाएँ क्या थीं? क्या मोहन-जो-दड़ो के तत्कालीन सांस्कृतिक मानचित्र पर जैनों की कोई स्थिति थी? क्या जो तथ्य सामने आये हैं उनके कारण ऋग्वेद को भारतीय संस्कृति का एक सिरा मान लेने पर दूसरा सिरा सिन्धुघाटी तक विस्तृत नहीं हो जाएगा? तथ्यों की इस समीक्षा से यह सिद्ध होता है कि जैनधर्म प्राग्वैदिक

---

1. Mohen-jo-daro; the 'Mound of the Dead'; **Sind Five Thousand Years ago**; by Ramprasad Chanda; **Modern Review**, August 1932; p. 152.
2. Mohen-jo-daro, the 'Mound of the dea', situated in Larkana District in sind, stands on a long narrow strip of land between the main bed of the Indus and the Western Naro loop (27º19 'N. and 68º8' E) —do—.
3. —do—; 1922-27; p. 152.
4. —do—; p. 152.

है और भारत में योग-परम्परा का प्रवर्तक है।[5]

अब तक यह माना जाता रहा है कि हमारे देश की प्राचीनता ऋग्वेद से पीछे संभवतः लौट नहीं सकती; किन्तु जो प्रमाण मोहन-जो-दड़ो के उत्खनन में मिले हैं उनसे यह प्रमाणित हो गया है कि भारत की संस्कृति काफी प्राचीन है, अतः प्राचीनता के इस तथ्य को खुदाई से मिले तथ्यों के समानान्तर वाङमयिक परम्पराओं में भी ढूँढ़ा जाना चाहिये। प्रस्तुत पुस्तिका में इस दिशा में एक ठोस प्रयास किया गया है। मोहन-जो-दड़ो से जो एक सील मिली है[6] उससे जैन संस्कृति के सम्बन्ध में कई धूमिलताएँ स्पष्ट हुई हैं और इस नये उजाले में हम कई ऐतिहासिक गुत्थियों को खोल सके हैं। अब तक कहा जाता रहा है कि जैनधर्म वेदों के समय प्रवर्तित या पुनरुज्जीवित हुआ; किन्तु मोहन-जो-दड़ो की खुदाई ने यह सिद्ध कर चकित किया है कि जैन संस्कृति पुरातथ्यों की कसौटी पर कम से कम 5000 वर्ष (3250 ई.पू.) पुरानी तो है ही, मोहन-जो-दड़ो की सीलों पर योगियों की जो काउस्सग्ग (कायोत्सर्ग) दिगम्बर मुद्राएँ[7] अंकित हैं उनसे उक्त स्थापना और दृढ़ हुई है। मोहन-जो-दड़ो के उत्खनन से जो निष्कर्ष सामने आये हैं वे इस प्रकार हैं–

1. जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ अध्यात्म (आत्मविद्या) के आदिप्रवर्तक हैं। यह तथ्य मोहन-जो-दड़ो की सीलों से प्रमाणित होता है।[8]
2. योगविद्या का प्रवर्तन क्षत्रियों ने किया। ब्राह्मणों ने इसे उन्हीं से सीखा।

---

5. 'ऋषभदेव की कृच्छ्र साधना का मेल ऋग्वेद की प्रवृत्तिमार्गी धारा से नहीं बैठता। वेदोल्लिखित होने पर भी ऋषभदेव वेदपूर्व परम्परा के प्रतिनिधि हैं।'–'संस्कृति के चार अध्याय'; रामधारी सिंह दिनकर; पृष्ठ 130. 'विद्वानों का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिन्धु घाटी की सभ्यता में मिली योगिमूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में ऋषभ और अरिष्टनेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। 'भागवत' और 'विष्णुपुराण' में मिलने वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा भी जैनधर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है।' –भारतीय इतिहास और संस्कृति; डॉ. विशुद्धानन्द / डॉ. जयशंकर मिश्र; भारतीय विद्या प्रकाशन, 108, कचौड़ी गली, वाराणसी; पृष्ठ 199।
6. No. 620/1928-29 : Mohen-jo-daro; Seal; AST Govt. of India; Modern Review (Calcutta) Aug. 1932; **Sind Five Thousand Years Ago** by Ramprasad Chanda; Plate II; Seal f — **Seal with Standing diety and bull**.
7. —do—; Seal d,e,f,g,h,i.
8. 'वस्तुतः जैनधर्म संसार में मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश में वैदिक धर्म के आने के बहुत ही पहले से जैनधर्म प्रचलित था। खूब संभव है कि प्राग्वैदिकों में शायद द्रविड़ों में यह धर्म था।' —उड़ीसा में जैनधर्म; नीलकण्ठदास, भुवनेश्वर; प्र. 3; अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज, एटा; 1958

3. मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति में महायोगी ऋषभनाथ की बहुत प्रतिष्ठा थी; यही कारण है कि सीलों पर जहाँ एक ओर उनकी कायोत्सर्ग नग्न मुद्रा मिलती है, वहीं उनका लांछन बैल भी अपने समानुपातिक सौंदर्य में यत्र-तत्र दिखायी देता है।[9]

4. खुदाई में जो सीलें मिली हैं उनसे योग-परम्परा के और अधिक प्राचीन होने की संभावना पुष्ट होती है। इनसे हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि उस युग में जैन मूर्तिशिल्प का भी काफी विकास हो चुका था। दिगम्बर मुनियों की कैसी मुद्रा हो, उनके चतुर्दिक् कैसा वातावरण अंकित किया जाए; ऐसे कौन से प्रतीक हो सकते हैं जिन्हें चित्रित करने से उनकी गरिमा का बोध हो, इत्यादि पर भी काफी गंभीरता से विचार हुआ था। वृषभ, सिंह, महिष, गज, गैंड़ा आदि प्राणियों की शरीर-रचना[10] का भी अध्ययन उस समय के कला-शिल्पियों को था। सीलों में जो संयोजन (कम्पोजीशन) है, वह सामान्य नहीं है अपितु एक दीर्घकालिक परम्परा का द्योतक है। यदि हमारे पुरातत्त्वविद् इन सीलों की गहन समीक्षा करते हैं तो जैन शिल्प के इतिहास/प्रागैतिहास में एक नया अध्याय खोला जा सकता है।

5. निर्विवाद है कि मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति में प्राग्वैदिक संस्कृति के ऐसे अवशेष मिले हैं, जिनसे जैनों की प्राचीनता पुष्ट होती है। श्री रामप्रसाद चन्दा[11] तथा श्री इरावाथम महादेवन्[12] ने तथ्यों की जो प्रगल्भ समीक्षा की है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि सिन्धुघाटी-संस्कृति में जैनों को एक विशिष्ट सामाजिक दर्जा प्राप्त था और उन्हें घाटी से संबद्ध राष्ट्रकुल (कॉमनवेल्थ) में एक सुप्रतिष्ठित स्थान मिला हुआ था। उनकी वित्तीय साख थी तथा व्यापार-जगत् में उन्हें बहुत सम्मान के साथ देखा जाता था।

6. प्रस्तुत लघु पुस्तिका में हम जिस सील की विवेचना करने जा रहे हैं वह उत्खनन के तथ्यों पर आधारित तो है ही, साथ ही जैनवाङ्मय में प्राप्त परम्परा से भी समर्थित है। जब इतिहास को लोकश्रुति और परम्परा का बल मिल जाता है, तब वह इतनी असंदिग्ध और अकाट्य हो जाता है कि फिर उसकी अस्वीकृति लगभग असंभव ही होती है। इतिहास विवरणों से बनता है, लोकश्रुतियाँ लोकमानस में

---

9. —do—; Seal c & f.
10. —do—; Seal b & f.
11. **Sind Five Thousand Years Ago** by Ramprasad Chanda; Modern Review, Calcutta, August 1932, pp. 151—160
12. The Indus Script, Texts, Concordance and Tables by Irvatham Mahadevan; ASI, New Delhi

पकती हैं, और परम्पराएँ साहित्य और भाषा के तल से प्रकट होती हैं। आचार्य जिनसेन के 'आदिपुराण' में जो श्लोक[13] उपलब्ध है उससे यह तथ्य बहुत स्पष्ट हो जाता है कि मोहन-जो-दड़ो की पूरी पट्टी पर क्रियाकाण्ड की अपेक्षा अध्यात्म की संस्कृति अधिक प्रभावी थी। सीलों में जो प्रतीक मिलते हैं उनसे भी तत्कालीन लोकमानस/लोकाभिरुचियों का अनुमान लगता है। त्रिशूल, वृषभ, छह अराओं वाला कालचक्र[14], कल्पवृक्ष-वेष्टित कायोत्सर्ग-प्रतिमाएँ इत्यादि भी महत्त्वपूर्ण हैं।

7. श्री महादेवन् ने यह साफ-साफ माना है कि मोहन-जो-दड़ो के सांस्कृतिक विघटन के समय जैनों का जो व्यापारिक विस्तार था उससे भी जैन संस्कृति का एक स्पष्ट परिदृश्य हमारे सामने आता है। उनका कथन है कि उस समय जैन व्यापारियों का मोहन-जो-दड़ो के राष्ट्रकुल में एक प्रतिष्ठित स्थान था और उनकी साख दूर-दूर तक थी। उनकी हुंडियाँ पूरे राष्ट्रकुल में चलती थीं। आज से सौ साल पहले तक देश में ऐसी हुंडियों का काफी प्रचलन था।[15] इनकी एक स्वतन्त्र लिपि थी।[16] कुछ कूट-चिह्न भी थे। जो सीलें मोहन-जो-दड़ो में मिली हैं, संभव है उनमें से बहुतेरी जैन व्यापारियों से संबद्ध हों (?) महादेवन् की उस उपपत्ति पर भी विचार किया जाना चाहिये।

8. यह स्थापना भी काफी सार्थक दिखायी देती है कि मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति से जैन अध्यात्म और दर्शन संबद्ध रहे हैं, तथा उस समय भी संपूर्ण देश के व्यापार की बागडोर उसके हाथ में थी। जैनों का व्यापार-तन्त्र, शैली और प्रशासन बिलकुल जुदा थे।

आश्चर्य तो यह है कि जैनधर्म की प्राचीनता के जो संकेत आज से लगभग 60 वर्ष पूर्व मिले थे, उन पर आगे कोई काम नहीं हुआ। वह सूत्र/वह क़दम जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-त्यों उठा रह गया। श्री रामप्रसाद चंदा का लेख 'मॉडर्न रिव्ह्यू' के अगस्त 1932 के अंक में प्रकाशित हुआ था तथा श्री महादेवन् के शोध-निष्कर्ष पर श्री एस.बी. राय की समीक्षा 'संडे स्टैंडर्ड' के 19 अगस्त 1979 के अंक में प्रकाशित हुई थी। दोनों में मोहन-जो-दड़ो में जैनत्व के होने की सूचनाएँ हैं;

---

13. **Sind Five Thousand Years Ago** by Ramprasad Chanda; **Modern Review,** Calcutta, Aug. 1932; pp. 157, 158.
14. Who were the Indus People? : Review of the book written by Mahadevan in **Sunday Standard** August 19, 1979 by S.B. Roy; See fn. 12.
15. —do—
16. 'जैन व्यापारी जिस लिपि का उपयोग परम्परा से करते रहे हैं उसे 'मोड़ी' कहा जाता है। यह घसीट लिखाई है। इसमें त्वरा का महत्त्व है। यह दक्षिण भारत से संबद्ध मानी जाती है।' मानक हिन्दी कोश; भाग 4; पृष्ठ 421; रामचन्द्र वर्मा।

किन्तु इतने वर्षों बाद भी किसी जैन पुरातत्त्वविद् ने इस स्थापना को आगे नहीं बढ़ाया, पल्लवित नहीं किया। ऐसे समय जबकि मोहन-जो-दड़ो की लिपि को पढ़ने (डिसाइफर करने) के कई सार्थक प्रयत्न हो चुके हैं, जैन इतिहासवेत्ता/पुरातत्त्वविज्ञ यदि उन सारे स्रोतों का दोहन नहीं करते जो जैन संस्कृति को विश्व की प्राचीनतम संस्कृति सिद्ध कर सकते हैं, तो यह हमारा दुर्भाग्य ही है। हमारी राय में मोहन-जो-दड़ो संस्कृति में अध्यात्म और योग, शिल्प और व्यापार का जो रूप उपलब्ध है उस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिये। उन सारी उपपत्तियों का भी सावधान परीक्षण होना चाहिये जो जैन योग की परम्परा को सुसमृद्ध ठहराती हैं।

प्रयत्न किया जाना चाहिये कि जैन ग्रन्थों में जहाँ भी इस परम्परा की अभिव्यक्ति हुई है, उसे वहाँ से उठा कर सबके सामने रखा जाए। जैनों का लोक-संस्कृति के विकास में जो अवदान है, उसकी भी पूर्वग्रहमुक्त विवृति होनी चाहिये। प्रश्न शायद यह नहीं कि मोहन-जो-दड़ो की प्राचीन संस्कृति को किस आस्था या विश्वास, धर्म या दर्शन से जोड़ा जाए बल्कि इस तथ्य को कसौटी पर कसा जाना चाहिये कि मोहन-जो-दड़ो के उत्खनन में जो सामग्री प्राप्त हुई है, उसका जैन वाङ्मय में कहाँ-कैसा उल्लेख हुआ है और उसका जैन इतिहास से क्या सम्बन्ध है? हमारी राय में प्राप्त तथ्यों को इन कसौटियों पर अवश्य देखा जाना चाहिये–

1. भगवान् ऋषभनाथ[17] के जो पर्याय शब्द मिलते हैं वे कितने हैं और उनका मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति से क्या तालमेल है? प्रजापति, पशुपतिनाथ, ब्रह्म, ब्रह्मा तथा अथर्वन्, ब्राह्मी, वृषभ आदि शब्द क्या जैन संस्कृति से किसी तरह सम्बन्धित हैं? यदि इनका कोई सम्बन्ध है तो वह क्या है और समय ने उसे इस तरह धुँधला क्यों कर दिया है? क्या हम इस धुन्ध को हटा सकते हैं?
2. योग की जो परम्परा आज उपलब्ध है, उसका जैन योग से कितना सम्बन्ध है? क्या योगियों की जो पर्यंक/कायोत्सर्ग मुद्राएँ मोहन-जो-दड़ो की सीलों पर अंकित हैं, उनका विवरण जैन ग्रन्थों में कहीं हुआ है? अर्धोन्मीलित नेत्र तथा नासिकाग्र दृष्टि क्या जैन मुनियों की ध्यान/तपोमुद्रा से सम्बन्धित नहीं है? इस दृष्टि से भी तथ्यों की विवेचना की जानी चाहिये।
3. कायोत्सर्ग (काउस्सग्ग) जैनों का अपना पारिभाषिक शब्द है। यह जिस ध्यानमुद्रा का प्रतीक है, वह जैन मुनियों की विशिष्ट तपोमुद्रा है। इस दृष्टि से भी तथ्यों की छानबीन की जानी चाहिये।
4. जैन प्रतिमा-विज्ञान (आइकोनोग्राफी) की दृष्टि से भी मोहन-जो-दड़ो की प्रतिमाकृतियों का विश्लेषण किया जाना चाहिये। देखा जाना चाहिये कि

17. आदिनाथ, ब्रह्मा, महायोगी, आदिदेव, महादेव, प्रजापति आदि।

क्या परम्परा से चली आ रहीं जैन प्रतिमाओं में और मोहन-जो-दड़ो की सीलों पर अंकित/उत्कीर्णित प्रतिमाकृतियों में कोई संगति है? क्या दोनों की शरीर-रचना (अनाटॉमी) समान है? भुजाओं का प्रलम्बन, एड़ियों का सटा होना, दोनों अंगुष्ठों के बीच का अंतर, नासिकाग्र दृष्टि, अधखुली आँखें, केश-विन्यास आदि कई ऐसे मुद्दे हैं, जिन्हें गंभीरता से/तुलनात्मक तल पर देखा जाना चाहिये।

5. मोहन-जो-दड़ो जब उन्नति के चरम शिखर पर था, तब जैनों का व्यापार काफी दूर तक विस्तृत था। उनकी पहचान/मुद्राएँ/हुंडियाँ (बिल ऑफ एक्सचैंज) प्रचलित थीं। क्या इन हुंडियों का, जो आज भी प्रचलन में हैं, तब कोई अर्थ था? क्या हम इस तरह की हुंडियों की खोज़बीन नहीं कर सकते? संभव है इनका कोई भाग, कोई रूप हमें मिल जाए। 'मोड़ी' लिपि के विश्लेषण से भी कोई कुंजी हमें मिल सकती है।

6. कहा जाता है कि जो लिपि मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में प्राप्त बर्तनों और सीलों में कहीं-कहीं प्रयुक्त हुई है, वह ब्राह्मी[18] का ही कोई रूप है। ब्राह्मी ऋषभनाथ की पुत्री थी, जिसे उन्होंने लिपि-ज्ञान कराया था। क्या हम इस संभावना पर कोई विचार नहीं करना चाहेंगे?

7. 'अथर्वन्'[19] शब्द 'भरत' के पर्याय शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है; क्या इसे लेकर हम कोई विवेचना करना चाहेंगे? मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति पर अथर्ववेद का प्रभाव माना जाता है; हम देखें कि क्या इस शब्द-साम्य में गहरे कहीं कोई सांस्कृतिक साम्य पाँव दबाये बैठा है?

यह उपयुक्त समय है जबकि हमें उक्त सारे तथ्यों को समीक्षा के पटल पर लेना चाहिये और मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में प्राप्त संपूर्ण सामग्री का पुरातत्त्व,

---

18. 'ऋषभदेव ने ही संभवतः लिपिविद्या के लिए कौशल का उद्भावन किया। ऋषभदेव ने ही संभवतः ब्रह्मविद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।' —हिन्दी विश्वकोश, प्रथम भाग, संपादक—नगेन्द्र वसु; पृ. 64; पुरुदेव चम्पू, महाकवि अर्हद्दास, षष्ठ स्तवक 39, 40।

19. ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।।

—मुण्डकोपनिषद् 1.1

—देवताओं में सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुए। वे विश्व के कर्ता; असि, कृषि, मसि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या के संप्रदाता थे; इसीलिए तीनों भुवनों के रक्षक थे। उन्होंने समस्त विद्याओं में प्रतिष्ठित ब्रह्मविद्या (अध्यात्मविद्या) अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व—भरत के निमित्त कही।

इतिहास, परम्परा, लिपि, भाषा आदि की दृष्टि से सावधान विश्लेषण/अनुसंधान-अध्ययन करना चाहिये।

भारतीय जैन शिल्पकला का प्रयोजन क्या है और क्यों इसका इतना विकास हुआ – एक ऐसा विषय है, जिस पर काफी उन्मुक्त और युक्तियुक्त विचार होना चाहिये। जैनधर्म और दर्शन वैराग्यमूलक हैं। उनका सम्बन्ध अन्तर्मुख सौंदर्य से है; किन्तु यह जिज्ञासा सहज ही मन में उठती है कि क्या अन्तर्मुख सौंदर्य की कोई बाह्य अभिव्यक्ति संभव नहीं है? क्या कोई काष्ठ, धातु या पाषाण-खण्ड आपोआप बोल उठता है? संभव ही नहीं है; क्योंकि यदि किसी पाषाण-काष्ठ-खण्ड आदि को शिल्पाकृति लेनी होती तो वह स्वयं वैसा कभी का कर चुका होता; किन्तु ऐसा है नहीं। बात कुछ और ही है। जब तक कोई साधक/शिल्पी अपनी भव्यता को पाषाण में लयबद्ध/तालबद्ध नहीं करता, तब तक किसी भी शिल्पाकृति में प्राण-प्रतिष्ठा असंभव है। काष्ठ, मिट्टी, पत्थर, काँसा, ताँबा माध्यम जो भी हो चेतन की तरंगों का रूपांकन जब तक कोई शिल्पी उन पर नहीं करता, वे गूँगे बने रहते हैं।

मूर्ति जैनों के लिए साधना-आराधना का आलम्बन है। वह साध्य नहीं है, साधन है। उसमें स्थापना निक्षेप से भगवत्ता की परिकल्पना की जाती है। शिल्पी भी वही करता है। मोहन-जो-दड़ो में जो सीलें (मुद्राएँ) मिली हैं, वे भी साधन हैं, साध्य नहीं हैं; मार्ग हैं, गन्तव्य नहीं हैं; किन्तु शिल्प और कला, वास्तु और स्थापत्य के माध्यम इतने सशक्त हैं कि उनके द्वारा परम्परा और इतिहास को प्रेरक, पवित्र और कालातीत बनाया जा सकता है।

जैन स्थापत्य और मूर्ति-शिल्प का मुख्य प्रयोजन आत्मा की विशुद्धि को प्रकट करना और आत्मोत्थान के लिए एक व्यावहारिक/सुमधुर भूमिका तैयार करना है, इसलिए सौंदर्य, मनोज्ञता, प्रफुल्लता, स्थितप्रज्ञता, एकाग्रता, आराधना, पूजा आदि के इस माध्यम को हम जितना भी यथार्थमूलक तथा भव्य बना सकते हैं, बनाने का प्रयत्न करते हैं। इनमें भगवान् भला कहाँ हैं? कैसे हो सकते हैं, फिर भी हैं और हम उन्हें पा सकते हैं। मूर्ति की भव्यता इसमें है कि वह स्वयं साधक में उपस्थित हो और साधक की सार्थकता इसमें है कि वह मूर्ति में समुपस्थित हो। इन दोनों के तादात्म्य में ही साधना की सफलता है।

मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त सीलों (मुद्राओं) की सबसे बड़ी विशेषता है कला की दृष्टि से उनका उत्कृष्ट होना। शरीर-गठन और कला-संयोजन की सूक्ष्मताओं और सौंदर्य की संतुलित/आनुपातिक अभिव्यक्ति ने इन सीलों को एक विशेष कला-संपूर्णता प्रदान की है। बहुत सारे विषयों का एक साथ सफलतापूर्वक संयोजन इन तीनों की विशेषता है।

उक्त दृष्टि से भारत सरकार के केन्द्रीय पुरातात्त्विक संग्रहालय में सुरक्षित

सील क्र. 620/1928-29 समीक्ष्य है। इसमें जैन विषय और पुरातथ्य को एक रूपक के माध्यम से इस खूबी के साथ अंकित/समायोजित किया गया है कि वे जैन पुरातत्त्व और इतिहास की एक प्रतिनिधि निधि बन गये हैं। न केवल पुरातात्त्विक अपितु इतिहास और परम्परा की दृष्टि से भी इस सील (मुद्रा) का अपना महत्त्व है।

इसमें दायीं ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान् ऋषभदेव हैं, जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशूल है, जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) का प्रतीक है। निकट ही नतशीश हैं उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो उष्णीष धारण किये हुए राजसी ठाठ में हैं। वे भगवान् के चरणों में अंजलिबद्ध भक्तिपूर्वक नतमस्तक हैं। उनके पीछे वृषभ (बैल) है, जो ऋषभनाथ का चिह्न (पहचान) है। अधोभाग में सात प्रधान अमात्य हैं, जो तत्कालीन राजसी गणवेश में पदानुक्रम से पंक्तिबद्ध हैं।

चक्रवर्ती भरत सोच रहे हैं– ऋषभनाथ का अध्यात्म-वैभव और मेरा पार्थिव वैभव!! कहाँ है दोनों में कोई साम्य? वे ऐसी ऊँचाइयों पर हैं जहाँ तक मुझ अकिंचन की कोई पहुँच नहीं है। भरत की यह निष्काम भक्ति उन्हें कमल-दल पर पड़े ओस-बिन्दु की भाँति निर्लिप्त बनाये हुए है। वे आकिंचन्य-बोधि से धन्य हो उठे हैं।

'सर्वार्थसिद्धि' 1.1 (आचार्य पूज्यपाद) में कहा है— मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तम् (वे निःशब्द ही अपनी देहाकृति मात्र से मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले हैं)। शब्द जहाँ घुटने टेक देता है, मूर्ति वहाँ सफल संवाद बनाती है। मूर्ति भक्ति का भाषातीत माध्यम है। उसे अपनी इस सहज प्रक्रिया में किसी शब्द की आवश्यकता नहीं है। उसकी अपनी वर्णमाला है; इसीलिए मिट्टी, पाषाण आदि को आत्मसंस्कृति का प्रतीक माना गया है।

कौन नहीं जानता कि मूर्ति पाषाण आदि में नहीं होती, वह होती है वस्तुतः मूर्तिकार की चेतना में पूर्वस्थित जिसे कलाकार क्रमशः उत्कीर्ण करता है अर्थात् वह काष्ठ आदि के माध्यम से आत्माभिव्यंजन या आत्मप्रतिबिम्बन करता है। पाषाण जड़ है किन्तु उसमें जो रूपायित या मूर्तित है वह महत्त्वपूर्ण है। मूर्ति में सम्प्रेषण की अपरिमित ऊर्जा है। यही ऊर्जा या क्षमता साधक को परम भगवत्ता/परमात्मतत्त्व से जोड़ती है अर्थात् साधक इसके माध्यम से मूर्तिमान तक अपनी पहुँच बनाता है।

शिल्पशास्त्र प्रथमानुयोग का विषय है। विशुद्ध आत्मबोधि से पूर्व हम इसी माध्यम की स्वीकृति पर विवश है। आगम क्या है? आगम माध्यम है सम्यक्त्व तक पहुँचने का। आगम केवली के बोधि-दर्पण का प्रतिबिम्ब है, जिसका अनुगमन हम

श्रद्धा-भक्ति द्वारा कर सकते हैं। 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति है : आगमयति हिताहितं बोधयति इति आगमः (जो हित-अहित का बोध कराते हैं, वे आगम हैं)। तीर्थंकर की दिव्यवाणी को इसीलिए आगम कहा गया है।

कहा जा सकता है कि अध्यात्म से पुरातत्त्व/मूर्तिशिल्प आदि की प्राचीनता का क्या सम्बन्ध है? इस सिलसिले में हम कहेंगे कि शिल्पकला आदि के माध्यम से आगम बोधगम्य बनता है और हम बड़ी आसानी से उस कंटकाकीर्ण मार्ग पर पग रखने में समर्थ होते हैं।

जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद है। प्राचीनता के इस तथ्य को हम दो साधनों से जान सकते हैं— पुरातत्त्व, इतिहास। जैन पुरातत्त्व का प्रथम सिरा कहाँ है, यह तय करना कठिन है; क्योंकि मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में ऐसी कुछ सामग्री मिली है, जिसने जैनधर्म की प्राचीनता को आज से कम-से-कम 5000 वर्ष आगे धकेल दिया है।[20] सिन्धुघाटी से प्राप्त मुद्राओं के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि 'कायोत्सर्ग मुद्रा' जैनों की अपनी लाक्षणिकता है। प्राप्त मुद्राओं की तीन विशेषताएँ हैं : कायोत्सर्ग मुद्रा, ध्यानावस्था और नग्नता (दिगम्बरत्व)[21]।

मोहन-जो-दड़ो की सीलों पर योगियों की जो कायोत्सर्ग मुद्रा अंकित है उसके साथ वृषभ भी है। वृषभ ऋषभनाथ का चिह्न (लांछन) है। पद्मचन्द्र कोश में ऋषभ का व्युत्पत्तिक अर्थ दिया है– 'संपूर्ण विद्याओं के पार जाने वाला एक मुनि।'[22] हिन्दू पुराणों में जो वर्णन मिलता है उसमें ऋषभ और भरत दोनों के विपुल उल्लेख हैं। पहले माना जाता रहा है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारत हुआ; किन्तु अब यह निर्भ्रान्त हो गया है कि भारत ऋषभ-पुत्र 'भरत' के नाम पर ही 'भारत' कहलाया।[23] इसका पूर्वनाम अजनाभवर्ष था। नाभि (अजनाभ) ऋषभ के पिता थे। उन्हीं के नाम पर यह अजनाभवर्ष कहलाया। 'वर्ष' का अर्थ है देश, तदनुसार 'भारतवर्ष' का अर्थ हुआ 'भारतदेश'। मोहन-जो-दड़ो की संकेतित सील में भरत चक्रवर्ती की मूर्ति भी उकेरी गयी है। इन सारे पुरातथ्यों की वस्तुनिष्ठ समीक्षा की जानी चाहिये।

सील को जब हम तफसील-वार या विस्तार से देखते हैं तब इसमें हमें सात

---

20. सिंध फाइव थाउजेंड इअर्स एगो; रामप्रसाद चन्दा; 'मॉडर्न रिव्हयू', कलकत्ता; अगस्त 1932
21. अतीत का अनावरण; आचार्य तुलसी, मुनि नथमल; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 1969; पृष्ठ 16
22. पद्मचन्द्र कोश, पृष्ठ 495, ऋषभदेव (पु.) 1. ऋष+अभक्=जाना, दिव=अच् (संपूर्ण विद्याओं में पार जाने वाला एक मुनि); 2. जैनों का पहला तीर्थंकर।
23. मार्कण्डेयपुराण : सांस्कृतिक अध्ययन; डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल; पृष्ठ 22-24

विषय दिखायी देते हैं : (1) ऋषभदेव नग्न कायोत्सर्गरत योगी। (2) प्रणाम की मुद्रा में नतशीश भरत चक्रवर्ती। (3) त्रिशूल। (4) कल्पवृक्ष पुष्पावलि। (5) मृदु लता। (6) वृषभ (बैल)। (7) पंक्तिबद्ध गणवेशधारी प्रधान आमात्य।

निश्चय ही इस तरह की संरचना का आधार पीछे से चली आती कोई सुदृढ़ सांस्कृतिक परम्परा ही हो सकती है। प्रचलित लोक-परम्परा के अभाव में मात्र जैनागम के अनुसार इस तरह की परिकल्पना संभव नहीं है।

इतिहास में ही हम अपनी प्राचीन धरोहर को प्रामाणिक रूप में सुरक्षित पाते हैं। 'इतिहास' और 'आम्नाय' समानार्थक शब्द हैं।[24] 'इतिहास' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार इसका वाच्यार्थ है— इति ह आसीत् (निश्चय से ऐसा ही हुआ था तथा परम्परा से ऐसा ही है)। इतिहास असल में दीपक है। जिस तरह एक दीपक से हम वस्तु के यथार्थ रूप को देख पाते हैं, ठीक वैसे ही इतिहास से हमें पुरातथ्यों की निर्भ्रान्त सूचना मिलती है।

परम्परा और इतिहास में किंचित् अन्तर है। इतिहास स्थूल/ठोस तथ्यों पर आधारित होता है; परम्परा लोकमानस में उभरती और आकार ग्रहण करती है। एक पीढ़ी जिन आस्थाओं, स्वीकृतियों और प्रचलनों को आगामी पीढ़ी को सौंपती है, परम्परा उनसे बनती है। परम्पराओं का कोई सन्-संवत् नहीं होता। वैसे इस शब्द के नानार्थ हैं। एक अर्थ पुरासामग्री भी है। परम्परा अर्थात् एक सुदीर्घ अतीत से जो अविच्छिन्न चला आ रहा है वह। योगियों की भी एक अविच्छिन्न/अटूट परम्परा रही है। योगविद्या क्षत्रियों की अपनी मौलिकता है। क्षत्रियों ने ही उसे द्विजों को हस्तान्तरित किया।[25] ऐसा लगता है कि सिन्धुघाटी के उत्खनन में प्राप्त सीलें एक सुदीर्घ परम्परा की प्रतिनिधि हैं। वे आकस्मिक नहीं हैं, अपितु एक स्थापित सत्य को प्रकट करती हैं।

भारतीय इतिहास, संस्कृति और साहित्य ने इस तथ्य को पुष्ट किया है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता जैन सभ्यता थी।[26] सिन्धुघाटी के संस्कार जैन संस्कार थे। इससे यह उपपत्ति बनती है कि सिन्धुघाटी में प्राप्त योगमूर्ति, ऋग्वैदिक वर्णन तथा भागवत, विष्णु आदि पुराणों में ऋषभनाथ की कथा आदि इस तथ्य के साक्ष्य हैं कि जैनधर्म प्राग्वैदिक ही नहीं वरन् सिन्धुघाटी सभ्यता से भी कहीं अधिक प्राचीन हैं।

श्री नीलकण्ठदास साहू के शब्दों में– जैनधर्म संसार का मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश में वैदिक धर्म के आने से बहुत पहले से ही यहाँ जैनधर्म प्रचलित था।

24. आदिपुराण 1/25; आचार्य जिनसेन
25. प्रतिष्ठातिलक 18/1; नेमिचन्द्र
26. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 93; वाचस्पति गैरोला

खूब संभव है कि प्राग्वैदिकों में और शायद द्रविड़ों में भी यह धर्म था।[27]

इस तरह जैनधर्म संसार के सारे धर्म तथा मानविक आत्मविकास के मूल में है। कहा जा सकता है कि इसी के ऊपर मानव समाज के विकास की प्रतिष्ठा आधारित है।

कुछ ऐसे शब्द है, जो जैन परम्परा में रूढ़ बन गये हैं। डॉ. मंगलदेव शास्त्री का कथन है कि 'वातरशन' शब्द जैन मुनि के अर्थ में रूढ़ हो गया था। उनकी मान्यता है कि 'श्रमण' शब्द की भाँति ही 'वातरशन' शब्द मुनि-सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त था। मुनि-परम्परा के प्राग्वैदिक होने में दो मत नहीं हैं।[28]

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय इतिहास/वाङ्मय के जाने-माने विद्वान् हैं। उन्होंने भी स्वीकार किया है कि भारत का नाम ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर ही भारतवर्ष हुआ। इससे पहले भ्रान्तिवश उन्होंने दुष्यन्त-पुत्र भरत के कारण इसे भारत अभिहित किया था।[29]

जैनों का इतिहास बहुत प्राचीन है। भगवान् महावीर से पूर्व तेईस और जैन तीर्थंकर हुए हैं, जिनमें सर्वप्रथम हैं ऋषभनाथ। सर्वप्रथम होने के कारण ही उन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है। जैन कला में उनकी जो मुद्रा अंकित है वह एक गहन तपश्चर्यारत महायोगी की है। भागवत में ऋषभनाथ का विस्तृत जीवन-वर्णन है।[30]

जैन दर्शन के अनुसार यह जगत् अनादिनिधन है अर्थात् इसका न कोई ओर है और न छोर। यह रूपान्तरित होता है; किन्तु अपने मूल में यह यथावत् रहता है। युग बदलते हैं; किन्तु वस्तु-स्वरूप नहीं बदलता। द्रव्य नित्य है। उसका रूपान्तरण संभव है, किन्तु ध्रौव्य असंदिग्ध है।

---

27. उड़ीसा में जैनधर्म; डॉ. लक्ष्मीनारायण साहू; श्री अखिल जैन मिशन, अलीगंज, एटा; (उ. प्र.), 1959
28. 'नवनीत', हिन्दी मासिक, बम्बई; डॉ. मंगलदेव शास्त्री; जून 1974; पृष्ठ 69
29. दे. टिप्पणी क्रमांक 23
30. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका; पं. कैलाशचन्द शास्त्री; भूमिका—डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल; पृष्ठ 8

आज जो युग चल रहा है वह कर्मयुग है। माना जाता है कि यह युग करोड़ों वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था। उस समय भगवान् ऋषभनाथ युग-प्रधान थे। असि (रक्षा), मसि (व्यापार), कृषि (खेती) और अध्यात्म (आत्मविद्या) की शिक्षा उन्होंने दी। उन्होंने प्रजाजनों को, जो कर्मपथ से अनभिज्ञ थे; बीज, चक्र, अंक और अक्षर दिये। कर्मयुग की यह परम्परा तब से अविच्छिन्न चली आ रही है।

ऋषभनृप दीर्घकाल तक शासन करते रहे। उन्होंने उन कठिन दिनों में जनता को सुशिक्षित किया और उनकी बाधाओं, व्यवधानों और दुविधाओं का अन्त किया। अन्त में आत्मशुद्धि के निमित्त उन्होंने श्रमणत्व ग्रहण कर लिया और दुर्द्धर तपश्चर्या में निमग्न हो गये। स्वयं द्वारा स्थापित परम्पराओं और प्रवर्तनों के अनुसार उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना संपूर्ण राजपाट सौंपा और परिग्रह को जड़मूल से छोड़ कर वे वैराग्योन्मुख हो गये; फलतः वे परम ज्ञाता-दृष्टा बने। उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को जीत लिया, अतः वे 'जिन' कहलाये। 'जिन' की व्युत्पत्ति है— जयति इति जिनः (जो स्वयं को जीतता है, वह जिन है)।

कैवल्य-प्राप्ति के बाद उन्होंने जनता को अध्यात्म का उपदेश दिया और बताया कि आत्मोपलब्धि के उपाय क्या हैं? चूँकि उनका उपनाम जिन था अतः उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म जैनधर्म कहलाया। इस तरह जैन धर्म विश्व का सर्वप्रथम धर्म बना।

भगवान् ऋषभनाथ का वर्णन वेदों में नाना संदर्भों में मिलता है। कई मन्त्रों में उनका नाम आया है। मोहन-जो-दड़ो (सिन्धुघाटी) में पाँच हज़ार वर्ष पूर्व के जो पुरावशेष मिले हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म हज़ारों साल पुराना है। मिट्टी की जो सीलें वहाँ मिली हैं, उनमें ऋषभनाथ की नग्न योगिमूर्ति है। उन्हें कायोत्सर्ग मुद्रा में उकेरा गया है। उनकी इस दिगम्बर खड्गासनी मुद्रा के साथ उनका चिह्न बैल भी किसी-न-किसी रूप में अंकित हुआ है। इन सारे तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि जैनों का अस्तित्व मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता से अधिक प्राचीन है।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अगस्त 1932 के 'माडर्न रिव्ह्यू' में कायोत्सर्ग मुद्रा के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। उन्होंने इस मुद्रा को जैनों की विशिष्ट ध्यान-मुद्रा कहा है और माना है कि जैनधर्म प्राग्वैदिक है, उसका सिन्धुघाटी की सभ्यता पर व्यापक प्रभाव था।

मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में उपलब्ध मृण्मुद्राओं (सीलों) में योगियों की जो ध्यानस्थ मुद्राएँ हैं, वे जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमणों[31] की परम्परा का होना भी जैनों के प्राग्वैदिक होने को प्रमाणित

31. भारतीय दर्शन; वाचस्पति गैरोला; पृष्ठ 93

करता है। व्रात्य का अर्थ महाव्रती है। इस शब्द का वाच्यार्थ है— 'वह व्यक्ति जिसने स्वेच्छया आत्मानुशासन को स्वीकार किया है।' इस अनुमान की भी स्पष्ट पुष्टि हुई है कि ऋषभ-प्रवर्तित परम्परा, जो आगे चल कर शिव में जा मिली, वेदचर्चित होने के साथ ही वेदपूर्व भी है।[32] जिस तरह मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त सीलों की कायोत्सर्ग मुद्रा आकस्मिक नहीं है, उसी तरह वेद-वर्णित ऋषभ नाम भी आकस्मिक नहीं है, वह भी एक सुदीर्घ परम्परा का द्योतक है, विकास है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में जिन अतीन्द्रियदर्शी वातरशन मुनियों की चर्चा है, वे जैन मुनि ही हैं।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अपने लेख में जिस सील का वर्णन दिया है, उसमें अंकित/उत्कीर्णित ऋषभ-मूर्ति को ऋषभ-मूर्तियों का पुरखा कहा जा सकता है। ध्यानस्थ ऋषभनाथ, त्रिशूल, कल्पवृक्ष-पुष्पावलि, वृषभ, मदु लता, भरत और सात मंत्री आदि महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। जैन वाङ्मय से इन तथ्यों की पुष्टि होती है।[33] इतिहासवेत्ता श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इस तथ्य को माना है।[34] मथुरा-संग्रहालय में भी ऋषभ की इसी तरह की मूर्ति सुरक्षित है।[35] पी.सी. राय ने माना है कि मगध में पाषाणयुग के बाद कृषि-युग का प्रवर्तन ऋषभयुग में हुआ।[36]

श्री चन्दा ने जिस सील का विस्तृत विवरण दिया है, वह परम्परा जैन साहित्य में आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षित है। आचार्य वीरसेन (धवला के रचनाकार),[37] विमलसूरि-रचित प्राकृत ग्रन्थ 'पउमचरियं'[38] एवं जिनसेनकृत 'आदिपुराण'[39] की कारिकाओं/गाथाओं में जो वर्णन मिलते हैं उनमें तथा उक्त सील में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव देखा जा सकता है। इन वर्णनों के सूक्ष्मतर अध्ययन से पता चलता है कि इस तरह की कोई मुद्रा अवश्य ही व्यापक प्रचलन में रही होगी, क्योंकि मोहन-जो-दड़ो की सील में अंकित आकृतियों तथा जैन साहित्य में उपलब्ध वर्णनों का यह साम्य आकस्मिक नहीं हो सकता। निश्चय ही यह एक अविच्छिन्न परम्परा की ठोस परिणति है। यदि हम पूर्वोक्त ग्रन्थों के विवरणों को सील के विवरणों से समन्वित करें तो संपूर्ण स्थिति की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार संभव है—

---

32. संस्कृति के चार अध्याय; रामधारीसिंह दिनकर; पृष्ठ 39
33. आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव; डॉ. कामताप्रसाद जैन; पृष्ठ 138
34. वही, पृष्ठ 23
35. वही, पृष्ठ 23
36. जैनिज्म इन बिहार; पी.सी. राय चौधरी; पृष्ठ 7
37. छक्खंडागम, मंगलायरण; 1/1/25 आचार्य वीरसेन; (तिरयण-तिसूल-धारिय)।
38. पउमचरियं; विमलसूरि; 4.68-69
39. आदिपुराण; आचार्य जिनसेन 24/73-74

भगवान् ऋषभनाथ : कायोत्सर्ग-मुद्रा में

पुरुदेव (ऋषभदेव) नग्न खड्गासन
कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित हैं
उनके शीर्षोपरि भाग पर त्रिशूल अभिमण्डित है
यह रत्नत्रय की शिल्पाकृति है
कोमल दिव्यध्वनि के प्रतीक रूप एक लता-पर्ण मुखमण्डल के पास सुशोभित है[40]
दो ऊर्ध्वग कल्पवृक्ष-शाखाएँ हैं पुष्प-फलयुक्त,
महायोगी उससे परिवेष्टित हैं।
यह भक्ति-प्राप्य फल की द्योतक है।
चक्रवर्ती भरत भगवान् के चरणों में अंजलिबद्ध प्रणाम-मुद्रा में नतशीश है।[41]
भरत के पीछे वृषभ है, जो भगवान् ऋषभनाथ का चिह्न (लांछन) है।
अधोभाग में हैं अपने राजकीय गणवेश में सात मन्त्रीजिनके पदनाम हैं–
माण्डलिक राजा, ग्रामाधिपति, जनपद-अधिकारी, दुर्गाधिकारी (गृहमंत्री), भण्डारी (कोष-वित्त मन्त्री), षडंगबलाधिकारी (रक्षा-मन्त्री), मित्र (परराष्ट्र मन्त्री)।

मोहन-जो-दड़ो की मुद्राओं में उत्कीर्णित इन तथ्यों का स्थूल भाष्य संभव नहीं है; क्योंकि परम्पराओं और लोकानुभवों को छोड़ कर यदि हम इन सीलों की व्याख्या करते हैं तो यह व्याख्या न तो यथार्थपरक होगी और न ही वैज्ञानिक। जब तक हम इस तथ्य को ठीक से आत्मसात नहीं करेंगे कि मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता पर योगियों की आत्मविद्या की स्पष्ट प्रतिच्छाया है, तब तक इन तथ्यों के साथ न्याय कर पाना संभव नहीं होगा; अतः इतिहासविदों और पुरातत्त्ववेत्ताओं को चाहिये कि वे प्राप्त तथ्यों को परवर्ती साहित्य की छाया में देखें/खोजें और तब कोई निष्कर्ष लें। वास्तव में इसी तरह के तुलनात्मक और व्यापक, वस्तुनिष्ठ और गहन विश्लेषण से ही यह संभव हो पायेगा कि हमारे सामने कोई वस्तुस्थिति आये।

अब हम उन प्रतीकों की चर्चा करेंगे, जो मोहन-जो-दड़ो के अवशेषों से मिले हैं और जैन साहित्य में भी जिनका उपयोग हुआ है। यहाँ तक कि इनमें से कुछ प्रतीक तो आज तक जैन जीवन में प्रतिष्ठित हैं।

साथिया (1)

सबसे पहले हम 'स्वस्तिक' को लेते हैं। सिन्धुघाटी से प्राप्त कुछ सीलों में स्वस्तिक (साँथिया) भी उपलब्ध है।[42] इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सिन्धुघाटी के लोकजीवन

40. पुरुदेवचम्पूप्रबन्ध 1/1; श्रीमद् अर्हद्दास (दिव्यध्वनि मृदुलतालंकृतमुखः)
41. पउमचरियं; विमलसूरि; 4/68-69
42. भारत में संस्कृति एवं धर्म; डॉ. एम.एल. शर्मा; पृष्ठ 19

में स्वस्तिक एवं मांगलिक प्रतीक था। साँथिया जैनों में व्यापक रूप में पूज्य और प्रचलित है। इसे जैन ग्रन्थों, जैन मंदिरों और जैन ध्वजाओं पर अंकित देखा जा सकता है। व्यापारियों में इसका व्यापक प्रचलन है। दीपावली पर जब नये खाते बहियों का आरंभ किया जाता है, तब साँथिया माँड़ा जाता है।

स्वस्तिक जैन जीव-सिद्धान्त का भी प्रतीक है। इसे चतुर्गति का सूचक माना गया है। जीव की चार गतियाँ वर्णित हैं– नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव। स्वस्तिक के शिरोभाग पर तीन बिन्दु रखे जाते हैं, जो रत्नत्रय के प्रतीक हैं। इन तीन बिन्दुओं के ऊपर एक चन्द्रबिन्दु होता है जो क्रमशः लोकाग्र और निर्वाण का परिचायक है। 'स्वस्ति' का एक अर्थ कल्याण भी है।

त्रिशूल

'त्रिशूल' दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रतीक है, जो सिन्धुघाटी की सीलों पर तो अंकित है ही, जैन ग्रन्थों में भी जिसकी चर्चा मिलती है। त्रिशूल आज भी लोकजीवन में कुछ शैव साधुओं द्वारा रखा जाता है। जैन परम्परा में त्रिशूल को रत्नत्रय का प्रतिनिधि माना गया है। त्रिरत्न हैं : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इसकी चर्चा 'धवला',[43] 'आदिपुराण',[44] 'पुरुदेवचम्पू'[45] में मिलती है। त्रिशूल को जैनों का 'जैत्र' अस्त्र कहा गया है।

तीसरा है कल्पवृक्ष। यह कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी ऋषभ-मूर्ति के परिवेष्टन के रूप में उत्कीर्तित है। 'आदिपुराण', 'संगीत समयसार' में इसके विवरण मिलते हैं।[46]

मृदु लता-पर्ण

अर्हद्दास ने 'मृदुलतालंकृतमुखः' कह कर मृदुलता-पल्लव का आधार उपलब्ध करा दिया है।[47]

कल्पवृक्ष-पुष्पावलि

43. दे. टिप्पणी क्रमांक 37
44. आदिपुराण; आचार्य जिनसेन 1/4; (रत्नत्रयं जैनं जैत्रमस्त्रं जयत्यदः)
45. पुरुदेवचम्पूप्रबन्ध; श्रीमदर्हद्दास 5; (रत्नत्रयं राजति जैत्रमस्त्रं)
46. आदिपुराण, आचार्य जिनसेन, 15/36; संगीत समयसार, आचार्य पार्श्वदेव 7/96
47. दे. टिप्पणी क्रमांक 21

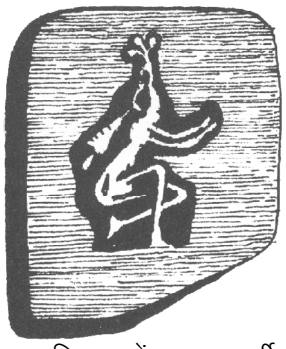

प्रणति-मुद्रा में भरतचक्रवर्ती

भरत चक्रवर्ती श्रद्धाभक्तिपूर्वक ऋषभमूर्ति के सम्मुख अंजलि बाँधे नमन-मुद्रा में उपस्थित हैं। आचार्य जिनसेन, विमलसूरि आदि ने भरत की इस मुद्रा का तथा उनके द्वारा ऋषभार्चन का वर्णन किया है।[48] तुलनात्मक अध्ययन और व्यापक अनुसंधान से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मोहन-जो-दड़ो को सील पर जो रूपक अंकित है वह जन-जीवन के लिए सुपरिचित, प्रौढ़, प्रचलित रूपक है, अन्यथा वह वहाँ से छन कर कवि-परम्परा में इस तरह क्यों कर स्थापित होता?

एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मणों को अध्यात्मविद्या क्षत्रियों से पूर्व प्राप्त नहीं थी। उन्हें यह क्षत्रियों से मिली, जिसका वे ठीक से पल्लवन नहीं कर पाये। 'छान्दोग्य-उपनिषद्' में इसकी झलक मिलती है।[49]

इससे पहले कि हम इस लेख को समाप्त करें, कुछ ऐसे तथ्यों को और जानें जिनका जैन धर्म और जैन समाज की मौलिकताओं से सम्बन्ध है।

जैनधर्म आत्मस्वातन्त्र्यमूलक धर्म है। उसने न सिर्फ मनुष्य बल्कि प्राणिमात्र की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। जीव तो स्वाधीन है ही, यहाँ तक कि परमाणु-मात्र भी स्वाधीन है। कुल 6 द्रव्य हैं। प्रत्येक स्वाधीन है। कोई किसी पर निर्भर नहीं है। न कोई द्रव्य किसी की सत्ता में हस्तक्षेप करता है और न ही होने देता है। वस्तुतः लोकस्वरूप ही ऐसा है कि यहाँ संपूर्ण यातायात अत्यन्त स्वाधीन चलता है। जैनों का कर्म-सिद्धान्त भी इसी स्वातन्त्र्य पर आधारित है। श्री जुगमन्दरलाल जैनी ने आत्मस्वातन्त्र्य के इस सिद्धान्त को बहुत ही सरल शब्दों में विवेचित किया है।[50]

इस भ्रम को भी हमें दूर कर लेना चाहिये कि जैन और बौद्ध धर्म समकालीन प्रवर्तन हैं। वास्तविकता यह है कि बौद्धधर्म जैनधर्म का परवर्ती है। स्वयं गौतम बुद्ध ने आरंभ में जैनधर्म को स्वीकार किया था; किन्तु वे उसकी कठोरताओं का पालन नहीं कर सके, अतः मध्यम मार्ग की ओर चले आये।[51] इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धधर्म भले ही वेदों के खिलाफ रहा हो, किन्तु जैनधर्म जो प्राग्वैदिक है, कभी किसी धर्म के विरुद्ध नहीं उठा या प्रवर्तित हुआ। उसका अपना स्वतन्त्र विकास है। संपूर्ण जैन वाङ्मय में कहीं किसी का विरोध नहीं है। जैनधर्म

48. आदिपुराण, 24/77-78, आचार्य जिनसेन; पउमचरियं 4/68-69, विमलसूरि
49. छान्दोग्य उपनिषद्, शांकर भाष्य 5/7
50. आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म; जुगमंदरलाल जैन; पृष्ठ 344
51. मज्झिमनिकाय (पालि) 12 महासिहनादसुत्तं; पृष्ठ 905

समन्वयमूलक धर्म है, विवादमूलक नहीं—उसके इस व्यक्तित्व से भी उसके प्राचीन होने का तथ्य पुष्ट होता है।

राजसी गणवेश में एक मन्त्री

यहाँ श्री पी.आर. देशमुख के ग्रन्थ 'इंडस सिविलाइजेशन एंड हिन्दू कल्चर' के कुछ निष्कर्षों की भी चर्चा करेंगे। श्री देशमुख ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। सिन्धुजनों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता/संस्कृति को बनाये रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की।'[52]

इसी तरह उन्होंने सिन्धुघाटी की भाषिक संरचना का भी उल्लेख किया है। लिखा है : 'सिन्धुजनों की भाषा प्राकृत थी। प्राकृत जन-सामान्य की भाषा है। जैनों और हिन्दुओं में भारी भाषिक भेद है। जैनों के समस्त प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ प्राकृत में हैं; विशेषतया अर्द्धमागधी में; जबकि हिन्दुओं के समस्त ग्रन्थ संस्कृत में हैं। प्राकृत भाषा के प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है कि जैन प्राग्वैदिक हैं और उनका सिन्धुघाटी सभ्यता से सम्बन्ध था।'[53]

उनका यह भी निष्कर्ष है कि जैन कथा-साहित्य में वाणिज्यिक कथाएँ अधिक हैं। उनकी वहाँ भरमार है, जबकि हिन्दू ग्रन्थों में इस तरह की कथाओं का अभाव है। सिन्धुघाटी की सभ्यता में एक वाणिज्यिक कॉमनवेल्थ (राष्ट्रकुल) का अनुमान लगता है। तथ्यों के विश्लेषण से पता लगता है कि जैनों का व्यापार समुद्र-पार तक फैला हुआ था। उनकी हुंडियाँ चलती थीं। व्यापारिक दृष्टि से वे मोड़ी लिपि का उपयोग करते थे। यदि लिपि-बोध के बाद कुछ तथ्य सामने आये तो हम जान पायेंगे कि किस तरह जैनों ने पाँच सहस्रवर्षपूर्व एक सुविकसित व्यापार-तन्त्र का विकास कर लिया था।[54]

इन सारे तथ्यों से जैनधर्म की प्राचीनता प्रमाणित होती है। प्रस्तुत लेख मात्र एक आरंभ है; अभी इस संदर्भ में पर्याप्त अनुसंधान किया जाना चाहिये।

❖❖

52. इंडस सिविलाइज़ेशन, ऋग्वेद एंड हिन्दू कल्चर; पी.आर. देशमुख; पृष्ठ 364
53. वही, पृष्ठ 367
54. वही, पृष्ठ 365

# कल्याण मुनि और सम्राट सिकन्दर

## [Kalanus and Alexander]

### आद्य वक्तव्य

सांसारिक दशा में आत्मा सूक्ष्म शरीर (कर्म) के साथ तथा स्थूल शरीर के साथ अविच्छिन्न रूप से रहता है, बिना शरीर के वह क्षण भर भी नहीं ठहर पाता; परन्तु वास्तव में शरीर और आत्मा हैं पृथक्-पृथक् पदार्थ, शरीर के पोषण से आत्म-पोषण नहीं हुआ करता। आत्म-पोषण या आत्मशुद्धि के लिये जैन धर्म ने अमोघ विधान जगत के समक्ष रखा है। उस विधान के अनुसार जैन गृहस्थ अपनी शक्ति-अनुसार आचरण करते हैं और जैन-साधु उस आत्मशुद्धि की प्रक्रिया में आध्यात्मिक श्रद्धा और ज्ञान के साथ महान तपश्चरण करते हैं। जैन साधु समस्त वस्त्र भी अपने शरीर से उतार कर प्राकृतिक जीवन में अखण्ड ब्रह्मचर्य के साथ पुनीत आत्म-साधना करता है। उस कठोर आत्म-साधना और उच्च त्यागमयी चर्या से संसार प्रभावित होता है।

महान् विजेता सम्राट सिकन्दर ने पश्चिम दिशा से जब भारत पर आक्रमण किया, तब वह जैन साधुओं की नग्नचर्या देखकर बहुत प्रभावित हुआ, उसने अपने देश में धर्म-प्रचार के लिए जैन साधुओं को ले जाना उपयुक्त समझा। तदनुसार वह अपने देश को लौटते समय अपने साथ एक कल्याण नामक दिगम्बर साधु को बड़ी विनय और सम्मान से ले गया। अरब देशों तथा यूनान में धर्म-प्रचार करने की भावना से सिकन्दर के साथ कल्याण मुनि भारत से बाहर विहार कर गये।

उन्हीं कल्याण मुनि और सम्राट सिकन्दर का संक्षिप्त परिचय इस पुस्तक में दिया गया है। सन् 1954 में जब मैं बम्बई में था, तब पूज्यश्री 108 नेमिसागर जी महाराज के केशलोंच के अवसर पर पूना के विद्वान कांग्रेस कार्यकर्ता श्री पोपटलाल शाह ने अपने भाषण में श्री कल्याण मुनि का धर्म-प्रचार के लिए सिकन्दर के साथ विदेशों में जाने का वर्णन किया था। उस समय मेरे हृदय में यह भावना जागृत हुई कि इस ऐतिहासिक वार्ता का परिचय जनता को कराया जाये। तदनुसार मैंने यूनानी राजदूत मेगस्थनीज लिखित 'टा इंडिका' (Ta-indika) यूनानी भाषा की पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद पढ़ा। उसमें चार अध्यायों

में सम्राट सिकन्दर और कल्याण मुनि का विवरण लिखा हुआ है। उस आधार से संक्षिप्त सार रूप में मैंने यह छोटी-सी पुस्तक लिखी है। आवश्यक समझकर विभिन्न अंग्रेजी लेखकों के कुछ उपयोगी उद्धरण भी यथास्थान दे दिये हैं। यह अंग्रेजी मैटर कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी में संग्रह किया था।

भारत के बाहर मांस-भक्षण का प्रचार भूतकाल में भी अधिक था, इसी कारण परम-अहिंसक जैन मुनि की चर्या भारत से बाहर असंभव-सी बन जाती है। बौद्ध साधु मांसभक्षण के कट्टर त्यागी नहीं होते, इस कारण बौद्ध साधुओं का विहार भारत से बाहर भी जिस तरह निर्बाध रहा, उस तरह जैन साधुओं का विहार शुद्ध सात्त्विक भोजन की व्यवस्था न होने के कारण भारत से बाहर न हो सका। आचार्य दौलामस (वास्तविक भारतीय नाम क्या था, यह ज्ञान नहीं हो सका) ने इसी असुविधा के कारण यूनान को विहार करने का सम्राट सिकन्दर का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। फिर भी कल्याण मुनि ने धर्म-प्रचार की भावना से भारत से बाहर विहार किया। सम्भव है उनके साथ अनेक भारतीय जैन गृहस्थ भी गये हों, जो व्यापारी हों और कल्याण मुनि की भोजन-व्यवस्था उनके अधीन रही हो।

कुछ भी हो, कल्याण मुनि अपने नग्न-वेश में ही भारत से बाहर अरब देशों में गये और वहाँ उन्होंने धर्म-प्रचार किया— यह बात इतिहास से प्रमाणित होती है। इस विषय में और अधिक अनुसंधान करके कुछ विस्तार से लिखने की भावना है; जो कि भविष्य में अवकाश तथा अनुकूल साधन सुविधा मिलने पर फलवती हो सकेगी।

प्राचीनकाल की कठोर निर्वस्त्र मुनि-चर्या का इस भोग-प्रधान कलियुग में आचार तथा प्रचार करने का उल्लेखनीय श्रेय दिवंगत आचार्यप्रवर पूज्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी मुनिराज को है। उन्होंने भारत के प्रायः सभी प्रांतों में निर्भीक रूप से नग्न विहार करके दिगम्बर जैन मुनि के निर्मल उच्च आचार का प्रभाव जनसाधारण में स्थापित किया। दिगम्बर जैन साधु कैसी शान्ति, निःस्पृहता, वीरता के साथ शरीर त्याग करता है, इसका भी उदाहरण अपने आदर्श समाधिमरण द्वारा उन्होंने संसार के समक्ष रखा। इसप्रकार प्रातःस्मरणीय आचार्यश्री शान्तिसागरजी मुनिराज प्राचीन निर्ग्रन्थ वीर ऋषियों के आदर्श प्रतीक थे। उनके पुनीत चरणों में मेरी त्रिकाल विनीत वन्दना है।

## अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा

"भारत के प्राचीन धर्मों में जैन धर्म भी है। जैन धर्म के प्रवर्तक श्रमण महावीर कौन थे? वह भी घुमक्कड़-राज थे। घुमक्कड़-धर्म के आचरण में छोटी से बड़ी तक सभी बाधाओं और उपाधियों को उन्होंने त्याग दिया, घर द्वार ही नहीं, वस्त्र का भी वर्जन किया था। 'करतल भिक्षा तरुतलवास, दिक्-अम्बर' उन्होंने इसलिए

अपनाया था कि निर्द्वन्द्व विचरण में कोई बाधा न रहे।

भगवान महावीर दूसरी-तीसरी नहीं, प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ थे। वह आजीवन घूमते ही रहे। वैशाली में जन्म लेकर विचरण करते ही पावा में उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। बुद्ध और महावीर से बढ़कर यदि कोई त्याग, तपस्या और सहृदयता का दावा करता है, तो मैं उसे केवल दम्भी कहूँगा। आजकल कुटिया या आश्रम बनाकर तेली के बैल की तरह कोल्हू से बँधे कितने ही लोग अपने को अद्वितीय महात्मा कहते हैं या दूसरों से कहलवाते हैं, किन्तु मैं तो कहूँगा, घुमक्कड़ी को त्यागकर यदि महापुरुष बना जाता, तो फिर ऐसे लोग गली-गली में देखे जाते। मैं तो जिज्ञासुओं को खबरदार कर देना चाहता हूँ कि वे ऐसे मुलम्मे वाले महात्माओं और महापुरुषों के फेरे से बचे रहें। वे स्वयं तो तेली के बैल हैं ही, दूसरों को भी अपने ही जैसा बना रखेंगे।" **—राहुल सांकृत्यायन**

**भगवान ऋषभनाथ**

हमारे नेत्र-गोचर दृश्यमान जगत् तथा नेत्र-अगोचर अदृश्यमान अनन्त जगत् का न कोई प्रारम्भ है और न कोई अन्त। वह अनादि समय से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायेगा। इस अनन्त जगत में जितने भी चर-अचर या जड़-चेतन पदार्थ हैं, वे मूल पदार्थ न कभी किसी नियत समय में उत्पन्न हुए और न कभी उनका अन्त ही होगा। हाँ, समय-समय पर विभिन्न बाहरी निमित्त कारण-कलापों के अनुसार पदार्थों की अवस्थायें बदल जाती हैं, परन्तु मूल पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता।

इस कारण यह जगत अकृत्रिम, नित्य, अनादि, अनन्त है। इसका कोई परमाणु मात्र भी पदार्थ न कभी सर्वथा नष्ट होता है और न कभी किसी सर्वथा नवीन पदार्थ की उत्पत्ति हुआ करती है।

इस तरह इस जगत को या इस जगत के अनन्त पदार्थों को अनन्त युग भूतकाल में व्यतीत हो चुके हैं और भविष्य में भी अनन्त युग व्यतीत हो जावेंगे। समय-समय पर पदार्थों की पर्यायों (अवस्थाओं) में जो परिवर्तन होता रहता है उससे जगत के किसी अंश के आकार-प्रकार में कुछ परिवर्तन हो जाता है, परन्तु मूल स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है।

इस समय जो कर्म युग (कृषि, शिल्प, उद्योग, व्यापार आदि शारीरिक, वाचसिक, मानसिक परिश्रम द्वारा आजीविका करने का समय) चल रहा है, इसका प्रारम्भ अब से करोड़ों वर्ष पहले हुआ था। उस समय भगवान ऋषभनाथ युगप्रधान, महान ज्ञानी, महान् धीर, वीर, विश्वहितैषी जननायक थे। उन्होंने कर्मपथ (विभिन्न प्रकार का परिश्रम करके आजीविका उपार्जन) से अनभिज्ञ जनता को अपने दिव्यमान से खेती बाड़ी करना, वस्त्र-निर्माण, भवन-निर्माण आदि अनेक

प्रकार के शिल्प, अक्षर विद्या अंक विद्या तथा अनेक प्रकार की कलाओं की शिक्षा देकर जनता की कठिनाई दूर की थी। कर्मयुग की वह परम्परा अब तक चली आ रही है।

दीर्घकाल तक गृहस्थाश्रम में रह कर उन्होंने राजशासन किया, जनता की सभी कठिनाइयाँ दूर कीं। फिर अपने सांसारिक जीवन के अन्तिम समय में भगवान ऋषभनाथ ने आत्म-शुद्धि के लिए स्वयं साधु दीक्षा ग्रहण की। उस समय उन्होंने अपना शासन भार अपने बड़े पुत्र भरत को दिया और वे राजपाट, घर परिवार तथा समस्त परिग्रह (वस्त्र, भूषण, धन, भवन आदि) त्याग कर बिल्कुल नग्न होकर तपस्या करने वन में चले गये। बहुत समय तक उन्होंने तपस्या की, उस तपस्या के प्रभाव से जब वे पूर्ण ज्ञाता (सर्वज्ञ) और राग, द्वेष, काम, मद, क्रोध आदि समस्त आध्यात्मिक विकार सर्वथा नष्ट होने से पूर्ण वीतराग हो गये, तब आत्म-शत्रुओं पर विजय पाने से उनका नाम 'जिन' (**जयति इति जिन:**– यानी– जीतने वाला) प्रसिद्ध हुआ।

उस समय उन्होंने जनता को आत्म-शुद्धि करने वाले धर्म का उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनका उपनाम 'जिन' था, इस कारण उनके उपदेशित धर्म का नाम भी 'जैन धर्म' विख्यात हुआ। इस तरह कर्म-युग के सबसे प्रथम धर्मोपदेशक ऋषभनाथ हुए और उनके द्वारा प्रचलित धर्म 'जैन धर्म' भी जगत का (इस युग सम्बन्धी) सबसे पहला धर्म कहलाया।

भगवान ऋषभनाथ के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने दिग्विजय की और समस्त राजाओं पर विजय पाकर वह सबसे पहला चक्रवर्ती सम्राट बना, अतः उसी के नाम पर इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ।

भगवान ऋषभनाथ बहुत समय तक धर्म-प्रचार करते हुए, अन्त में कैलाश पर्वत पर पूर्ण मुक्त हुये। उनके मुक्त हो जाने पर उनका साधुसंघ जैन धर्म का प्रचार करता रहा।

भगवान ऋषभनाथ को वैदिक धर्मानुयायियों ने ईश्वर का अवतार माना है और मुक्तिमार्ग का प्रथम उपदेशक स्वीकार किया है। उनके प्रसिद्ध आदरणीय ग्रन्थ 'भागवत' में यह भी उल्लेख है कि भगवान ऋषभदेव से जैन धर्म प्रचलित हुआ।

भगवान ऋषभनाथ का उल्लेख वेदों के अनेक मंत्रों में भी मिलता है। मोहनजोदड़ो (सिन्धु घाटी) की पृथ्वी में से जो पाँच हजार वर्ष पुरानी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनमें मिट्टी की वे मुद्रायें (सीलें) भी हैं जिन पर एक ओर भगवान ऋषभनाथ की खड़े आकार में नग्न मूर्ति बनी हुई है और उसके दूसरी ओर बैल का चिह्न है।

## MOHEN-JO-DARO

*(Sindh Five Thousand Years ago)*

"Not only the seated Deities engraved on some of Indus seals are in yoga posture and bear witness to the prevalence of yoga in the Indus valley in that remote age, the standing deities on the seals also show 'Kayotsarga (कायोत्सर्ग) posture of yoga' Further that 'The Kayotsarga posture is peculiarly jaina. It is a posture not of sitting but of standing. In the Adi purana Book xv III. Kayotsarga posture is described in connection with the penances of Risabha or Vrasabha. A standing image of Jaina Risabha in Kayotsarga posture on a slab showing four such images, assignable to the 2nd century A.D. in the Curzon Museum of Archaeology, Mathura is reproduced in figure 12. Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynasties there are standing statues with arms, hanging on two sides. But though these early Egyptian at use and the arcaich Greek Kouroi show nearly the same pose, they lack the feeling of abandon that characterises the standing figures on the Indus seal and images of Jainas in the Kayotsarga Posture.'[1]

श्री रामप्रसाद चन्दा का कथन है कि–

''सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में अंकित न केवल बैठी हुई देव-मूर्तियाँ योगमुद्रा में हैं और उस सुदूर अतीत में सिन्धु घाटी में योगमार्ग के प्रचार को सिद्ध करती हैं बल्कि खड्गासन देव मूर्तियों भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। और ये कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा विशिष्टतया जैन हैं। आदिपुराण आदि में इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या वृषभदेव के तपश्चरण के सम्बन्ध में बहुधा हुआ है। जैन ऋषभ की इस कायोत्सर्ग मुद्रा में खड्गासन की प्राचीन मूर्तियाँ ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल की मिलती हैं। प्राचीन मिस्र के प्रारम्भिक राज्य वंशों के समय की दोनों हाथ लटकाये खड़ी मूर्तियाँ मिलती हैं। किन्तु यद्यपि इन प्राचीन मिस्री मूर्तियों तथा प्रचीन यूनानी कुरोइ नामक मूर्तियों में प्रायः वही आकृति है तथापि उनमें उस देहोत्सर्ग निःसंग भाव का अभाव है जो सिंधु घाटी की मुद्राओं पर अंकित मूर्तियों में तथा कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा से युक्त जैन मूर्तियों में पाया जाता है।''

इस प्रकार भगवान ऋषभनाथ इतिहास की परिधि से बहुत पहले के सबसे आदि धर्म-प्रचारक हुए।

1. Modern Review, August 1932

हमने इस विषय में अनेक ग्रन्थों के इतिहास-वेत्ताओं के उल्लिखित बहुत से प्रमाण अपनी पुस्तक 'विश्वधर्म की रूपरेखा' में दिये हैं। कुछ और प्रमाण जो हमें प्राप्त हुये हैं, उन्हें यहाँ देते हैं।

हड़प्पा (पश्चिमी पंजाब) में ऐतिहासिक खोज के लिए जो रायबहादुर प्रो. रामप्रसादजी चन्दा के नेतृत्व में पृथ्वी की खुदाई हुई थी, उसमें कुछ खण्डित मूर्तियाँ उपलब्ध हुई थी, उन सबका अध्ययन करके डाइरेक्टर जनरल भारतीय पुरातत्त्व विभाग, श्री टी. एन. रामचन्द्रन लिखते हैं–

"These two ricks place before us the truth that we are perhaps recognising in the Harappa statue a full fledeged Jain Tirthankar in the characteristic pose of Physical abandon (kayotsarga).

The statue under description is therefore a splendid representative specimen of this thought of Jainism at perhaps its very inception."

यानी इन दोनों रिक्स (धड़ों) मूर्ति से इस बात की सत्यता पर रोशनी पडती है कि शायद यह हड़प्पा काल की जैन तीर्थंकर मूर्ति जैन धर्म में वर्णित कायोत्सर्ग मुद्रा की ही प्रतीक है। इसलिए कथित मूर्ति जैनधर्म के इस विचार का शायद आरम्भ से ही जीता-जागता नमूना है, आदि।

संभवतः ये मूर्तियाँ मोहनजोदड़ो की मुद्राओं के समान भगवान ऋषभनाथ की हों। खण्डित होने के कारण बैल का चिह्न न रहा हो।

प्रो. हाजिमे नाकामूरा, पी.एच.डी., टोक्यो, जापान लिखते हैं–

''ऋषभ आदि ....ऋषिगण 'भगवान' कहलाते हैं। ऋषभ के शिष्य-गण निर्ग्रन्थों के धर्म-ग्रन्थों का पाठ करते हैं। वे ऐसा कहते हैं– तपस्या करो और केशलुंचन आदि क्रियाएँ करो, जो पुण्यमय हैं। साथ ही कुछ ऐसे शिक्षक हैं जो उपवास व प्रायश्चित्त करते, सदा खड़े रहते, मौन पालते अथवा ऐसी क्रियाएँ करते थे जो उनके गऊ सदृश बनाती थीं। वे इन क्रियाओं को पुण्यशाली मानते हैं। वे उनको अतिशुक्ल धर्म कहते हैं।''[2]

श्री पी.सी. राय चौधरी पटना द्वारा लिखित 'जैनिज्म इन बिहार' पुस्तक में निम्निलिखित है–

"Not much research is possible in the prehistorical age as to the role Bihar played in the story of Jainism. But some of the ancient Jain scriptures mention that Jainism had been preached in Magadha

2. तैशो त्रिपिटक, भाग 33, पृ. 168, अहिंसावाणी, अंक 7, सन् 1957

(Bihar) by Lord Rishabha at the end of the Stone age and the beginning of the agricultural age. At that remote period Magadha was separated from rest of India by Ganga-Sagar. The Ancient history of Nepal bears this out also."[3]

अर्थात् ऐतिहासिक युग के पहले बिहार में जैन धर्म के विषय में क्या कुछ हुआ, इसका बहुत ज्यादा अनुसंधान होना आज सम्भव नहीं है। परन्तु कोई एक प्राचीन जैन शास्त्रों द्वारा प्रमाणित होता है कि श्री ऋषभदेव ने जैनधर्म का प्रचार मगध (बिहार) में पाषाण युग (Stone Age) के शेष और कृषि युग के आरम्भ में किया था। उस प्राचीन काल में मगध देश शेष भारत से गंगासागर से विच्छिन्न था। नेपाल का प्राचीन इतिहास भी इस बात का साक्षी है–

**प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः।**
**शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः॥ 2 ॥** –बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

अर्थात् जिन्होंने प्रथम प्रजापति के रूप में देश, काल और प्रजा परिस्थिति के तत्त्वों को अच्छी तरह से जानकर जीने की इच्छा रखने वाले प्रजाजनों को सबसे पहले कृषि (खेती) आदि कर्मों में शिक्षित किया वे हैं ऋषभदेव।

भगवान ऋषभनाथ ने अपनी उस सर्वज्ञ वीतराग अवस्था में बहुत समय तक अहिंसामय धर्म का प्रचार किया। फिर अन्त में वे कैलाश पर्वत पर अजर-अमर पूर्ण मुक्त हुए।

## तदनन्तर

उनके निर्वाण हो जाने पर क्रम-क्रम से अजिनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, मल्लिनाथ –ये 19 तीर्थंकर हुए। इन्होंने भी अपने समय में सर्वज्ञ-वीतराग पद प्राप्त करके धर्म का महान प्रचार किया और अंत में संसार के आवागमन से छूटकर पूर्ण मुक्त हो गये।

इसके बाद बीसवें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रतनाथ हुए। इनके समय में राम, लक्ष्मण, रावण आदि हुए। श्रीराम को जब वैराग्य हुआ तब उन्होंने योगवाशिष्ठ के निम्नलिखित श्लोक के अनुसार जिनेन्द्र मुनिसुव्रतनाथ के समान अपनी आत्मा में शांति पाने की इच्छा व्यक्त की–

**नाहं रामो न मे वांछा विषयेषु न मे मनः।**
**शांतिमासितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥** 8 ॥[4]

3. 'Jainism in Bihar' by Shri P.C. Roy Choudhury, Page 7, para last
4. योगवाशिष्ठ, सर्ग 15, पृष्ठ 33

अर्थात् मैं राम (रमन्ते योगिनः यस्मिन् —योगी जिसमें रमण करें) नहीं हूँ, विषय-भोगों में मेरी इच्छा नहीं है। मैं अपनी ही आत्मा में जिनेन्द्र भगवान की तरह शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के निर्वाण हो जाने के कुछ वर्षों पश्चात् भगवान नमिनाथ 21 वें तीर्थंकर हुए। उनके मुक्त हो जाने पर यदुवंशीय मुकुटमणि राजा समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ 22वें तीर्थकर उत्पन्न हुए। इनके चचेरे भाई बलभद्र और कृष्ण थे। इनके समय में कौरव-पांडवों का महायुद्ध हुआ था। इन्होंने भी सर्वज्ञ होकर धर्म-प्रचार किया, फिर अन्त में गिरनार पर्वत पर पूर्ण मुक्त हुए।

23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ और 24वें (अन्तिम) तीर्थंकर भगवान महावीर हुए हैं। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर ऐतिहासिक महापुरुष माने जाते हैं।

अहिंसा धर्म के प्रख्यात प्रचारक भगवान महावीर वैशाली गणतंत्र के नायक महाराजा चेटक के दौहित्र (धेवता) थे। वे कुण्डलपुर के ज्ञातृवंशीय राजा सिद्धार्थ तथा रानी त्रिशला के पुत्र थे। ईसा से 600 सौ वर्ष पूर्व चैत्र सुदी 13 को उनका जन्म हुआ था और 527 वर्ष ईसा पूर्व उनका निर्वाण हुआ था। इन्होंने 30 वर्ष धर्म-प्रचार किया।

## गौतम बुद्ध

भगवान महावीर के समदेश, समकाल, समसंस्कृति के प्रतिनिधि कपिलवस्तु के राजा सिद्धार्थ के पुत्र गौतम बुद्ध हुए हैं। इन्होंने अपना राज-परिवार त्यागकर सबसे प्रथम भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य-परम्परा के जैन साधु पिहितास्रव से साधु दीक्षा ली थी। तब वे नग्न रहते थे, हाथों में भोजन करते थे तथा अपने बालों का स्वयं लोंच करते थे। यह बात मज्झिमनिकाय महासीहनाद सुत्त 12 में स्वयं महात्मा बुद्ध ने कही है।

**अचेलको होमि हत्थापलेखनो होमि नाभिहंतं न उदिस्सकतं न निमंतणं सादियामि सो न कुम्भीमुखा परिगण्हामि न कलोपि मुखा परिगण्हामि, न एलकमतर न दंडमंतरं न मुसलमतरं न द्वित्रंभुजमानानं न गब्भनिया न पाययानया न पुरिसंतरगताम् न संकित्तिसु न यथ सा उपट्ठितो होति, न यथ मक्खिका संडचारिनी न मच्छं न मांसं सुरं न मरेयं थुसोदकं पिवासि सो एका गारिकोवाहोमि एकालोपिक द्वागारिको होमि द्वालोपिको सगात्तारिका वा होमि सत्तालोपिको, एकाहं व आहारं आहारेमि, द्वीहिकं वा आहारं आहारेमि सत्ताहिकम्पि आहारं आहारेमि। इति एयरूपं अद्धमासिकंपि परियाय मत्तभोजनानुयोगं अनुयुतो विहरामि केस मस्सुलोंको विहोमि केसमस्सु लोचनानुयोगं अनुयुत्तोयावउविंदुम्हि पिमे दया पच्च पट्ठिता होति माहं खुद्दके पाणे विसमगते संघातं आयादेस्संति।**

**अर्थ**– मैं वस्त्ररहित रहा, मैंने आहार अपने हाथों में किया। न लाया हुआ भोजन लिया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ लिया, न बर्तन से खाया, न थाली में खाया, न घर की ड्योढी में (Within athreshold) खाया, न खिड़की से लिया, न मूसल से कूटने के स्थान से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न बच्चे को दूध पिलाने वाली से लिया, न व्यभिचारिणी स्त्री से लिया। न मलिन स्थान से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता खड़ा था, न वहाँ से लिया जहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही थीं, न मछली, न मांस, न मदिरा, न सड़ा माँड खाया, न तुस का मैला पानी पिया। मैंने एक घर से भोजन किया, सो भी एक ग्रास लिया, या मैंने दो घर से भोजन लिया, दो ग्रास लिया, इस तरह मैंने सात घरों से लिया, सो भी सात ग्रास, एक घर से एक ग्रास लिया। मैंने कभी दिन में एक दफे भोजन किया, कभी पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया, मैंने मस्तक दाढ़ी व मूछों की केशलोंच की क्रिया को चालू रखा। मैं एक बूंद पानी पर दयालु रहता था। क्षुद्र जीव की हिंसा भी मेरे द्वारा न हो ऐसा मैं सावधान था।

**सो तत्तो सो सीनो एको मिसनके वने।**
**नग्गो न च आगीं असीनो एकनापसुतो मुनीति॥**

**अर्थ**– इस तरह की गर्मी, कभी ठंडक को सहता हुआ भयानक वन में नग्न (नंगा) रहता था। मैं आग से नहीं तापता था। मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था।

बुद्ध कुछ दिनों तक इस प्रकार जैन साधु का आचरण करते रहे, फिर जब उनको यह चर्या कठिन प्रतीत हुई तो उन्होंने जैन साधु का रूप त्याग कर गेरुआ वस्त्र पहन लिये और अपनी इच्छानुसार तपस्या करने लगे। आगे इन्होंने बौद्ध मत की स्थापना की। इस तरह बौद्ध धर्म की स्थापना भगवान महावीर स्वामी के समय में हुई थी।

बौद्ध भिक्षु श्री धर्मानंद कौशाम्बी लिखते हैं–

''त्रिपिटक में निर्ग्रन्थों– जैनों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। उससे ऐसा दिखाई देता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय बुद्ध से वर्षों पहले मौजूद था। अंगुत्तर निकाय में यह उल्लेख पाया जाता है कि 'बप्प' नामक शाक्य, निर्ग्रन्थों (जैनों) का श्रावक था। उस सुत्त की अट्ठकथा में यह कहा गया है कि यह बप्प बुद्ध का चाचा था।... अंत में यह मानना उचित होगा कि यह धर्म-प्रचार उन्होंने नहीं बल्कि उनसे पहले के निर्ग्रन्थों ने किया था।''

**एक समयं भगवा सनकेसु विहरति कपिलवत्थुम्मि।**
**अथ खा बप्पो सक्को निग्गंठ सावकोई॥**

–अंगुत्तर, चतुक्कनिपात, चतुत्थपण्यासक पाँचवाँ वग्ग

वप्पोति दसबलस्स चुल्लपिता।[5]

महात्मा गौतम बुद्ध का चाचा जैन था तो उनके पिता-माता अवश्य जैन होने चाहिए और गौतम बुद्ध भी जैन धर्मी थे— यह उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है।

श्री पी.सी. राय चौधरी अपनी पुस्तक 'जैनिज्म इन बिहार' में लिखते हैं–

"A common mistake has been made by some of the recent writers in holding that Jainism was born because of discontent against Brahmanism. This wrong theory originates because these writers have taken Vardhaman Mahavira as the founder of Jainism. This is not a fact. It is true that the historicity of the other Jains lies buried in the lap of hoary times long before history came into existence, but at least there is a certain amount of historicity regarding Parsvanath, the 23rd Tirhankar. The creed had already originated and spread and Mahavira propagated it within historic times and that is probably the reason why this mistake has been made by some of the eminent scholars whose names, however, need not be mentioned here."[6]

यानी– ''आधुनिक कुछ लेखकों ने यह लिखकर एक सामान्य भूल की है कि ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध असंतोष की भावनायें फैल जाने के कारण जैन धर्म की उत्पत्ति हुई। इस गलत धारणा का सूत्रपात इसलिए हुआ कि उन्होंने वर्द्धमान महावीर को जैनधर्म का प्रतीक मान लिया। यह तथ्य ठीक नहीं है। यह सत्य है कि अन्य-अन्य जैन तीर्थंकरों के ऐतिहासिक प्रमाण इतिहास शुरू होने के बहुत पहले से ही काल की लम्बी अवधि के हाथों दबे पड़े हैं, परन्तु 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बारे में तो निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण पाये जाते हैं। जैन धर्म की उत्पत्ति एवं प्रसार पहले से ही हो चुका था। और यही कारण है कि इस प्रकार की गलत धारणा कई ख्यातिप्राप्त विद्वानों से हो गई। इन विद्वानों का नाम यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है।''

Jain tradition ascribes the origin of the system to Rishabhadeva, who lived many centuries back. There is evidence to show that so far back as the first century. B.C. there were people who were worshipping Rishabhadeva the first Tirthankar. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhman or Parsvnath. The Yajurved mentions the names of three Tirthankaras Rishabha, Ajitanath and

5. अंगुत्तर अट्ठकथा, सप्तम संस्करण 2/474
6. जैनिज्म इन बिहार, लेखक–श्री पी.सी. राय चौधरी, पृष्ठ 1

Arishtanemi. The Bhagawatpurana endorses the View the Rishbhadev was the founder of Jainism.[7]

यानी– ''जैन परम्परा ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक बताती है जो अनेक सदी पूर्व हो चुके हैं। इस विषय के प्रमाण विद्यमान हैं कि ईस्वी सन् से एक शताब्दी पूर्व लोग प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वर्द्धमान अथवा पार्श्वनाथ के पूर्व में भी जैन धर्म विद्यमान था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि– इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। भागवतपुराण से ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे— इस विचार का समर्थन होता है।''

## JAINISM IN BIHAR

The Jain religion, however, can legitimately be traced to a different source and in the minds of many, it is regarded as a more ancient faith then the one that is known as Hinduism.

'खैर, जैन धर्म का उद्‌गम एक अलग ही स्रोत से है; और बहुतों के ख्याल से यह हिन्दू धर्म से भी प्राचीन समझा जाता है।'

''श्रमण संस्कृति का प्रवर्तक जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है, बौद्ध धर्म की अपेक्षा प्राचीन। 'भागवत' में वर्णित जैनधर्म सम्बन्धी विवरणों का अनुशीलन करने पर विद्वानों ने जैनियों के इस मन्तव्य का समर्थन किया है कि जैनधर्म का आविर्भाव वैदिक धर्म के पार्श्व या उसके कुछ बाद में हुआ। मोहनजोदरो में उपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ने ही किया। धर्म, दर्शन, संस्कृति और कला की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनधर्म का विशेष योग रहा है।''[8]

''ऋग्वेद अथर्ववेद, गोपथ ब्राह्मण और भागवत आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थों में जैनों के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की चर्चायें देखने को मिलती हैं, जिनसे उनकी प्राचीनता और उनके व्यक्तित्व की महनीयता सिद्ध होती है। इसी प्रकार ऋग्वेद में निर्दिष्ट भगवान अरिष्टनेमि भी वैदिक युग के महापुरुष थे।'

''महाभारतकालीन तीर्थंकर नेमिनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे। ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के नाम पर सारनाथ जैसे पवित्र तीर्थ की स्मृति आज भी जीवित है।'[9]

---

7. इण्डियन फिलासफी, लेखक–राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन्, पृ. 287
8. भारतीय दर्शन, लेखक–श्री वाचस्पति गैरोला, प्रयाग, पृष्ठ 93
9. भारतीय दर्शन, लेखक–श्री वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ 94

"जैनधर्म के नियम बहुत कठोर हैं। इस दृढ़ता के कारण ही जैन धर्म अब तक भारत में बना है।"[10]

"इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि मोहनजोदरो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ समन्वित हो गई। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दीखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद-पूर्व हैं।"[11]

## भगवान महावीर के पश्चात्

भगवान महावीर ने लगभग 30 वर्ष राजपरिवार में रहकर व्यतीत किये। कलिंग-नरेश की अनिन्द्यसुन्दरी राकुमारी यशोदा के साथ विवाह करने का प्रस्ताव भगवान महावीर के सामने आया तो उन्होंने अपना विवाह करना स्वीकार न किया, वे घर में भी अखंड ब्रह्मचर्य से रहे।

30 वर्ष पीछे घर-परिवार से मोह-ममता तोड़कर समस्त राज-परिग्रह का परित्याग करके महावीर ने साधु दीक्षा ली। बारह वर्ष तपश्चरण करने के पश्चात् वे सर्वज्ञ-वीतराग अर्हन्त हुए। तब उन्होंने लगातार 30 वर्ष तक अहिंसामय धर्म का व्यापक प्रचार किया। अन्त में ई.पू. 527 कार्तिक वदी अमावस्या को पावापुरी से उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई।

उसी दिन उनके प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम को सर्वज्ञ पद प्राप्त हुआ। जिस दिन इन्द्रभूति गौतम गणधर को मुक्ति प्राप्त हुई, उसी दिन श्री सुधर्म गणधर को सर्वज्ञ पद प्राप्त हुआ। जिस दिन श्री सुधर्म गणधर मुक्त हुए, उसी दिन श्री जम्बू स्वामी को केवलज्ञान उदित हुआ। इन तीनों केवलज्ञानियों का समय 62 वर्ष है। श्री जम्बू स्वामी के मुक्त हो जाने पर तिलोयपण्णत्ति के लेखानुसार अन्तिम केवली श्रीधर हुए हैं। उनके मुक्त हो जाने पर केवलज्ञान का सूर्य अस्त हो गया।

तत्पश्चात् श्रीनन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु –ये पाँच मुनि द्वादशांग श्रुतज्ञान के वेत्ता श्रुतकेवलज्ञानी हुए। अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु आचार्य कोटिपु (बंगाल) के निवासी थे। बाल अवस्था से ही उन्होंने श्री गोवर्द्धन आचार्य के निकट रहकर शिक्षा प्राप्त की थी।

श्री भद्रबाहु आचार्य के समय भारत के बहुभाग पर मौर्यवंशीय सम्राट चन्द्रगुप्त का शासन था, जो कि पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ था। अंग, बंग, मगध, काशी,

10. प्राचीन भारत और नागरिक शास्त्र, लेखक–सुश्री रामप्यारी शास्त्री, पृष्ठ 39
11. संस्कृति के चार अध्याय, लेखक–रामधारीसिंह दिनकर, पृष्ठ 39

कौशल, पांचाल, मालवा, गुजरात, काठियावाड़ आदि पर चन्द्रगुप्त का राज्य था।

इसके सिवाय सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस को युद्ध में हराकर चन्द्रगुप्त ने अफगानिस्तान का कुछ भाग (काबुल, कन्धार आदि) को भी अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था।

सम्राट चन्द्रगुप्त भद्रबाहु आचार्य का विनीत शिष्य था। अपने जीवन के अन्तिम चरण में उसने श्री भद्रबाहु आचार्य से मुनिदीक्षा ग्रहण की और उनके साधुसंघ में रहकर तपस्या करता रहा। अन्त में मैसूर के निकट श्रवणबेलगोल की पहाड़ी पर उसका समाधिमरण हुआ, तब से उस पहाड़ी का नाम उसके नाम पर चन्द्रगिरि प्रसिद्ध हुआ। इस इतिहास के सूचक अनेक शिलालेख उस पहाड़ी पर हैं। इतिहासवेत्ता विद्वानों के निम्नलिखित उल्लेख भी इस बात की पुष्टि करते हैं–

"That Chandragupta was a member of the Jaina community is taken by their writers as a matter of course and treated as a known fact, which needed neither argument nor demonstration. The documentary evidence to this effect is of comparatively early date and apparently absolved from all suspicion---------The testimony of Megasthenes would like wise seem to imply that Chandragupta submitted to the devotional teaching of the sramanas as opposed to the doctrines of the Brahmanas.'' —(Strabo 15.1.60)

''चन्द्रगुप्त जैन समाज का एक सदस्य था– यह बात उनके लेखकों द्वारा मानी और जानी हुई थी और इसके लिए किसी प्रकार की बहस या प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है। इसी आशय के शास्त्र के प्रमाण भी अपेक्षाकृत पहले के हैं और वे असंदिग्ध हैं। इसी प्रकार मेगस्थनीज के प्रमाण भी इसी बात की पुष्टि करते हुए प्रमाणित करते हैं कि सम्राट चन्द्रगुप्त ब्राह्मणों के प्रचारित सिद्धान्तों को न मानकर श्रमणों (जैनों) की भक्तिपूर्ण शिक्षाओं को मानता था।''

''जैन धर्म की प्राचीनता के बारे में ऐसा भी कहा जाता है कि दक्षिण भारत में श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य को और अनेक जैन साधुओं को साथ लेकर सबसे पहले ईसा पूर्व 298 में पहुँचे थे।''[12]

लेकिन एक अन्य प्रमाण के अनुसार प्रगट है कि जैन धर्म महावीर की जीवितावस्था में ही दक्षिण भारत में फैला था। भगवान महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। उस समय में जैन धर्म कलिंग, महाराष्ट्र, आन्ध्र और सिंहल में व्याप्त हुआ था।

12. उड़ीसा में जैनधर्म, लेखक–डॉ. लक्ष्मीनारायण साहु, एम.ए., एल.एल.डी., अध्यक्ष–उड़ीसा साहित्य अकादमी, भुवनेश्वर, पृष्ठ 23

हाथी गुफा के शिलालेखों से मालूम पड़ता है कि महावीर कलिंग आये थे और उन्होंने कुमारी पर्वत से जैनधर्म का प्रचार किया था किंतु ईस्वी पूर्व पहली सदी में जैनधर्म कलिंग का राष्ट्रधर्म हो गया था। महाराष्ट्र में भगवान महावीर से पहले जैन धर्म का प्रचार हुआ, क्योंकि भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य करकुंड कलिंग के राजा थे। उन्होंने तेरपुर (धाराशिव) गुफा का परिदर्शन किया था और वहाँ जैनमंदिरों का निर्माण कराया था। उन मंदिरों में जिनेन्द्रों की मूर्तियाँ स्थापित हुई थीं।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ मि. विसेन्ट ए. स्मिथ 'भारत का प्राचीन इतिहास' में लिखते हैं कि–"जैन कथाओं में उल्लेख है, चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था। जब बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा तब चन्द्रगुप्त अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर चला गया।" आदि[13]

"महाराज चन्द्रगुप्त जैनधर्म के नेता थे। चन्द्रगुप्त के जैन होने में शंकोपशंका करना व्यर्थ है, क्योंकि इस बात का साक्ष्य कई प्राचीन प्रमाण्पत्रों में मिलता है और वे प्रमाण-पत्र शिलालेख निस्संशय अत्यन्त प्राचीन हैं" आदि। –मि. ई. थामस

**चरणपादुका**

**जिनशासनायानवरत-भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त-मुनिपतिचरणमुद्रांकित विशालशी....।**

यानी इस शिलालेख में लिखा है कि चन्द्रगिरि पहाड़ी पर मुनिपति भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरण-चिह्न अंकित किये।

**मउडररेसु चरिमो, जिणदिक्ख धरदि चंगुत्तो य ॥148॥**

–यतिवषभाचार्यकृत तिलोयपण्णत्ति, 4/1493

यानी– मुकुटधरों में अन्तिम जैन राजा सम्राट चन्द्रगुप्त ने जैन मुनि की दीक्षा धारण की।

ईसा की 7वीं शताब्दी में आचार्य हरिषेण रचित कथाकोष में निम्नलिखित उल्लेख है–

**भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।**
**अस्यैव योगिनः पार्श्वे दधौ जैनेश्वर तपः॥38॥**
**चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्र प्रथमो दशपूर्विणाम्।**
**सर्वसंघाधिपो जातो विशाखाचार्यसंज्ञक ॥39॥**
**अनेन सह संघोपि समस्तो गुरुवाक्यतः।**
**दक्षिणापथदेशस्थ पुन्नाटविषय ययौ ॥40॥**

**अर्थ**– श्री भद्रबाहु आचार्य के वचन सुनकर सम्राट चन्द्रगुप्त ने भद्रबाहु के पास

13. History of India, 3rd Edition, Page 146

जैनेन्द्री दीक्षा लेकर तप किया। चन्द्रगुप्त शीघ्र दश पूर्व पाठियों का अग्रसर विशाखाचार्य नाम पाकर मुनिसंघ का नायक बन गया। विशाखाचार्य का समस्त संघ गुरू आदेश से (भद्रबाहु आचार्य की आज्ञा से) दक्षिणापथ देशस्थ पुन्नाट जनपद को गया।

''भारत सीमान्त से विदेशी सत्ता को सर्वथा पराजित करके भारतीयता की रक्षा करने वाले सम्राट चन्द्रगुप्त ने जैन आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी से दीक्षा ग्रहण की थी। उनके पुत्र विम्बसार थे। सम्राट अशोक उनके पौत्र थे। कुछ दिन जैन रहकर अशोक पीछे बौद्ध हो गये थे।''[14]

सम्राट अशोक ने काश्मीर तक जैन धर्म का प्रचार किया था।

''When the succession revolved on Ashoka the son of x Javal's paternal uncle, he abolished rhe Brhamanical religion and established the Jain faith, (in Kashmir)''[15]

यानी– अशोक ने काश्मीर में जैनधर्म का प्रचार किया व ब्राह्मण धर्म का वहाँ से उच्छेद किया। ऐसा अबुल फजल ने आइने अकबरी में लिखा है।

So slight seemed to Ashoka difference between Jainism and Budhism that he did not think it necessary to make a public profession of Budhism till about his 12th reignal (247 B.C.) so that nearly, if not all his rock inscriptions are really those of Jain sovereign.[16]

जैन और बौद्ध धर्म के मध्य राजा अशोक को इतना कम भेद दीखता था कि उसने सर्वसाधारण में अपना बौद्ध होना अपने राज्य के 12वें वर्ष (ईस्वी पूर्व 247 वर्ष) कहा था। इसलिए करीब-करीब उसके कई शिलालेख वास्तव में जैन सम्राट् के रूप में हैं।

श्री पं. विजयमूर्ति एम.ए. शास्त्राचार्य, दिल्ली शिलालेख ई. पू. 242 के अपने शिलालेख संग्रह (निर्णय प्रेस बम्बई में छपा) में लिखते हैं[17]–

इसमें बताया है कि सम्राट अशोक ने अपने राज्याभिषेक से 27 वर्ष में यह

14. कल्याण, मासिक पत्र, सन् 1950, पृष्ठ 864
15. BIBLIOTEEA INDICA
    Ain-I-Akbari, Volume 11; Col. H.S. Jarret, (2nd Edition) Corrected by Jadunath Satkar, Royal Asiatic Society, 1949, Page 377
16. 'Science of comparative religions' by Major General J.B.S.R. Forlong, (1897), page 20
17. भाग 2, पृष्ठ 3

धर्मशासन लेख लिखवाया था। इसमें उसनेअपने द्वारा नियोजित धर्म महामात्य का उल्लेख किया है। ये धर्म महामात्य संघ आजीवक ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ[18] शब्द से जैनों का तात्पर्य है। इस पर से मालूम पड़ता है कि उस समय के अनेक अग्रसर धर्मों में जैनधर्म भी एक था।

"अशोक मौर्य सम्राट का पौत्र था। चन्द्रगुप्त जैन ही नहीं था, किन्तु उसने जिनदीक्षा भी धारण की थी, जिसे ऐतिहासिक विद्वान निःसंकोच मानते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था तो उसका पोता भी जैन ही था। कुछ ऐतिहासिक लोगों का मत है कि अशोक पहले जैन अवश्य था, परन्तु पीछे बौद्ध हो गया था।"[19]

सम्राट चन्द्रगुप्त के पौत्र (पोता) सम्राट अशोक ने समस्त भारत को अपने अधीन करके निष्कंटक एकछत्र राज्य किया। सम्राट अशोक 29 वर्ष तक जैन धर्मानुयायी रहा। ऐतिहासिक पुस्तक 'आइने अकबरी' में इस बात की पुष्टि की गई है। 29 वर्ष पीछे अशोक ने बौद्ध धर्म को ग्रहण किया था। इस विषय का समर्थन अन्य अनेक लिखित ऐतिहासिक उल्लेखों से भी होता है।

## भारत पर सिकन्दर का आक्रमण

ईसाई धर्म और मुस्लिम धर्म की स्थापना से पहले अरब आदि देशों तथा यूरोप में मूर्ति-पूजक धर्म फैला हुआ था। उस समय यूनान के मकदूनिया में वहाँ के अधिकारी फिलिप के घर सिकन्दर का जन्म हुआ। यह समय ईसा मसीह से 356 वर्ष पहले का माना जाता है। सिकन्दर 20 वर्ष की आयु में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् राजगद्दी पर बैठा। राज-सिंहासन पर बैठते ही सिकन्दर ने मिश्र, ईरान आदि देशों पर विजय पाकर उनको अपने अधीन कर लिया।

तदनन्तर अफगानिस्तान को जीतता हुआ भारत में प्रविष्ट हुआ। फिर बिलोचिस्तान को जीतकर उसने ईसामसीह से 326 वर्ष पहले ओहिन्द के स्थान पर सिंध नदी पर नावों का पुल बनाया और उस पुल पर से अपनी सेना को पार कराया। उस समय तक्षशिला का राजा अम्भीक था, उसने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली।

राजा पुरु उस समय पंजाब में झेलम नदी के पूर्वी भाग में राज्य करता था। राजा अम्भीक ने सिकन्दर को उकसाया कि वह राजा पुरु (पोरस) पर आक्रमण करके अपने राज्य का विस्तार करे।

तदनुसार सिकन्दर ने आगे बढ़कर राजा पुरु के राज्य पर आक्रमण कर दिया, परन्तु राजा पुरु उसके आक्रमण को विफल करने के लिए अपनी वीर सेना को लेकर

18. ".....निगण्ठेसु पिमे कटे वियापटा होहंति।"
दिल्ली फिरोजशाह कोटला, पाली-वाक्य अशोक स्तम्भ से
19. पं. इन्द्रलाल शास्त्री, जयपुर

झेलम नदी के तट पर आ डटा। राजा पुरु के वीर सैनिकों के तीक्ष्ण बाणों की मार से सिकन्दर की सेना झेलम नदी को पार न कर सकी। तब सिकन्दर ने अपनी कुछ सेना को रात्रि के समय एक अन्य स्थान से नदी पार कराकर राजा पुरु की सेना के पिछले भाग पर आक्रमण कर दिया। आकस्मिक आक्रमण के कारण तथा वर्षा होने से युद्धभूमि में कीचड़ हो जाने के कारण पुरु के सैनिक युद्ध में न टिक सके। वे जैसे ही अपने धनुष पृथ्वी पर बाण छोड़ने के लिए टेकते थे कि उनके धनुष कीचड़ में फिसल जाते थे। अतः युद्ध में राजा पुरु हार गया, परन्तु राजा पुरु की वीरता से प्रसन्न होकर सिकन्दर ने राजा पुरु का राज्य उसे लौटा दिया।

तदनन्तर सिकन्दर की सेना ने आगे बढ़ना अस्वीकार कर दिया, तब सिकन्दर अपने देश को वापिस लौट गया, परन्तु बगदान के निकट बाबलन स्थान पर सिकन्दर की मृत्यु हो गई।

भारत के जीते हुए प्रदेश पर सिकन्दर का महान सेनापति सेल्यूकस शासन करता था। उस समय चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस के साथ युद्ध करके उसे परास्त कर दिया और पंजाब से तथा भारत के बिलोचिस्तान प्रदेश से यूनानियों को निकाल बाहर किया। इतना ही नहीं बल्कि काबुल कंधार को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि सेल्यूकस जब चन्द्रगुप्त से युद्ध में हार गया, तब उसने अपनी सुन्दरी युवती कन्या हेलना का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया और काबुल कंधार का प्रदेश चन्द्रगुप्त को देकर उससे सन्धि कर ली।

सेल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त की राजसभा में रहता था। मेगस्थनीज ने अपनी पुस्तक 'टा इण्डिका' (Ta Indika) में उस समय के मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के सुसंगठित शासन का सुन्दर वर्णन किया है।

## कल्याण मुनि से भेंट

भारतवर्ष पर आक्रमण करते समय सिकन्दर ने दिगम्बर जैन साधुओं के उच्च चरित्र और कठोर तपस्या के विषय में बहुत कुछ प्रशंसा सुनी थी। इससे उसके हृदय में नग्न जैन साधुओं के दर्शन करने की उत्कण्ठा बहुत प्रबल हो गई।

ईसवी सन् पूर्व 326 के नवम्बर मास में सिकन्दर (Alexander) ने अटक के निकट सिन्ध नदी को पार किया तब वह तक्षशिला (Taxila) में आकर ठहरा। उस समय उसे ज्ञात हुआ कि यहाँ अनेक नग्न जैन साधु (Gymnosophist) एकान्त स्थान में रहकर तपस्या करते हैं।

सिकन्दर ने अपना एक चतुर दूत जिसका नाम अंशक्रतस (Onesikrates) था, उन नग्न जैन साधुओं के पास भेजा कि एक साधु को आदर के साथ मेरे पास ले आओ।

अंशक्रतस जैन मुनियों के निकट पहुँचा। उसने साधु-संघ के आचार्य से कहा कि आचार्य महाराज! आपको बधाई है। शक्तिमान देवता (Zeus) यानी परमेश्वर का पुत्र सम्राट् सिकन्दर जो कि समस्त मनुष्यों का राजा है, आपको अपने पास बुलाता है। यदि आप उसका निमन्त्रण स्वीकार करके उसके पास चलेंगे तो वह आपको बहुत पारितोषिक प्रदान करेगा। यदि आप निमन्त्रण अस्वीकार करके उसके पास न जावेंगे तो वह आपका सिर काट लेगा।

श्रमण साधुसंघ के आचार्य दोलामस (Daulamus) सूखी घास पर लेटे हुए थे, उन्होंने लेटे-लेटे ही सिकन्दर की बात सुनी और मन्दस्मित से (मुस्कराते हुए) अंशक्रतस को लापरवाही से उत्तर दिया—

सबसे श्रेष्ठ राजा– ईश्वर कभी बलात् (ज़बरदस्ती) किसी की हानि नहीं करता और न वह प्रकाश, जीवन, जल, मानवीय शरीर तथा आत्मा का बनाने वाला है, न वह इनका संहारक (विनाशक) है। सिकन्दर देवता नहीं है, क्योंकि उसकी एक दिन मृत्यु अवश्य होगी। वह जो कुछ पारितोषिक देना चाहता है वे सभी पदार्थ मेरे लिए निरर्थक हैं। मैं तो घास पर सोता हूँ, ऐसी कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता जिसकी रक्षा की मुझे चिन्ता करनी पड़े, शान्तिनिद्रा का भंग जिसके कारण करना पड़े। यदि मेरे पास सुवर्ण या अन्य कोई सम्पत्ति होती तो मैं ऐसी निश्चिन्त नींद न ले सकता। पृथ्वी मुझे सभी आवश्यक पदार्थ प्रदान करती है, जैसे बच्चे को उसकी माता पूरी तरह सुख देती है। मैं जहाँ कहीं जाता हूँ वहाँ मुझे अपनी उदर-पूर्ति के लिए कमी नहीं, आवश्यकतानुसार सब कुछ (भोजन) मिल ही जाता है। कभी नहीं भी मिलता तो मैं उसकी कुछ चिन्ता नहीं करता। यदि सिकन्दर मेरा सिर काट डालेगा, तो वह मेरी आत्मा को तो नष्ट नहीं कर सकता। सिकन्दर अपनी धमकी से उन लोगों को भयभीत करे जिन्हें सुवर्ण धन आदि की इच्छा हो या जो मृत्यु से डरते हों। सिकन्दर के ये दोनों अस्त्र (आर्थिक लोभ लालसा तथा मृत्युभय) हमारे लिए शक्तिहीन हैं; व्यर्थ हैं; क्योंकि न हम सुवर्ण (सोना) चाहते हैं और न मृत्यु से डरते हैं।

**मृत्योर्विभेषि किं मूढ, भीतं मृत्युर्न मुंचति।**

इसलिए जाओ, सिकन्दर से कह दो कि दौलामस को तुम्हारी किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं, अतः वह (दौलामस) तुम्हारे पास नहीं आवेगा। यदि सिकन्दर मुझसे कोई वस्तु चाहता है तो वह हमारे समान बन जाये।

सिकन्दर के दूत अंशक्रतस ने आचार्य दौलामस की सब बातें बहुत ध्यान और शान्ति से सुनीं। फिर वह वहाँ से चलकर सम्राट् सिकन्दर के पास आया उसने दुभाषिया द्वारा सिकन्दर को आचार्य दौलामस की कही हुई सब बातें सुना दीं।

सिकन्दर को आचार्य दौलामस का निर्भीक उत्तर सुनकर उनके दर्शन करने की

उत्कण्ठा और भी प्रबल हुई, उसने सोचा कि जिसने अनेक देशों पर विजय पाई वह सिकन्दर वृद्ध नग्न साधु द्वारा परास्त हो गया (हार गया)।

सिकन्दर ने दौलामस मुनि की मुक्तकंठ से प्रशंसा की और मुनि को अपनी इच्छानुसार कार्य करने दिया। कहा जाता है कि उसके पश्चात् श्री आचार्यवर दौलामस और सम्राट् सिकन्दर की भेंट नहीं हुई, परन्तु सिकन्दर नग्न साधुओं के उच्च आचार और कठोर तपस्या से प्रभावित हुआ। उसने उन साधुओं द्वारा अपने देश यूनान में धर्म-प्रचार कराना हितकारी समझा। तदनुसार वह कल्याण (कालनस Kalanus) नामक मुनि से विनयपूर्वक मिला। कल्याण (कालनस) मुनि आचार्य दौलामस के संघ के एक शिष्य साधु थे।

सिकन्दर की प्रार्थना सुनकर कल्याण मुनि ने धर्म-प्रचार के लिए यूनान जाना स्वीकार कर लिया, परन्तु कल्याण (कालनस) मुनि का यूनान जाना आचार्य दौलामस को पसन्द न था।

जब तक्षशिला से सिकन्दर अपनी सेना के साथ यूनान को लौटा, तब कल्याण मुनि ने भी उसके साथ विहार किया। कल्याण मुनि के साथ कौन-कौन भारतीय जैन श्रावक यूनान की ओर गये– इस बात का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता।

यूनान को जाते हुए मार्ग में बाबिलन स्थान पर जून 323 ई.पू. दिन के तीसरे पहर 32 वर्ष, 8 मास की आयु में महान् विजेता सिकन्दर मृत्यु की गोद में सो गया। उसकी इस मृत्यु की भविष्यवाणी पहले ही कल्याण मुनि ने की थी।

अन्तिम समय सिकन्दर ने कल्याण मुनि के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। कल्याण मुनि ने उसे दर्शन दिये और धर्म-उपदेश दिया।

सिकन्दर ने अपनी इच्छा प्रकट की कि मेरे मरने के पश्चात् संसार को शिक्षा देने के लिये अर्थी से बाहर मेरे खाली हाथ रखे जावें और मेरे जनाजे (शवयात्रा) के साथ अनेक देशों से लूटी हुई विशाल सम्पत्ति श्मशान भूमि (कब्रिस्तान) तक ले जाई जावे, जिससे जनता अनुभव कर सके कि आत्मा के साथ कोई भी सांसारिक पदार्थ नहीं जाता। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् ऐसा ही किया गया। सिकन्दर की अर्थी को पहले चार राजवैद्यों ने अपने कन्धे पर रखा, यह इस बात का प्रतीक था कि महान वैद्य भी मृत्यु की चिकित्सा (ईलाज) नहीं कर सकते।

सिकन्दर की शव यात्रा पर निम्नलिखित छन्द एक कवि ने लिखा जो कि अब तक प्रसिद्ध है–

**सिकन्दर शहंशाह जाता रहा, सभी हाली वहाली थे।**
**सभी थी संग में दौलत, मगर दोनों हाथ खाली थे॥**

यानी– सिकन्दर ने अनेक देशों को जीतकर बहुत सी सम्पत्ति एकत्र की,

परन्तु मरते समय वह अपने साथ कुछ भी न ले जा सका। परलोक जाते समय उसके दोनों हाथ खाली ही रहे। अपने जीवन में भलाई-बुराई से उपार्जित किया पुण्य-पाप ही उसके साथ गया।

कल्याण मुनि ने आयु के अन्त में शान्तिमयी समाधि के साथ प्राण-त्याग किया। उनका शव बड़े सम्मान के साथ चिता पर रखकर जलाया गया।

एथेन्स नगर में कल्याण मुनि के चरण-चिह्न प्रसिद्ध स्थान पर अभी भी अंकित हैं।

## संबंधित ऐतिहासिक उल्लेख

'Onesikritos says that he himself was sent to converse with these sages. For Alexander heard that these men (Sramans) went about naked, inused themselves to hardships and were held in highest honour, that when invited they did not go to other persons.'[20]

अंशक्रतस कहता है कि वह स्वयं इन ऋषियों के साथ बातचीत करने के लिए भेजा गया। क्योंकि सिकन्दर ने सुन रखा था कि ये साधु नग्न घूमा करते हैं, कठिनाइयाँ सहते हैं तथा बहुत बड़ी श्रद्धा के पात्र हैं और निमंत्रित किये जाने पर दूसरे व्यक्तियों के पास नहीं जाते हैं।

Al. p. 69—'(Alexander) despatched Onesikritos to them (gymnosophists) who relates that he found at the distance of 20 stadies from the city (of-Taxila) 15 men standing in different postures, sitting or lying down naked who did not move from these positions till the evening, when they return to the city. The most difficult thing to endure was the heat of the sun etc.,

Calanus bidding him (Onesti) o strip himself if he desired to hear any of his doctrine.[21]

अंशक्रतस सिकन्दर द्वारा इनके पास भेजा गया था और उसका कथन है कि उसने तक्षशिला शहर के बीच स्टेंडिस की दूरी पर 15 व्यक्तियों को विभिन्न मुद्राओं में देखा, वे या तो बैठे हुए या नंगे लेटे हुए थे, जो कि शाम तक इन आसनों से नहीं हिलते थे और शाम के समय शहर में आ जाते थे। सूर्य की गर्मी आदि सहन करना अत्यन्त मुश्किल कार्य था।

कालानस ने उससे कहा– यदि वह उसके किसी भी सिद्धान्त को सुनना चाहता है तो स्वयं को उसके अनुकूल बनावे।

---

20. Mc Crindle : Ancient India, p. 70
21. Plutarch. Al., p. 71

.....the term Digambers..... is referred to in the well-known Greek phrase, Gymnosophists, used already by Megasthenes, which applies very aptly to the Niganthas (Digambera Jainas).'[22]

दिगम्बर शब्द— ग्रीक भाषा में गेगस्थनीज के द्वारा प्रयुक्त शब्द, 'जिम्नोसोफिस्ट' का अर्थ दिगम्बर मुनियों से है जो कि दिगम्बर जैनियों के (निगण्ठ) निर्ग्रन्थों के लिए लागू है।

'A calendar fragment descovered at Milet & belonging to the 2nd century B.C. gives several weather forecasts on the authority of Indian Calanas.'[23]

ईसामसीह से सौ वर्ष पूर्व काल के एक कलेण्डर के टुकड़े मिलेट में पाये गये। उससे भारतवासी कालानस की मौसमों के बारे में की गई भविष्यवाणी का पता चलता है।

Aristoboulos—says 'Their (Gymnosophists), spare time is spent in the market-place in respect their being public councillors they receive great homage. etc.'

अरिस्तांबुल कहता है कि वे (जैन मुनि) बचे हुए समय का सदुपयोग बाजार के बीच लोगों को उपदेश देने में बिताते हैं तथा वहाँ उनको बहुत ही उच्च दृष्टि से देखा जाता है।

Cicero (Tusc, Disput. V. 57)—'What for land is more vast & wild than India? Yet in that nation first those who are reckoned sages spend their lifetime naked & endure the snows of Caucasus & the rage of winter without grieving & when they have committed their body to the flames, not a groan escapes them when they are burning.

Clemens Alexendrinus 'Those Indians, who are called Sramans go naked all their lives. These practise truth, make predictions about futurity and worship a kind of pyramid lie buried, (Stupas)[24].

भारतवर्ष के सिवाय ऐसा अन्य कौन-सा देश इतना अधिक विस्तृत एवं विभिन्न प्रकार का है? फिर भी उस जाति में सर्वप्रथम माने जाने वाले मुनि आजीवन नग्न रहते हैं और काकेशस पहाड़ सरीखी बर्फ एवं शीतकाल की प्रचुरता को बिना हिचकिचाहट के सहन करते हैं और जब कि वे अपने शरीर को अग्निशिखा (सूर्य के प्रखर किरणों) के समर्पण कर देते हैं, तो जलते हुए भी उनके

22. Encyclopaedia Britannica (11th ed.) Vol., XV, p.128.
23. QJMS, XVIII, 297.
24. Al. P. 163

मुँह से चूँ तक नहीं निकलती।

श्रमण (जैन साधु) कहे जाने वाले भारतीय आजीवन नग्न घूमते हैं। वह सत्य का अनुसरण करते हैं, भविष्यवाणियाँ करते हैं और स्तूप (मानस्तंभ) की पूजा करते हैं।[25]

St. Jerome... Indian Gymnosophists. The king on coming to them worship them & the peace of his dominions depends according to his judgement on their prayers.[26]

Every wealthy house is open to them to the apartments of the women. On entering they share the repast.[27]

राजा जैन मुनियों के पास आकर उनकी पूजा करता है और उसके राज्य में सुख, शान्ति का वातावरण उनकी प्रार्थनाओं एवं उसके निर्णय के अनुसार निर्भर करता है।

प्रत्येक धनी व्यक्ति का घर स्त्रियों के निवास-स्थान तक भी उनके लिए खुला रहता है।

प्रसिद्ध लेखक रेवेरेण्ड जे. स्टेवनसन, अध्यक्ष रायल एशियाटिक सोसाइटी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दिगम्बर जैनधर्म प्राचीन समय से अब तक पाया जाता है। ग्रीक लोगों ने पश्चिमी भारत में जिन जिमनोसोफिस्टो का वर्णन किया है, वे जैन लोग थे। वे न तो बौद्ध थे और न ब्राह्मण थे। सिकन्दर ने जैनों के समुदाय को तक्षशिला में देखा था, उनमें से कालोनस (कल्याण) नामक दिगम्बर जैन महात्मा फारस तक उसके साथ गये थे। इस युग में यह धर्म 24 तीर्थंकरों द्वारा निरूपित किया गया है, उनमें भगवान महावीर अन्तिम हैं। मूल लेख यों है–

As a sect the Digambaras have continued to exist among them from the old down to the present day, the only conclusion that is left to us that the Gymnosophists, whom the Greeks found in western India where Digambarism still prevails, were Jains and neither Brahmanas nor Budhists and that it was a company of Digambaras of this sect that Alexander fell in with near Taxila. One of them Calanus followed him to Persia. The creed has been preached by 24 Tirthankaras in the present cycle. Lord Mahavira being the last.

.....when Alexander arrived at Taxila and saw the Indian Gymnosophists (Jain Muni), a desire seized him to have one of these men brought into his

25. मानस्तभादि स्तूपानाम् –श्रेणिकपुराण

26. .....Al. p. 181

27. .....Al. p. 71

presence, because he admired their endurence. The eldest of these sophists with whom the others lived as disciples was a master Daulamus by name, not only refused to go himself, but prevented the others going. He is said to have won over kalanus one of the sophists of the place.[28]

यानी– जब सिकन्दर तक्षशिला में गया था तो उसने जिमनोसोफिस्ट दिगम्बर जैन सूफियों (जैन मुनियों) को देखा था, उनकी सहनशीलता को उसने (सिकन्दर ने) मान्य किया था और उनमें से एक को साथ ले जाने की इच्छा प्रकट की थी। इन साधुओं में जो सबसे ज्येष्ठ बुद्ध आचार्य दौलामस थे, दूसरे इनके पास सब शिष्यों की भाँति रहते थे, उन्होंने स्वयं जाना स्वीकार नहीं किया और न दूसरों को जाने की आज्ञा दी। तब सिकन्दर ने उनमें से एक कालानस (कल्याण–जैन नग्न मुनि) को जाने को राजी कर लिया।

''जिस समय सिकन्दर महान ने भारत पर आक्रमण किया था, तो उसे सीमा प्रान्त पर तक्षशिला के पास बहुत से दिगम्बर जैन मुनि मिले थे। उनके ज्ञान, ध्यान, विद्या तथा तप की तारीफ सुनकर सिकन्दर उनको देखने के लिए लालायित हुआ था और आखिर वह कल्याण नामक एक दिगम्बर मुनि को साथ ले गया था।''[29]

The savans of Alexander found jainas Budhism strongly in the ascendant throughout Baktia, Oxiana, and all the passes to from Afganistan and India.[30]

यानी–सिकन्दर के आदमियों ने जैन, बौद्ध धर्म को वैकटिया, ओक्सियाना व अफगानिस्तान और भारत के बीच को सर्वघाटियों में उन्नत रूप में फैला हुआ पाया था।

There were Gymnosophists or naked Saints in India but they were not Buddhists.[31]

यानी– प्राचीन काल में भारत में जैन साधु या नग्न सूफी थे, परन्तु वह बौद्ध न थे।

This then was the theory and practise of great Jaino-Budhist religion which flourished in India many centuries before and after the teaching of Gotam Sakyamuni. It was certainly long prior to Parsva and Mahavira.

---

28. The Life of the Budha, by E.I. Thomas (1927), Page 115
29. वीर वर्ष 7, पृष्ठ 177
30. 'Science of comparative religions' by Major General J.B.S.R. Forlong, (1897), page 40
31. The life of the Budha by E.I. Thomas (1957), Intro, Page 74

While East India was certainly the fruitful centre of religion from 7th Century B.C. yet Trans-Himalaya, Oxiana, Baktria and Kaspiana seen to have still earlier developed similar religious view and practices as Indian Jain and Budha claims and almost historically show, that about a score of their saintly leaders Perambulated the Eastern world long prior to 7th Century B.C. Many reasonably believe that Jainism was very anciently preached by them from china to Kaspiana. It existed in Oxiana and North of Himalayas 2000 years before Mahavira.[32]

यह इस महान जैन-बौद्ध धर्म का सिद्धान्त आचरण था, जो भारत में गौतम शाक्य मुनि के बहुत-सी शताब्दियों पहले व पीछे फैला हुआ था। भारत 7वीं शताब्दी पूर्व से इस धर्म का वास्तव में फैलता हुआ केन्द्र था। हिमालय के पार, ओक्सियाना बैकट्रिया कास्पियाना इससे भी बहुत पहले से ऐसे ही धार्मिक सिद्धान्त व आचरण में उन्नति कर रहे थे, जैसे भारतीय जैन और बौद्धों के हैं। लगभग ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रकट होता है कि सातवीं शताब्दी पूर्व से बहुत पहले से 20 से अधिक साधु तीर्थंकरों ने पूर्वीय संसार में धर्म का प्रचार किया था। हम बहुत उचित रीति से विश्वास कर सकते हैं कि जैनधर्म बहुत ही प्राचीन काल से उनके द्वारा चीन से कास्पियाना तक उपदेशित होता था। वह धर्म ओक्सियाना और हिमालय के उत्तर महावीर से 2000 वर्ष पूर्व मौजूद था।

The selection of these short studies has enabled us to virtually embrace and epitomise all the faiths and religious ideas of the world as well as to lay base the deep-seated teproot from which they sprang viz. the crude yatism jati or as cetism of thoughtful gatis as gains who in man's earliest ages have on all lands separated themselves from the world and dwelt upon pious motions in lonely forests and mountain-caves.[33]

यानी– इस कुछ पठन-पाठन से हमने दुनिया के सब विश्वासों तथा विचारों का विमर्श किया है तथा वे भाव कहाँ से उठे उस मूल (जड़) को ढूँढा है, तो कहना होगा कि ''वे भाव विचारशील जैन साधुओं से उठे हैं।'' ये जैन साधु अति प्राचीन काल से पृथ्वी पर रहते थे, जो संसार त्याग कर पवित्र उद्देश्य से एकान्त वनों व पर्वत की गुफाओं में रहा करते थे।

''उस जमाने की तवारीख से पता चलता है कि पश्चिमी एशिया, यूनान, मिस्र और इथियोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों हजारों जैन-सन्त महात्मा

32. 'Science of comparative religions' by Major General J.B.S.R. Forlong F.R.B.E.F.R.A. S.M.A.L. (1897), p.28
33. 'Science of comparative religions' by Major General J.B.S.R. Forlong F.R.B.E.F.R.A. S.M.A.L. (1897), p. 28

जा-जाकर जगह-जगह बसे हुए थे। यह लोग वहाँ बिलकुल साधुओं की तरह रहते और अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए वहाँ मशहूर थे।''[34]

I have often met general in the territory of some Raja bands of these nacked Fakirs. I have seen them walk start nacked through a large town women and girls looking at them without any more emotion than may be created when a hermit passes through our streets. Females often bring them alms with devotion.....[35]

औरंगजेब के समय में भारत आने वाले डॉ. बर्नियर अपनी पुस्तक में लिखते हैं– मुझे बहुधा ऐसी रियासतों में दिगम्बर मुनियों का समुदाय मिलता था। मैंने उन्हें बड़े शहरों में विहार करते हुए पूर्णतया नग्न देखा है और स्त्रियों, लड़कियों को किसी विकारयुक्त हो दृष्टिपात करते नहीं देखा है, उन महिलाओं के अन्तःकरण में वे ही भाव होते हैं जो सड़क पर जाते हुए किसी साधु को देखने से होते हैं, महिलाएँ भक्तिपूर्वक उनको आहार बहुधा कराती थीं।

दिगम्बर मुनि हर समय पवित्र आर्य भूमि को अपने चरणरज से पवित्र करते आये हैं। इस बात का अब इतिहास दुनियाँ के सामने साक्षी है।

वे सभी सम्राट स्वयं शुद्धाचरणी थे, इनके शासन-काल में निरपराध प्राणियों की हत्या बन्द रही। लोग सुखी और समृद्धशाली थे, सभी अपने-अपने नियतकार्यों को किया करते थे। एक को दूसरे के प्रति ईर्ष्या या द्वेष नहीं था। ऊँच-नीच के भेद को पुण्य-पाप का फल समझते थे, इसलिए पाप कर्म से हटकर पुण्य कर्म करने का यथाशक्ति प्रयत्न करते थे। शासक कभी किसी के धर्म या सामाजिक नियम में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते थे। राजा रक्षा-व्यवस्था के लिए भूमि और चुंगी कर के अतिरिक्त कोई कर नहीं लेते थे। वह था सुराज्य, जिसे लोग चाहते थे। दक्षिण भारत में गगवंशीय आदि जैन धर्मानुयायी राजाओं ने सैकड़ों वर्ष तक निष्कंटक राज्य किया है। समर-धुरन्धर चामुण्डराय आदि वीरों ने अपनी शक्ति का परिचय दिया है। आज भी मूडबिद्री में राजवंश के उत्तराधिकारी विद्यमान हैं।

❖❖

34. हजरत ईसा और ईसाई धर्म, लेखक–इतिहासवेत्ता पं. सुन्दरलाल, पृष्ठ 22
35. Dr. Bener's travels in the Mogul Empire-317

# बाहुबली की राजधानी तक्षशिला*

## कथा का विकास : नए आयाम

भरत-बाहुबली कथा जैन पुराणों में प्रायः एक सी है। सभी ने भरत चक्रवर्ती के आत्मज्ञान, वैराग्य आदि की महिमा प्रकट की है और बाहुबली के पराक्रम, सौन्दर्य और स्वाधीनता-प्रेम के गुण गाये हैं। वर्णन करने में प्रत्येक कवि प्रस्तुति देते समय एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होता है। परम्परा के अनुसार प्रायः सभी ने धर्मयुद्धों में भरत की पराजय और बाहुबली की विजय दिखायी है। भरत द्वारा अपमानवश बाहुबली पर चक्र चलाने की घटना और बाहुबली द्वारा तपस्या के दौरान मन में शल्य का होना भी प्रायः सभी कवियों का विषय रहा है, क्योंकि कवि दोनों भाइयों की मानवीय कमजोरियाँ और पौराणिक गुणों को उजागर करना चाहते थे। ये सब वर्णन पाठकों को प्रेरणा और उद्‌बोधन देने के लक्ष्य से भी किये गये हैं। इनमें प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है।

इस कथा का विस्तार प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत आदि कवियों के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के कवियों के ग्रन्थों में भी हुआ है। उनमें कन्नड़ कवि **रत्नाकर वर्णी** की कृति **'भरतेश वैभव'** इस भरत-बाहुबली कथा में नए रंग भरती है। क्योंकि उनका लक्ष्य चक्रवर्ती भरत के व्यक्तित्व का वैभव दिखाना है। तीन धर्मयुद्ध की संधि हो जाने पर भी इस काव्य में ये अहिंसात्मक युद्ध भी नहीं लड़े गये और न भरत ने अपमानवश चक्र का प्रयोग किया। कवि कहता है कि धर्मयुद्ध भी बातचीत करके टाले जा सकते हैं, अतः यहाँ भरत स्वयं बाहुबली के सामने जाकर उनसे बातचीत करने की पहल करते हैं। इस प्रसंग को कवि रत्नाकर वर्णि के शब्दों में ही देखा जाये–

''भाई! बाहुबलि! आज तुम में और मुझ में दुर्भाव से युद्ध हो रहा है, इसके लिए कारण क्या है? क्योंकि निष्कारण कोई राजा आपस में युद्ध नहीं किया करते हैं। तुम्हारी कोई सम्पत्ति मैंने छीन नहीं ली है, मेरी सम्पत्ति तुमने नहीं छीनी है। पहले से पिताजी ने जिसप्रकार राजा व युवराज बनाया है, उसीप्रकार अपन रहते

* इस विषय पर लेखक ने विस्तारपूर्वक एक स्वतंत्र कृति भी लिखी है– ''बाहुबलिस्स रायधाणी तक्खसिला''।

हैं। अच्छा ! कोई बात नहीं ! भाई-भाईयों में भी द्वेष होता है। परन्तु उसके लिए भी कुछ कारण होता है। क्या तुमसे कर वसूल करने के लिए मैंने अपने दूतों को तुम्हारे पास भेजा है? तुम्हारे नगर को मेरे मनुष्य आ सकते हैं। तुम्हारी प्रजाओं की मेरे नगर में आने पर मैंने अन्य जनों के समान कभी भावना की थी? प्रजापरिवारों में इस प्रकार भिन्न विचार क्यों? मैंने बोलते हुए कभी तुम्हारे लिए अल्पशब्दों का प्रयोग किया? मेरी प्रजाओं में किसी ने उस प्रकार का व्यवहार किया? कभी नहीं ! केवल अपने भाई को देखने की इच्छा से उसे बुलाया तो इतना क्रोध क्यों? तुम मेरे लिए क्या शत्रु हो? मैं क्या तुम्हारे लिए शत्रु हूँ? हम दोनों आदि-प्रभु के पुत्र होकर इस प्रकार विचार करें तो यह आगे सब सामान्य लोगों के लिए द्रोह-शासन को लिख देने के समान हो जायेगा।

कदाचित् तुम मन में कहोगे कि यह युद्ध से डर कर अब यहाँ बातें करने लगा है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। युद्ध तो करूँगा ही। पहिले अपने मन की बात कहकर दोष को टाल रहा हूँ। दूसरे कोई मेरे सामने युद्ध के लिए खड़े होते तो उनको लात मारकर भगाता। परन्तु भाई ! सोचो, सहोदरों के युद्ध को लोक पसंद नहीं करेगा। मैं तुमसे थोड़ा बड़ा हूँ, इसलिए मैंने तुमको अपनी सेना की तरफ बुलाया, तुम मुझसे बड़े होते तो मैं तुम्हारे पास आता। बड़े भाई के पास छोटे भाई का जाना लोक की रीत है। इसमें भाई ! तुम्हारा अपमान क्या है? तुम और मैं दोनों खिलाड़ी हैं। ये सब सेनागण, राजा, मन्त्री, मित्र आदि सबके सब तमाशा देखने वाले दर्शक हैं।

लोक में राजाओं को खिलाकर अपन लोगों को तमाशा देखना चाहिए। परन्तु अपन ही तमाशा दूसरों को दिखाते हैं। मुझे तुम जीतोगे तो क्या तुम्हें कीर्ति मिल जायेगी? तुम्हें मैं जीतूँ तो क्या मुझे यश मिल सकेगा? पन्नग-नर-सुरलोक के उत्तम पुरुष अपने व्यवहार को देखकर छी थू कहे बिना नहीं रह सकते। विशेष क्या? तुम युद्ध के लिए आये हो न? युद्ध में जय होने की अभिलाषा सबकी रहती है। सामान्य लोगों के समान लड़ने की क्या ज़रूरत है? तुम जीत गये मैं हार गया, जाओ।.....

बाहुबलि की ओर मुड़कर उन्होंने फिर कहा कि भाई ! उपचार के लिए तुम्हारी जीत है— ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। अच्छी तरह सुनो, तुम्हारी सामर्थ्य को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। सर्व सेना सुने, उस तरह मैं कहता हूँ, सुनो। दृष्टियुद्ध में तुम्हारी जीत है, क्योंकि तुम मुझसे 25 धनुष्य प्रमाण अधिक हो। इसलिए तुम मुझे सरलता से देख सकते हो, परन्तु मुझे ऊर्ध्वदृष्टि कर तुम्हें देखना पड़ेगा, इसलिए मुझे कष्ट होगा, मेरी आँखें दुखेंगी।.....

भाई ! जलयुद्ध में भी तुम्हारी जीत है, क्योंकि तुम ऊँचे हो। मैं तुम्हारी छाती

तक पानी फेंक सकता हूँ, मुझे तुम डुबा सकते हो। ऐसी अवस्था में मेरी हार उसमें भी हो जायेगी। समझे?.....

भाई ! मल्लयुद्ध की ज़रूरत ही क्या है? पिताजी ने तुम्हारा नाम ही **भुजबली** रखा है। वह असत्य किस प्रकार हो सकता है? भुजबल में तुम प्रबल हो, मुझे सहज उठा सकते हो। पिताजी ने मेरा नाम भरतेश रखा है, मैं भरतभूमि का अधिपति हुआ। तुम्हारा नाम भुजबलि रखा है, तो भुजबल मुझे तुम उठाओगे ही।

भरतेश्वर ने कहा कि भाई ! अब अपने मुख से मैंने कहा कि मैं हार गया, तुम जीत गये, फिर अब क्रोध की क्या आवश्यकता है? भाई ! हृदय को शांत करो।

बाहुबलि ने मन में विचार किया कि सचमुच में मैंने यह अच्छा विचार नहीं किया है, भाई के प्रति इस प्रकार द्रोहविचार नहीं करना चाहिए था। बाहुबलि ने अभी तक सन्मुख होकर भरतेश्वर को नहीं देखा था। भरतेश्वर ने पुनः बाहुबलि को प्रसन्न करने के लिए कहा– ''भाई! सुनो, मैंने इस चक्ररत्न की अभिलाषा नहीं की थी, आयुधशाला में वह अपने आप उत्पन्न होकर उसने मुझे सारे देश में भ्रमण कराया व आप लोगों के हृदय को दुखाया। मैं सब संपत्तियों को पुण्य-कर्म के फल जानकर उदासीन भाव से देख रहा हूँ, मुझे बिलकुल लोभ नहीं। तुम इनको स्वीकार करो। तुम ही राजा हो। तुम राजा होकर अपने राज्य में रहो, मैं तुम्हारे अधीनस्थ राजा होकर तुम्हारे लिए हूँ। तुम्हारी दिग्विजय के लिए गया और समस्त षट्खंड को वश में करके आया। लो, यह सब राज्य, सेना वगैरह तुम्हारे ही हैं। ये सब राजा तुम्हारे हैं।''

बाहुबलि भी मन में ही लज्जित होने लगा। अब सीधा खड़े होकर भरतेश्वर की ओर देखने के लिए भी उसे संकोच हो रहा था। गरुड़मन्त्र से विष जिस प्रकार उतरता है, उसी प्रकार भरतेश्वर के मृदुवचनों को सुनकर बाहुबलि का क्रोधविष उतर गया। हृदय शान्त हुआ। चढ़ाये हुए फण को जिस प्रकार सर्प नीचे उतारता है, उसी प्रकार पहिले का गर्व उतर गया। चित्त शान्त हुआ। हा ! भाई के साथ विरोध कर बड़े भाई को अपयश को प्राप्त कराया। इस प्रकार विचार करते हुए बाहुबलि सीधा मुख कर खड़े हुए। तथापि भाई की तरफ देखने के लिए संकोच हो रहा था। मुख नीचे करके खड़े थे। बाहुबली विचार करने लगे कि मैं अत्यन्त ही उपहास का पात्र बना। मैंने बड़े भाई के साथ बहुत-बहुत द्रोह किया, बुरा किया। मैं तपोवन को जाऊँगा। भैया ! कालदोष से घटने वाली घटना मेरे द्वारा प्रकट हो गई, इस बात को लोक अब भूल नहीं सकता। अब इस कलंक को कैलास में जाकर ही धो सकता हूँ, अब देरी न कर मेरी प्रार्थना को स्वीकार करें। भैया ! अब विशेष आग्रह मत करिए, भगवान् आदिनाथ की शपथ है, आपके चरणों की शपथ है। अब मैं घर में नहीं रह सकता, दीक्षा के लिए अवश्य जाऊँगा, संतोष

के साथ भेजिए। अब मुझे मत रोकिए। यह कहते हुए बाहुबली ने भरत के चरणों में अपना मस्तक रखा। उनकी अश्रुधारा बह चली।

भरतेश्वर की आँखों से भी अश्रु धाराप्रवाह बहने लगे। वे कहने लगे कि भाई! तुम जो चाहते हो सो करो।'' —(भरतेश वैभव, प्रथम भाग, पृष्ठ 412-413)

भरत-बाहुबली के अश्रुपात के इस अंतिम मिलन ने शताब्दियों के शासकों, वैभवशालियों और रूपसम्पन्नों के लिए प्रेरणास्पद मार्ग प्रशस्त कर दिया है। भरत-बाहुबली के युद्धभूमि पर हुए अंतिम मिलन में जब दोनों की आँखों से अश्रुधारा निकल कर परस्पर चरणों पर गिरी तो ऐसा प्रतीत हुआ मानों लघु भ्राता बाहुबली ने **घर में ही वैरागी** भरत बड़े भाई के चरण पखार लिये हों और दूसरी ओर दिग्विजयी सम्राट् के श्रावक हृदय ने आसन्नभव्य मोक्षगामी दिगम्बरी तपस्वी को नमोस्तु कर लिया हो। दोनों एक-दूसरे से बढ़कर हैं। उनकी उपमा वे स्वयं हैं।

## बाहुबली की राजधानी तक्षशिला

तक्षशिला में बाहुबली का राज्य था— इसका उल्लेख प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। आचार्य विमलसूरि के पउमचरियं में कहा गया है कि बाहुबली तक्षशिला के राजा थे, जो कि राजा भरत के प्रतिकूल थे और उनकी आज्ञा नहीं मानते थे–

**तक्खसिलाए महप्पा बाहुबली तस्स निच्च पडिकूलो।**
**भरहणरिंदस्स सया, न कुणइ आणा-पमाणं सो॥**

—(पउमचरियं, 4-38)

ग्रन्थकार ने पूरा विवरण इस प्रकार दिया है–

**उसभजिणस्स भगवो पुत्तसयं चंदसूरसरिसाणं।**
**समणत्तं पडिवण्णं सए य देहे णिरवयक्खं॥**
**तक्खसिलाए महप्पा, बाहुबली तस्स णिच्चपडिकूलो।**
**भरहणरिंदस्स सया ण कुणइ आणा-पमाणं सो॥**
**अह रुट्ठो चक्कहरो, तस्सुवरिं सयणसाहण-समग्गो।**
**णयरस्स तुरियचवलो, विणिग्गओ सयलबलसहिओ॥**
**पत्तो तक्खसिलपुरं जयसद्दुग्घुट्ठकलयलारावो।**
**जुज्झस्स कारणत्थं सण्णद्धो तक्खणं भरहो॥**
**बाहुबली वि महप्पा, भरहणरिंदं समागयं सोउं।**
**भडचडयरेण महया, तक्खसिलाओ विणिज्जाओ॥**

—(पउमचरियं, विमलसूरि, 4/37-41)

**अर्थ**– भगवान् ऋषभदेव के चन्द्रसूर्यसदृश **शत पुत्रों** ने **श्रमणत्व को धारण** किया। वे सभी देह में निरपेक्ष (अनासक्त) थे। तक्षशिला में बलशाली बाहुबली रहते थे। **वे भरत चक्रवर्ती के नित्य प्रतिकूल थे** अर्थात् स्वाधीनता प्रेमी राजा थे, भरत चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार करने की आज्ञा नहीं मानते थे। इससे रुष्ट चक्रवर्ती बाहुबली पर सकल सामग्री सहित, सम्पूर्ण बल (सेना) सहित अभियान करने के लिए नगर से शीघ्रतापूर्वक निकले। जब चक्रवर्ती तक्षशिला पहुँचे, उस समय जयघोष का कलकल आलाप सर्वत्र फैल गया। भरत तत्क्षण युद्धार्थ सन्नद्ध हो गये। उस समय भरत चक्रवर्ती के आगमन को सुनकर महाबाहुबली भी महती सुभट सेना के साथ भरत से युद्ध करने के लिए तक्षशिला से निकल पड़े।

आवश्यक निर्युक्ति (पृष्ठ 180-181) में कहा गया है कि उस उत्तरापथ में बाहुबली की राजधानी तक्षशिला थी–

**'तत्थ बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला नाम।'**

इस ग्रन्थ के अनुसार भगवान् ऋषभदेव भी बाहुबली की राजधानी तक्षशिला गये थे। यथा–

**'ततो भगवं विहरमाणो बहलीविसयं गतो।**
**तत्थ बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला णामं॥'**

–(आवश्यकसूत्र निर्युक्ति, पृष्ठ 180-81)

**अर्थ**– तब वे भगवान् वृषभ बहली प्रदेश में विचरण करते हुए बाहुबली की राजधानी तक्षशिला की ओर प्रस्थान कर गए।

आचार्य पूज्यपाद ने निर्वाणकाण्ड में, पोदनपुर में बाहुबली की वन्दना करने का उल्लेख किया है– **बाहुबलि तह वंदामि पोदनपुरे।** यह पोदनपुर तक्षशिला का प्राचीन नाम है।

प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. सी.डी. दलाल ने **भविसयत्तकहा** की प्रस्तावना में पोदनपुर और तक्षशिला को एक ही नगर माना है। उन्होंने कहा है कि शक राजाओं ने तक्षशिला पर राज्य किया था, इसलिए इसे शाकेय नगरी भी कहा जाता था। प्रसिद्ध आगम विद्वान् मुनि जिनविजय जी ने भी अपना अभिमत व्यक्त किया है कि 'पोदनपुर तक्षशिला का दूसरा नाम प्रतीत होता है। विमलसूरि के 'पउमचरियं' में जहाँ-जहाँ तक्षशिला नाम आता है, वहाँ-वहाँ उसी के भाषान्तर स्वरूप पद्मपुराण में 'पोदनपुर' नाम है।

आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध प्राकृत कथा ग्रन्थ **कुवलयमालाकहा** में उद्योतनसूरि ने तक्षशिला नगर का काव्यमय वर्णन किया है। उन्होंने इस नगरी को धन-धान्य से समृद्ध बताया है। तक्षशिला से दक्षिण भारत के सोपारक आदि नगरों से व्यापारिक सम्बन्धों का भी वर्णन दिया है।

कुवलयमाला के तक्षशिला के वर्णन को ध्यान में रखकर प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है कि उद्द्योतनसूरि के लगभग 150 वर्ष पूर्व युवानचांग ने तक्षशिला को जिस समृद्ध नगरी के रूप में देखा था, आठवीं सदी तक उसकी प्रसिद्धि वैसी ही बनी हुई थी। कुवलयमाला में तक्षशिला परिखा और परकोटे से युक्त नगरी थी और जैनधर्म का वहाँ केन्द्र था। क्योंकि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा तक्षशिला नगरी में आगमन और राजा बाहुबली द्वारा वहाँ पर उनकी स्मृति में निर्मित किये जाने वाले रत्नमय विशाल धर्मचक्र की कथा आठवीं सदी में भी विख्यात थी। परवर्ती ग्रन्थों में भी इसके उल्लेख हैं।

9वीं शताब्दी के प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थ **चउपन्नमहापुरिसचरियं** में तक्षशिला को बाहुबली की राजधानी कहा गया है, जहाँ भरत का दूत सुवेग अयोद्धा से अनेक ग्राम, आकर, खेड, मंडप आदि स्थानों को पार कर तक्षशिला बाहुबली के भवन के द्वार पर पहुँचा था–

**'सद्दाविओ सुवेगाभिहाणो दूओ। सिक्खविऊण पेसिओ बाहुबलिसमीवं। गओ गामागर-खेड-मंडबाइयाइं लंघेऊण तक्खसिलं पत्तो य बाहुबलिभुवणस्स दुवारं।'**

–(च.म.पु., पृ. 44 एवं 46)

इस ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि तक्षशिला के समीप ही बहली प्रदेश था, जहाँ ऋषभदेव ने तक्षशिला से विहार किया था।

'भविष्यदत्तकथा' के कर्ता धनपाल ने जहाँ हस्तिनापुर के राजा और पोदनपुर के शासक के बीच युद्ध होने का वर्णन किया है। वहाँ पोदनपुर को सिन्धुदेश का नगर लिखा है। यह उत्तर का सिन्धुप्रदेश ही है।

वर्तमान सन्दर्भों में विजयार्ध को अफगानिस्तान के पूर्वोत्तर में विस्तृत हिन्दुकुश की पर्वतश्रेणी को माना जा सकता है और तब विजयार्ध में स्थित अलका, रथनुपुर तथा पोदनपुर निश्चित रूप से वर्तमान पाकिस्तान और अफगानिस्तान के बीच, सीमावर्ती नगर रहे होंगे।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में बाहुबली की राजधानी सर्वत्र तक्षशिला मान्य रही है। इस परम्परा के ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी बाहुबली का चित्रण हुआ है वहाँ सभी जगह बहली या बाह्लीक देश और तक्षशिला का उल्लेख है। आचार्य विमलसूरि ने 'पउमचरियं' में लिखा है कि बाहुबली महान्, तक्षशिला में रहते थे— **तक्खसिलाए महप्पा बाहुबली** (4-38)। भरत जब युद्ध करने तक्षशिला पहुँचे तो बाहुबली भी भरत का आगमन सुनकर अपने सुभट-सैन्य के साथ तक्षशिला से बाहर निकल पड़े।

**'बाहुबली पि महप्पा, भरहनरिन्दं समागयं सोऊं।**
**भडचडयरेण महया, तक्खसिलाओ विणिज्जाओ ॥'**

'अभिधानराजेन्द्र कोश' में स्पष्ट उल्लेख है कि तक्षशिला, बहली देश में बाहुबली की नगरी थी– **तक्षशिला बहलीदेशे बाहुबलेर्नगर्यां।** 'विविध तीर्थकल्प' में ही एक अन्य स्थल पर उल्लेख है कि बाहुबली ने तक्षशिला में धर्मचक्र की स्थापना की थी– **तक्षशिलायां बाहुबलीविनिर्मितं धर्मचक्रम्।**

कल्पसूत्र, परिशिष्ट पर्व, कुमारपाल-प्रतिबोध आदि अन्य सभी प्राकृत ग्रन्थों के अनुशीलन से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि बाहुबली को तक्षशिला का राज्य मिला था। और यह तक्षशिला बहली देश में स्थित थी। दूसरे शब्दों में बहली देश की राजधानी तक्षशिला थी। वर्तमान में यह नगरी पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में पड़ती है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता कनिंघम् के अनुसार, यह स्थान कटक और रावलपिण्डी के बीच शाहधेरी के निकट था। आजकल यहाँ इस प्राचीन नगरी के खण्डहर पड़े हुए हैं।

पोदनपुर और तक्षशिला दोनों की अवस्थिति सिंधदेश के उत्तर में निश्चित होती है। लगता है तक्षशिला के निकट ही पश्चिमोत्तर में गांधार की ओर पोदनपुर की अपनी स्वतन्त्र स्थिति रही और तब तक तक्षशिला का प्रादुर्भाव ही नहीं रहा होगा। दिगम्बर मान्यता में स्वीकृत उसी पोदनपुर नगर को बाद में श्वेताम्बर परम्परा द्वारा तक्षशिला नाम दे दिया गया होगा।

तक्षशिला नगरी का वर्णन विद्वानों ने इस प्रकार दिया है– उत्तरापथ में तक्षशिला नाम की नगरी थी, जो प्रथम जिन (ऋषभदेव) के समवसरण से शोभित थी। धर्मचक्र का प्रवर्तन वहाँ हुआ था– **पढमजिण समवसरणेण सोहिया धम्म चक्कंका।** द्वीपसमुद्र की भाँति वहाँ असंख्यात धन-वैभव बिखरा पड़ा था। तक्षशिला गन्धार राज्य की राजधानी थी। जातकों में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में इसका बहुत उल्लेख हुआ है। बी.सी. ला द्वारा इसकी पहचान पंजाब में रावलपिण्डी से बारह मील दूर स्थित शाहधेरी नामक स्थान के खण्डहरों से की जाती है।

## सरकाप का जैन स्तूप

डॉ. हीरालाल जैन ने प्राचीन परम्परा के आधार पर तक्षशिला को प्राचीन जैन केन्द्र माना है। उनके अनुसार ''मथुरा के स्तूप का जो आकार-प्रकार 'वासु' के आयागपट्ट से प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार का स्तूप का नीवभाग तक्षशिला के समीप 'सरकॉप' नामक स्थान पर पाया गया है। इस स्तूप के सोपान-पथ के दोनों पार्श्वों में उसी प्रकार के दो आले रहे हैं, जैसे मथुरा के आयागपट में दिखाई देते हैं। इसी कारण पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर सर जान मार्शल ने उसे **जैन स्तूप** कहा है, और उसे बौद्ध धर्म से सब प्रकार असंबद्ध बतलाया है। तो भी पीछे के लेखक उसे बौद्ध स्तूप ही कहते हैं, और इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि उस स्थान से जैनधर्म का कभी कोई ऐतिहासिक संबंध नही पाया जाता। किन्तु

वे यह भूल जाते हैं कि तक्षशिला से जैनधर्म का बड़ा प्राचीन संबंध रहा है। जैन पुराणों के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने यहाँ अपने पुत्र बाहुबली की राजधानी स्थापित की थी। उन्होंने यहाँ विहार भी किया था, और उनकी स्मृति में यहाँ धर्मचक्र भी स्थापित किया गया था। यही नहीं, किन्तु अति प्राचीन काल से सातवीं शताब्दी तक पश्चिमोत्तर भारत में अफगानिस्तान तक जैनधर्म के प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। हुएनच्वांग ने अपने यात्रा वर्णन में लिखा है कि उसके समय में हसीना (गजनी) व हजारा (या होसला) में बहुत से तीर्थंकर थे, जो क्षणदेव (शिश्न या नग्न देव) की पूजा करते थे, अपने मन को वश में रखते थे, व शरीर की परवाह नहीं करते थे।' इस वर्णन से उन देवों के जैन तीर्थंकर और उनके अनुयाईयों के जैन मुनि व श्रावक होने में कोई संदेह प्रतीत नहीं होता। पालि ग्रन्थों में निग्गंठ नातपुत्त (महावीर तीर्थंकर) को एक तीर्थंक ही कहा गया है। अतएव **तक्षशिला के समीप 'सरकॉप' स्तूप को जैन-स्तूप स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।**

भगवान ऋषभदेव ने भरत को अयोध्या का प्रदेश और बाहुबली को बहली प्रदेश का राज्य सौंपा था। बहली देश की राजधानी तक्षशिला मानी जाती है। महाभारतकार ने इस नगरी के नामकरण का सम्बन्ध तक्षक नाग से अभिहित किया है, जहाँ जनमेजय राजा ने नागयज्ञ कर तक्षक नाग को पराजित किया था। प्राचीनकाल में तक्षशिला समग्र भारत का विद्या, कला और शासन का प्रमुख केन्द्र रहा है। गौतम बुद्ध के समय में काशी एवं कोसल के राजकुमार पढ़ने के लिए इसी नगरी में आते थे। यहाँ देश-विदेश से बड़े-बड़े विद्वान् वेदादि अठारह विद्याओं– विशेषरूप से अर्थशास्त्र, राजनीति और आयुर्वेद के अध्ययन के लिए आते और उसमें अच्छी जानकारी प्राप्त करते थे। चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ और भृत्य-कौमारजीव जैसे शल्य-चिकित्सक (सर्जन) यहीं अध्यापक थे।

चीनी भाषा में तक्ष का अर्थ है पहाड़। और तक्षशिला वास्तव में है भी पहाड़ों के बीच। इतिहासकारों का कथन है कि भरत के दो पुत्र थे– तक्ष और पुष्कर। पुष्कर ने पुष्करावर्त और तक्ष ने तक्षशिला बसायी थी।

ईस्वी सन् के पाँच सौ वर्ष पूर्व से लेकर छठी शताब्दी पर्यन्त तक्षशिला बहुत ही उन्नतिशील रही। इसके बाद हूण आक्रमणकारियों ने इसका सर्वनाश कर दिया। फिर लगभग ढाई हजार वर्षों के अनन्तर वैज्ञानिकों के कठिन अनुसंधान के पश्चात् वहाँ की खुदाई हुई। और वहाँ उस ज़माने के बर्तन, जिनमें चार.चार फीट के मटके भी हैं तथा गान्धारी कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने एवं बौद्ध भिक्षुओं के अवशेष सामान भी मिले हैं। इसके अतिरिक्त 'ब्राह्मी' और 'खरोष्ट्री' लिपियों में लिखे शिलालेख भी मिले हैं। ये सभी वस्तुएँ वहाँ की 'म्यूजियम' में रखी गयी हैं।

इनके अतिरिक्त तक्षशिला में ब्राह्मण-बौद्ध दर्शन, साहित्य, अर्थशास्त्र एवं वैद्यक ग्रन्थ भी लिखे गये थे। उसके पीछे एक महान् देश की समृद्धिशालिनी सभ्यता का महान् इतिहास निहित है। तक्षशिला की सभ्यता संसार की सर्वोत्तम और पुरातन सभ्यताओं में से एक थी।

## तक्षशिला में ऋषभदेव का विहार

तक्षशिला नगर के ऐतिहासिक समय को स्थापित करने के लिए अधिकतम अमितव्ययी श्रेय जैन समुदाय के लिए सुरक्षित रखा गया था। ऐसा वर्णन किया गया है कि करोड़ों वर्ष पूर्व प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव तक्षशिला विहार के लिए गये थे और अनेक सिद्धजनों के पदचिह्नों पर बाहुबली भगवान ने राज्य सिंहासन तथा धर्मचक्र का निर्माण करके उनको प्रतिष्ठित किया था। ऐसा कहते हैं कि धर्मचक्र का शिखर व परिधि कई एक मील की हुआ करती थी।[1]

## पोदनपुर और तक्षशिला

हरिषेण कथाकोष (कथा 23) में पोदनपुर के सम्बन्ध में साधारण-सा संकेत इस प्रकार दिया गया है–

**अथोत्तरापथे देशे पुरे पोदननामनि।**
**राजा सिंहरथो नाम सिंहसेनास्य सुन्दरी॥**

इससे स्पष्ट होता है कि पोदनपुर नामक नगर उत्तरापथ देश में था।

इसी प्रकार कथा 25 में **तथोत्तरापथे देशे पोदनाख्ये पुरेऽभवत्** यह पाठ है। इससे तो लगता है कि पोदनपुर दक्षिणापथ में नहीं, उत्तरापथ में अवस्थित था।

सोमदेव विरचित 'उपासकाध्ययन (यशस्तिलक चम्पू)' में लिखा है–

**'रम्यकदेशनिवेशोपेतपोदनपुरनिवेशिनो।'**

अर्थात् रम्यक देश में विस्तृत पोदनपुर के निवासी।

यहाँ भी पोदनपुर को रम्यक देश में बताया है। पुण्यास्रव-कथाकोष कथा-2 में **सुरम्य-देशस्य पोदनेश** वाक्य है। अर्थात् उसमें भी पोदनपुर को सुरम्य देश में माना है।

---

1. It was reserved for the **Jains** to make the most extravagant claim as to the age of the city. For they relate that millions upon millions years ago Taxila was visited by Rishabha, the first of the Tirthankaras, and that the footprints of the saints were consecrated by Bahubali, who erected over them a throne and 'Wheel of the Law' (*dharmacakra*). The wheel, they say, was several miles in height and circumference.
   तक्षशिला, लेखक– सर जॉन मार्शल, प्रथम संस्करण सन् 1913, पृष्ठ 11 पुनःमुद्रण– मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली

ई. आई. थामस कृत 'दी लाइफ ऑफ बुद्ध' पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है– सिकन्दर के आदमियों ने जैन-बौद्ध धर्म को वैक्ट्रिया, औक्सियाना तथा अफगानिस्तान तथा भारत के बीच की घाटियों में उन्नत रूप से फैला हुआ पाया था। मेजर जनरल जे.एस.आर. फर्लांग ने भी अपनी पुस्तक 'तुलनात्मक धर्म-विज्ञान' (Science of Comparative Religions) में तक्षशिला में दिगम्बर जैन मुनियों के पाये जाने और सिकन्दर के साथ कल्याण नामक दिगम्बर जैन मुनि के जाने की बात का समर्थन किया है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय तक्षशिला जैन धर्म का केन्द्र था और यहाँ अनेक दिगम्बर जैन मुनि रहते थे।

## दक्षिण और उत्तर कुक्कुट जिन तथा कुक्कुटागिरि

गोम्मटसार की गाथा 968 की संस्कृत टीका में तीन को नमस्कार किया गया है– (1) गोम्मट संग्रहसूत्र, (2) चामुण्डराय के जिनालय ऊपर स्थित गोम्मट जिण (नेमीश्वर का जिनबिम्ब) और (3) चामुण्डराय के द्वारा निर्मित 'दक्षिण कुक्कुट जिन'। यथा–

**गोम्मट संगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।**
**गोम्मटराय-विणिम्मिय दक्खिण कुक्कुडजिणो जयदु॥** –(गाथा 968)

यहाँ पर भगवान् बाहुबली की मूर्ति को ही **दक्षिण-कुक्कुड जिन** कहा गया है।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि श्रवणबेलगोला में स्थित बाहुबली की मनोहारी प्रतिमा **दक्षिण कुक्कुड जिन** के रूप में प्रसिद्ध हुई तो उसके पूर्व उत्तर भारत के पोदनपुर (तक्षशिला) आदि के समीप कोई मूर्ति **उत्तर कुक्कुड जिन** के नाम से विख्यात रही होगी, जिसके कारण दक्षिण भारत की बाहुबली प्रतिमा को **दक्षिण कुक्कुड जिन भगवान्** कहना पड़ा।

भगवान् बाहुबली के साथ कुक्कुट सर्पों का सम्बन्ध भी है कि उनकी तपस्या के समय कुक्कुट सर्पों ने उनके चरणों में बामियाँ बना ली थीं। इन कुक्कुट सर्पों के कारण और उत्तर भारत में पोदनपुर की दूरी के कारण चामुण्डराय की माता का वहाँ पहुँचना दुष्कर था। इसीलिए दक्षिण में ही बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण उन्होंने कराया।

## बाहुबली की प्रतिमा-निर्माण कथा

श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. 250 (80) ता. 1634 में श्रवणबेलगोल की बाहुबली प्रतिमा के निर्माण और प्रतिष्ठा सम्बन्धी एक कहानी दी गयी है, जो बहुप्रचलित हो चुकी है। भरत चक्रवर्ती ने पोदनपुर में 525 धनुष ऊँची स्वर्णमय बाहुबली-प्रतिमा बनवायी थी। कहते हैं, इस मूर्ति को कुक्कुट सर्प चारों ओर से

घेरे रहते हैं, इसलिए आदमी पास नहीं जा सकता।

एक जैनाचार्य जिनसेन थे। वे दक्षिण मथुरा गये। उन्होंने पोदनपुर की इस मूर्ति का वर्णन चामुण्डराय की माता काललदेवी से किया। उसने यह नियम ले लिया कि जब तक मुझे इस मूर्ति का दर्शन नहीं होगा, मैं दूध नहीं पीऊँगी। इस नियम का समाचार गंगवंशी महाराज राचमल्ल के मन्त्री चामुण्डराय को उनकी स्त्री अजितादेवी ने बता दिया। तब चामुण्डराय ने उस मूर्ति की तलाश के लिए चारों ओर अपने सैनिक भेजे और स्वयं अपनी माता को लेकर चल दिये। मार्ग में चन्द्रगिरि (श्रवणबेलगोल) में ठहरे। रात्रि को पद्मावती देवी ने चामुण्डराय को स्वप्न दिया कि सामने दोड्डवेट (विन्ध्यगिरि अथवा इन्द्रागिरि) पर्वत पर श्री गोम्मट स्वामी मूर्ति जंगल के भीतर छिपी हुई है। उत्तर भारत में पोदनपुर (तक्षशिला) के समीप एक कुक्कुटागिरि नामक प्रसिद्ध पर्वत होने का उल्लेख ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में किया है।

## पाणिनि द्वारा उल्लिखित कुक्कुटागिरि

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में अन्य पर्वतों के साथ कुक्कुटागिरि पर्वत का उल्लेख कर उसे तक्षशिला के समीप बताया है। इस ग्रन्थ के **'वनगिर्यो: संज्ञायां कोटर किंशुलकादीनाम्'** (6/3/117) सूत्र के किंशुलकादि गण में छः पहाड़ों के नाम दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) किंशुलकागिरि, (2) शाल्वकागिरि, (3) अंजनागिरि, (4) भंजनागिरि, (5) लोहितागिरि और (6) **कुक्कुटागिरि**।

ये नाम अत्यंत अपरिचित हैं, पर जान पड़ता है कि यह पुरानी भौगोलिक सामग्री किसी समय एक क्रम से सूचीबद्ध की गई थी। पाणिनि ने उसे उसी क्रम से अपना लिया। भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर पर अफगानिस्तान से बलूचिस्तान तक उत्तर-दक्खिन दौड़ती हुई पहाड़ों की जो ऊँची दीवार है उसी की बड़ी चोटियों के ये नाम जान पड़ते हैं।

कुक्कुटागिरि भी यदि इसी प्रदेश की कोई पर्वत-शृंखला हो, जैसा कि संभव प्रतीत होता है, तो उसकी पहिचान कोहेबाबा या भंजनागिरि के पश्चिम की ओर बढ़ी हुई अपेक्षाकृत नीची उन बाहियों से की जा सकती है जो हेरात और हरिरूद (सरयू) नदी के उत्तर समानांतर चली गई हैं। प्राचीन ईरानी उनकी निचाई के कारण उन्हें उपरिशएन (संस्कृत उपरिश्येन, श्येन या बाज के बैठने का अड्डा) कहते थे। उसी का अपभ्रंश नाम यूनानियां ने परोपमिसस लिखा है। यह बाल्हि या बल्ख के दक्षिण की पर्वतमाला थी। इस उपरिश्येन का ही भारतीय नाम कुक्कुटागिरि जान पड़ता है।

उत्तर भारत की इस कुक्कुटागिरि पर ही सम्भवतः बाहुबली ने तपस्या की थी और इसी दौरान उस पर्वत पर रहने वाले कुक्कुट सर्पों ने उनके चरणों में बामियाँ बनायी होंगी। इस उत्तर भारत में कुक्कटेश्वर की खोज इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाल सकती है। अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग 3, पृष्ठ 575-76) में कहा गया है कि कुक्कुट नामक एक ऋषभ सरोवर था। (स्थानांगसूत्र 7) और औपपातिक सूत्र के अनुसार कुक्कुटषण्डपुत्रकों से युक्त एक नगरी थी।

इसी कोश में तीर्थकल्प 16 के अनुसार आगे कहा गया है कि चारणेश्वर राजा द्वारा निर्मित जिनमन्दिर से विभूषित **कुक्कुटेश्वर** नामक एक जैन तीर्थ था, जो पार्श्वनाथ भगवान् की भक्ति से बनवाया गया था। जिस व्यक्ति ने इसे बनवाया था, वह कुष्ठ रोग से पीड़ित पुरोहित पुत्र था। उसने उसी अवस्था में भगवान की भक्ति की थी, इसलिए वह अगले जन्म में चारणेश्वर राजा हुआ। जातिस्मरण से उसने यह तीर्थ बनवाया। —इस कुक्कुटेश्वर जैन तीर्थ से इतना स्पष्ट है कि बाहुबली के साथ **कुक्कुटजिन** विशेषण अकारण नहीं जुड़ा है।

## बाहुबली द्वारा तक्षशिला में रत्नों से स्थापित धर्मचक्र

प्राचीन नगरी तक्षशिला पूर्व समय से जैनधर्म से जुड़ी रही है। सर जॉन मार्शल ने सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से तक्षशिला में खोज की है और उनका अभिमत है कि तक्षशिला में बहुत अधिक मात्रा में जैन पुरातत्त्व की सामग्री मिलती है, जिसमें अधिकांश महत्त्वपूर्ण और नई जानकारी देने वाली है। मार्शल के अनुसार सरकप के 'एफ' और 'जी' ब्लॉक में प्राप्त मूर्तियाँ जैन होनी चाहिए। जैन साहित्य की परम्परा तक्षशिला को ऋषभ के पुत्र बाहुबली से जोड़ती है, जो एक जैन साधु थे। हम आवश्यकनिर्युक्ति और आवश्यकचूर्णि से भी यह जानकारी प्राप्त करते हैं कि बाहुबली ने तक्षशिला में रत्नों से निर्मित एक धर्मचक्र स्थापित किया था। विविधतीर्थकल्प (जिनप्रभसूरि) में भी तक्षशिला का बाहुबली के साथ सम्बन्ध बताया गया है। तक्षशिला प्राचीन भारत की एक प्रमुख नगरी थी। अतः यह स्वाभाविक है कि जैन धर्मानुयायियों ने इस नगरी में जैनधर्म का विस्तार और प्रभाव अवश्य किया होगा।[2]

---

2. We further learn from the Avasyakaniryukti and the Avasyakacurni that Bahubali had installed a jewelled dharma-cakra at Taksasila. The association of Bahubali with Taksasila is also mentioned in the Vividhatirthakalpa of Jinaprabha. Since Taksasila was one of the greatest cities of ancient India, it is very natural that the Jainas should endeavour to extend the sphere of their influence in that city.
   —A Comparative History of Jainism, A.K. Chatterjee, Delhi, 2000, P.85

## तक्षशिला में दिगम्बर जैन

प्रसिद्ध लेखक आर.जे. स्टेवेनसन का अभिमत है कि–

**दिगम्बर** जैन धर्म प्राचीन समय से अब तक निरन्तर अस्तित्व में है– अतः यह हमें इस निष्कर्ष के लिए प्रेरित करता है कि ग्रीक लोगों ने पश्चिमी भारत में जिन **जिमनोसोफिस्टों** का वर्णन किया है वे जैन लोग थे। वे न तो बौद्ध थे और न ब्राह्मण थे। **सिकन्दर** ने दिगम्बर जैनों के सन्त समुदाय को **तक्षशिला** में देखा था, उनमें से कालोनस कल्याण नामक **दिगम्बर** जैन महात्मा फारस तक उनके साथ गये थे। कालखण्ड के इस युग में यह धर्म 24 तीर्थंकरों द्वारा निरूपित किया गया, उनमें भगवान महावीर अन्तिम हैं।[3]

❖❖

3. "As a sect the **Digambaras** have continued to exist among them from the old down to the present day; the only conclusion that is left to us that the **Gymnosophist**, whom the Greeks found in Western India where Digambarism still prevails, were Jains and neither Brahmans nor Buddhists and that it was a company of **Digambaras** of this sect that **Alexander** fell in with near **Taxila**, one of them Calanus followed him to Persia. The creed has been preached by 24 Tirthankaras in the present cycle, Lord Mahavira being the last.
'म्यूजियम रिपोर्ट', लेखक– रेवेरेण्ड जे. स्टेवेनसन (अध्यक्ष– रायल एशियाटिक सोसाइटी), पृष्ठ 1890-91

# धर्म-निरपेक्ष नहीं, सम्प्रदाय-निरपेक्ष

भारत धर्मप्रधान देश है। प्राचीन काल में यहाँ जो राजा होते थे, वे प्रजापालक और धर्मरक्षक कहलाते थे। प्राचीन वाङ्मय में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि राजा को भी कुछ परम्परागत मर्यादाओं का पालन करना होता था। जैसे ऋषियों के आश्रम में राजा भी शस्त्र लेकर नहीं जा सकता था, आखेट नहीं कर सकता था, आश्रम की पवित्रता की रक्षा करता था। इसी प्रकार मुनियों के आश्रम में राजा अत्यन्त विनयपूर्वक, शस्त्र और राजचिह्न उतार कर जाता था। राजा चाहे किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो, वह अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार और अन्याय नहीं करता था और न ऐसा होने देता था। वह समस्त प्रजा को अपने पुत्र के समान समझता था और उसके साथ पुत्र के समान ही व्यवहार करता था। इस परम्परा का निर्वाह वहाँ भी होता था, जहाँ राजसत्ताक प्रणाली थी और वहाँ भी होता था, जहाँ प्रजासत्ताक प्रणाली थी। यह एक आदर्श परम्परा थी, जिसे आज की भाषा में सम्प्रदाय-निरपेक्ष परम्परा कहा जा सकता है।

'वाल्मीकि रामायण' रामायण-काल का दर्पण कहलाता है। उसमें अध्यात्मवेत्ता राजा जनक की सम्प्रदाय-निरपेक्ष परम्परा पर अच्छा प्रकाश डाला गया है–

**''ब्राह्मणाः भुंजते नित्यं, नाथवन्तश्च भुंजते।**
**तापसाः भुंजते चापि, श्रमणाश्चैव भुंजते॥''**

–वाल्मीकि रामायण, 14-12

**अर्थ**– (राजा जनक के महलों में) ब्राह्मण भी भोजन करते हैं, नाथधर्मी भोजन करते हैं, तपस्वी भोजन करते हैं और श्रमण (दिगम्बर मुनि) भी आहार लेते हैं।

इसका आशय यह है कि किसी भी सम्प्रदाय का कोई साधु राजा जनक के महलों में जाता था, उसके साथ राजा जनक सम्प्रदाय के विकल्प में न पड़कर नृपोचित सम्प्रदाय-निरपेक्ष कर्त्तव्य का ही निर्वाह करते थे।

इसके पश्चात् हम महावीर-युग में पहुँचते हैं। भगवान महावीर वैशाली गणराज्य के क्षत्रियकुण्ड नगर में उत्पन्न हुए थे। इस गणराज्य में अष्टकुलों के नौ गण सम्मिलित थे। इस गणराज्य के प्रायः सभी निवासी जैन तीर्थंकरों के अनुयायी थे। इस प्रजासत्ताक गणराज्य के गणपति (प्रैसीडैण्ट) और महावीर के नाना महाराज चेटक, क्षत्रियकुण्ड के गणपति और महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ

तेईसवें जैन तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। जब महावीर घोर साधना और तपस्या द्वारा वीतराग और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये और प्राणीमात्र के कल्याण के लिये उपदेश देने लगे, तो वैशाली के लोग भगवान महावीर को चौबीसवाँ तीर्थंकर मानकर उनके अनुयायी बन गये। इस प्रकार वैशाली की जनता जैनधर्मानुयायी थी, किन्तु वैशाली गणराज्य ने जैनधर्म को कभी राष्ट्रधर्म घोषित नहीं किया। यह गणसंघ वैशाली में भगवान महावीर के पधारने पर जितने उत्साह से उनका स्वागत करता था, उतने ही उत्साह से महात्मा बुद्ध का स्वागत करता था। यहाँ जो सुविधाएँ जैनों को उपलब्ध थीं, वे ही सुविधाएँ ब्राह्मणों, बौद्धों और आजीवकों को भी प्राप्त थीं। इस गणराज्य में धर्म की तो प्रतिष्ठा थी, किन्तु किसी मत या सम्प्रदाय के प्रति पक्षपात नहीं था, किसी सम्प्रदाय विशेष को अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा विशेष सुविधा नहीं थी। शासनतन्त्र सबके साथ समान व्यवहार करता था।

वर्तमान इतिहास में भारत का प्रथम सार्वभौम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य था। विश्वास की दृष्टि से वह जैन था, किन्तु वह भी इस सन्दर्भ में वैशाली के आदर्शों से अनुप्राणित था। उसकी शासन-व्यवस्था में साम्प्रदायिक दृष्टि को कोई स्थान या महत्त्व नहीं था। मौर्य वंश के प्रतापी सम्राट् अशोक का राज्यकाल तो भारतीय इतिहास में स्वर्णकाल के रूप में अभिहित किया गया है। किन्तु अपने विश्वास से भिन्न सम्प्रदायों के साथ उसका व्यवहार न्यायपूर्ण, तर्कसंगत एवं मानवोचित था। कलिंग के युद्ध में तड़पती हुई लाशों को देखकर उसका दिल करुणा से भर उठा और अहिंसा पर उसकी दृढ़ आस्था हो गई। तदुपरान्त उसकी राजनीति इस आस्था से प्रभावित रही। उसने जनता के कल्याण और मार्गदर्शन के लिये अपने विचार शासनादेश के रूप में स्तम्भों और शिलाओं पर उत्कीर्ण कराये और देश के विभिन्न स्थानों पर लगाये। यहाँ गिरनार का शिलालेख दिया जा रहा है, जो राष्ट्र में सभी सम्प्रदायों में सद्भाव प्रसारित करने की अशोक की उत्कट इच्छा को अभिव्यक्त करता है। वह इस प्रकार है–

### (गिरनार पाठ)

(1) देवानं पिये पियदसि राजा सब पासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च विवाधाय च पूजाय पूजयति ने
(2) न तु तथा दानं व पूजा व देवानंपियो मंत्रते यथा किंति सारवढी अस सव पासंडानं सारवढी तु बहुविधा
(3) तस तु इदं मूलं य वचिगुत्ती किंति आत्मपासंड पूजा व परपासंड गरहा व नो भवे अप्रकरणम्हि लहुका व अस
(4) तम्हि तम्हि प्रकरणे पूजेतया तु एव परपासंडा तेन तेन प्रकरणेन एवं करुं

आत्मपासंडं च वढयति परपासंडस च उपकरोति

(5) तद जथा करोतो आत्मपासंडं च छणति परपासंडस च पि अपकरोति यो हि कोचि आत्मपासंड पूजयति परपासंडं व गरकृति सवं आत्मपासंडभतिया किंति आत्मपासंड

(6) दीपयेम इति सी च पुन तथ करातो आत्मपासंडं बादतरं उपहानति त समवायो एव साधु

(7) किंति अत्रमंजस धंमंस्रुणारु च सुसंसेर च एवं हि देवानंपियस इच्छा किंति सव पासंडा बहुस्रुता च असु कलाणागमा च असु

(8) ये च तच तत प्रसंना तेहि वतण्यं देवानंपियो नो तथा दानं व पूजां व मंत्रते यथा किंति सारवढी छस सवपासंडानं बहका च एताय

(9) अथा व्यापता धंममहाभाता च इथीझख महामाता च वच भूमीका च अत्रे च निकाया अयं च एतस फलं य आत्मपासंडवढी च होति धंमस च दीपना

**हिन्दी अनुवाद**— देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी सब धार्मिक संप्रदाय वालों का चाहे वे प्रव्रजित-साधु हों, चाहे गृहस्थ, सबको विविध दान और पूजा से पूजता है। परन्तु देवताओं के प्रिय इस दान और पूजा को इतना अच्छा नहीं समझते, जितना इस बात को कि सब धार्मिक संप्रदायों के लोगों में सारतत्त्व की वृद्धि हो। सार बुद्धि कई प्रकार की होती है। इसका मूल है वचनगुप्ति-भाषा का संयम। कैसे? अनुचित अवसरों पर अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा-गर्हा नहीं होनी चाहिये। परन्तु उन अवसरों पर दूसरे सम्प्रदाय को भी पूजा का अवसर देना चाहिये जो अपनी पद्धति से पूजते हैं। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति एवं दूसरे सम्प्रदाय का उपकार होता है। इसके विपरीत आचरण करने से न केवल दूसरे सम्प्रदाय का अपकार होता है, बल्कि अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचती है। जो कोई अपने सम्प्रदाय के अनुराग के कारण इस विचार से कि उसके अपने सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है, और अन्य सम्प्रदायों की निन्दा करता है, वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को बड़ी हानि पहुँचाता है। इसलिये समवाय (एकत्र होना) अच्छा है। कैसे? एक-दूसरे के धर्म को सुनना और सुनाना चाहिये। देवताओं के प्रिय (अशोक राजा) की इच्छा है कि सब धार्मिक सम्प्रदाय ज्ञान से पूर्ण हों और अच्छाई पैदा करें। जो अपने- अपने सम्प्रदाय में अनुरक्त हों, वे दूसरों से कहें– देवानांपिय दान और पूजा को उतना नहीं मानते जितना कि इस बात को कि सब सम्प्रदायों में धर्म के सार की वृद्धि हो। इस प्रयोजन हेतु बहुत से धर्म महामात्य (धार्मिक मामलों के मंत्री) सत्राध्यक्ष महामात्य (धर्म मंत्री) ब्रज भूमिकों और अन्य अधिकारी वर्ग की नियुक्ति की गई है। इसका यह फल है कि उससे अपने सम्प्रदाय की वृद्धि और धर्म का प्रकाश होता है। —प्रो. मजूमदार, भारत के प्राचीन अभिलेख, पृष्ठ 56

इस शिलालेख का कथ्य आज के सन्दर्भ में बहुत उपयोगी है।

सम्राट् अशोक के पश्चात् उसके पौत्र सम्राट् सम्प्रति ने भी अपने पितामह की नीति का अनुसरण किया और वह अपने राज्य के असाम्प्रदायिक स्वरूप की रक्षा के लिये निरन्तर सजग रहा। यद्यपि वह विश्वास की दृष्टि से जैन था, किन्तु उसने शासन को कभी साम्प्रदायिक नहीं होने दिया। उसने सभी सम्प्रदायों में सद्भाव बनाये रखने का पूरा प्रयत्न किया। इसके लिये उसने अपने पितामह अशोक के समान शिलाओं और स्तम्भों पर लेख अंकित कराये। कुछ विद्वानों की तो यह ध ाारणा है कि विभिन्न प्रदेशों में अशोक के नाम पर जो स्तम्भ और अभिलेख मिलते हैं, वे अधिकांश सम्राट् सम्प्रति के हैं।

इसी प्रकार ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में हुए सम्राट् खारवेल के ऐतिहासिक हाथी गुम्फा शिलालेख में एक पंक्ति इस प्रकार उत्कीर्ण है–

**'सव्व ब्राह्मणानां च पान भोजनं ददाति। अर्हतानं समणानं च ददाति सत सहस्सेहिं'**

अर्थात् (खारवेल) सभी (लाखों) ब्राह्मणों को जल और भोजन देता है तथा लाखों आर्हतों और श्रमणों को जल और भोजन देता है।

जब हम हमारे देश भारत का यह असाम्प्रदायिक स्वरूप रहा, तब तक देश में समृद्धि रही, सम्प्रदायों में पारस्परिक सद्भाव रहा और हमारा देश संसार का गुरु कहलाता रहा। किन्तु जबसे साम्प्रदायिक शक्तियाँ प्रबल हुई हैं, तबसे हमारा देश प्रगति और समृद्धि की दौड़ में पिछड़ गया है।

भारत को संविधान ने Secular घोषित किया है। अंग्रेजी के इस शब्द का अर्थ अज्ञानतावश धर्मनिरपेक्ष किया गया। भारत ने संसार को धर्म दिया, इसलिये वह महान कहलाता है। धर्म ही भारत की आत्मा है, सम्बल है। क्या धर्म से निरपेक्ष (उदासीन) रहकर भारत जी सकेगा। सैक्यूलर शब्द से संविधान-निर्माताओं की मंशा यह कभी नहीं थी कि राष्ट्रीय स्तर पर धर्म की उपेक्षा की जाय। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय नहीं है। धर्म का अर्थ है– आत्मा का शुद्ध रूप, शुभ रूप, नैतिक मूल्य, सदाचार। आत्मा का जो शुभ रूप है, क्या उससे निरपेक्ष रहा जा सकता है? नहीं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह धर्म हैं। इन नैतिक मूल्यों के बिना देश और व्यक्ति उच्छृंखल, स्वच्छन्द हो जायेगा। वस्तुतः सैक्यूलर का अर्थ है सम्प्रदाय-निरपेक्ष अर्थात् शासन किसी सम्प्रदाय के साथ पक्षपात नहीं करेगा। देश में अनेक सम्प्रदाय हैं। शासन की दृष्टि में सभी समान हैं।

भारत आज गणराज्य है, प्रजातन्त्र है। प्रजातन्त्र माने प्रजा का, प्रजा के द्वारा, प्रजा के लिये। प्रजा में सम्पूर्ण सम्प्रदाय गर्भित हैं। प्रजातन्त्र वह है, जो बहुजनहिताय हो, बहुजनसुखाय हो। अतः सैक्यूलर का अर्थ धर्म-निरपेक्ष नहीं, सम्प्रदाय-निरपेक्ष करना चाहिये। ❖❖

# श्रावकों व विद्वानों को त्यागियों/श्रमणों की समीक्षा का पूर्ण अधिकार है

सामान्यतः यह समझा जाता है कि परिग्रह-त्याग करनेवाले व्यक्ति गृहस्थों के आचरण पर कुछ भी प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु गृहस्थ उस त्यागीवर्ग (मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि) के बारे में कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं दे सकता है, भले ही वे कैसा ही व्यवहार करते रहें, वह तो मात्र उनकी भक्ति-विनय ही कर सकता है।

किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यदि हम आगम के आलोक में विचार करें, तो पाते हैं कि त्यागीवर्ग को गृहस्थों पर टिप्पणी एवं प्रतिक्रिया स्वरूप वचन कहने का कोई अधिकार नहीं है; जबकि गृहस्थों एवं विद्वानों को यदि त्यागीवर्ग शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध या लोकमर्यादा के विरुद्ध आचरण करता है, तो उसकी समीक्षा करने का पूर्ण अधिकार है। क्योंकि उसका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है। इतर समाज, प्रशासन एवं युवापीढ़ी की प्रतिक्रियाओं को समाज को सहना पड़ता है; इसीलिए समाज के जिम्मेदार गृहस्थजन एवं विद्वान् त्यागीवर्ग को ऐसे किसी भी आचरण के लिए मर्यादापूर्वक स्पष्ट निवेदन भी कर सकता है और आवश्यकतानुसार अपनी प्रतिक्रिया भी दे सकता है।

यहाँ यह प्रश्न संभव है कि यदि गृहस्थों एवं विद्वानों को यह अधिकार है, तो त्यागीवर्ग को क्यों नहीं है?

–इसका उत्तर यही है कि त्यागीवर्ग शांतभाव से गृहस्थों को सन्मार्ग का उपदेश दे सकते हैं, उन्हें आत्महितकारी वचनामृतों से तृप्त कर सकते हैं; किन्तु उनके किसी भी कषाययुक्त-वचन या कार्य पर अपनी प्रतिक्रिया नहीं दे सकते हैं। क्योंकि आर्ष-वचन है–

**''यस्मिन् वाचः प्रविशन्ति कूपे प्राप्ताः शिला इव।**
**न वक्तार पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत्॥''**

**अर्थ**– जो अपने प्रति कहे गये कठोर दुर्वचनों को अथवा प्रशंसायुक्त वचनों को सुनकर खेद या हर्ष व्यक्त नहीं करते हैं, जैसेकि गहरे कुयें में फेंका गया पत्थर

लौटकर वापस नहीं आता है; उसीप्रकार जो वक्ता की अच्छी या बुरी (प्रशंसा या निंदा की) वाणी पर अपनी कोई प्रतिक्रिया नहीं देते हैं; उन्हें ही मोक्षपथ के पथिक या कैवल्य-आश्रम में रहने के अधिकारी 'मुनि' कहा गया है।

वस्तुतः जो दिगम्बर जैन-संघों की शास्त्रोक्त व्यवस्था रही है, आज हमारा त्यागीवर्ग उससे अनभिज्ञ होता जा रहा है। आगम-ग्रन्थों के अनुसार पहिले मुनिसंघ में अनेक कार्यों के एवं अनेक विषयों के विशेषज्ञ अलग-अलग व्यक्ति होते थे; जो अपनी विशेषता के कारण संघ को निरापदरूप से धर्मप्रभावना एवं आत्मसाधना के मार्ग पर अग्रसरित रखते थे। इनमें से कुछ का परिचय यहाँ विचारार्थ प्रस्तुत है–

1. **प्रवर्तकाचार्य**– प्रत्येक संघ में प्रमुख आचार्य के अतिरिक्त एक 'प्रवर्तक-आचार्य' भी होते थे, जो दैवसिक क्रियाओं एवं व्यवस्थाओं के विशेषज्ञ होते थे। इनके बारे में कहा गया है– **संघं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः** –(मूलाचारवृत्ति, 4/155)। ये प्रवर्तकाचार्य दिन में संघ का संचालन करते थे।

2. **प्रज्ञाश्रमण**– सूर्यास्त के उपरान्त रात्रिकालीन क्रियाओं एवं व्यवस्थाओं के विशेषज्ञ श्रमण को 'प्रज्ञाश्रमण' कहा जाता था। पंडितप्रवर आशाधर-विरचित 'अनगारधर्मामृत' (4/268) के अनुसार ये सूर्यास्त होने से सूर्योदय होने तक संघ की समस्त क्रियाओं के दिशानिर्देशक होते थे। इनके निर्देश के विरुद्ध कोई भी रात्रिकालीन क्रिया 'संघ' में नहीं होती थी।

3. **सांवत्सरिक क्षपणक**– ये ज्योतिष, सामुद्रिक, खगोल, भूगोल, पर्यावरण आदि विद्याओं के विशेषज्ञ होते थे तथा विभिन्न लक्षणों एवं नक्षत्रगणना, मुहूर्त-विचार आदि के द्वारा यह बतलाते थे कि किस दिशा में, कब 'संघ' का निवास, विहार आदि होना चाहिये। कहाँ दुर्भिक्ष, महामारी, प्राकृतिक आपदा (बाढ़, सूखा, भूस्खलन, उल्कापात, विद्युत्पात, अग्निकांड, हिमपात, अतिवृष्टि आदि) या राजकीय प्रकोप आदि की संभावना है? –उसे ये अपनी मति के द्वारा प्रामाणिकरूप से जानकर उस देश में संघ को जाने से रोकते एवं अनुकूल देश-काल में विहार करने का निर्देश देते थे। इससे संघ भी निरापद रहता था तथा धर्म की प्रभावना भी भरपूर होती थी। ये इस बारे में सीधे आचार्य (संघपति) को सलाह देते थे।

4. **उपाध्याय**– इन्हें 'अध्यापक', 'शिक्षक' आदि संज्ञायें भी दी गयी हैं। पंच परमेष्ठियों में इन्हें चौथे क्रम में स्मरण किया जाता है। मुनिसंघ में ये नवदीक्षितों एवं दीक्षार्थियों को विधिवत् शिक्षण/प्रशिक्षण देते हैं। इनके प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप ही संघ में आचार-व्यवस्था शास्त्रसम्मत बनी रहती है। तथा 'स्वाध्याय' रूपी परम तप की साधना इन्हीं के योगदान के फलस्वरूप होती है। ज्ञानाराधना एवं तपःसाधना की उत्कृष्ट परम्परा एवं धर्मध्यान के संस्कार की

नियमितता संघ में प्रमुखतः इन्हीं की देन होती है। आज मुनिसंघों में इनकी प्रायः अनुपस्थिति होने से 'दीक्षा' तो हो जाती है, किंतु 'शिक्षा' के अभाव में न तो तत्त्वज्ञान होता है और न ही आचार-व्यवस्था की बारीकियाँ पता होती हैं। यहाँ तक कि 'प्रतिक्रमण' नित्य करते हुये भी उसका ठीक अर्थ एवं मूल-शुद्ध प्रक्रिया का भी बोध प्रायः श्रमणों को नहीं है। इसीलिए वे कभी जुलूसबाजी, कभी नारेबाजी, कभी प्रतियोगितायें एवं बच्चों के कार्यक्रम कराने जैसे कार्यों में समय बिताते हैं। तत्त्वाभ्यास के अभाव में सूक्ष्म चिंतन भी हो नहीं पाता है तथा क्रिया की शुद्ध विधि एवं उसका वास्तविक अर्थ भी पता न होने से मात्र रूढ़ि से ही क्रियायें हो रहीं हैं। आध्यात्मिक चेतना तो लुप्तप्रायः है। मात्र क्रियाकाण्ड तक सीमित रह जाने का तथा दिशाविहीन श्रामण्य येन-केन-प्रकारेण निभाने की विवशता का मूल कारण संघ में विधिवत् 'उपाध्याय' की उपस्थिति न होना ही है। पहिले इनके कारण श्रमणों को ज्ञानाराधना से फुर्सत ही नहीं होती थी। ये भाषा, आगम, लोक एवं शिक्षापद्धति के अधिकारी विद्वान् होते हैं।

5. **मनोज्ञ मुनि**– जो वाणी के प्रयोग के असाधारण विशेषज्ञ होते थे अर्थात् कब, कहाँ, कैसे वचन, कितनी मर्यादा में बोलने हैं —यह सब जो भलीभाँति जानते थे एवं तदनुसारी ही प्रयोग करते थे; उन्हें 'मनोज्ञ मुनि' कहा जाता था। किसी भी परिस्थिति-विशेष में या सामान्यजन को संबोधित करने का दायित्व इन्हीं का होता था। इनका निर्धारण भी आचार्य 'संघ' की सुरक्षा एवं व्यापक धर्मप्रभावना के निमित्त ही करते थे। क्योंकि–

**''पूयावयणं हिदभासणं मिदभासणं च मधुरं च।**
**सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥''** –मूलाचार, 377

**अर्थ**– पूज्यवचन, हितवचन, मितवचन, मधुरवचन, सूत्रानुसारी अनुवीचिवचन, निष्ठुरता और कर्कशता से रहित वचन बोलना ही महामुनियों को शोभा देता है। यह उनकी 'वाचिक विनय' है।

इसीलिए वाग्व्यवहार के लिए संघ में 'मनोज्ञ मुनि' ही विशेषतः अधिकृत होते थे। इसी संदर्भ में मैं अपने जीवन के कुछ प्रसंगों को मात्र चिंतनार्थ यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

**प्रसंग 1**– सन् 1952 में जब क्षुल्लक अवस्था में कारकल (कर्नाटक) में था, तब प्रसिद्ध विद्वान् जी. ब्रह्मप्पा आये। उन्होंने मुझे एक सार्वजनिक प्रवचन करने का निवेदन किया। मैं चूँकि तब विशुद्ध ज्ञानाभ्यास के ध्येय से प्रवर्तित था, अतः मैंने विनम्र शब्दों में असमर्थता प्रकट कर दी। तब वे बोले ''कि क्या मात्र पेट भरने के लिए ही घर-संसार छोड़ा है और त्यागधर्म अंगीकार किया है?'' –मैंने शांतिपूर्वक उनकी बात सुनी तथा अपने लक्ष्य एवं परिस्थिति का विचार करते हुये

मौनभाव से स्वाध्याय में निरत हो गया।

**प्रसंग 2**– मुनिदीक्षा के बाद सन् 1963 में दिल्ली में धर्मानुरागी श्री परसादीलाल पाटनी ने भी समाज में प्रवचन करने के लिए मुझसे अनुरोध किया, तथा मैंने अपनी स्थिति विचार करके असमर्थता व्यक्त की, तो वे भी बोले कि ''क्या आप मात्र रोटी के लिए ही नग्न हुये हैं, गूंगे हैं। समाज के प्रति कोई दायित्व नहीं है?'' तब भी मैंने शास्त्र की मर्यादा विचारते हुये सहज शांत-भाव से उनके कठोरवचनों की उपेक्षा कर दी तथा कोई प्रतिक्रिया का विकल्प तक मुझे नहीं आया।

**प्रसंग 3**– सन् 1964 ई. में राजस्थान की राजधानी जयपुर नगर में प्रथम चातुर्मास हुआ। वहाँ मैं अपने गुरु पूज्य आचार्य देशभूषण जी के साथ था। वहाँ पर मैंने धर्मानुरागी विद्वान् पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के अनुरोध पर आदर्शनगर-स्थित मुल्तानी-समाज के मंदिर में प्रवचन किया एवं इसी समाज के एक व्यक्ति के घर विधिपूर्वक आहार भी लिया। चूँकि उस समय के पुरातनपंथियों ने मुल्तानी-समाज की एक तरह से उपेक्षा कर रखी थी, अतः मेरे इस कदम की समाज में तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा उन लोगों ने कहा कि ''हम इन्हें पुराने शहर में प्रवेश नहीं करने देंगे एवं इनके पीछी-कमण्डलु छीन लेंगे।'' हमारे गुरु महाराज (आचार्य देशभूषण जी) ने भी स्थानीय समाज के अतिविरोध के कारण मेरे ऊपर संघ में आने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। तब मैंने सहज शांतभाव से पं. चैनसुखदासजी के निवेदन पर पं. टोडरमलजी वाले मंदिर में चातुर्मास किया। इस सब घटनाक्रम से धर्मानुरागी विद्वान् पं. इन्द्रलाल शास्त्री भी बहुत दुःखी हुये एवं उन्होंने मुझसे कहा कि ''महाराज जी ! आप इन बातों की परवाह न करें एवं अपनी धर्मप्रभावना जारी रखें। जनता में आपके प्रवचनों का बहुत प्रभाव हो रहा है।'' तब मैंने उनके प्रशंसावचनों को भी समताभाव से सुना और स्वाध्याय में लीन हो गया।

न केवल मेरे साथ, अपितु अन्य धर्मात्मा महापुरुषों के साथ भी ऐसे अनेकों प्रसंग बने हैं; जिनमें उन्होंने असाधारण धैर्य, साम्यभाव एवं गंभीरता का परिचय दिया है। उनमें से दो प्रसंग यहाँ प्रस्तुत करता हूँ–

**प्रसंग 1**– परमपूज्य आचार्य शांतिसागर जी से जब कुछ इतर समाज के लोगों के जिनमन्दिर-प्रवेश का मुद्दा आया तथा आचार्यश्री ने यथानाम मुद्रा में शास्त्रोक्त रीति से समाधान दिया, तो एक सज्जन क्रोध से आगबबूला हो गये और बोले कि ''इन्हें तो गोली मार देनी चाहिये।'' पूज्य आचार्यश्री ने सदा की भाँति शांतभाव व निश्छल स्मित-हास्यपूर्वक उन्हें भी 'सद्धर्मवृद्धि' का मंगल आशीर्वाद दिया।

**प्रसंग 2**– महान् धर्मप्रभावक एवं शिक्षाप्रसारक क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी जब दिल्ली में आये हुये थे तथा अपनी उदारवादी विचारधारा से उन्होंने कुछ कहा, तो एक परम्परावादी मुंबई निवासी श्री निरंजनलाल जैन ने उन्हें पीछी-कमण्डलु छीन लेने की धमकी दी। तो वे अत्यन्त सरल निश्छल मुस्कानपूर्वक शांतभाव से बोले कि "भैया! मेरे पीछी-कमण्डलु तो तुम भले ही छीन सकते हो, परन्तु मेरे हृदय में अरिहंत परमात्मा व वीतराग जैनधर्म के प्रति अनन्य श्रद्धा है, वह क्या तुम मुझसे छीन सकते हो? मेरा संबल ये पीछी-कमण्डलु नहीं हैं, अपितु वह श्रद्धा है।"

आज के इस विषम वातावरण में तो सज्जनों एवं साधुवृत्ति अपरिग्रही अहिंसकजनों का तो जगत् अकारण ही बैरी बना हुआ है। कहा भी है— **निष्कारणं वैरिणो जगति।** इसे लौकिक दृष्टान्तपूर्वक आचार्य गुणभद्र स्वामी ने इसप्रकार समझाया है–

**"भीतमूर्तिर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तका:।**
**दन्तलग्न-तृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा?"**

–आत्मानुशासन, 29

**अर्थ**– जिन हिरणियों का शरीर सदा भय से काँपता रहता है, जिनका वन में कोई रक्षक नहीं है, जो किसी के प्रति अपराध (अनिष्ट) भी नहीं करती हैं, जिनके पास एकमात्र अपने शरीर को छोड़कर दूसरा कोई परिग्रह नहीं है तथा जो अपने दाँतों में तिनका लिये है (लोक में दाँतों में तिनका लेकर आना अहिंसकरूप से शरणागत होने का प्रतीक माना जाता है।) –ऐसी हिरणियों का भी घात करने में जब हिंसक लोग नहीं चूकते हैं, तो फिर दूसरे (सापराध) प्राणियों के विषय में क्या कहा जा सकता है?

आज आवश्यकता है कि हम शास्त्र को एवं लोक को –दोनों को जानकर अपने पद की मर्यादा के अनुकूल आचरण करें; ताकि धर्म की प्रभावना तो हो, किन्तु किसी भी रूप में वाद-विवाद आदि के निमित्त हम न बनें।

❖❖

# प्रतीकोपासना और निर्विकल्प ध्यान

('बुद्धेः फलम् आत्महितप्रवृत्तिः')

**पंचम काल में भी धर्मध्यान होता है**

**अज्जवसप्पिणि भरहे, धम्मज्झाणं पमाद-रहिदो त्ति।**
**होदि त्ति जिणुद्दिट्ठं, ण हु मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार, 56

**अर्थ**– वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र में प्रमादरहित धर्मध्यान होता है— यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो ऐसा नहीं मानता है, वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है।

**मात्र ज्ञान से कर्म-क्षय नहीं होता**

**णाणी खवेदि कम्मं, णाण-बलेणेदि बॉल्लदे अण्णाणी।**
**वेज्जो भेसज्जमहं, जाणे इदि णस्सदे वाही॥**

–आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार, 68

**अर्थ**– ज्ञानी ज्ञान की शक्ति से कर्मों का क्षय करता है— इसप्रकार अज्ञानी कहता है। 'मैं औषधि जानता हूँ'— इतना कहने मात्र से क्या वैद्य व्याधि को नष्ट कर देता है?

**यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं, यत्परान्प्रतिपादये।**
**उन्मत्तचेष्टितं तन्मे, यदहं निर्विकल्पकः॥**

–आचार्य पूज्यपाद, समाधितन्त्र, 19

**अर्थ**– मैं शब्द द्वारा दूसरों से समझ रहा हूँ, या शब्दों द्वारा दूसरों को समझा रहा हूँ– यह सब मेरी उन्मत्त पुरुषों की-सी चेष्टा है, क्योंकि मैं शुद्ध स्वरूप आत्मा तो अनुपम, अवाच्य, निर्विकल्पक हूँ।

**स्वउपकार श्रेष्ठ है**— (आदहिदं कादव्वं)

**परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव।**
**उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य लोकवत्॥**

–आचार्य पूज्यपाद, इष्टोपदेश, 32

**अर्थ**– हे मुने! तू लौकिक मनुष्य के समान अज्ञ अथवा मूढ़ बनकर दृश्यमान पर-पदार्थों का उपकार कर रहा है, यह सब तेरा अज्ञान है। अब तू पर के उपकार की इच्छा न कर, अपने ही उपकार में लीन हो।

## निज परमात्मा के ध्यान के बिना जीवन व्यर्थ है

**हलवु ओदिदरे-येनायतु।**
**गिरीव सुत्तिदरनेनायतु॥**
**पिरिद लांच्छन तोट्टरयेनायतु।**
**निजपरमात्मन ध्यानवनरियदे।**
**नरी कूगी बळलि सत्तन्ते॥'**

—कन्नड़ भाषा में प्रसिद्ध पद्य

**भावार्थ**– बहुत आगम का स्वाध्याय करने से क्या लाभ? बहुत बार सिद्धक्षेत्र, तीर्थक्षेत्रों के पर्वतों की प्रदिक्षणा करने से क्या लाभ? अनेक बार पिच्छि-कमण्डलु चिह्न धारण करने से क्या लाभ? जब तक निजपरमात्मा का कम से कम जघन्य अन्तर्मुहूर्त त्रिकाल ध्यान नहीं किया। उनकी उपर्युक्त क्रिया उस तिर्यंच सियार की तरह है, जो जंगल में अकेले चिल्ला-चिल्ला कर मर जाता है।

**ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्।**

विद्वानगण यदा-कदा अपने भाषणों में बड़े गर्ज-तर्ज के साथ स्वरूपाचरण की बात करते हैं और उसे अपने-अपने मतानुसार व्याख्यान करते हैं, लेकिन पंचाध्यायी में स्वरूपाचरण को निश्चयचारित्र कहा गया है, और उस स्वरूपाचरण का यथार्थ स्वरूप निम्नप्रकार बताया गया है–

**कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।**
**धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः॥**

—पं. राजमल्ल, पंचाध्यायी, 2/763, पृष्ठ 333

**अर्थ**– कर्मों के ग्रहण करने की क्रिया का रुक जाना ही स्वरूपाचरण है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और वही चारित्र है।

**व्योमच्छायानरोत्सङ्गि यथामूर्तमपि स्वयम्।**
**योगयोगात्तथात्मायं भवेत्प्रत्यक्षवीक्षणः॥**

—आचार्य सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 8/238, पृष्ठ 433

**अर्थ**– जैसे आकाश स्वयं अमूर्तिक है फिर भी पुरुष की स्वप्रतीक छाया के संसर्ग से अमूर्तिक आकाश में भी पुरुषाकार स्वप्रतीक दर्शन होता है, वैसे ही यद्यपि आत्मा भी अमूर्तिक है फिर भी ध्यान के संबंध से उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो ही जाता है।

**छायानरोत्सङ्गे छायापुरुषो भवतीति शेषः। किल कश्चिन्निमित्तीपुरुषः स्वशरीर-छायाऽवलोकनं करोति, छायावलोकनाभ्यासवशात् छाया विघटति, आकाशे शून्येऽपि नरो दृश्यते, तद्वत् ध्यानाभ्यासात् आत्मा दृश्यते इत्यर्थः।**

**अर्थ**– जिस प्रकार आकाश स्वयं अमूर्तिक होकर भी छाया-पुरुष को मध्य में धारण करने से छाया-पुरुष हो जाता है। अभिप्राय यह है कि निस्सन्देह कोई निमित्तज्ञानी छाया-दर्शन के अभ्यास से अपने शरीर की छाया का दर्शन करता है और जब छाया विघटित हो जाती है, तब आकाश शून्य होने पर भी उसके द्वारा उसमें छायाहीन पुरुष देखा जाता है, उसीप्रकार ध्यान के अभ्यास से ध्यानी को अमूर्तिक आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

## आत्मा शब्द का अर्थ

**अथात्मशब्दार्थः कथ्यते। 'अत' धातु सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते, 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' इति वचनात्। तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते। अथवा शुभाशुभ-मनोवचनकाय-व्यापारैर्यथासम्भवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा। आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा।**

—आचार्य ब्रह्मदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 57

**अर्थ**– अब 'आत्मा' शब्द का अर्थ कहते हैं। 'अत्' धातु निरन्तर सातत्य गमन करने रूप अर्थ में है और सब ही गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं, इस वचन से यहाँ पर 'गमन' शब्द से 'ज्ञान' कहा जाता है। इस कारण जो यथासंभव ज्ञान, सुख आदि गुणों में सर्व प्रकार वर्त्तता है, वह आत्मा है अथवा शुभाशुभ मन, वचन और काय क्रिया के द्वारा यथासंभव तीव्र-मंद आदि रूप से जो पूर्णरूपेण वर्त्तता है, वह आत्मा है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य— इन तीनों धर्मों के द्वारा जो पूर्णरूप से वर्तता है, वह आत्मा है।

## ज्ञानध्यानतपोरक्तः

**तथाहि—ध्यानं ध्यानसंतानस्तथैव ध्यानचिंता ध्यानान्वयं सूचयति। तत्रैकाग्र्य-चिंतानिरोधो ध्यानम्। तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा। अथ ध्यानसंतानः कथ्यते— यत्रान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वचिंता पुनरप्यन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानं पुनरपि ततः चिंतेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति स ध्यानसंतानो भण्यते।**

—आचार्य जयसेन, प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 186

**अर्थ**– ध्यान, ध्यानसंतान, उसी प्रकार ध्यानचिंता ध्यानान्वय-सूचन इस प्रकार है– उसमें एकाग्र (एक अग्र आत्मा) चिन्ता-ज्ञान निरोध इसी को ध्यान कहते हैं।

वह ध्यान शुद्ध और अशुद्ध रूप से दो प्रकार का है। अब ध्यान-संतान का कथन किया जाता है– जहाँ अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान, उसके बाद अन्तर्मुहूर्त तक तत्त्व-चिंतन, पुनः अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान फिर तत्त्वचिंतन (प्रचिंतन विश्राम लेकर) इस तरह प्रमत्त और अप्रमत्त सातवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त तक झूलते रहते हैं। अतः अन्तर्मुहूर्त जाने के बाद पुनः-पुनः परावर्तन सहज होता रहता है। इसी को धर्मध्यानसंतान कहा जाता है।

**मौन तपोगुण शीलगळु, ध्यानदोळऽगिहवेल्ला।**
**ज्ञानिगे जननस्थानविदु, ध्यानक्के वंदिपेनोम्मे॥**

—आचार्य कल्याणकीर्ति, चिन्मयचिंतामणि, 32

**अर्थ**– मौनपूर्वक तपस्वी के 84 लाख उत्तर गुण, 18 हजार शील व्रत परिपालन केवल एक ध्यान में ही ये सभी समाहित होते हैं, ध्यान ही केवलज्ञानोदय का जनन स्थान है, इसलिए मैं ध्यान को ही बारंबार नमस्कार करता हूँ।

## उत्तरगुणों का परिपालन ध्यान से ही संभव है

**गुणशीलानि सर्वाणि, धर्माश्चात्यन्तनिर्मलः।**
**सम्भाव्यते परं ज्योतिः, ज्योतिस्तदेकमनुतिष्ठतः॥**

—आचार्य पद्मनन्दि, पद्मनन्दि-पंचविंशति, एकत्व. 42

**अर्थ**– जो यति पुरुष उस चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करने वाला है, वही 'यति पुरुष' चौरासी लाख उत्तरगुणों का धारी है तथा वही अठारह हजार शीलव्रतों का धारी है और उसी यति के निर्मल धर्मध्यान है, ऐसा निश्चयनय का मत है।

**सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो, व्याख्यानादिं च वर्जयेत्।**
**विरक्तो मौनवान्, ध्यानी साधुरित्यभिधीयते॥**

—आचार्य इन्द्रनन्दि, नीतिसार, 17

**अर्थ**– आचार्यप्रवर इन्द्रनन्दि ने कहा है कि जो त्यागी सर्व द्वन्द्वों से मुक्त है, विरक्त है, मौन धारण करनेवाला है और व्याख्यानादि से वर्जित है, ध्यान में लवलीन है, वही साधु कहलाता है।

## कायोत्सर्गं करोम्यहम्-

**कायोत्सर्गो भवति सततं, निश्चयात्संयतानाम्।**
**कायोद्भूतप्रबलतरतत्कर्ममुक्तेः सकाशात्॥**
**वाचां जलप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्तेः।**
**स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम्॥**

—नियमसार भाष्य, 195

**अर्थ**– यह निश्चयनय से नित्य कायोत्सर्ग में लीन संयमी के होता है। कैसा है ध्यान, जहाँ शरीर से उत्पन्न जो प्रबल रूप से प्रकट होते हुए भी कर्म (बाह्यक्रिया) से पूर्णतः मुक्त है तथा काय, वचनों के जल्पों के समूह से भी विरक्त है एवं मन संबंधी अंतरंग जल्पों से भी निवृत्त है, वह स्वात्मध्यान नियत एवं आत्मनिष्ठ परायण है और निज आत्मा में लीन है।

**कायोत्सर्ग मोक्ष का उपकारी है-**

**काउसग्गं मोक्खपहे, देहसयं घादिकम्म अदिचारं।**
**इच्छामि अहिट्ठादुं, जिणसेविद देसिदत्तादो॥**

—आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार, 7/651

**अर्थ**– यह कायोत्सर्ग मोक्षमार्ग में उपकारी है, घातिया कर्मों का विनाशक भी है, उसको मैं हृदय से स्वीकारता हूँ, क्योंकि यह वीतराग जिन भगवानों ने सेवन किया है और उपदेश भी दिया है।

**जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमः।**
**भवन्ति तस्मात् संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥**

**अर्थ**– बहुत मनुष्यों से सम्पर्क करने पर वाक् प्रयोग (सम्भाषण) करना होता है, उससे मन में विकार-संसर्गमूलक स्पन्दन होता है। परिणामस्वरूप चित्त में अनेक विभ्रमों का उदय होने लगता है। अतः परिणाम-विशुद्धि तथा मन की एकनिष्ठा के लिए योग-साधक को सम्पर्क नहीं करना चाहिए।

जैन-शासन-परम्परा में सभी तीर्थंकरों ने ध्यान को सर्वोच्च स्थान दिया है।

**आत्मध्यान बिना सब विडम्बना-**

**मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।**
**ध्यानसाध्यं मतं तच्च तद् ध्यानं हितमात्मनः॥**

—आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव

**अर्थ**– मोक्ष की प्राप्ति कर्मों का क्षय होने से होती है, कर्मों का क्षय आत्मज्ञान से होता है, वह आत्मज्ञान केवल ध्यानसाध्य है, यानी ध्यान से ही आत्मज्ञान प्राप्त होता है, वह आत्मज्ञान आत्मा का हितकारी तत्त्व है।

**समत्वमवलम्ब्याय ध्यानं योगी समाश्रयेत्।**
**विना समत्वमारब्धे ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते॥**

—आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव

**अर्थ**– समत्व का अवलंबन लेकर योगी ध्यान का अभ्यास करे। समत्व के बिना ध्यान का आरम्भ करना आत्म-विडम्बना मात्र है। ❖❖

# कायोत्सर्ग : परमात्मा बनने का विधान

पर-पदार्थों की आसक्ति के प्रबल बन्धन में बँधा हुआ यह जीव पर्याप्त शास्त्रज्ञान कर लेने पर भी संसारचक्र से मुक्ति का मार्ग प्राप्त नहीं कर पाता है। तथा परपदार्थों में आसक्ति जुड़ने का मूलकारण शरीर है, अतः प्राप्त शरीर से मोह-ममता की भावना यदि शिथिल पड़े, तभी यह जीव मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर हो सकता है। इस निमित्त जैनसाधना में एक विशिष्ट क्रिया का अभ्यास नित्यप्रति करने का विधान है, जिसे 'कायोत्सर्ग' कहते हैं।

इस पद में दो शब्द हैं– काय + उत्सर्ग। 'काय' अर्थात् शरीर एवं 'उत्सर्ग' यानि त्याग; –इसप्रकार 'शरीर का त्याग' अर्थात् शरीर एवं शरीर से सम्बद्ध पदार्थों में आसक्ति एवं ममत्व का त्याग कर आत्मस्थ होने की नैष्ठिक चेष्टा ही 'कायोत्सर्ग' है। शास्त्रीय शब्दावलि में "बाहर में क्षेत्र-वास्तु आदि पदार्थों का तथा अंतस् में क्रोधादि कषायों का नित्य त्याग करना, तथा अनियतकाल के लिए शरीर का त्याग करना ही 'कायोत्सर्ग' है। इसे 'व्युत्सर्ग तप' या 'व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त' भी कहते हैं। शरीर से ममत्व हटाकर बाहरी विपरीतताओं से अप्रभावित रहकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट एक वर्ष-पर्यन्त निश्चल खड़े रहना 'कायोत्सर्ग' है।"

'कायोत्सर्ग' की परिभाषा विभिन्न ग्रंथों में निम्नानुसार प्राप्त होती है–

**1.** **कायादी-परदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।**
**तस्स हवे तणुसग्गं जो झायदि णिव्वियप्पेण॥** –णियमसार, 121

**अर्थ**– जो भव्यजीव शरीर आदि परद्रव्यों में आसक्ति/लीनता छोड़कर निज-आत्मा का निर्विकल्परूप से ध्यान करता है, उसे 'कायोत्सर्ग' होता है।

**2.** **जिणगुण-चिंतणजुत्तो काउस्सग्गो तणुविसग्गो।** –मूलाचार, 28

**अर्थ**– जिनेन्द्र परमात्मा के वीतरागता आदि गुणों का चिंतन करता हुआ जीव जब देह में ममत्व छोड़ देता है, तो वही 'कायोत्सर्ग' कहलाता है।

**3.** **परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः।**
–तत्त्वार्थराजवार्तिक, 6/24/11

**अर्थ**– सीमित/मर्यादित काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना

'कायोत्सर्ग' है।

**4. ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्मनिर्मितम्।**
**न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः॥** –योगसारप्राभृत, 5/52

**अर्थ**– जो भव्यजीव शरीर को अचेतन, विनाशशील एवं कर्मनिर्मित जानकर उसके पोषण आदि कार्यों से विरत होता है; वही 'कायोत्सर्ग' कर सकता है।

**5. सरूव-चिंतणरदो दुज्जण-सुयणाण जो हु मज्झत्थो।**
**देहे वि णिम्ममत्तो काउस्सग्गो तदो तस्स॥** –कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 486

**अर्थ**– जो साधक निजात्मस्वरूप के चिंतन में लीन रहता है, सज्जन एवं दुर्जन के बीच मध्यस्थभाव रखता है तथा शरीर से भी ममत्वरहित होता है; उसके 'कायोत्सर्ग' होता है।

**6. सर्वेषां जनानां कायेषु बह्वयः क्रियाः विद्यन्ते। तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः, स एव गुप्तिर्भवतिः॥** –नियमसार गाथा 70 की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

**अर्थ**– सभी व्यक्तियों की शरीरों में अनेकविध क्रियायें होती हैं, उन क्रियाओं की निवृत्ति 'कायोत्सर्ग' है। इसी का दूसरा नाम 'गुप्ति' भी है।

'मूलाचार' ग्रन्थ में 'कायोत्सर्ग' को 'दुःख का नाश करने की विधि' कहा गया है।

'कायोत्सर्ग' के दो प्रकार माने गये हैं– 1. मानसिक और 2. कायिक। 'भगवती आराधना' ग्रंथ की टीका में उनके बारे में कहा गया है कि– ''मन से शरीर में 'यह मेरा है' –ऐसी बुद्धि का त्याग करना 'मानस कायोत्सर्ग' है तथा दोनों हाथ नीचे छोड़कर दोनों पैरों में चार अँगुलमात्र का अन्तर रखकर निश्चल खड़े होना 'कायिक कायोत्सर्ग' है।''

यही बात **आचार्य कुन्दकुन्द** ने 'मूलाचार' में भी कही है–

**वोसरिद-बाहुजुगलो चदुरंगुल-अंतरेण समपादो।**
**सव्वंग-चलणरहिदो काउस्सग्गो विसुद्धो दु॥** –गाथा 650

'कायोत्सर्ग' की विधि के सम्बन्ध में **पंडित शिवाशाधरसूरि** लिखते हैं– कायोत्सर्ग के समय अपनी प्राणवायु को भीतर प्रविष्ट करके उसे आनन्द से मुकुलित हृदयरूपी कमल में स्थिर कर 'जिनमुद्रा' के द्वारा 'णमोकार मंत्र' का ध्यान करना चाहिये। 'णमो अरिहंताणं' का जप करते समय प्राणवायु श्वास के रूप में अंदर खींचें तथा फिर पूर्वोक्त विधि से उसे अन्तस् में थोड़ी देर स्थिर करके 'णमो सिद्धाणं' का जप करते हुए निश्वास के रूप में बाहर निकाल दें। पुनः 'णमो आइरियाणं' में श्वास एवं 'णमो उवज्झायाणं' में निःश्वास, 'णमो लोए' में श्वास एवं 'सव्वसाहूणं' में निःश्वास; –इसी विधि से करें। इसप्रकार तीन श्वासोच्छ्वासों

में एक मंत्र-जाप पूर्ण होता है। ऐसे नौ बार प्रयोग करने से कर्मराशि भस्म होने लगती है।

'प्राणायाम' की इस विधि में असमर्थ साधु 'वाचिक जप' के द्वारा मंत्रजाप कर सकता है; परन्तु वह अन्य किसी को सुनाई न पड़े, इतने मंद स्वर में होना चाहिए। फिर भी मानस एवं वाचिक जापों के फल में बड़ा अंतर है। दण्डकों के उच्चारण से सौ गुना अधिक पुण्यसंचय 'वाचिक जप' में तथा हजारगुणा अधिक पुण्यसंचय 'मानस जप' में होता है।

'कायोत्सर्ग' ईर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक एवं उत्तमार्थ –इन सात अवसरों पर किये जाने से कालक्रमानुसार सात प्रकार के माने गये हैं। इनमें उच्छ्वास के अनुसार भी अन्तर पड़ता है। जैसेकि 27 उच्छ्वास दैवसिक में, रात्रिक में 54 उच्छ्वास, पाक्षिक में 300 उच्छ्वास, चातुर्मासिक में 400 उच्छ्वास, वार्षिक में 500 उच्छ्वास आदि का क्रम माना गया है। इनके अतिरिक्त 'गोचरी' से आने पर, लघु व दीर्घशंका के बाद 25-25 उच्छ्वास, ग्रंथारम्भ एवं ग्रंथ-समाप्ति पर 27-27 उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग किया जाता है।

कायोत्सर्ग के लिए पूर्व दिशा, उत्तर दिशा अथवा पूर्वोत्तर दिशा (ईशान कोण) की ओर मुँह करके अथवा जिनप्रतिमा की ओर मुँह करके आलोचना के लिए 'कायोत्सर्ग' किया जाता है। यह 'कायोत्सर्ग' एकान्त एवं बाधारहित (दूसरों के आवागमनरहित) स्थान में करना चाहिए।

'कायोत्सर्ग' के प्रयोजन बताते हुए आचार्य **भट्ट अकलंकदेव** लिखते हैं– "निःसंगत्व, निर्भयत्व, जीवित रहने की आशा के त्याग, दोषों का उच्छेदन, मोक्षमार्ग की प्रभावना एवं उसके निमित्त समर्पित रहने (तत्परत्व) आदि की दृष्टि से 'कायोत्सर्ग' करना आवश्यक है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि शरीर का त्याग तो मरण होने पर ही होता है, फिर मरण के बिना 'कायोत्सर्ग' कैसे संभव होता है?

इसका उत्तर 'भगवती आराधना' ग्रंथ की गाथा 116 की टीका में निम्नानुसार दिया गया है– "शरीर का बिछोह न होते हुए भी शरीर की अशुचिता, अनित्यता, असारता, दुःखहेतुता एवं अनंत संसार में परिभ्रमण का कारणपना –इत्यादि दोषों का विचार कर 'यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' –ऐसे संकल्प से शरीर के प्रति आसक्तिभाव का अभाव हो जाने से शरीर का त्याग सिद्ध हो जाता है। जैसे कि प्रियतमा पत्नी से कुछ अपराध हो जाने पर उसी घर में पति के साथ रहती हुई भी प्रेम हट जाने से वह 'त्यागी हुई' कही जाती है, उसीप्रकार आसक्ति के अभाव में यहाँ 'कायोत्सर्ग' जानना चाहिए तथा साधुजन शरीर का बिछोह होने के कारणों को दूर करने में निरुत्सुक रहते हैं, इसलिए भी उनके

'कायोत्सर्ग' कहा जाना युक्तिसंगत ही है।''

'निश्चय कायोत्सर्ग' के बारे में आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव 'नियमसार' की टीका में लिखते हैं–

**कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात् संयतानाम्।**
**कायोद्भूतं प्रबलतरतत्कर्ममुक्तेः सकाशात्॥**
**वाचां जल्प-प्रकर-विरतेर्मानसानां निवृत्तेः।**
**स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम्॥** –कलश 191

**अर्थ**– जो निश्चय से स्वात्मनिष्ठापरायण (आत्मध्यान में लीन) हैं, जिन्होंने प्रबल शारीरिक क्रियाओं को त्याग दिया है, वाचिक जल्पसमूह से भी जो विरत हैं तथा मानसिक विकल्पों से भी निवृत्त हैं –ऐसे संयमी जीवों के निज आत्मा के ध्यान के कारण निश्चय से निरन्तर 'कायोत्सर्ग' होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'कायोत्सर्ग' को 'मोक्ष का उपकारी' बताया है–

**काउस्सग्गं मोक्खपहे देहसयं घादिकम्म अदिचारं।**
**इच्छामि अहिद्ठादुं जिणसेविद-देसिदत्तादो॥** –मूलाचार 7/651

**अर्थ**– यह 'कायोत्सर्ग' मोक्षमार्ग का उपकारी है, घातिया कर्मों का भी विनाशक है, उसे मैं हृदय से स्वीकारता हूँ; क्योंकि वीतराग जिनेन्द्र भगवन्तों ने इसका सेवन किया है और सेवन करने का उपदेश भी दिया है।

आश्चर्य की बात है कि मोक्षमार्ग के इतने महत्त्वपूर्ण अंग 'कायोत्सर्ग' की व्यावहारिक प्रक्रिया को दिगम्बर जैन समाज प्रायः भूल चुका है। मात्र रूढ़िवश यत्किंचित् रूप से हम करते हैं। जबकि इसकी बाह्य विधि भी बड़ी वैज्ञानिक है। प्रसन्नता की बात है कि दिगम्बर जैनाचार्यों के ग्रंथों का गहन स्वाध्याय करनेवाले श्वेताम्बर जैन तेरापंथ के वर्तमान आचार्य महाप्रज्ञ जी ने वर्षों पहले इसकी बाह्य विधि का सूक्ष्म शोध लगाकर अपनाया है और इसे उदारभाव से जिज्ञासुओं को सिखाने का कार्य किया है। उनकी शोध प्रामाणिक है तथा प्रथम भूमिका में बहुत उपयोगी भी है। हमारे साधुगण एवं विद्वान् इस महनीय मोक्षमार्गीय प्रक्रिया को विधिवत् सीखकर समाज को प्रशिक्षित करें, तो बाहरी तनाव (टेंशन) आदि से बचकर समताभाव की आराधना एवं मोक्षमार्ग में अग्रसर होने का एक अच्छा वातावरण निर्मित हो सकता है।

❖❖

# शब्द-साधना

**मंगलाचरण**

**यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।**
**यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥**

—आचार्य अमितगति, द्वात्रिंशतिका, 12

जिनका पवित्र स्मरण सब मुनीन्द्र-समूह करते हैं, समस्त मनुष्य तथा देवगण जिनकी स्तुति गाते हैं, वेद तथा पुराणशास्त्र से जो गीयमान है, वह परमदेव (देवों का देव) मेरे हृदय में विराजमान हो।

**जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती-विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।**
**शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः॥**

—समाधितंत्र, 2

उन सकलात्मा (परमात्मा) भगवान् जिनेन्द्र की जय हो, उन्हें नमस्कार हो, जिनको मौन रहने पर भी दिव्यध्वनिरूप में भारती-विभूतियाँ प्राप्त हैं, जो वीतराग होकर भी तीर्थंकर हैं; जिन्हें ब्रह्मा, बुद्ध, विष्णु और जिन आदि नामों से स्मरण किया जाता है।

**मंगलाचरण के प्रयोजन**

**नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचार-प्रपालनम्।**
**पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात्॥**

—अनगारधर्मामृत टीका

नास्तिकता का परिहार, शिष्टाचार का परिपालन और पुण्य-प्राप्ति तथा आरम्भ किये शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति— ये मंगलाचरण के चार प्रयोजन हैं।

**ॐ नमः**

**जयशब्दं नमः शब्दं च कारयेत्।**

वक्ता को प्रारम्भ तथा समाप्ति पर 'जय' शब्द, और 'नमः' शब्द श्रोताओं से करवाना (बुलवाना) चाहिये।

**ओंकारश्चाथशब्दश्च नान्दी मंगलवाचकः।**

—आचार्य माघनन्दी, शास्त्रसारसमुच्चय

'ऊँ नमः', 'जयध्वनि', 'अथ' तथा 'नान्दी'— ये मंगलवाचक शब्द कहलाते हैं।

## 'वाक्' का विस्तार

संसार के समस्त प्राणि-जगत् का कार्यकलाप, व्यवहार 'वाक्' पर आधारित है। यह अन्य पशु और तिर्यंचों को इतने स्फीत रूप में उपलब्ध नहीं है, जितना मानव को। मनुष्य का प्रथम परिचय वाक् से ही होता है। दो व्यक्ति मिलते ही 'जय जिनेन्द्र' अथवा 'जय श्रीराम' इत्यादि शिष्टाचार-परिपालक शब्दों का उच्चारण कर अपने साधर्मी के प्रति अपना मधुर सम्बन्ध 'वाक्' द्वारा ही स्थापित करते हैं। लम्बी रेलयात्रा में एक कक्ष में बैठे हुए अपरिचित यात्री वाणी के व्यवहार से ही परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। परिवार में, समाज में, देश में, राज्यसंचालन में, भावों के व्यक्तीकरण में वाक् अथवा वाणी का प्रमुख स्थान है। यह वाणी कण्ठ, तालु, ओष्ठ, दन्त आदि से मुख द्वारा उच्चरित होकर श्रोत्र-ग्राह्य होती है; और यही लेखरूप में कागज़ पर अंकित होकर नेत्रों से पढ़ी जाती है। काव्यशास्त्र में नाटक (रूपक) के दृश्य और श्रव्य भेद भी इसी वाक् के दो विवर्त हैं। यह महावीरचरित्र, वड्ढमाणचरिउ, पउमचरिउ आदि के रूप में पठनीय है; तो नाटक, चित्रपट आदि रूपकों के माध्यम से श्रवणीय, अथ च दर्शनीय है। इस वाक् का विस्तार पृथ्वी, जल, तेज, वायु से ऊपर आकाश-पर्यन्त है। व्योम में विहार करने वाली यह वाक् प्राण की सहचारिणी शक्ति है। जब प्राणबल ऊर्जस्वित होता है, तब यह वाक् महाघोषवती होकर अपने सन्नाह से लोक को प्रभावित करती है; किन्तु प्राणबल क्षीण होने पर यह भी अल्पप्राण हो जाती है। हमारे शरीर में जो प्राणाग्नि है, वायु का अपने बल से उत्क्षेपण करती है। वह प्राणाग्नि जुष्ट-उत्क्षिप्त वायु नाभि-देश से उठ कर हृदय और कण्ठ-स्थान का भेदन करती हुई ऊपर उठती है; तब नासा, कण्ठ, उर, तालु आदि छह स्थानों पर बलाघात करता हुआ यह 'शब्द' ध्वनिरूप में प्रस्फुटित होता है। व्याकरण-शास्त्र में इसे 'स्फोट' कहा जाता है। वैदिकों का मत है कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप से वाक् के चार भेद हैं। ये क्रमशः मनुष्य के नाभि, हृदय और तदूर्ध्व प्रदेश तथा कण्ठ में स्थित रहते हैं।

## शब्द-विद्या

मनुष्य 'स्फोट' से जिस वाक् का उच्चारण करता है, उसे 'वैखरी' वाक् कहते हैं। शेष तीन वाक् (वाणियों) का उच्चारण नहीं किया जाता। उन्हें केवल विमल, विरज, मुनि-महर्षि अपने आत्मचिंतन में मूकरूप में ही 'आत्मश्रव्य' रूप से सुनते हैं। इसी वाक् को ब्राह्मी, भारती, भाषा, गिरा, वाक्, वाणी और सरस्वती के नाम

से अभिहित किया जाता है। महाभाष्यकार पतंजलि कहते हैं कि— ''बिना शब्द-विद्या के यह संसार मूक-बधिर होता और शरीर-संचालन द्वारा अनेक संकेतों से आपस के व्यवहार को कथंचित् साध पाता।'' निश्चय ही वह स्थिति वाणी के धनी मनुष्य से नितान्त भिन्न होती और हम ज्ञान-विज्ञान के इस अन्तहीन आकाश के तले रह कर भी असहाय होते। जड़ उन्मत्त के समान चेष्टाएँ करते । मानव को प्राप्त इस अतुल्य वरदान की तुलना में सुमेरु की सम्पत्ति भी तुच्छ है। महाकवि बाण को श्रीहर्ष ने गज-हय-रथ और पुष्कल संपत्ति दान दी और श्रीहर्ष के लिए महाकवि ने कुछ कीर्तिपरक छन्द लिखे, वाणी के कुछ सूक्त उपायन दिये, किन्तु काल ने बाण और श्रीहर्ष दोनों को अपने अपरिसीम अन्तराल में छिपा लिया, पचा लिया, समाप्त कर दिया। आज न वे हाथी हैं और न अश्व, न रथ अथवा वह अतुल्य हिरण्यभार; किन्तु बाण के चिरजीवी शब्द, जिनके माध्यम से उस महाकवि ने हर्ष को कीर्तिबद्ध किया था, आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं। किसी सूक्तिकार ने इसी आशय को निबद्ध करते हुए वाणी की अनिर्वचनीय महिमा का स्तोत्रपाठ किया है–

**हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनाम्,**
**श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्।**
**या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टंकिताः कीर्तय-**
**स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्॥**

श्रीहर्ष सम्राट् ने महाकवि बाण के लिए जो हिरण्यशतभार, मदोन्मत्त गजावली तथा अन्य द्रविण दिया, वह आज कहाँ है, किन्तु महाकवि बाण ने अपनी काव्य-वाणी-विलसित जिन यशः-सूक्तियों को सम्राट् के लिए लिखा, प्रशस्ति-लेखों में उट्टंकित किया; वे तो आज भी अपरिम्लान अवस्था में श्रीहर्ष की अनपायिनी कीर्ति का साक्ष्य उपस्थित करती हैं और कल्प-प्रलय तक करती रहेंगी, उनमें मलिनता नहीं आ सकती।

यह है वाणी के वरदान की अचिन्तनीय यशोगाथा। **कीर्तिरक्षा सम्बद्धा आकल्पान्तं गमिष्यति** –अक्षरों में जिसकी कीर्ति को बाँध दिया, वह प्रलय तक के लिए चिरजीवी हो गया।

## 'वाक्' के अपत्य

यह वाक् नादस्वरूपिणी है। संगीत के तत, वितत, घन और सुषिर– ये चारों भेद नादमय हैं और वाक् के अपत्य हैं। यह वाक् जिस पर प्रसन्न हो जाए, उस पर वरदानों की अविच्छिन्न वर्षा होती रहती है। वास्तविक रत्नवृष्टि भगवती सरस्वती की अनुकम्पा है। वाणी से अनुकम्पित होना सुलभ नहीं है। 'काव्यादर्श' के रचयिता महाकवि दण्डी कहते हैं–

**तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।**
**कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥**

सरस्वती का, वाणी का एकान्त प्रसाद उपलब्ध करना सामान्य नहीं है, अतएव वाणी का प्रसाद चाहने वाले को तन्द्रा, निद्रा आदि विद्या-प्राप्ति में विघ्नभूत दोषों को सर्वथा त्याग कर रात-दिन परिश्रम और अध्यवसायपूर्वक वाणी की उपासना करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से उन्हें विद्वानों की सभा में कुछ बोलने की शक्ति भगवती के प्रसाद से प्राप्त हो सकती है और कीर्ति के दायरों में उनका भी नामोल्लेख किया जा सकता है।

वास्तव में क्या उनमें सभी सरस्वती के कृपापात्र भी होते हैं? निश्चय ही नहीं।

**तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः।**
**अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया॥**
**यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समत्सुका।**
**स्वयंवरीतुकामेन श्रौतीं मालामयूयुजत्॥**
**येनानुचरितं बाल्याद् ब्रह्मव्रतमखण्डितम्।**
**स्वयंवरविधानेन चित्रमूढा सरस्वती॥**

—जयधवला प्रशस्ति, 0/28/29

उन वीरसेन स्वामी का शिष्य जिनसेन हुआ, जो श्रीमान् था और उज्ज्वल बुद्धि का धारक भी। उसके कान यद्यपि अबिद्ध थे, तथापि ज्ञानरूपी शलाका से बिंधे गये थे। निकट भव्य होने के कारण मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने उत्सुक होकर स्वयं ही वरण करने की इच्छा से उसके लिये श्रुतमाला की योजना की थी। जिसने बाल्यकाल से ही अखण्डित ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया था, फिर भी आश्चर्य है कि उसने स्वयंवर की विधि से सरस्वती का उद्वहन किया था, अर्थात् जिसका विद्यानुराग उत्कृष्ट कोटि का था।

वाग्-व्यवहार पर विश्व का व्यापार संचालित है। 'नीतिशतक' के निर्माता शृंगार, वैराग्य आदि शतकों के प्रसिद्ध कवि भर्तृहरि कहते हैं कि—

**केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला**
**न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।**
**वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते**
**क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥**

मनुष्य मस्तक पर रत्नावली धारण करे, उज्ज्वल-उज्ज्वल हार पहने, स्नान-उपलेपन करे, केशों में सुगन्धि-सिंचन कर उनका काक-पक्षविन्यास करे; किन्तु इतना करने से ही उसकी शोभा नहीं हो सकती; क्योंकि ये सभी आभूषण तो क्षयिष्णु हैं। किन्तु यदि व्यक्ति के पास संस्कार की हुई एक वाणी (भाषा) है, तो

संसार के सारे आभूषण उसके समीप हैं।

यह वाक् मनुष्य को कीर्ति के शिखर पर आरूढ़ करा सकती है और क्षणकाल में रसातल में भी पहुँचा सकती है। 'बलि और वामन' का आख्यान 'वचन' का 'निर्वचन'-मात्र है। जो वाक् (वचन) की रक्षा करता है, वचन उसकी रक्षा करता है। असत्य-भाषण, वंचकता, कठोरता, व्यर्थवाग्व्यवहार, पिशुनता आदि अनेक दोषों से सहचरित वाणी निस्तेज हो जाती है। इसलिए वचन-शुद्धि जीवन के लिए मंगलात्मक अमृतसूक्त है। जो अनृत-भाषण नहीं करता, उसकी वाणी का भरोसा, उसके वचन का प्रत्यय सभी करते हैं। व्यापारी वर्ग लाखों का लेन-देन बिना किसी लिखत-पढ़त के केवल वाणी मात्र से करता है। जिसकी वाणी अमोघ है, उसके लिए विश्व के मार्ग उन्मुक्त हैं। हरिश्चन्द्र अपनी सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्वप्न में अपने राज्य का दान कर दिया था, इस स्वप्न को भी सत्य मान कर वास्तव में उन्होंने राज्य का त्याग कर दिया। ऐसा करने से उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े, तथापि अपने सत्य से वे विचलित नहीं हुए। आज भी इसी सत्यवाक् गुण से हरिश्चन्द्र का यश सुरक्षित है–

**चन्द्र टरे सूरज टरे, टरे जगतव्यवहार।**
**पै दृढ़व्रत हरिचन्द्र को, टरे न सत्यविचार॥**

**वागालम्भन : गवालम्भन**

राजा दशरथ ने राम का निर्वासन और भरत को राज्य तिलक अपने सत्य वचन के कारण ही दिया। **स राजा सत्यवाग् देव्या वरदानमनुस्मरन्**– राजा दशरथ ने सत्यवाक् का अनुसरण करते हुए ही कैकेयी को दिये पूर्वकाल के वरदान का पालन किया, ऐसा मुनि-महर्षि लिखते हैं। वाणी के पवित्र महत्त्व की रक्षा करने वालों की रक्षा इतिहास ने की है। यह इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। वागालम्भन को (वाणी की, वचन की हत्या को) गवालम्भन (गोहत्या) के समान माना है। वाक्शूर को सच्चा शूरवीर कहा जाता है। लोकोक्ति है कि 'जिस की बात दो, उसके बाप दो' –अर्थात् जो एक बात कह कर उससे विरुद्ध बात कह देता है, उसके वंश का, उत्पत्ति की गरिमा का भी कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। आन-बान के रखवालों ने बात पर अपने मस्तक कटा दिये हैं। उच्च आदर्श व्यक्तियों ने तुला के एक पलड़े पर प्राण और दूसरे पर वचन को रखा है।**रामो द्विर्नाभिभाषते**– राम दो बात नहीं बोलते, ऐसा सन्दर्भ लोग अपने वचनों की प्रामाणिकता में देते हैं। महात्मा गाँधी के प्रिय भजन **वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे** में एक अति सुन्दर पंक्ति है– **काछ-वाच-मन निश्छल राखे धन-धन जननी तेणी रे**– अर्थात् जो मनुष्य अपने कच्छे को, वाचा (वाणी) को और मन को निश्चल रखे, चलायमान न होने दे, उसकी माता धन्य है। इस प्रकार वाणी का यह महत्त्व, वचन

की यह विशिष्टता अन्य सभी विशेषताओं से ऊपर है। जो इनकी रक्षा करने में अप्रमत्त है, सावधान है उसे त्रिभुवन की विभूति सुलभ है।

## वाणी : कल्पवृक्ष

जो व्यक्ति शूर्प से स्वच्छ किये हुए, फटके हुए अन्न के समान अपशब्दों को दूर कर वाक् का व्यवहार करता है, उसके लिए यह वाणी कल्पवृक्ष के समान फलदायिनी होती है। ऐसा करने वाला वक्ता कहलाता है। वक्ता की वह सामर्थ्य, उसमें निहित भावात्मक सत्ता वक्तृता अथवा वक्तृत्व कही जाती है। यह **वक्तृत्वधर्म** सामान्य नहीं है। जो निरन्तर इसकी उपासना करता है, उसे ही यह उपलब्ध होता है; अतः यह भी एक कला है। इस कला की जो सिद्धि कर लेता है, उसे 'लोकवशीकरण विद्या' की प्राप्ति हुई समझना चाहिये। जिस प्रकार गारुड़िक अपनी वेणु-स्वर-माधुरी से महाविषधरों को वश में कर लेता है, उसी प्रकार कुशल वक्ता अपनी 'वाङ्-माधुरी' से सहस्रों श्रोताओं को अपना छन्दोऽनुवर्ती बना लेता है। 'भाषा समिति' के प्रकरण में 'छहढाला' में लिखा है–

**जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति-सुखद सब संशय हरें।**
**भ्रमरोगहर जिनके वचन, मुख-चन्द्र तें अमृत झरें॥**

इस प्रकार के साधु जिनके वचन श्रवण करने से संसार के समस्त प्राणियों का हित होता है, अहित दूर होता है, कानों को जो सुखद प्रतीत होते हैं, संसार-परिभ्रमण के रोग को जो उन्मूलित करते हैं, जैसे अमृत ही निर्झर के समान निरन्तर प्रवहमान हो रहा हो– ऐसे वाङ् माधुर्य की प्रतीति कराते हों, उनकी वाणी भला किसे वशीभूत नहीं कर लेती? नवों रस उनके समक्ष करबद्ध उपस्थित रहते हैं। वे चाहें तो जनसमूह को शृंगार में सराबोर कर दें, चाहें तो वैराग्य के अतलतल में समाहित कर दें।[1] उनके शब्दोच्चारण के समकाल ही

---

1. **दुर्लभवक्ता**–
   विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः,
   शृंगारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते।
   ये ते च प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो,
   येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः।।

   –पद्मनन्दिपंचविंशतिका, 1/111

   संसार में ऐसे वक्ता बहुत हैं, जो अपने को विद्वानों की श्रेणी में प्रदर्शित करने के लिए सभाओं में गर्जन-तर्जन के साथ बोलते हैं; वे प्रायः शृंगार का स्पर्श करने वाली ऐसी शैली अपनाते हैं, जिसे सुनकर साधारण लोग आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। किन्तु जिनका उपदेश श्रवण कर परमात्मविषयक ज्ञान में वृद्धि होती है, सन्मार्ग मिलता है, वैसे वक्ता दुर्लभ होते हैं, सर्वत्र सर्वदा नहीं मिलते।

महाकाल का रौद्र गर्जन प्रतिध्वनित हो उठे, सहस्रों विद्युतों का विस्फुरण आँखों के समक्ष कौंध जाए, महासागरों का गर्जन-तर्जन लहरा उठे और शरद् की शान्त स्रोतस्विनी का कलकल नाद सुनायी देने लगे। वे क्षण में स्त्री-शरीर को रमणीय उपादानों से आसक्ति का केन्द्र प्रतिफलित कर दें, तो दूसरे क्षण मांस-मूत्र की अपवित्र कूप या नारकी प्रतिमा बता दें। ऐसे वाग्मी की सभा में श्रोता मन्त्रकीलित सर्प के समान वक्ता की इच्छा पर झूमने लगते हैं। वह जैसी इच्छा करता है, उसी प्रकार श्रोतृ समाज रोता है, हँसता है, स्तब्ध हो जाता है और आश्चर्य से उसके लोचन विस्फारित हो उठते हैं। वह अपने वक्तृबोद्धव्य सामर्थ्य से क्षार समुद्र को क्षीर-सागर बना डालता है। पत्थर को हिला देता है, पिघला देता है।

## समर्थ वाग्मी

ऐसे समर्थ वाग्मी के लिए कहा जा सकता है– **अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्** कि पत्थर को भी आँसू निकल आते हैं और वज्र का हृदय भी टूक-टूक हो जाता है। लोक उसको अपने केयूर पर बिठा लेते हैं। हृदय-प्रदेश में उच्चासन देते हैं, उसके बन जाते हैं। उसे अपना बनाने के लिए जी-जान लगा देते हैं। इस सम्बन्ध में इतिहास के पृष्ठों पर एक सद्यः (ताजा) उदाहरण यश की अमिट लेखनी से लिखा गया है, जिसने भारत और भारतीय संस्कृति तथा धर्म को विश्व में विश्रुत कर दिया है। उसके आलम्बन पात्र हैं श्री विवेकानन्द तथा श्री वीरचन्द राघवजी जैन गाँधी, जो कि शिकागो में 1893 ई. में हुए विश्वधर्म-सम्मेलन में भाग लेने गये थे। पुनः 1979 में दो युवा भट्टारक श्री कर्मयोगी चारुकीर्ति स्वामी श्रवणबेलगोला तथा श्री ज्ञानयोगी चारुकीर्ति स्वामी मूडबिद्री विश्वधर्म-सम्मेलन में भाग लेने अमेरिका गये थे। वहाँ उनकी ओजस्विनी, स्फीत, भारतीय दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित वक्तृता से अमेरिका के और विश्वधर्म सम्मेलन में आगत समस्त विश्व के लोग, विद्वान् प्रभावित हो उठे थे, वे उनकी वाणी पर मुग्ध हो उठे थे। विवेकानन्द तथा वीरचन्द गाँधी जिस प्रकार की विचारधारा प्रस्तुत करते, वे उसमें डूब कर रह जाते थे।

## वाणी की साधना

प्राचीन और आधुनिक (अर्वाचीन) भारत में इस प्रकार के अनेक व्यक्ति, सज्जन पुरुष हो गये हैं, जिनकी प्रशस्त वाग्धारणी ने ऐन्द्रजालिक के चमत्कार के समान सभा को पल में हँसाया, पल में रुलाया; किन्तु उदाराशय, सौम्य, लोकोपचिकीर्षा मात्र प्रयोजन वाले ऐसे महानुभावों को मात्र ऐन्द्रजालिक कहना उनके साथ अन्याय होगा। उन्होंने इस वाणी की साधना से भव्यों, मुमुक्षुओं और उदात्त विचारधाराओं का निर्माण किया। जिस प्रकार आज वैज्ञानिकों ने बाँध

निर्माण कर महानदियों का रुख बदल दिया है, उसी प्रकार उन्होंने अपने वक्तृत्वसेतु से कोटि-कोटि जनमानसों को मोड़ दिया, गति दी और संस्कृति के निर्मल संस्कारों से परिष्कृत कर लोक में उत्तम आदर्श-अनुप्राणित जीवन जीने का मार्ग-दर्शन दिया। जिस प्रकार ज्येष्ठ की तप्त भूमि कुम्भकार के 'आवे' से उतरा हुआ शराव (बर्तन) पानी को तुरन्त सोख लेता है, उसी प्रकार उत्तम वक्ताओं की रसस्यन्द निर्झरणी वाणी को लोक उत्कर्ण होकर सुनता है, पीता है और पीने पर एक तृप्ति का अनुभव करता है; अनेक आधि-व्याधि-उपाधियों के समूह के तप्तव्यूह पर शान्ति, सुख और आनन्द का अपलेप लगा हुआ पाता है। ऐसे परितृप्त, आत्माराम, सम्पूर्ण कलाओं से उदित चन्द्रमा के समान शोभमान वक्ताओं की वाणी-कौमुदी को लोक चकोर के समान आँखों से पीता है।

## शास्त्रों का अनुशीलन

सु-वक्ता की कुशलता की परीक्षा किसी एकान्त स्थान में नहीं होती। उसका मल्ल-आहव किसी एक प्रतिस्पर्धी से दो-दो हाथ करने तक सीमित नहीं। उसे तो सभा के मंच पर उपस्थित होकर सहस्र-सहस्र ताली पीटने वालों को रिझाना नहीं है, मुमुक्षु करना होता है और उनके स्वरसानुकूल वेदनीय आकृति-भंगों से मूक प्रशंसा-पत्र प्राप्त करना पड़ता है। यदि वह अपना साधारणीकरण नहीं कर पाता, तो श्रोताओं की ओर से इतनी 'हूटिंग' होती है कि वक्ता महाशय के पग चालीस किलो भार के हो जाते हैं और बिना मेघों के उनके ललाट पर आषाढ़ की बौछारें लांछित हो उठती हैं। बिना अभ्यास किये हुए अच्छे-अच्छे ज्ञान के धनी भी मंच पर अकिंचन हो जाते हैं। कहते हैं– जिस प्रकार नवोढ़ा के पैर लज्जा के भार से नहीं उठते, वह बुलाने पर भी नहीं बोल पाती, उसी प्रकार उस नवीन वक्ता की वाणी भी ओठों से बाहर नहीं निकलती। इस कुशलता को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त श्रम, साधना और शास्त्रों का अनुशीलन करना पड़ता है। किसी नीतिकार ने कहा है कि–

## वाग्मी और वावदूक

**तावच्च शोभते मूर्खः सभायां वस्त्रवेष्टितः।**
**समुदाये हि विदुषां यावत् किंचिन्न भाषते॥**

'भड़कीले वस्त्र पहन कर, हीरकमणि अलंकार पहन कर यदि कोई मूर्ख सभा-मंच पर जा बैठने की धृष्टता करे तो लोकदृष्टि में तभी तक उसका मान रहता है, जब तक कि वह कुछ नहीं बोले। क्योंकि जहाँ उसने 'ककहरा' बोलना आरम्भ किया कि लोग समझ जाएँगे। इससे यह स्पष्ट हो गया कि बोलना सभी नहीं जानते। वैसे तो कौन नहीं बोलता? इन बत्तीस दाँतों के बीच निवास करने वाली

जिह्वा को शब्द बोलने का अभ्यास सभी देते हैं; किन्तु जिसे बोलना कहते हैं, वह किसी को ही आता है। इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए व्याकरण-शास्त्रकारों ने 'वाग्मी' और 'वावदूक' दो अलग-अलग अर्थ वाले शब्दों की रचना की। 'वाग्मी' वह जो प्रशस्त भाषण करे और 'वावदूक' वह जो बिना अर्थ का विपुल वाचालत्व प्रदर्शित करे। जिस प्रकार केलि-स्तम्भ को छीलने से उसमें अन्त तक सार नहीं मिलता; उसी प्रकार निरर्थक बकवास करने वालों की दीर्घकालीन वार्ता में भी कोई तत्त्व नहीं मिलता। किन्तु जिनको भगवती सरस्वती का वरद अनुग्रह प्राप्त है, उनके पद-पद में महावर से रंजित सौभाग्यशील चरणों का विन्यास लोकहृदय को बलात् अनुरंजित कर देता है।'

## शृंखलाएँ : मणि-नूपुर

इसीलिए तो कवि बाण को 'कादम्बरी' के आरम्भ में लिखना पड़ा–

**कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धन-शृंखला इव।**
**मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे-पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥**

खल व्यक्ति बोलते हैं तो लगता है कि 'उच्चार' करते हैं, जैसे लौह-निर्मित शृंखलाएँ पहनाने पर पीड़ा देती हैं, उनके ऐसे वचन व्यथा उत्पन्न करते हैं; किन्तु जो सन्त हैं, वे जब बोलते हैं तो मणिनूपुरों की झंकार कानों में उतरती चली जाती है और श्रोताओं का मन निकल कर उनके चरणों में लोटने लगता है।

वक्तृत्व की साधना के अनेक उपाय हैं। किसी चिन्तित विषय पर मनोयोगपूर्वक अनुशीलन करना, स्वाध्याय के द्वारा उसका सर्वांगीण अध्ययन करना, विषय को प्रस्तुत करने की शैली का सूक्ष्म निरीक्षण करना। यदि विषय गम्भीर है तो उसे रोचक बनाने के लिए बीच-बीच में उदाहरणों, लघु कथाओं का संपुट देना; क्योंकि लोकोक्ति है कि **मोदकमपि न विनाऽवदंशं स्वदते** – लड्डू भी बिना नमकीन के रुचिकारक नहीं होता। इसलिए कभी-कभी सरल, प्रसन्न कथाओं से उस गुरुसार विषय को श्रोताओं तक पहुँचाना, श्रोता किस कोटि के हैं– इसका ज्ञान रखना और देश-कालोचित बोलना– इत्यादि सभी विषयों का सूक्ष्मसार निरीक्षण करना वक्तृत्व-कला के परिमार्जन में सहयोगकारक हैं। वक्ता को अभ्यास-अवस्था में किसी नदी, निर्झर अथवा समुद्र के वेलाक्षुब्ध तट पर जाकर वास्तव में निर्भीक, अस्खलित भाषण करने का पूर्वाभ्यास करना चाहिये। किस स्थान पर, किस प्रसंग पर स्वर को तीव्र, मन्द, कठोर अथवा मृदु करना– यह सब वृत्तियाँ उसे आग्रहपूर्वक अपनाना चाहिये। जो लोकसंवेदन का जानकार हो, उपस्थित जनसमूह के वांछित को भाँपता हो, उपस्थिति को क्या चाहिये, इस अपेक्षा से अभिज्ञ हो, वही कुशल वक्ता हो सकता है। यों आयोजित सभाओं के कार्यकलाप

से, मनोऽनुयोग से, अभिप्राय से, कालभाव वर्तनाओं से अनभिज्ञ व्यक्ति यदि भाषण का दम्भ कर कुछ कहने बैठता है, तो वह केवल 'वाचो विग्लापन' मात्र है। लोक प्रवाद है कि— **मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी**– मुख है, इसलिए कह सकते हैं कि हरीतकी दश हाथ प्रमाण होती है; किन्तु वास्तविकता से यह कितनी दूर है, इसे तो जानने वाले ही जानते हैं। ऐसे निरर्थक वागाडम्बर रचने वाले वक्ताओं की कोटि में नहीं आ सकते।

## व्याख्यान और व्याख्यातव्य

सम्यग् वक्ता को गम्भीर चिन्तक, अनुत्तम आलोचक, असाधारण पण्डित, लोकमानस का जानकार, प्रतिपाद्य विषय के पूर्वापर पक्षों का ऊहापोह करने वाला होना आवश्यक है। उसे व्याख्यान और व्याख्यातव्य का अभ्यस्त, कुशल, अथ च पारदृश्वा विद्वान् होना नितान्त आवश्यक है। वक्ताओं के द्वारा किया गया वाणी का व्यवहार लोक-निमित्त होता है; इसलिए उसे मायाचार से, दोषाभिसन्धि से अलिप्त रखना चाहिए। धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा अन्य किसी भी सम्बन्ध में दिया जाने वाला वक्तव्य वक्ता को पुण्य या पाप से अनुबन्धित करता है। यदि वह निष्कपट भाव से सोद्देश्य पदावली द्वारा लोकलाभ के हेतु बोलता है, तो उसे अपने भाव-प्रेषण के सामर्थ्य से संविद्ध जनमानस की प्रेरणालब्धि के परिणामस्वरूप पुण्यफलावाप्ति होती है। वक्ता की गुणावली का निरूपण श्री गुणभद्र ने निम्न पदावली में किया है–

**प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,**
**प्रास्ताशः प्रतिभापरः, प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।**
**प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दकः,**
**ब्रूयाद् धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।।** –आत्मानुशासन, 5

धार्मिक वक्ता महाशय को गुणों का खजाना (कोष) होना चाहिए। वह प्राज्ञ हो, समस्त शास्त्रों के हृदय को पकड़ने वाला हो, लोक की स्थिति का चित्र उसके मानस-पट पर सुव्यक्त अंकित हो, प्रतिभा का धनी हो, शान्तचेता और सम्भाव्य प्रश्नों का पहले ही उत्तर देख चुका हो। यदि सभा में कोई कटु-मधुर प्रश्न करे; तो उन्हें सहन करने वाला हो, कुपित होकर प्रतिवादी के समक्ष अपना सन्तुलन नहीं खोवे। दूसरों के मन को हरण करने की सामर्थ्य रखे, निन्दा किसी की न करे, और वाणी के मिठास को कभी न छोड़े। बोले तो ऐसा लगे कि कहीं से अमृत का प्रवाह अविच्छिन्न धारा में विगलित हो रहा हो। ऐसा वक्ता कदाचित् ही लोक के सौभाग्योदय से मिलता है।

## राजहंस और काक

यों तो वक्ता बहुत हैं। कभी-कभी कौए भी राजहंसों के आश्रयणीय पद्मवन

में जा कर बैठ जाते हैं और काँव-काँव करने लगते हैं; किन्तु हंस का-सा स्वर कहीं काक को मिला है? 'योगवाशिष्ठ' का यह श्लोक बहुत ही सुन्दर है कि–

**हेलया राजहंसेन यत् कृतं कलकूजितम्।**
**न तद् वर्षशतेनापि जानात्याशिक्षितुं बकः॥**

राजहंस स्वाभाविक स्वर में जैसा मधुर कलकूजन कर जाता है, वैसा सौ वर्ष शिक्षा प्राप्त करने पर भी क्या बकोट (बगुला) कर सकता है?

## गंगा-जल सी उज्ज्वलता

क्योंकि इस प्रकार की प्रतिपद चमत्कारशील वाणी प्रत्येक को नहीं मिलती; कहते हैं–

**शतादेकतमस्यैव सर्वोदारचमत्कृतिः।**
**ईप्सितार्थार्पणैकान्तदक्षा भवति भारती॥** –योगवासिष्ठ

सर्वत्र उदार भावों से युक्त, उदार और चमत्कारपूर्ण तथा इच्छित भावप्रेषण में एकान्त दक्ष वाणी सैकड़ों में किसी एक के पास ही होती है। गंगा-प्रवाह के समान अस्खलित, समुद्र वेला के समान प्रत्येक क्षेपण में मुक्ता-मणि-सम्भार को बिखेरने वाली, प्रावृषेण्य पयोवाह के सदृश धीर-गम्भीर, कमल-कुंज के समान जड़ाशयों (जलाशयों) के अन्तःकरण का भेदन कर ऊपर प्रस्फुटित होने वाली वाणी किसी को ही उपलब्ध हो सकती है। और जिसको उपलब्ध हो, उसे भारती का वरदपुत्र ही मानना चाहिये। अन्यथा निर्दोष-प्रसन्न, पुष्कल वाग्विभव की प्राप्ति असम्भव है।[2]

## जैसे जल पर तैलबिन्दु

यदि श्रोता स्थिरमति तथा विषयबोध-धुरीण हैं, तो वक्ता का श्रम सार्थक होता है; क्योंकि जो बीज उर्वर भूमि में बोया जाता है, वही अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित और फलित होता है। यों ऊसर में बोने से लाभ के स्थान पर समय की

---

2. **सुवक्ता का लक्षण**–
सर्वेषां दर्शनानां मनसि परिगतज्ञानवेत्ता भवेद्धि,
वक्ता शास्त्रस्य धीमान्विमलशिवसुखार्थी शुद्धतत्त्वावभासी।
निर्लोभः शुद्धवाग्मी सकलजनहितं चिन्तकः क्रोधमुक्तो,
गर्वोन्मुक्तो यमाढ्यो भवभयचकितो लौकिकाचारयुक्तः।। –सोमसेन 1/20
वह सुवक्ता है जो सब दर्शनों का ज्ञाता है, बुद्धिमान् है, निर्वाण सुख चाहने वाला है, तत्त्वों के स्वरूप को स्पष्ट शब्दों में समझाने वाला है, लालसारहित है, जिसके वचन मिष्ट और स्पष्ट हैं, जो सभी श्रोताओं के हित की कामना करता है, क्रोध से रहित है, सब तरह के गर्व से विनिर्मुक्त है, नम्र है, यम-नियमों से युक्त है, संसार के पाप से डरने वाला है और लौकिक सदाचार से परिपूर्ण है।

हानि ही होती है; सूक्ति है–

**शुद्धोऽल्पोऽप्युपदेशो हि निर्मले तैलबिन्दुवत्।**
**लगत्युत्तान-चित्तेषु नादर्श इव मौक्तिकम्॥**

शुद्ध, स्वच्छहृदय व्यक्तियों को दिया गया उपदेश जैसे पानी पर तैल बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार चित्त में लगता है; किन्तु जिनका चित्त निर्मल नहीं है अथवा जो गुण-शक्ति-शून्य जन हैं, उनको दिया हुआ प्रवचन वैसे ही निष्फल हो जाता है जैसे दर्पण में मोती को रोपने का प्रयास। काँच के कठोर हृदय पर बार-बार मोती रखने पर भी वह फिसल कर दूर जा गिरेगा, उसी प्रकार उपदेश दिया हुआ भी उसके हृदय में प्रवेश नहीं कर पायेगा।[3]

## वाणी का सदुपयोग

जैनाचार्यों में सभी ने वाणी का सदुपयोग कर, व्याख्यान, प्रवचन, उपदेश देकर धर्म का महान् उपकार किया है। धर्म-प्रभावना का मुख्य रूप सद्व्याख्यान ही है। मुनि व आरातीय आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को अपनी अमृतमयी वाणी से निरन्तर प्रभावित करते रहे हैं। इसमें कुन्दकुन्द, अकलंकदेव, समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर तो अपनी वाणी-धुरन्धरता के लिए अतीव प्रख्यात हुए हैं। आचार्य श्री समन्तभद्र का एक श्लोक जो उन्होंने स्वयं अपने परिचय के रूप में पढ़ा था और जो श्रवणबेलगोला के शिलालेख क्र. 54 में संगृहीत है, उनके अप्रतिम वक्तृत्व-सामर्थ्य का सूचक है–

---

[3] जिस किसी को उपदेश नहीं देना चाहिये। सत्पात्र को ही सदुपदेश गुणकारी होता है। मदिरा के भाण्ड में रखने पर अमृत भी मदिरा कहलाने लगती है। **उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये**– इस सूक्ति पर निम्न गाथाएँ हैं–

**वाणर! पुरिसोसि तुमं णिरत्थयं वहसि बाहुदंडाइं।**
**जो पायवस्स सिहरेण करेसि कुंडिं पडालिं वा।।**
**णविसि मयं मयहरिया, णविसि मयं सोहिया व णिद्धावा।**
**सुघरे अच्छसु विघरा जा वट्टसि लोगतत्तीसु।।**

वर्षा काल में शीत से कम्पायमान एक वानर को देख कर बया पक्षी ने कहा– पुरुष के समान हाथ-पैर वाले होकर भी तुम इस वृक्ष पर कोई कुटिया क्यों नहीं बना लेते। यह उपदेश सुन कर उस वानर को क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने उस चिड़िया के घोसले को तिनका-तिनका कर हवा में उछाल दिया। फिर बोला– हे सुघरे! अब तू भी बिना घर के रह। कहते हैं– **सीख दीजिये वाहि को, जाको सीख सुहाय। सीख जो दीन्हीं वानरै, घर चिड़िया को जाय।** सूक्ति है **जठरे सारमेयस्य सर्पिषो नहि संजनम्।** –क्षत्रचूडामणि, 6/60 कुत्ते के उदर में घृत नहीं पचता। अपात्र दिये सदुपदेश का अनुवर्तन नहीं कर सकता।

**पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,**
**पश्चात् मालवसिन्धठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।**
**प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,**
**वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥**

मैंने पहले पाटलीपुत्र में जयभेरी बजायी, फिर मालव-सिन्धु-ठक्क (ढाका), पंजाब देश और कांचीपुर एवं विदिशा में वादभिक्षा के लिए घूमा। अब मैं भटों से युक्त, विद्या से उत्कट तथा अल्प विस्तार वाले करहाटक में आ पहुँचा हूँ। मैं सर्वत्र निर्द्वन्द्व सिंहवृत्ति से वाद करने के लिए विचरण कर रहा हूँ।– ऐसा उन्होंने करहाटक के राजा को चुनौती करते हुए कहा था।

मिस्टर एम.एस. रामास्वामी आय्यंगर ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज़ इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' में लिखा है कि– "समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्म प्रचारक थे, जिन्होंने जैन सिद्धान्तों और जैन आचारों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का उद्योग किया है। और यह कि जहाँ कहीं भी वे गये हैं उन्हें दूसरे सम्प्रदायों की तरफ से किसी भी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा।" आचार्य समन्तभद्र को दिग्विजय-जैसी यह सफलता बिना किसी विशेष विरोध के मिल सकी, इसमें उनकी निरभिमान, मधुर तथा लोकोपकार-परायण भावना से अनुप्राणित अनुपम वाद-शैली कारण है।

आचार्य अकलंक देव का यह श्लोक उनके बौद्धों से हुए प्रसिद्ध शास्त्रार्थ-विजय को स्मारित करवाता है, इस प्रकार है–

**नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं,**
**नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।**
**राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो,**
**बौद्धौघान् सकलान् विजित्य स घटः पादेन विस्फालितः॥**

मैं यह सब अहंकार अथवा द्वेषवश नहीं कह रहा हूँ। मैं तो जब जन-समूह को सौगतों के इस नैरात्म्यवाद में पड़ कर नष्ट होते अनुभव करता हूँ, तो सहज करुणा से आप्लुत हो जाता हूँ। यही कारण है कि बौद्धों और जैनों के बीच हुए उस निर्णयात्मक शास्त्रार्थ में, श्री हिमशीतल नृपति की सभा में, जिसमें प्रायः विद्वान् विराजमान थे, सम्पूर्ण बौद्धों को जीत कर उस घड़े को (अभिमान-घट को और बौद्धों द्वारा आरक्षित तान्त्रिक कुम्भ को) पैर की ठोकर से फोड़ दिया।

## जैनाचार्य और वाग्मिता

एतावता यह स्पष्ट है कि जैन परम्परा के शास्त्रधुरीण आचार्यों ने प्राचीन भारत में अपनी वक्तृत्व-कला से धर्म-प्रभावना में अपूर्व सहयोग दिया है। वास्तव

में जब तक अन्धकार-निवारक सूर्य का उदय नहीं होता, तब तक पदार्थों के विषय में लोक अन्धकार में ही रहता है। इसी प्रकार धर्म के आचार्य मिथ्यात्व-तिमिर के लिए सूर्य के समान ही प्रखर, कान्तिमान् और अधृष्य होकर विचार नहीं करते, तब तक लोक यदि अशोक पुरुष को करंजकुसुम मान बैठे, तो उनका क्या दोष? सत् और असत् का स्पष्टीकरण तो सन्त ही कर सकते हैं। और इस पवित्र कर्म के लिए उन्हें अपनी वाणी को मुखर करना होगा, प्रखर रखना होगा।

## ओजस्वी भेरीनाद

जब राष्ट्र में, संस्कृति पर, समाज पर किसी प्रकार का विप्लव आने की शंका होती है; तो देश, संस्कृति और समाज के कर्णधार सिंहगर्जना करते हैं, जिससे लोकमानस का नैराश्य-गोमायु भाग जाता है और उसमें आत्मचेतना, विश्वास, धर्मानुराग, संगठन, विवेक और अनेकविध सद्गुणों का उदय होता है। सन्तजनों की वाणी मनःकल्मष को प्रक्षालित करने में निर्झर के समान है, वह कायर हृदयों में ओजस्विता पूरने वाला भेरीनाद है और अकर्मण्यों को चेतना-क्षितिज के पीठ पर अभिषिक्त करने वाला अमृत है। किसी ने ठीक ही कहा है–

**अपूर्वाह्लाददायिन्य उच्चैस्तरपदाश्रयाः।**
**अतिमोहापहारिण्यः सूक्तयो हि महीयसाम्॥**

## अनुक्त भी उक्त

विद्वानों, साधुओं और धर्माचार्यों के वचन अपूर्व आह्लाद को उत्पन्न करते हैं, ऊँचे जीवन की प्रेरणा देते हैं। मोह के अतिभाव को नष्ट करते हैं। उनके सुभाषित सुन कर मृत्यु भी प्रिय लगती है। जीवन अमर हो जाता है–अमरता का अनुभव करता है। अविद्या के नाश में ऐसे वाग्मियों का मुख्य सहयोग रहता है। वे यदि मौन भी बैठे होते हैं, तो उनका तप, ज्ञान अनुक्त भी मुखर होकर बोलता रहता है। तभी तो कहा जाता है **गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्या उच्छिन्नसंशयाः** अर्थात् गुरुदेव तो मौन अवस्था में ही व्याख्यान कर देते हैं, जिससे शिष्यों का संशय उच्छिन्न हो जाता है; किन्तु यह वक्तृत्व-कला असाधारण है। लोक-वृत्तियों के पास यह नहीं होती, यह तो वीतराग मुनियों के मुख पर ही परिलक्षित होती है। उनका अशेष तप, संयम, चारित्र उनके सूर्य समान भास्वर मुखमण्डल पर विराजमान रहता है, जिसकी सन्निधि में शंकाओं की मलिन कुज्झटिका टिक नहीं पाती। एवंविध वक्तृत्व-कला-सम्पन्न, प्रातःस्मरणीय आचार्य शान्तिसागर महाराज, मुनि, उपदेष्टा किसके नमस्य नहीं हैं?

## रत्नत्रय का उपदेश देने का अधिकार गृहस्थों को नहीं-

दिट्ठिवाद–(चौदह पूर्व इसी के भीतर गर्भित हैं।)

.....दयाबुद्धिए साहूणं णाण-दंसण-चरित्तपरिच्चागो दाणं पासु अपरिच्चागदा णाम। ण चेदं कारणं घरत्थेसु संभवदि, तत्थ चरित्ताभावादो। तिरयणोवदेसो वि ण घरत्थेसु अत्थि, तेसिं 'दिट्ठिवादादि' उवरिम सुत्तोवदेसणे अहियाराभावादो। तदो एदं कारणं महेसिणं चेव होदि।[4] —आचार्य वीरसेन, छक्खण्डागम, बंधसामित्त, 3/41

दयाबुद्धि से साधुओं द्वारा किये जाने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के परित्याग या 'ज्ञानदान' का नाम प्रासुक परित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थों में सम्भव नहीं है, क्योंकि 'दृष्टिवादादिक' उपरिम श्रुत के उपदेश देने में उनका अधिकार नहीं है; अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है।

## अनेकान्त धर्म के उपदेष्टा : बहुत कम

**कलिप्रावृषि मिथ्यादृङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।**
**खद्योतवत् सुदेष्टारो हा ! द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्॥**

—सागार धर्मामृत 1/7

यह कलियुग वर्षाऋतु है। इसमें दिशाएँ मिथ्यात्वरूपी मेघों से आच्छन्न हैं। ऐसे विषम समय में सुन्दर अनेकान्त धर्म के उपदेष्टा, जुगनू के समान कहीं-कहीं दिखायी देते हैं।

**सम्यग्मार्गोपदेष्ट्री सम्यग्दर्शनवाक्।** —धवला 1/1/2

समीचीन मार्ग का उपदेश देने वाले वचन को सम्यग्दर्शन वचन कहते हैं।

## शास्त्र-वचनों का माहात्म्य

**बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितै-**
**र्माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।**
**न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,**
**सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥**

—न्यायविनिश्चय 1/2

आत्महितेच्छु शास्त्राध्ययन करने वालों के पूर्वभव में उपार्जित महापापों के उदय से अविद्या के महात्म्य से, और स्वयं कलियुग के कालप्रभाव से गुणद्वेष्टाओं ने इस न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है; किन्तु अनुकम्पापरायण आचार्यों द्वारा उसे आज भी सम्यग्ज्ञान-रूपी जल से तथा शास्त्र-वचनों से कथमपि (परिश्रमपूर्वक) प्रक्षालित किया जा रहा है।

---

4. **शुभेषु शुद्धेषु वा प्रवर्तयति श्रुतम्।** —भगवती आराधना, 430
अनगार मुनि श्रुत का उपदेश करते हुए शुभ या शुद्ध परिणामों में लगाता है।

## धर्मकथाभेद

**अक्खेवणी-णिक्खेवणी-संवेयणी-णिव्वेयणी चेदि चउव्विहाओ कहाओ वण्णेदि। तत्थ अक्खेवणी णाम छद्दव्वणवपयत्थाणं सरूवं दिगंतर समयांतर निराकरणं सुद्धिं करेदि परूवेदि। णिक्खेवणी णाम परसमएण ससमयं दूसंती पच्छा दिगंतर सुद्धि करेंति ससमयं थावंती छद्दव्व-नव-पयत्थे परूवेदि। संवेयणी णाम पुण्णफल संकहा...। संसारसरीरभोगेसु वेरग्गुपाअिणी णिव्वेयणी णाम।** —धवला टीका, पुस्तक 1, पृष्ठ 104

धर्म कथा के आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी— ये चार भेद हैं—

(1) आक्षेपिणी कथा में छह द्रव्य और नव पदार्थों का स्वरूप काल और स्थान की शुद्धिपूर्वक निरूपित किया जाता है; अर्थात् स्वमतानुसार छह द्रव्य और नव पदार्थों का स्वरूप कथन करने के अनन्तर दूसरों की मान्यता में दोषोद्भावन करना आक्षेपिणी है।

(2) विक्षेपिणी कथा में प्रथम दूसरों की मान्यताओं का निराकरण किया जाता है, तदनन्तर स्वमत-प्रतिपादन।

(3) संवेदिनी में पाप्पुण्य फलों का विवेचन कर विरक्ति की ओर ले जाया जाता है।

(4) निर्वेदिनी में संसार, शरीर और भोगों में विरक्ति उत्पन्न की जाती है।

## समर्थ वचन

**समर्थवचनं जल्पं चतुरंगं विदुर्बुधाः।**
**पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना॥** —सिद्धिविनिश्चय, अकलंकदेव 5/2

स्वपक्षसाधन में समर्थ वचन को चतुरंगवाद या जल्प कहते हैं। उसकी अवधि पक्ष-निर्णय-पर्यन्त है और फल मार्ग-प्रभावना है।

## चतुरंग वाद

वाद के चार अंग हैं— वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। यह वाद चर्चा का एक प्रमुख विषय है। वाद का प्रयोजन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अथवा प्राप्त तत्त्वज्ञान की रक्षा माना गया है। वादी, प्रतिवादी आदि अंगचतुष्टय द्वारा निर्णीत होने से वाद को 'चतुरंग' कहा है। इस चतुष्टय में कोई मतभेद नहीं है, तथापि साध्य-साधन-प्रणाली में मतभेद है। वाद का प्रयोजन निष्कर्ष की प्राप्ति है। यह वाद न्याय-परम्परा तथा जैन-परम्परा में द्विविध विभक्त है। न्याय-परम्परा का वाद छल-योग द्वारा भी अपने प्रतिवादी को परास्त करने की इच्छा रखता है; परन्तु जैन-परम्परा तत्त्वशोध-निर्णय को मुख्य मानती है, अतः विजिगीषा रखते हुए भी न्यायरीति का अनुसरण करना उचित मानती है। वाद का अन्तिम परिणाम जय-पराजय है। इस जय अथवा पराजय की स्थिति में भी अहिंसक दृष्टिकोण को ही अकलंकदेव ने महत्त्व दिया है।

## स्याद्वाद ही उपादेय

**शास्त्रं शक्यपरीक्षणेऽपि विषये सर्वं विसंवादकं,**
**मिथ्यैकान्तकलंकितं बहुमुखैरुद्वीक्ष्य तर्कागमैः।**
**स्यात्कारश्रुतसत्यलांछनमुपादेयं सतां शासनं,**
**कारेकाऽत्र परीक्षणक्षमधियामेकान्तधार्ष्ट्यैरलम्॥**

—आचार्य अकलंक, सिद्धिविनिश्चय 2/7/1, पृष्ठ 442

जिन विषयों और पदार्थों के विषय में परीक्षण शक्य है और जो परीक्षण से तत्त्वार्थ-विनिश्चय पर पहुँच सकते हैं, उनके प्रतिपादन भी जिन-शास्त्रों में विसंवादक हैं, परस्पर विरुद्ध हैं और जो बहुमुख तर्क आगमों से कीलित हैं, मिथ्या तथा एकान्त कलंकित हैं; उन शास्त्रों की हम परीक्षाप्रधान आचार्य प्रमाण रूप में चर्चा करें– यह अशक्य है, धृष्टता है। इस प्रकार की धृष्टता का चिन्तन भी नहीं किया जा सकता। हमारे लिए तो विद्यमान जीवादि पदार्थों का प्रतिपादक अथवा जिनेन्द्रों से शासित यह 'स्यात्' शब्दाभिधेय श्रुत और सत्यान्वित स्याद्वाद ही उपादेय, ग्रहण करने योग्य है; इसमें क्या सन्देह है?

## श्रेष्ठ वक्ता

**दीपं बिना नयनवानपि संदिदृक्षुर्द्रव्यं यथा घटपटादि न पश्यतीह।**
**जिज्ञासुरुत्तममतिर्गुणवांस्तथैव वक्त्रा विना हितपथं निखिलं न वेत्ति॥**
**सर्वज्ञभाषितमहानदधौतबुद्धिः स्पष्टेन्द्रियः स्थिरमतिर्मितवाङ्मनोज्ञः।**
**स्पष्टाक्षरो जितसभः प्रगृहीतवाक्यो वक्तुं कथां प्रभवति प्रतिभादियुक्तः॥**
**सत्कारमैत्र्यवनभेषजसंश्रयादीन् वक्ताऽनपेक्ष्य जगतोऽत्युपकारहेतुम्।**
**निष्केवलं हितपथं प्रवदन् वदान्यः श्रोताऽऽत्मनोरुपचिनोति फलं विशालम्॥**

—वरांगचरित, प्रथमसर्ग 9, 10, 11

अन्धकार में स्थित घट-वस्त्रादि पदार्थों को दीपक के सहयोग बिना जैसे नेत्रवान् भी नहीं देख सकता, उसी प्रकार हितमार्ग की जिज्ञासा रखने वाला व्यक्ति उत्तम बुद्धिधारक तथा गुणवान् होते हुए भी सद्वक्ता के बिना उस हितमार्ग (हेयोपादेयदर्शक पथ) को नहीं जान पाता। पदार्थ तो पूर्व से ही विद्यमान हैं, किन्तु वक्ता दीपक होकर उन्हें दिखा देने का कार्य करता है। वह सद्वक्ता यादृश-तादृश नहीं होना चाहिए। जो भगवान् सर्वज्ञ द्वारा भाषित आगम-समुद्र में पर्याप्त स्नान करके अपनी बुद्धि को प्रक्षालित कर चुका हो, स्पष्टेन्द्रिय—शारीरिक अंगों, इन्द्रियों से अविकल हो, जिसकी बुद्धि स्थिर हो, वाणी पर जिसका अधिकार हो अर्थात् जिसे संक्षेप अथवा विस्तार से कहने की क्षमता प्राप्त हो, जो श्रोताओं के मन को जानने वाला हो, जिसका उच्चारण अस्पष्ट न हो, वर्णाक्षर वाक्य-विन्यास जिसके अलग-अलग स्पष्ट सुने-समझे जा सकें, सभाओं को नियंत्रण में

रखने की कला में निपुण हो, शास्त्रशैली को जानता हो तथा उसमें अपने प्रतिभा–(विलक्षण बुद्धिबल) सामर्थ्य से आगम-अविरुद्ध विस्तार कर सकता हो; वह कथा, व्याख्यानादि में समर्थ हो सकता है। साधु-वक्ता को उचित है कि वह अपने प्रवचन-विषय में व्यक्ति-विशेष के लिए सत्कार-वाणी, किसी के प्रति मैत्री-भाव तथा सांसारिक आरोग्य लाभ के लिए औषधि-प्रयोग इत्यादि की उपेक्षा करे; क्योंकि ये विषय संसार के शाश्वत उपकर्ता नहीं हैं; अतः जो अत्यन्त उपकारक निष्केवल, केवल-ज्ञानात्मक हितमार्ग है, उसी पर प्रवचन करने वाला श्रेष्ठ वक्ता अपने तथा श्रोताओं के लिए विशाल फल एकत्र करता है।

## दुर्लभ : वक्ता भी, श्रोता भी

**लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।**
**दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः॥** –आत्मानुशासन, 143

प्राचीन समय में उभयलोक हित के व्याख्याता तथा उसके श्रोता सुलभ थे; किन्तु उस पर आचरण करने वाले उस काल में भी दुर्लभ थे। वर्तमान काल में वैसे वक्ता दुर्लभ हैं, श्रोता दुर्लभ हैं, और आचरण करने वाले तो नितान्त दुर्लभ ही हैं।

## वीतराग-वाणी ही शीतल

**न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गांगमम्भो न च हारयष्टयः।**
**यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्॥**

–बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, 46

हे शीतलनाथ भगवान्! चन्दन और चन्द्रमा की किरणें शीतल नहीं हैं, गंगा का जल और मोती की मालाएँ भी शीतल नहीं हैं। तत्त्वज्ञाताओं के लिए आपकी निर्दोष जिनवाणी ही शीतल है।

**यूयं गावो मेदयथाकृशं चिद-श्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।**
**भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो वृहद् वो वय उच्यते सभासु॥** –अथर्ववेद 4/21

इसका वाणीपरक अर्थ है कि जो व्यक्ति कृश है, अध्ययनादि रहित होने से दुर्बल है, उसे प्रशस्त वाणी की प्राप्ति ही स्थूल (प्रसिद्ध अथवा बलवान) बनाती है। यदि उसमें श्रीहीनतादि दोष हैं तो भी वाणी उसे सुन्दरता प्रदान करती है। **मुखे पुण्या वाचः, वाग्भूषणं भूषणम्** आदि लौकिक सूक्तियाँ तथा ऋग्वेद की **अप्रशस्त इव स्म सि, प्रशस्तिमम्ब! नस्कृधि** –सूक्ति इस मंत्रार्थ को साधार करती है कि वाणी-समुपासना से यशःप्राप्ति होती है। जिस घर में कल्याणमयी वाणी का व्यवहार होता है, वहीं भद्रता की प्राप्ति होती है। वाणी का सद्उच्चारण ही घर को संस्कार प्रदान करता है और सभाओं में तो वाणी ही दीर्घायु होकर युक्तिमती होती है। वास्तव में वाणी की दीर्घायु ही सभा की दीर्घता (स्थिरता) का कारण है।

## जिनवाणी की कृपा

**कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।**
**त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥**

—आचार्य समन्तभद्र, युक्त्यनुशासन, 63

हे तीर्थंकर महावीर! जिनेन्द्र! जो समदृष्टि है तथा युक्तिपूर्वक देखता है वह जिनागम के प्रति यथेष्ट विरोध-भाव रख कर भी (रखता हुआ भी भले, आपकी आप्तवाणी की) समीक्षा करे। मेरा विश्वास है कि वह तुम्हारे श्रुतपरिशीलन में अविरोध को प्राप्त होगा अर्थात् जिनागमपरिज्ञान से उसका मान गलित हो जाएगा और इस प्रकार उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त होगी। वह अभद्र होता हुआ भी सर्वतः भद्र हो उठेगा। प्रकारान्तर से आचार्य ने अपने को अभद्र कहते हुए 'जिनवाणी' की कृपा से ही मैं 'समन्तभद्र' हूँ— ऐसा कहा है।

## साधु-कर्त्तव्य : धर्मोपदेश

**गृह्णासि शय्याहृतिपुस्तकोपधीन् सदा परेभ्यस्तपसास्त्वयं स्थितिः।**
**तत्ते प्रमादाद् भरितात् प्रतिग्रहैर्ऋणार्णमग्नस्य परत्र का गतिः॥**

—अध्यात्मकल्पद्रुम, 192

हे संन्यासिन्! किसी से वसतिका, किसी से आहार, किसी से शास्त्र और किसी से इतर वस्तुएँ ग्रहण कर रहे हो। सदैव दूसरों से लेना पड़ रहा है— यह तुम्हारे तप की स्थिति है। इस प्रकार प्रतिग्रहों के भार से भरे हुए ऋण-पर-ऋण लेकर परलोक में जाने पर प्रमाद से किस गति को प्राप्त करोगे? साधु-चर्या गृहस्थ के बिना चलनी कठिन है; अतः उसका भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह धर्मोपदेश के 'दो शब्द' कहने के लिए अपना अमूल्य समय खर्च करे।

मेरे द्वारा उक्त वाणी पर सज्जन विचार करें; क्योंकि कमल की उत्पत्ति जलाशय में होती है और उसके सौरभ को पवन दूर तक पहुँचाता है। इसी प्रकार मेरी वाणी भी प्रसन्न-हृदय साधु पुरुषों द्वारा ही लोक में प्रसार पा सकेगी; अथवा मेरी इस प्रार्थना से भी क्या लाभ? क्योंकि यदि मेरी वाणी में गुण होगा तो (मेरी अभ्यर्थना के बिना भी) सज्जन स्वयं इनका सत्कार करेंगे, अन्यथा गुणरहित होने पर तो यश के विघातक वृथा स्तवन से क्या?

## धर्मतीर्थ से तीर्थंकर

**तीर्थाद्भवन्तः किल तत् भवद्भ्यो मिथोनपेक्षामिति हेतुभावः।**
**अनादिसंतानकृतावतारश्चकास्ति बीजाङ्कुरवत् किलायम्॥**

—लघुतत्त्वस्फोट, 8

हे तीर्थंकर! तीर्थ से आप हुए हैं और तीर्थ आपसे प्रकट हुआ है। आपका और

तीर्थ का इस प्रकार परस्पर में कार्य-कारण-सम्बन्ध या हेतुहेतुमद्भाव है। और यह निश्चय से अनादि संतान-परम्परा रूप से बीजांकुर की तरह चमकता रहता है।

**समस्तमन्तःस्पृशताऽपि विश्वं, वक्तुं समस्तं वचसामशक्तेः।**
**प्रत्यक्षद्रष्टाखिलभालपुंजादनन्तभागो गदितस्त्वयैकः॥**

—लघुतत्त्वस्फोट, 9

हे सर्वज्ञदेव! समस्त विश्व को पूर्ण रूप से (द्रव्य, गुण और पर्याय सहित) जानते हुए भी आपने समस्त विश्व के कहने में वचनों की अशक्ति होने से प्रत्यक्षदृष्ट होने से अखिल भाव पुंज-पदार्थ में से एक अनन्तवाँ भाग मात्र दिव्यध्वनि द्वारा प्रकट किया है। कहा है—

**सुत्तत्थो खलु पढमो, विदिओ णिज्जुत्ति मिस्सिदो भणिदो।**
**तिदिओ य णिरवसेसो, एसविहि होदि अणुजोगो॥**

सर्वप्रथम सूत्रार्थ का कथन, तत्पश्चात् निर्युक्ति, फिर मिश्र अर्थ और उसके बाद सर्व अर्थ का कथन करने की बात कही है। यही 'अनुयोग' के सम्बन्ध में विधि है; केवल सूत्रार्थ का प्रतिपादन करना इसका नाम 'अनुयोग' है। तात्पर्य यह है कि अनुयोगाचार्यों को तो सर्वप्रथम सूत्रों का अर्थ-मात्र कथन-रूप ही अनुयोग करना चाहिये। यह पहिला अनुयोग है।

## हेतुवाद

**आत्मनोऽपि न यः शक्तः संदेहव्यपनोदने।**
**उत्तरं स कथं दत्ते परेषां हेतुवादिनाम्॥**

—आचार्य अमितगति, धर्मपरीक्षा 8/47

जो विद्वान् वक्ता अपने संदेहों को ही दूर नहीं कर सकता, वह अन्य हेतुवादियों को क्या उत्तर देगा? अर्थात् नहीं दे सकता।

**जो हेउवायपक्खमि हेउओ आगमे य आगमिओ।**
**सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अण्णो॥** —सन्मतिसूत्र, 3/45

जो हेतुवाद के पक्ष में हेतु का प्रयोग करता है और आगमवाद के पक्ष में आगम का प्रयोग करता है, वह स्वसमय का प्ररूपक है। इससे भिन्न, अर्थात् हेतुवाद के पक्ष में आगमवाद का, आगमवाद के पक्ष में हेतुवाद का प्रयोग करने वाला स्वसमय का विराधक है।

## श्रोताओं के भेद

**श्रोतारः समभावाः स्युरुत्तमाधममध्यमाः।**
**अन्यादृशोऽपि सन्त्येव तत्किन्तेषामियत्तया॥** —महापुराण 1/140

श्रोता उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनसे व्यतिरिक्त

श्रोताओं के और अनेक प्रकार हैं। उन सबकी गणना से क्या लाभ है?

**श्रोता शुश्रूषताद्यैः स्वैर्गुणैर्युक्तः प्रशस्यते।**
**वक्ता च वत्सलत्वादियथोक्तगुणभूषणः॥** —महापुराण, 1/145

श्रोता अपनी शुश्रूषा (सेवा, विनय, वैयावृत्त्य) आदि गुणों से प्रशंसनीय होता है तथा वक्ता वात्सल्य आदि गुणयुक्त होने से प्रशंसास्पद होता है।

## श्रोता के आठ गुण

**शुश्रूषताश्रवणसंग्रह-धारणानि विज्ञानमूहनमपोहनमर्थतत्त्वम् ।**
**धर्मश्रवार्थिषु सुखाभिमुखेन नित्यमष्टौ गुणान् खलु विशिष्टतमा वदन्ति॥**

—वरांगचरित, 1/14

शुश्रूषा (सेवा) भाव, धर्म-श्रवण, उसका संग्रह तथा धारण करना, ज्ञान की वृद्धि, ऊहापोह (ऊहन-अपोहन) अर्थात् सुने अथवा जाने हुए विषय पर तार्किकवादाश्रय से विषय-मन्थन करते हुए उसके औचित्य को अंगीकार करना और अनौचित्य का परिहार करना, अर्थतत्त्व को अपनाना– ये श्रोता के आठ गुण हैं, जिनका विशिष्ट जन उपदेश करते हैं।

**शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।**
**स्मृत्यूहापोहनिर्णीतिः श्रोतुरष्टगुणाः विदुः॥**

शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊहा (तर्क-वितर्क), अपोह (हेयांश-परित्याग), निर्णय– ये आठ श्रोता के गुण हैं।

## सभा-स्थान

**तीर्थे वापि वने वापि गृहे वा श्रवणं मतम्।**
**विशाला वसुधा यत्र कर्तव्यं तत् सभास्थलम्॥**

कथा, प्रवचन, व्याख्यानादि का श्रवण सभास्थान बना कर करना चाहिए। वह स्थान तीर्थ में, वन में, अथवा घर में निर्मित किया जा सकता है; परन्तु सर्वत्र उसके लिए लम्बा-चौड़ा मैदान विशाल प्रदेश होना आवश्यक है।

## दिव्य आसन

**पूर्वं तेषामासनानि कर्त्तव्यानि यथोत्तरम्।**
**वक्तुश्चापि तदा दिव्यमासनं परिकल्पयेत्॥**

सभासदों के लिए उनके योग्यताक्रम से आसन लगाने चाहिए और वक्ता के लिए दिव्य (सर्वोत्कृष्ट) आसन की व्यवस्था करनी चाहिये।

## आत्मा का गुरु आत्मा

**आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।**
**यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥**

इस संसार में प्राणियों का गुरु उनका अपना आत्मा ही है। विशेष रूप से पुरुष (मनुष्य) का; क्योंकि मनुष्य प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा अपने श्रेय को पहचान लेता है, प्राप्त कर लेता है।

**सारांश**

**श्रुत्वा धर्मं विजानाति, श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम्।**
**श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति, श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥**

सुनकर ही धर्म को जानता है, सुनकर ही दुर्बुद्धि का परित्याग करता है, सुनकर ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, अधिक कहने से क्या, सुनकर ही मोक्ष प्राप्त करता है।

❖❖

# अकारादि अक्षर : वर्ण तथा फल

**अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।**
**कलंकमंगिनां सोऽयं देवनन्दिः नमस्यते॥**

—आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव 1/15

**अर्थ**— जिनका वाङ्मय मनुष्यों के शरीर, वचन और मन— तीनों के दोष दूर करने में समर्थ है, उन आचार्य देवनन्दि को मैं नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य यह है कि आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने अपने ग्रन्थों में प्राणावाय नामक विद्या के द्वारा आयुर्वेद से प्राणियों के देहज दोषों को, शब्दानुशासन (जैनेन्द्र व्याकरण) से वचनदोषों को और समाधितन्त्र आदि से मानसिक दोषों को दूर किया है। धन्य हैं ऐसे आचार्य पूज्यपाद, जिन्होंने हमारा महान उपकार किया है।

**मंगलाचरण**

**ध्यायेदनादि-सिद्धान्त-प्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।**
**निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमिं जगन्नुताम्॥**

अनादि सिद्धान्त में प्रसिद्ध वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिये। जगत् इसको नमस्कार करता है और यह समस्त शब्दों के विन्यास – उनके लिखने की जन्मभूमि है।

**अकारं चन्द्रकान्ताभं सर्वज्ञं विश्वयोनिकम्।**
**सर्वसिद्धिप्रदं ध्यायेत्समर्थं सर्वकर्मसु॥**

**अ**— यह चन्द्रकान्त मणि की कान्ति जैसी आभा वाला है, सबका ज्ञाता है। संसार की उत्पत्ति का कारण है, सर्वसिद्धि प्रदाता है और सर्व कार्यों में समर्थ है।

**आकारं श्वेतवर्णं तु सर्वलोकवशकरम्।**
**विश्वस्य स्वामिनं ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु॥**

**आ**— इसका वर्ण श्वेत है। यह समस्त लोक को वश में करनेवाला है। विश्व के स्वामी और समस्त कार्यों में समर्थ इसका ध्यान करना चाहिये।

**इकारं चिन्तयेन्मन्त्री जपाकुसुमसन्निभम्।**
**विश्वचक्षुस्तया सर्वं समर्थं बहुकर्मसु॥**

**इ**– इसका चिन्तन सभी को करना चाहिये– इसका आकार जपा-पुष्प जैसा है। यह विश्व का नेत्र है और बहुत से कार्यों में यह समर्थ माना गया है।

**ईकारं रक्तवर्णं तु स्मरस्य जननीं विदुः।**
**अनन्तसुखदं देवं समर्थं बहुकर्मसु॥**

**ई**– इसका वर्ण लाल है, इसे कामदेव की माता कहा गया है। यह अनन्त सुख देने वाला देव और अनेक कार्यों में सफलता देने वाला कहा गया है।

**उकारं कृष्णवर्णं तु संस्मरेत् विश्वमूर्तिकम्।**
**औपासनस्य वरदं धयायेत्समर्थं बहुकर्मसु॥**

**उ**– इसका वर्ण काला है– ऐसा जानना चाहिये। यह विश्व की मूर्त्ति स्वरूप है। यह औपासन– उपवास करने का जो फल होता है उस फल को देता है एवं यह अनेक कार्य करने में समर्थ है।

**ऊकारं पीतवर्णं तु सर्वसिद्धिप्रदायकम्।**
**स्मरेद्विश्वमुखं मन्त्री सर्वविघ्नविनाशकम्॥**

**ऊ**– इसका वर्ण पीला है और यह सब प्रकार की सिद्धि का दाता है, जाप करनेवाला है। इसे सर्वविघ्नों का नाशक और विश्व का मुख मानें अर्थात् सर्व विघ्नविनाशक गणेश रूप समझें।

**ऋकारं नीलवर्णं तु विश्वविद्याधिनायकम्।**
**चिनायेच्च महामन्त्री समर्थं बहुकर्मसु॥**

**ऋ**– इसका वर्ण नीला है। यह विश्वविद्याओं की अधिनायिका स्वामिनी है। इसका जाप करनेवाला प्राणी समस्त कार्य का साधक होता है– ऐसा चिन्तन करें।

**ॠकारं कृष्णवर्णं तु विश्वात्मसर्वलोकजित्।**
**मन्त्रिणां वरदं ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु॥**

**ॠ**– इसका वर्ण कृष्ण है, यह विश्व आत्मा वाला है और सर्वलोक को पराजित करनेवाला है। यह अपने ध्याता को वरदान देता है तथा उसके सब कार्य सिद्ध कर देता है।

**लृकारं तद्विश्वभवं सुवर्ण-सदृश-प्रभम्।**
**मन्त्रिणां वरदं ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु॥**

**लृ**– इसका वर्ण सुवर्ण के जैसा है। इससे विश्व की उत्पत्ति हुई है। यह ध्याता को वरदान प्रदान करनेवाला है और उसके सब कार्य बनाने में यह समर्थ है।

**महाकायं विश्वदृशं सर्वविघ्नविनाशकम्।**
**लकारं चिन्तयेद्ध्यानी समर्थं बहुकर्मसु॥**

**ल**– ध्यानी को इस ल के विषय में ऐसा ध्यान करना चाहिये कि यह महाकाय वाला है, विश्व का द्रष्टा है अथवा विश्व ही इसके नेत्र हैं, यह सर्वविघ्नों का नाश करनेवाला है और यह सर्व कार्य सम्पादन में समर्थ है।

**महाशूरं विश्वविदं कुन्दपुष्पसत्विषम्।**
**एकारं चिन्तयेन्मन्त्री समर्थं बहुकर्मसु॥**

**ए**– एकार के विषय में ध्यानकर्ता को ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि यह महाशूरवीर है, विश्व का वेत्ता है, कुंदपुष्प के समान इसकी कान्ति है और यह अपने चिन्तन के अनेक कार्यों में सफलता प्रदान करता है।

**ऐकारं विमलं धयायेद्विश्वज्ञानात्मकं शुभम्।**
**मन्त्रिणां वरदं ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु॥**

**ऐ**– ऐकार के सम्बन्ध में ऐसा ध्यान करना चाहिये कि यह ऐकार विमल है, विश्वज्ञानस्वरूप है, शुभ है, शुभप्रद है। ध्यान करनेवाले व्यक्ति की मनोकामना पूर्ण करनेवाला एवं उसके सभी कार्य सफल करने वाला है।

**ओकारं पञ्चवर्णं तु परमात्मस्वरूपकम्।**
**सर्वात्मवरदं धयायेत् समर्थं बहुकर्मसु॥**

**ओ**– ओकार के विषय में ऐसा ध्यान करना चाहिये कि यह ओकार पाँचों वर्ण वाला है– परमात्मा स्वरूप है और सर्वप्रकार का वरदान देने वाला एवं प्रत्येक कार्य में सफलता देने वाला है।

**विश्वविद्याधिपं ध्यायेत्सर्वभूतवशकरम्।**
**औकारं वरदं ध्यानी समर्थं बहुकर्मसु॥**

**औ**– औकार के विषय में ऐसा ध्यान करना चाहिये कि यह विश्व की विद्याओं का अधिपति है, समस्त प्राणियों को अपने वश में करने वाला है एवं ध्याता को वरदान देनेवाला, सर्वकार्य की सिद्धि में सफलता प्रदाता है।

**अंकारं तारकावर्णं चिन्तयेद् विश्वशक्तिदम्।**
**मंत्रिणां वरदं ध्यायेत् समर्थं बहुकर्मसु॥**

**अं**– यह आकाश में चमकने वाले तारे के वर्ण वाला है, सम्पूर्ण शक्ति का दाता है। जो इसका जाप करता है उसे यह हर प्रकार का वरदान देता है तथा इसके प्रभाव से ध्याता अपने सब कार्यों में सफलता प्राप्त कर लेता है।

**अःकारं स्फटिकाकारमनन्तात्मस्वरूपकम्।**

**अः**– इसका आकार स्फटिक मणि के समान है। इसका स्वरूप आदि, मध्य और अन्त से रहित है। यह ध्याता को वरदान देने वाला एवं अनेक कार्यों की सिद्धि प्रदान करनेवाला है।

**ककारं पद्मरागाभं तत्पुरुषमधिदैवतम्।**

**क**– पद्मरागमणि के समान इसकी कांति है, रंग है। यह परमात्मरूप है, दैवजन्य-अशुभ कर्म-जन्य दुःखों का नाश करनेवाला है। ध्याता को वरदान देनेवाला एवं अनेक कार्यों में सिद्धि दाता है।

**खकारं नीलवर्णं तु जिनराजाधिपं शुभम्।**

**ख**– यह नीले वर्ण वाला है, जिनराज का अधिपति है अर्थात् इसका ध्यान करनेवाला कर्मशत्रुओं को जीत लेता है, इसीलिये यह शुभ है। शुभ कार्य का, मुक्ति रूप शुभ कार्य का साधक है।

**गकारं तु हरिद्वर्णं कर्मठाधिपमेव च।**

**ग**– इसका वर्ण हरा है और जो कार्य करने में कुशल है, कर्मठ है, उनका यह अधिपति है अर्थात् कर्मठों में भी यह विशेष कर्मठ है– कार्य साधक है।

**घकारं काञ्चनाकारं वीरदेवसमाह्वयम्।**

**घ**– इसका आकार सुवर्ण के जैसा है और इसका नाम वीरदेव के समान है।

**घकारं पूर्णचन्द्राभं क्षेत्राज्ञाधिपपूजितम्।**

**ङ**– इसकी आभा पूर्णचन्द्र के जैसी है और यह क्षेत्रज्ञ आत्माधिपति यतिजनों द्वारा पूजित है।

**चकारं रजताभं तु अघोरमधिपत्यकम्।**

**च**– इसकी आभा रजत – चाँदी के जैसी है, यह अघोर है अर्थात् भयानक नहीं है तथा अधिपतिस्वरूप है।

**छकारं त्विक्षुपत्राभममृतात्मस्वरूपकम्।**

**छ**– इसकी आभा-कान्ति अमृत के समान है।

**जकारमशितशस्तं विजयाधिपदैवतम्।**

**ज**– यह कृष्णवर्ण का है और शस्त—प्रशंसनीय स्वरूप वाला है। विजय का अधिपति है और देव स्वरूप है।

**झकारं रक्तवर्णं तु अच्युताधिपदैवतम्।**

झ– यह लाल वर्ण वाला है और अच्युत का अधिपति देव है।

**ञकारं चम्पकावर्णं सर्वज्ञाधिपदैवतम्।**

**ञ**– इसका वर्ण चम्पा के पुष्प जैसा है, इसका अधिप सर्वज्ञ है।

**टकारं कारिकावर्णं सद्योजाताधिपत्यकम्।**

**ट**– इसका वर्ण कारिका— ओले के जैसा है और इसका अधिपति सद्योजात—

तत्काल जन्मा (दिगम्बर) बालक है।

**ठकारं शुभ्रवर्णं तु देवांगेन समन्वितम्।**

**ठ**– इसका वर्ण शुभ्र है और यह देवों के अंग के जैसा शुभ्र है।

**डकारं स्वर्णवर्णं तु चिन्तितार्थस्वरूपकम्।**

**ड**– इसका वर्ण सुवर्ण के जैसा है और यह चिन्तित अर्थ को प्रदान करनेवाले चिन्तामणि रत्न के जैसा है।

**ढकारं श्वेतवर्णं तु स्थाणुराधिपदैवतम्।**

**ढ**– इसका वर्ण श्वेत है, इसका अधिपति दैव रुद्र है।

**णकारं पद्मवर्णं तु परमेष्ठिस्वरूपकम्।**

**ण**– इसका वर्ण कमल के जैसा है– यानि पद्म के तुल्य है तथा यह स्वयं परमेष्ठी स्वरूप है।

**तकारं शंखवर्णं तु वामदेवाधिपत्यकम्।**

**त**– इसका वर्ण शंख के जैसा है और इसका अधिपति कामदेव है।

**थकारं शस्तवर्णं तु विष्णुदेवाधिपत्यकम्।**

**थ**– इसका वर्ण शस्त—प्रशंसनीय है अर्थात् चमकीला है। इसका अधिपति देवता विष्णु है।

**दकारं कुंकुमाकारं कालाधीशाधिपत्यकम्।**

**द**– इसका वर्ण कुंकुम के समान है, इसका अधिपति यमराज है। **'द'** इसका अर्थ इन्द्रिय दमन करना है, दया करना है और दान देना भी है।

**धकारं नीलवर्णं तु शिवनामाधिपत्यकम्।**

**ध**– इसका वर्ण नील है और इसका अधिपति शिव–मोक्ष है। यह शब्द धर्म वाचक है, अतः शिव शब्द से यहाँ मोक्ष अर्थ लिया गया है।

**नकारं पंचवर्णं तु प्रसन्नाधिपपूजितम्।**

**न**– यह पाँच वर्णों वाला है– प्रसन्न स्वामी के द्वारा यह पूजित है।

**पकारं पंकजाभं तु ईशानाधिपसंभृतम्।**

**प**– इसकी आभा शुभ्र कमल के जैसी है और इसका स्वामी ईशान यानी ऐश्वर्य से भरा हुआ देव है।

**फकारं प्रस्तुतं वर्णं सिद्धानामाधिपत्यकम्।**

**फ**– इसकी आभा कुमुद के समान है और इसके अधिपति सिद्ध भगवान हैं।

**बकारमिन्द्रचापाभं वृषभाधिपसंस्कृतम्।**

**ब**– इसकी आभा इन्द्रधनुष के समान है और इसके अधिपति वृषभदेव हैं।

**भकारं ताम्रवर्णं तु नित्यं देवासुरार्चितम्।**

**भ**– इसका वर्ण ताम्र के जैसा है। इसका अधिपति असुर देव है।

**मकारं शुक्लवर्णं तु भवनाधिपसंस्कृतम्।**

**म**– यह शुक्ल वर्ण वाला है और इसके अधिपति मुनि परमेष्ठी हैं।

**यकारं कृष्णवर्णं तु महाप्राणसमन्वितम्।**

**य**– इसका वर्ण काला है और महाप्राण यमराज इसका अधिपति है।

**रकारं रक्तवर्णं तु स्वाहाधिपसमन्वितम्।**

**र**– इसका वर्ण लाल है और इसका अधिपति ध्यानाग्निरूप आत्मा है।

**लकारं पीतवर्णं तु इन्द्रदेवसमर्चितम्।**

**ल**– इसका वर्ण पीला है और अधिपति इन्द्र है।

**वकारं श्वेतवर्णं तु वारुण्यमधिदैवतम्।**

**व**– इसका वर्ण श्वेत है और इसका अधिदेवता वरुण है जो जल– वृष्टिकारक देवता है।

**शकारं नीलवर्णं तु सर्वाम्बरसमर्चितम्।**

**श**– इसका वर्ण नीला है और अधिपति आकाश जैसा अमूर्तिक आत्मा है।

**षकारं बहुवर्णं तु वाचस्पत्याधिदैवतम्।**

**ष**– यह बहुत वर्णवाला है इसका देवता वाचस्पति है।

**सकारं क्षीरवर्णं तु गम्भीराधिपसंभृतम्।**

**स**– इसका वर्ण गाय के दूध के जैसा है। इसका अधिपति गांभीर्य गुणवाला व्यक्ति है।

**हकारं सर्ववर्णं तु मंत्रमूर्तिसमन्वितम्।**

**ह**– इसका वर्ण संपूर्ण वर्णों वाला है और यह मंत्र और मूर्ति—प्रतिमा स्वरूप है, यही इसके अधिपति हैं।

## समस्त वर्णों का फल

**सर्वात्मकं महाकारं सर्वज्ञं सर्वशक्तिकम्।**
**सर्वमन्त्रामुखं ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु॥**

ध्यान करने वाले व्यक्ति को इन वर्णों के संबंध में ऐसा ही ध्यान करना चाहिये

कि ये **सब वर्ण सर्वात्मक हैं,** महान आकार वाले हैं। इनके प्रभाव से ध्याता सब कुछ जानने वाला बन जाता है और अनंत शक्तिवाला भी बन जाता है तथा ये सब ही वर्ण सर्व मंत्रों के मुख हैं।

**वाग्भवं चन्द्रकान्ताभं मतिज्ञानात्मकं शुभम्।**
**जिनेन्द्रसदृशं ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु॥**

ये सब वर्ण मुख से ही होते हैं– इनकी आभा चन्द्रकान्त के जैसी है। ये सब वर्ण मतिज्ञानस्वरूप हैं। शास्त्रनिबद्ध वर्णों के स्वाध्याय से ही मतिज्ञान होता है। जिसप्रकार जिनेन्द्र का ध्यान किया जाता है, उसीप्रकार इनका भी करना चाहिये।

**रक्ताभं कामराजं तु श्रुतज्ञानस्वरूपकम्।**
**जिनेन्द्रं सततं धयायेत्समर्थं बहुकर्मसु॥**

इन वर्णों की आभा प्रातःकालीन सूर्य जैसी लाल भी है। ये सब वर्ण ध्याता की प्रत्येक कामना को यानी धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को प्राप्त कराने वाले होने से श्रुतज्ञान स्वरूप हैं। इसलिए जिनेन्द्र के ध्यान के समान निरन्तर इनका ध्यान करना चाहिये।

**भूमीशं धवलाकारं अवधिज्ञानस्वरूपकम्।**
**जिनेन्द्रं सततं ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु॥**

ये सब वर्ण इस पृथ्वीमंडल के ईश स्वरूप हैं तथा समस्त वैभव को प्राप्त कराने में सहायक हैं। इनके ध्यान से ध्याता का जीवन धवल-निर्मल बन जाता है, अतः ऐसी अवस्था में ध्यान करनेवाला अवधिज्ञान प्राप्त कर लेता है – इसलिये निरन्तर इनका वीतराग भाव से ध्यान करना चाहिये।

**श्रीबीजं हेमवर्णं तु मनःपर्ययरूपकम्।**
**जिनेन्द्रं सततं ध्यायेत्समर्थं बहुकर्मसु॥**

अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी को ये वर्ण प्राप्त कराने में सहायक हैं, अतः ये हेमवर्णात्मक हैं और इनका चिन्तन करनेवाला ध्याता मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इसकी प्राप्ति से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

❖❖

# मुखशुद्धि : वाग्दीक्षा

**पुलाकः सर्वशास्त्रज्ञो, बकुशो भव्यबोधकः।**
**कुशीलो स्तोकचारित्रे, निर्ग्रन्थो ग्रन्थहारकः॥**[1]

**अर्थ**– 'पुलाक' मुनि समस्त शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं; 'बकुश' मुनि भव्य जीवों को सच्चा ज्ञान प्रदान करते हैं; उन्हें सम्बोधित करते हैं; 'कुशील' मुनि अल्पचारित्र वाले होते हैं तथा 'निर्ग्रन्थ' मुनि स्वयं समस्त अंतरंग परिग्रहों के त्यागी होते हैं तथा अन्य लोगों की ग्रन्थ (परिग्रह) में आसक्ति छुड़ाते हैं।

वेद का एक वाक्य है **कृतः क्रतुः**[2] अर्थात् ज्ञान से ही व्यक्ति कृतकृत्य होता है। जैनाचार्य भी लिखते हैं– **जदो लोगेण पण्णाए माणज्जंते** –धवला, पु. 3, पृ. 33 –अर्थात् लोक में प्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञान) ही एकमात्र मापदण्ड है। इन सब वचनों से ज्ञान की महिमा भलीभाँति स्पष्ट है। ज्ञानवान् व्यक्ति, विशेषतः साधु, जब उपदेश करेगा; तब उसकी प्रभावोत्पादकता एवं सत्प्रभावना सुनिश्चित हो जाती है।

संसार में 'माता' का बहुत महत्त्व है। महामनीषी चाणक्य लिखते हैं– **नास्ति मातृसमो देवो, नास्ति मातृसमो गुरुः।** अर्थात् माता के समान श्रेष्ठ कोई भी देव या गुरु नहीं है। किन्तु जन्मदातृमाता एवं जिनवाणी माता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए प्रबोधचन्द्रोदयकार लिखते हैं–

**अनुग्रहविधौ देव्या, मातुश्च महदन्तरम्।**
**माता गाढं निबध्नाति, बंधं देवी निकृंतति॥** —6/11

**अर्थ**– जन्म देने वाली माता और जिनवाणी माता में महान् अन्तर है। जन्म देने वाली माँ स्नेहरूपी प्रगाढ़ बन्धन बाँधती है, जबकि श्रुतदेवी (जिनवाणी) संसार के बन्धनों को काटती है।

इसीलिए कहा गया है कि अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर भी साधु को श्रुताभ्यास करते रहना चाहिये। निरन्तर श्रुत के अभ्यासी जहाँ जाते हैं, वहाँ धनिकजन नहीं पहुँच सकते हैं।[3] भगवती आराधनाकार लिखते हैं कि प्राण कण्ठ में आ गये हों– ऐसी स्थिति में भी साधु को आगम के सूत्रों का व उनके अर्थों का अभ्यास या

1. आचार्यजिनसेन-सहस्रनाम-भाष्य, अमरकीर्ति 2/21
2. 'जिनसहस्रनाम' में भी यह वाक्य मिलता है।
3. परं पलितं कायेन, कर्तव्यः श्रुतसंग्रहः। न तत्र धनिनो यान्ति, यत्र यान्ति बहुश्रुताः।।

चिंतन करते रहना चाहिए।[4]

यदि गुरु स्वयं ज्ञानाभ्यासी एवं अनुभवी नहीं होगा, तो वह दूसरों को सदुपदेश कैसे दे सकेगा? इसीलिए किसी मनीषी ने लिखा है कि अज्ञानियों का गुरु बनने की अपेक्षा ज्ञानी का शिष्य बनना श्रेयस्कर है। ज्ञान के प्रकर्ष से ही व्यक्ति में 'अनुवीची-भाषणकला' का प्रादुर्भाव होता है। 'अनु' शब्द का अर्थ है 'पुनः-पुनः' तथा 'वीची' का अर्थ है 'वाग्लहरी' या 'प्रवचन'। अतः जब तक दीक्षित अनगार श्रमण ज्ञान के प्रकर्षपूर्वक अनुवीची भाषणकला में विशारद नहीं हो जाते, तब तक गुरु उन्हें जनसमुदाय में उपदेश देने की अनुमति प्रदान नहीं करते हैं। इसके लिए एक विधि होती है, जिसे 'मुखशुद्धि' या 'वाग्दीक्षा' कहा जाता है। आचार्य इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट लिखा है–

**नूतनस्याग्रशिष्यस्य, क्षमाध्ययनशालिनः।**
**मुखशुद्ध्यादिकं नैव, यावन् न गुरुणोच्यते॥**[5]

अर्थात् क्षमाशील और अध्ययनशील नवदीक्षित शिष्य की मुखशुद्धि (वाग्दीक्षा) जबतक न हो जाये, गुरु उसे आज्ञा न दें, तब तक उसे प्रवचन नहीं देना चाहिये।

इसके लिए उस नवदीक्षित शिष्य को 'परिवट्टणा' परम्परा से ज्ञानार्जन करना होता है। 'परिवट्टणा' पद का अर्थ है– 'एक ही सूत्र को पुनः-पुनः पढ़ना उसे घोकना (घोष करना) ही 'परिवर्तना' है।' इस विधि से सत्य की जानकारी के बिना बोलना अनेक विसंवादों को जन्म दे सकता है। क्योंकि 'सत्य ज्योतिस्वरूप है तथा असत्य अन्धकाररूप होता है।'[6] शास्त्र में सत्य के ज्ञान के साथ शिष्य को लोकव्यवहार का ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा 'सत्य' वचन भी खतरा पैदा कर सकता है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र को लिखना पड़ा– 'सत्यमपि विपदे'[7] अर्थात् जो राष्ट्र या समाज की विपत्ति या कलह का कारण बने, ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए। अतः अनगारदीक्षा के बाद 'मुखशुद्धि' या 'वाग्दीक्षा' भी आवश्यक है। दीक्षाविद् मानते हैं कि 'एक पुरुष को दीक्षा देने का अर्थ किसी एक व्यक्ति को नहीं, वरन् पूरे समाज को, पूरे राष्ट्र को दीक्षित करने जैसा है।' 'वक्ता' के गुणों का परिचय देते हुए आचार्य शिवार्य लिखते हैं–

**ओज्जसि तेजस्सी, वच्चस्सी पहिदकित्तियायरिओ।**
**सीहाणुओ य भणिदो, जिणेहिं उप्पीलगो णाम॥**[8]

---

4. भगवती आराधना, 56
5. नीतिसार, 20
6. चरक संहिता, 1/26
7. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 55
8. भगवती आराधना, 480, अनगार धर्मामृत, 9/79 में भी यही बात कही है।

**अर्थ**– जो ओजस्वी हो, तेजस्वी हो, वाचंयमी हो, प्रभूतकीर्ति वाला हो, सिंह के समान उग्र पुरुषार्थी हो (यानि मृगवधू के समान न हो), उत्पीड़क (दूसरों की मायारूपी शल्य को निकालने वाला) हो– ऐसा आचार्य ही श्रेष्ठ वक्ता हो सकता है। आचार्य अकलंक उसे 'महाकुलीन' होना भी आवश्यक मानते हैं।

ऐसा वक्ता 'नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' का धनी होता है। वह एक आदर्श 'शिक्षक' और 'अध्यापक' होता है। इन दोनों शब्दों के अर्थ निम्नानुसार हैं–

शिक्षक = शिष्ट + क्षमाशील + कर्त्तव्यनिष्ठ।

अध्यापक = अध्ययनशील + ध्याननिष्ठ + पापभीरु + कर्मनिष्ठ।

उपदेश भी तीन प्रकार के माने गये हैं– (1) प्रभुसम्मित, (2) सुहृद्सम्मित और (3) कान्तासम्मित। 'प्रभुसम्मित' उपदेश में अनुशासित वचनों का प्रयोग होता है, 'सुहृद्सम्मित' वचनों में सौहार्दपूर्ण वाक्य होते हैं तथा 'कान्तासम्मित' उपदेश में लालित्यपूर्ण कोमलकान्त पदावलियों की प्रधानता रहती है।

चूँकि श्रुत का अवतार मुक्ति के निमित्त हुआ था। आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं– 'अथवा जिनपालितो निमित्तं हेतुर्मोक्षः शिक्षकाणां हर्षोत्पादन-निमित्त-हेतुकथने प्रयोजनम्।'[9] अर्थात् जिनपालित के निमित्त से मोक्ष के हेतु इस श्रुत का अवतार हुआ है। इस निमित्त और हेतु-कथन का उद्देश्य शिक्षक/पाठकजनों को हर्ष उत्पन्न करना है। इस श्रुत को पढ़कर जो मनोज्ञ मुनि होते हैं, उन्हें ही मुखशुद्धि या 'वाग्दीक्षा' प्रदान कर आचार्य धर्मोपदेश का अधिकारी बनाते हैं। 'मनोज्ञ मुनि' का स्वरूप वर्णन करते हुए भट्ट अकलंक देव लिखते हैं– **सम्मतो वा लोकस्य विद्वत्ता-वक्तृत्व-महाकुलत्वादिभिः। अथवा विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति यो लोकस्य सम्मतः, स मनोज्ञः, तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वात्।**[10]

**अर्थ**– जो विद्वत्ता, वक्तृता, कुलीनता आदि दृष्टियों से लोकसम्मत हो। अथवा विद्वान् हो, वाग्मी हो, महाकुलीन हो –इस प्रकार जो लोक को सम्मत (स्वीकार्य) हो, वही 'मनोज्ञ' मुनि है। उसी का यहाँ ग्रहण किया गया है। उनके प्रवचन लोक में गौरव के उत्पादन के कारण होते हैं।

अतः मुखशुद्धीकरण (वाग्दीक्षा) के बारे में साधुओं को एवं विद्वानों को जानकारी होना आवश्यक है।

[ **टिप्पणी**– इस विषय पर कुन्दकुन्द भारती से 'वाग्दीक्षा' नामक कृति प्रकाशित हुई है। विशेष जिज्ञासुओं को उसका अध्ययन करना चाहिए।]

❖❖

9. इन्द्रनन्दि-संहिता अनुसार ये आचार्य पुष्पदन्त के भानजे (भागिनेय) थे।
10. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/25

# पहिले तोलो, फिर बोलो

वक्ता की अभिव्यक्ति उसकी वाणी में निहित है। कौन क्या है –इसका पता उसकी वाणी से चल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों की अभिव्यक्ति चाहता है और उसके लिए शब्दों और भाषा का चयन करता है। वह उन्हीं शब्दों को चुनता है, जिनके माध्यम से उसके भावों की अभिव्यक्ति हो सके। वे शब्द ही वक्ता के व्यक्तित्व को कह देते हैं। जैसे कमल को पंक छू भी नहीं सकता, उसी प्रकार उत्तम वक्ता की जिह्वा को अपशब्द स्पर्श नहीं कर पाते। सरल, विमल जलाशय को जैसे राजहंस पक्षी घेरे लेते हैं, उसी प्रकार उत्तम वक्ता शिष्ट एवं संस्कारयुक्त शब्दराशि का प्रयोग करता है। वक्ता उन शब्द-पक्षियों के पंखों पर अपनी भावराशि को विराजमान कर श्रोताओं के देश को भेजता है। उन शब्दों में वक्ता का हृदय छिपा रहता है, उसके सामर्थ्य का संकेत मिलता है। कहा है कि–

**कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्म, न च जारजातस्य शिरोविषाणम्।**
**यदा-यदा मुञ्चति वाक्यबाणं, तदा-तदा जाति-कुल-प्रमाणम्॥**

''सत्कुल में उत्पन्न व्यक्ति की हथेली में कमल नहीं होता और अकुलीन के मस्तक पर शृंग (सींग) नहीं उगता, किन्तु जब वह वाणी बोलता है, तब-तब (उन वचनों से) उसकी जाति और कुल का प्रमाण मिल जाता है।''

वाणी के मूल में 'वाण' निहित है। जिस प्रकार व्याध बाण से पक्षियों की हिंसा कर देता है, उसी प्रकार अपने कुल और जाति को प्रमाणित करता हुआ कोई जब हृदय को आघात पहुँचानेवाली वाणी का प्रयोग करता है, तो उसके कुल-शील आदि परिचय स्वतः श्रोता को मिल जाता है। वक्ता की 'कसौटी' लोक है। बड़े-बड़े शास्त्र-धुरन्धर भी लोकव्यवहार का परिज्ञान न होने से असफल सिद्ध हो जाते हैं। वक्ता को नित्य ही लोकजीवन के सम्पर्क में आना होता है। वह अपनी वाणी के रूप में सदैव लोक के मानस-नेत्रों में रहता है। जो मनुष्य मूक रहता है, उसके विषय में आलोचना करनेवाले चाहे न मिलें; किन्तु जो बोलता है, उसके बारे में अपनी राय कायम करने में लोग नहीं चूकते। क्योंकि मौन रहनेवाला अपने व्यक्तित्व को कूर्म (कछुये) के समान प्रच्छन्न रखता है; इसलिए उसके सुन्दर या विकृत अंगों पर लोकदृष्टि नहीं जा पाती, किन्तु बोलनेवाला अपने अभ्यन्तर को व्यक्त करता रहता

है। अतः उसके विषय में अपना मत, मन्तव्य कल्पित करना सहज हो जाता है।

धारावाहिकता वक्ता के गुणों में प्रथम है। किसी विषय पर बोलते समय बीच-बीच में रुकना, विषयान्तर होना या कहते हुए विषय को बार-बार दोहराना, पिष्टपेषण करना अथवा विषय की क्रमबद्धता को स्थिर नहीं रख पाना —ये वक्ता के दोष हैं। यदि विषय के अनुकूल भाषा नहीं बोली जाएगी, तो समझ में न आने के कारण श्रोता विरक्त हो जाएँगे। यह दोष श्रोताओं का नहीं, वक्ता का होगा। जब तक सुननेवाले सभासद् विषय को नहीं समझ पावें, तब तक वक्ता का ही दोष मानना होगा। वक्ता के आवश्यक गुणों में श्रोताओं का अध्ययन सम्मिलित है। सभा का विषय क्या है? श्रोता कैसे हैं? किस भाषा में निपुण हैं? किस विषय को सुनना पसन्द करते हैं? –इन सबको जानकर ऋत, मित, मधुर शब्दों में अपने वक्तव्य को प्रस्तुत करनेवाला कभी असफल नहीं हो सकता और इसके विपरीत श्रोताओं की रुचि एवं बौद्धिक स्तर को न समझनेवाला व्यक्ति अनेक शास्त्रों में निपुण होने पर भी सभामंच को स्थिर नहीं रख सकता। सफल वक्ता की सभा में शान्ति रहती है। श्रोताओं के समूह जैसे लोहा चुम्बक की ओर खिंचता है, वैसे खिंचे चले आते हैं। उनकी सारी इन्द्रियां उस समय श्रोत्रेन्द्रिय में आकर बैठ जाती हैं।

जो धर्मकथा कहने के लिए सभामंच को अलंकृत करे उस मुनि को विद्वान्, समस्त शास्त्रों के हृदय को जाननेवाला, लोकमर्यादाओं को समझनेवाला किसी प्रकार की आशा न रखनेवाला, प्रतिभावान्, इन्द्रियसंयमी और प्रश्न के पूर्व ही उसके उत्तर को भलीभाँति देखा हुआ होना चाहिए। साथ ही वह प्रश्नों की बौछार में विचलित होने वाला न हो, अधिकार-सहित सभा पर नियंत्रण रखने में कुशल हो, सभा का हृदय जीतनेवाली मिठास से बोलता हो, पर-लांछन न करते हुए अपनी बात का समर्थक हो और अक्षरों का रक्षक हो, उसे ही सभा में बोलने का आशीर्वाद आचार्य ने दिया है।

जैसे अन्न को सूप से फटककर ही उसमें से भूसा दूर करके ही उपयोग में लिया जाता है, उसीप्रकार अपशब्द को प्रयोग में न लाते हुए जो बोलता है, वह वाणी की प्रतिष्ठा करता है। कल्पवृक्ष के समान वाणी उसे फलदायिनी होती है। लोक उसे 'मधुरभाषी' कहते हैं। मिष्टवाणी को कौन नहीं चाहता? लोक 'कल्याणी भाषा' सुनना चाहता है और जो इस विशिष्ट वाणी की उपासना करता है, वह लोक को वश में करने की क्षमता रखता है। पं. दौलतरामजी ने 'छहढाला' में भाषासमिति-प्रकरण में लिखा है–

**जग सुहितकर सब अहितकर, श्रुतिसुखद सब संशय हरै।**
**भ्रमरोगहर जिनके वचन, मुखचंद्रतैं अमृत झरै॥**

मधुरभाषिता लोक-वशीकरण का 'अमोघ मंत्र' है। बहुत से लोग उपदेश को

भी कठोर शब्दों में सुनना पसन्द नहीं करते। इसीलिए उपदेश की कटुता को मृदु करने के लिए व्याख्याता बीच-बीच में मन को आकर्षित और प्रफुल्ल करनेवाली सूक्तियों और कथाओं का आश्रय लेते हैं। जैसे 'कुनैन' की गोलियों को चीनी में लपेटकर देने से उनकी कड़वाहट प्रतीत नहीं होती; ऐसे ही उपदेशवाणी को भी मधुर, संयत और आह्लादक धर्म से विभूषित करना उपादेय सिद्ध होता है।

जिसप्रकार लोकरंजन राजा की विशेषता होती है, उसी प्रकार सभारंजन वक्ता के प्रभुत्व की पहचान है। सभासदों की रुचि को न पहचान कर किसी नितान्त व्यक्तिगत, रूखी अथवा मूलविषय से हटकर चर्चा को विस्तार देने से श्रोता ऊबकर उठने लगते हैं या परस्पर बातचीत करने लग जाते हैं। अतः सभायोग्य वाणी को पहचानना वक्ता का आवश्यक गुण है।

संसार का उद्धार करने की अभिलाषा लेकर लोकहितकारी सन्त वक्ता तो बहुत ढूंढने पर मिलते हैं। उन्हीं के उपदेशश्रवण से प्राणियों का हित होता है, अहित दूर होकर कल्याण-मार्ग के दर्शन होते हैं। प्राचीनकाल में अनेक आचार्यों ने परिभ्रमण करते हुए अपनी समर्थ सम्यक् जिनवाणी से लोक में धर्मप्रभावना की है — उन्होंने अपनी वाणी-सामर्थ्य से लोक को उत्तम-परिणामी बनाया है और मोक्षमार्ग से परिचित किया है। भव्य श्रोता उनकी वाणी के रथ पर आरूढ़ होकर धर्म के नन्दनवन में पहुँच जाते हैं। ऐसे वक्ताओं में आचार्य समन्तभद्र और आचार्य अकलंकदेव का नामोल्लेख विशेषरूप से किया जाता है।

करहाटक के राजा को उसकी विद्वत्परिषद् में उपस्थित होकर आचार्य समन्तभद्र ने चुनौती भरे स्वर में कहा–''पहले मैंने पाटलीपुत्र में जयभेरी बजाई, फिर मालव, सिन्धु, ठक्क (ढाका) देश, कांचीपुर और विदिशा में वादभिक्षा के लिए घूमा। हे राजन्! अब मैं भटों से युक्त, विद्या से उत्कट तथा अल्पविस्तार-वाले आपके 'करहाटक नगर' में आ पहुँचा हूँ। मैं सर्वत्र निर्द्वंद्व, सिंहवृत्ति से वाद करने के लिए विचरण कर रहा हूँ।'' धर्मप्रभावना के लिए आचार्य अकलंकदेव ने बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया था।

श्री एम.एस. रामस्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज़ इन साउथ इण्डियन जैनिज्म' में लिखा है–'समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्म-प्रचारक थे, जिन्होंने जैन-सिद्धान्तों और जैन-आचारों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का उद्योग किया है। जहाँ कहीं वे गये, उन्हें दूसरे सम्प्रदायों की तरफ से किसी भी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा।' आचार्य समन्तभद्र को दिग्विजय जैसी यह सफलता बिना किसी विरोध के मिल सकी— इसमें उनकी निरभिमान, मधुर तथा लोकोपकार-परायण की भावना से अनुप्राणित वादशैली परम सहायक रही।

अक्षरबोध करानेवाला शिक्षक शिशु छात्र को 'अ, आ', इत्यादि सिखाता है

और अनेक बार अभ्यास करते हुए विद्यार्थी पर झुंझला जाता है, किन्तु अभी अक्षरबोध सीखता हुआ बालक शिक्षक के समान द्रुतगति से 'वर्णमाला' कैसे लिखे? वक्तृत्वसिद्धि के लिए भी इसीप्रकार छात्रावस्था से निकलकर 'गुरु' बनते दीर्घकाल लगता है। इच्छित विषय पर अर्थपूर्ण शब्दों का ज्ञान बड़ी तपःसाधना से हो पाता है। चन्द्रमा भी चाहने पर एक ही दिन में सोलह कलावाला नहीं हो सकता। 'कला' शब्द का अर्थ ही भाग, अंश, खण्ड इत्यादि है। प्रतिदिन कलासंयुक्त वक्ता चन्द्रमा के समान पहले दिन कुमुदिनी को खिलाता है और पर्वदिवस आते-आते वह महासमुद्रों के मानस को उद्वेलित कर देता है। इसी क्रम से साधुवक्ता भी अपनी वाणी से परिपक्व होकर ही जनसमुद्र को प्रसन्न, तरंगित कर सकता है। जैसे समुद्र में कल्लोल उठाने की कला चन्द्रमा को ज्ञात है, उसीप्रकार जनमानस को भावविभोर करने का कौशल अच्छे वक्ता को सिद्ध होता है। वह शब्दों के अन्तःकरण को पहचानता है। किस समय, कौन शब्द श्रोताओं के हृदय को विकसित कर सकता है और कौन-सा शब्द विरक्त कर सकता है, इसे वह अच्छी तरह से पहचानता है। इसी गुण के कारण वक्ता के साथ श्रोता समरस हो जाते हैं। जो इस तत्त्व को नहीं जानते हैं, वे सफलता से वंचित रहते हैं। प्रवचन का प्रारम्भ और समाप्ति निर्धारित समय पर होने आवश्यक हैं। नहीं तो लोग देर तक आयेंगे अथवा नहीं आयेंगे। यदि सूचित किये हुए समय से विलम्ब कर प्रवचन आरम्भ करेंगे, तो श्रोता घर से ही देरी से चलेंगे और ठीक समय पर समाप्त न करेंगे, तो नित्य के कामकाजी आदमी दूसरे दिन आने में रुचि नहीं रखेंगे। आज के व्यस्त युग में घड़ी को कार्यक्रम से मिलाना सफलता का प्रथम पाठ है। श्रोताओं को विश्वास होना चाहिए कि वक्ता नियत समय पर व्याख्यान आरम्भ कर देंगे, चाहे हम पहुँचें या न पहुँचें। तब वे पहुँचने लगेंगे।

जब किसी स्थान पर अनेक दिनों तक बोलना पड़े, वहाँ वक्ता के संचित ज्ञानकोष की पहचान होती है। ऐसे स्थानों पर अवसरवादी नहीं, स्वाध्यायी टिक सकता है। जैसे मौलिश्री वृक्ष प्रतिदिन बासी पुष्पों को गिराकर नये-नये पुष्प शाखाओं पर खिलाता रहता है, उसी प्रकार सद्वक्ता श्रोताओं के सम्मुख नितनूतन ज्ञानसामग्री उपस्थित करता है।

कमल सूखता नहीं, क्योंकि उसका मूल पानी में है और श्रेष्ठ वक्ता विषय, शब्द और नये कथन के लिए दीन नहीं होता; क्योंकि उसका मूल ज्ञानार्णव (ज्ञानरूपी समुद्र) में है। ऐसे वक्ता नित्य ही अपूर्व बोलते हैं, सदा ही उनका स्तर ऊँचा रहता है और उनकी वाणी से मोह एवं अज्ञान-अन्धकार नष्ट हो जाते हैं।

सद्वक्ता लोकमानस में व्याप्त निराशा, अनुत्साह, मोह और मिथ्यात्व को दूर कर उसमें उत्साह, ज्ञान और सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा करता है। उसके प्रत्येक पद से विश्वास की ध्वनि निकलती है, आत्मचेतना के छन्द गूँजते हैं, विवेक और

धर्मानुराग के भाव प्रकट होते हैं। श्रेष्ठवक्ता की वाणी जनमानस के पापरूपी कीचड़ को धोने के लिए धर्मरूपी झरने के समान है और कायर-हृदयों में भी ओजस्विता भरनेवाली है। जैसे कमल पर गिरती हुई सूर्य की प्रखर किरणें उसे खिला देती हैं; उसीप्रकार गुरु भव्यजनों को यदि प्रकरणवश कठोर शब्दों में भी कहें, तो उसमें भी उनका विकास है। गुरु के वचनों को सुनकर जीवन धन्य हो जाता है। मरणशील अमर बन जाता है। उनका तप, संयम और चारित्र शंकाओं को टिकने नहीं देता। 'भाषासमिति' का पालन करने से श्रमण-मुनियों की वाणी प्रभावशाली होती है। कन्नड़ भाषा में एक कवि ने कहा है–"कालदोष से नमक का क्षारत्व नष्ट हो सकता है, कर्पूर काला हो सकता है, किन्तु श्रमण-मुनियों का वचन कभी कठोर नहीं हो सकता।"

वास्तव में सत्यमहाव्रत का पालन करनेवाले त्यागी अल्पभाषिता से अपने वचनों की प्रामाणिकता के लिए विख्यात हैं। यद्यपि वे हित-मित और सारवचन ही बोलते हैं; किन्तु अपेक्षाभेद से किसी को 'अमृत' और किसी को 'करेला' के समान प्रतीत होते हैं। सूर्य की किरणें तो वे ही हैं, जो कमलवन को विकसित करती हैं; किन्तु कुमुद मुरझा जाता है और उलूक की आँखें अन्धकार से घिर जाती हैं। यहाँ ग्राहकभेद से परिणामभेद हो जाता है। आचार्य समन्तभद्र की वक्तृता से धर्माभिरुचियुक्त जनमानस तो प्रसन्न गद्‌गद् हो जाता था; किन्तु वे ही वचन कुमतिशालियों पर वज्रपात के समान थे। जिसके मुख में मधुरता का अक्षयस्रोत है, वह भी यदि कटुवादी है, तो मानो हाथ के मीठे फलों को छोड़कर वह खट्टे फलों को खाता है। साधु वक्ता अपनी वाणी से श्रोताओं को सम्यक्त्व की ओर ले जाता है। स्वयं सन्मार्गी होकर दूसरों को उसी पथ का पथिक बनने की प्रेरणा देता है। **'परोपदेशे पाण्डित्यम्'** उसका धर्म नहीं। सन्त तुकाराम का कथन है– 'जो जैसा बोलता है और वैसा ही चलता है, तो उसके चरण वन्दन-योग्य हैं'; क्योंकि बोलना सरल है, परन्तु चलना (आचरण करना) कठिन है।

वक्ता के व्याख्यान से लाभ उठानेवाले श्रोताओं में कुछ राजहंस पक्षी के समान होते हैं, जो सार-ग्रहण के लिए अपने अवधान के चंचुपुटों को तत्पर रखते हैं। कुछ कच्ची 'ईंट' के समान भी होते हैं। पानी बरसा तो गीली हो गई और सूर्य की किरणें लगीं कि सूखकर सख्त, जैसी पहले थी वैसी ही हो गई, पानी के असर से बेभान। सभा में बैठे, तो भावप्रवाह में ऐसे बहे कि कभी रोये और कभी हँसने लगे। बाहर निकले, मुँह धोया और वैसे ही कूटस्थ। श्मशान-वैराग्य के समान, परन्तु इन दोनों से भिन्न तीसरे श्रोता तो छलनी या कंघी के समान हैं, जो व्याख्यान के उत्तम अंश को भी ग्रहण नहीं कर पाते। बेचारों के पल्ले में तुष या मैल ही रह पाता है। कमल-भरे तालाब में उन्हें कीचड़ ही हाथ लगता है। सम्यक् वक्ता को हित-मितभाषी होकर परमार्थ का पथ-संकेत कर देना पर्याप्त है। ❖❖

# स्वाध्याय

मनुष्य-जीवन पशु-जीवन से श्रेष्ठ है, क्योंकि पशु और मनुष्य के विवेक में अन्तर है। पशु का विवेक आहार, निद्रा, भय, मैथुन तक सीमित है, किन्तु मनुष्य का विवेक इससे ऊपर उठकर चिन्तन की असीमता को मापता है। उसकी जिज्ञासा से दर्शनशास्त्रों का जन्म होता है, उसके ज्ञान से स्व-पर की भेदविद्या का प्रादुर्भाव होता है। वह इह और अपरत्र लोकों के विषय में आत्ममन्थन की छाया में नवीन उपलब्धियों से मानव-समाज के बुद्धि, चिन्तन और चेतना के धरातल का नव-निर्माण करता है। मैं कौन हूँ? जन्म-मरण क्या है? संसार से मेरा क्या सम्बन्ध है? –इत्यादि दार्शनिक प्रश्नावली के ऊहापोह मनुष्य में ही हो सकते हैं। चिन्तन की सहज धारा का उदय सभी मानवों में होता है; किन्तु कुछ लोग ही इस अनाहत-ध्वनि को सुन पाते हैं। सुननेवालों में भी कुछ प्रतिशत व्यक्ति ही गम्भीरता से विचार कर पाते हैं और उन विचारकों में भी बहुत थोड़े लोग होते हैं, जो अपने चिन्तन की परिणति से चारित्र को कृतार्थ करते हैं, क्योंकि **बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः।**

आत्महित का ज्ञान चिन्तनशील मनीषियों ने ग्रन्थभण्डारों के रूप में अपनी उत्तराधिकारिणी मानव-पीढ़ी को सौंपा है। एक व्यक्ति किसी एक विषय पर जितना दे नहीं सकता, उतना अपरिमित ज्ञान हमारे कृपालु पूर्वजों ने पूर्ववर्ती विचारकों ने हमारे लिए छोड़ा है। जैसे जलकणों से कुम्भ भर जाता है, उसीप्रकार अनेक दार्शनिकों, चिन्तनशीलों, विचारकों एवं विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित अनुभूत तथ्यों की एक-एक शब्दराशि से, भावसम्पदा से, अर्थविशिष्टता से ग्रन्थरूप में जन्म देकर ज्ञान हमारे कृपालु पूर्वजों ने, पूर्ववर्ती विचारकों ने हमारे लिए छोड़ा है और आत्मदर्शन के मार्ग को प्रशस्त किया है। उन सारस्वत महर्षियों के अपार ऋणानुबन्ध से हम उऋण नहीं हो सकते। जब किसी ग्रन्थ को पढ़ते हैं, उसे अल्पकाल में ही पढ़ लेते हैं; किन्तु उसकी एक-एक शब्द-योजना में पंक्तिलेखन में, विषय-प्रतिपादन में और ग्रन्थ-परियोजन की प्रतिपादन-विधि में मूल लेखक को, विचारक को कितने दिन, मास, वर्ष लगे होंगे, कितने काल की अधीत विद्या का निचोड़ उसने उसमें निहित किया होगा –इसे परखने का तुलादण्ड हमारे पास क्या है? तथापि यदि हमने किसी की रचना के एक शब्द को, आधे सूत्र को, एक

पंक्ति और श्लोक को भी यथावत् समझने का प्रयास करने में अपनी आत्मिक तन्मयता लगायी है, तो निस्सन्देह वह लेखक स्वर्गस्थ होकर भी कृतकृत्य हो उठेगा। लेखक के श्रम को उस पर अनुशीलन करनेवाले अनुवाचक ही सफल कर सकते हैं।

जब तक शब्द प्रयुक्त होकर साहित्य में नहीं उतरते और जब तक कोई कृति सहृदयों के हृदय को आकर्षित नहीं कर लेती, तब तक शब्द का जन्म (निष्पन्नता) और कर्त्ता का कृतित्व कुमार ही है। श्रेष्ठ कृतियों के अध्ययन से हमें विचारों में नवीन शक्ति का उन्मेष होता हुआ प्रतीत होता है। नयी दिशा, नये विचार, नये शोध और वैदुष्य के अवसर निरन्तर स्वाध्याय करनेवालों को प्राप्त होते हैं।

स्वाध्याय करते रहने से मनुष्य मेधावी होता है। ज्ञान की उपासना का माध्यम स्वाध्याय ही है। स्वाध्यायशील व्यक्ति उन विशिष्ट रचनाओं के अनुशीलन से अपने व्यक्तित्व में विशालता को समाविष्ट पाता है। वह रचनाओं के ही नहीं, अपितु उन~~-~~ उन रचनाकारों के सम्पर्क में भी आता है, जिनकी पुस्तकें पढ़ता होता है; क्योंकि व्यक्ति अपने चिन्तन के परिणामों को ही पुस्तक में निबद्ध करता है। कौन कैसा है— यह उसके द्वारा निर्मित साहित्य को पढ़कर सहज ही जाना जा सकता है। स्वाध्यायशील व्यक्ति की विचारशक्ति और चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है। मन, जो निरन्तर भटकने का आदी है, स्वाध्याय में लगा देने से स्थिर होने लगता है, और मन की स्थिरता आत्मोपलब्धि में परम सहायक होती है। एतावता स्वाध्याय के सुदूर परिणाम आत्मा को उत्कर्ष प्रदान करते हैं।

पुस्तकालयों, व्यक्तिगत संग्रहालयों, ग्रन्थ-भण्डारों को दीमक लग रही है। नवयुवकों का जीवन स्वाध्याय-पराङ्मुख हो चला है। जीवन रात-दिन यन्त्र के समान जीविकोपार्जन की चक्की में पिस रहा है। स्वाध्याय की परिस्थितियाँ दुर्लभ हो गई हैं और बदलती परिस्थितियों के साथ मनुष्य स्वयं भी स्वाध्याय के प्रति विरक्त हो चला है। उसका कार्यालयों से बचा हुआ समय सिनेमा, रेडियो, ताश के पत्तों और अन्य सस्ते मनोरंजनों में चला जाता है। 'स्वाध्याय' शब्द की गरिमा के अनजाने लोग विचारकों की रत्न-सम्पदा समान ग्रन्थमाला से कोई लाभ नहीं उठा पाते।

स्वाध्यायशील न रहने से मन में उदार सद्गुणों की पूँजी जमा नहीं होतीं। शरीर को भोजनरूपी खुराक, अन्नमय आहार तो मिल जाता है; किन्तु मस्तिष्क भूखा रहता है। मानव केवल शरीर नहीं है, वह अपने मस्तिष्क की शक्ति से ही महान् है। अस्वाध्यायी इस महिमामय महत्त्व के अवसर से वंचित ही रह जाता है। स्वाध्याय न करने के दुष्परिणाम से ही कुछ लोग जो आयु में प्रौढ़ होते हैं, विचारों में बालक देखे जाते हैं। उनके विचार कच्ची उम्रवालों के समान अपक्व होते हैं

और इस अपरिपक्वता की छाया उनके सभी जीवन-व्यवहारों में दिखायी देती है। जो मनुष्य चलता रहता है, उसके पास पाप नहीं आते। स्वाध्याय के माध्यम से व्यक्ति परमात्मा और परलोक से अनायास सम्पर्क स्थापित कर लेता है। स्वाध्याय अभ्यन्तर-चक्षुओं के लिए अंजनशलाका है। दिव्यदृष्टि का वरदान स्वाध्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है। जीवन में उन्नति करनेवाले नियमित स्वाध्यायी थे।

एक बार एक महाशय को लोकमान्य तिलक की सेवा में बैठना पड़ा। वे प्रातःकाल से ही ग्रन्थों के विविध सन्दर्भ-स्वाध्याय में लगे थे और इसप्रकार दोपहर हो गयी। उठकर उन्होंने स्नान किया और भोजन की थाली पर बैठ गये। आगन्तुक ने पूछा–"क्या आप सन्ध्या नहीं करते?" तिलक महाशय ने उत्तर दिया कि प्रातःकाल से अब तक मैं 'सन्ध्या' ही तो कर रहा था। वास्तव में स्वाध्याय से उपार्जित ज्ञान को यदि जीवन में नहीं उतारा गया, तो निरुद्देश्य 'जलताड़न क्रिया' से क्या लाभ? आँखों की ज्योति को मन्द किया, समय खोया और जीवन में पाया कुछ नहीं तो 'स्वाध्याय' का परिणाम क्या निकला? स्वाध्याय 'स्व के अध्ययन' के लिए है। संसार की नश्वर आकुलता से ऊपर उठने के लिए है। स्वाध्याय की थाली में परोसा हुआ अमृतमय समय जीवन को अमर बनाने में सहायक है। स्वाध्याय से आत्मिक तेज जागृत होता है। पुण्य की ओर प्रवृत्ति होती है। मोहनीय कर्म का क्षय करने की ओर विचार दौड़ते हैं। पूर्वजों ने जिस वास्तविक सम्पत्ति का उत्तराधिकार हमें सौंपा है, उस 'वसीयतनामे' को पढ़ना वैसे भी हमारा नैतिक कर्त्तव्य है।

**श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम्**— यह मन वानर के समान चंचल है, इसे जो शास्त्र-स्वाध्याय में एकाग्र कर देता है, वही धन्य है। स्वाध्याय से हेय और उपादेय का ज्ञान होता है। यदि वह न हो, तो **व्यर्थः श्रमः श्रुतौ** अर्थात् शास्त्राध्ययन से होने वाला श्रम व्यर्थ है। स्वाध्याय करने पर भी मन में विचारमूढ़ता है, ज्ञान पर आवरण है; तो कहना पड़ेगा कि उसने स्वाध्याय पर बैठकर भी वास्तव में स्वाध्याय नहीं किया। **पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम्** अर्थात् दीपक हाथ में लेकर चले ओर फिर भी कुयें में गिर पड़े, तो दीपग्रहण का श्रम व्यर्थ नहीं तो क्या है? शास्त्रों का स्वाध्याय अमोघ दीपक है। यह सूर्यप्रभा से भी बढ़कर है। जब सूर्य अस्त हो जाता है, तब मनुष्य दीपक से देखता है और जब दीपक का भी निर्वाण हो जाता है, तब सर्वत्र अन्धकार छा जाता है; किन्तु उस समय अधीतविद्य का स्वाध्याय ही आत्मभूति में आलोक आविर्भाव करता है। स्वाध्याय से उत्पन्न आलोक कभी तिमिरग्रस्त नहीं होता। अखण्ड ज्योतिर्मय यह ज्ञान स्वाध्याय-रसिकों के समीप 'नन्दादीप' बनकर उपस्थित रहता है। स्वाध्याय की उपासना निरन्तर करते रहना जीवन को नित्य नियमितरूप से माँजने के समान है। एक अच्छे स्वाध्यायी का कहना है कि "यदि मैं एक दिन नहीं पढ़ता हूँ, तो मुझे अपने आपमें एक विशेष प्रकार की रिक्तता का अनुभव होता है और यदि दो दिन स्वाध्याय नहीं करता हूँ, तो पास-

पड़ोस के लोग जान जाते हैं और एक सप्ताह न पढ़ने पर सारा संसार जान लेता है।" वास्तव में यह ध्रुव सत्य है; क्योंकि जिसप्रकार उदर को अन्न देना दैनिक आवश्यकता है, उसी प्रकार मस्तिष्क को खुराक देना भी अनिवार्य है। शरीर और बुद्धि का समन्वय बना रहे– इसके लिए दोनों प्रकार का आहार आवश्यक है।

**अज्झयणमेव झाणं** अध्ययन ही ध्यान है, सामायिक है –ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द का मत है। संसार में जितने उच्चकोटि के लेखक, वक्ता और विचारक हुए हैं, उनके सिरहाने पुस्तकों से बने हैं। विश्व के ज्ञान-विज्ञानरूपी तूलधार को उन्होंने अश्रान्तभाव से आँखों की तकली पर अटेरा है। लेखन की अस्खलित सामर्थ्य को प्राप्त करनेवाले रात-दिन श्रेष्ठ साहित्य के स्वाध्याय में तन्मय रहते हैं। बड़े-बड़े अन्वेषक और दार्शनिक रात-दिन भूख-प्यास को भूलकर स्वाध्याय में लगे रहते हैं। स्वामी रामतीर्थ जब जापान गए, तो व्याख्यान-सभा में उपस्थित होने पर उन्हें पराजित करने की भावना से मंच-संयोजक ने बोर्ड पर शून्य (0) लिख दिया। भाषण के प्रथम क्षण स्वामी रामतीर्थ को पता चला कि उन्हें शून्य पर भाषण करना है। उन्होंने जापानियों की दृष्टि में शून्य प्रतीत होनेवाले उस अकिंचन विषय पर इतना विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया कि श्रोता उनके वैदुष्य पर धन्य-धन्य और 'वाह-वाह' कह उठे। यह उनके विशाल भारतीय वाङ्मय के स्वाध्याय का ही फल था। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने लिखा है कि "जो बहुज्ञ होता है, वही व्युत्पत्तिमान होता है। जिसको स्वाध्याय का व्यसन है वही बहुज्ञ हो सकता है।"

गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति के विषय में कहा कि "जैसे कामी पुरुष को नारी प्रिय लगती है और लोभी को पैसा प्रिय लगता है, उसीप्रकार जिसे भक्ति प्रिय लगे, वह भगवान को पा सकता है।" ठीक यही बात स्वाध्याय के लिये लागू होती है। जो व्यक्ति अध्ययन के लिये अपने को अन्य सभी ओर से एकाग्र कर लेता है वही स्वाध्याय-देवता के साक्षात्कार का लाभ उठाता है। पढ़नेवालों ने घर के लैम्प के अभाव में सड़कों पर लगे 'बल्बों' की रोशनी में ज्ञान की ज्योति को बढ़ाया है। जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान् पं. हरिनारायणजी पुरोहित ने बाजार में किसी पठनीय पुस्तक को बिकते हुए देखा। उस समय उनके पास पैसे नहीं थे, अतः उन्होंने अपना कुर्ता उतारकर उस विक्रेता के पास गिरवी रख दिया और पुस्तक घर ले गये। इसप्रकार उनका 'विद्याभूषण' नाम सार्थक हुआ। भारत के इतिहास में ऐसे अनेक स्वाध्यायपरायण व्यक्ति हो चुके हैं। विदेशों में अधिकांश व्यक्तियों के घरों में 'पुस्तकालय' हैं। वे अपनी आय का एक निश्चित अंश पुस्तक खरीदने में व्यय करते हैं। धर्म-ग्रन्थों का दैनिक पारायण करने वाले स्वाध्यायी आज भी भारत में वर्तमान हैं। वे धार्मिक स्वाध्याय किये बिना अन्न, जल ग्रहण नहीं करते।

**स्वाध्यायान् मा प्रमद** अर्थात् स्वाध्याय के विषय में प्रमाद मत करो। स्वाध्यायशील अपने गन्तव्य-मार्ग को स्वयं ढूँढ़ निकालते हैं। अज्ञान के हाथी पर स्वाध्याय का

अंकुश है। पवित्रता के पत्तन में प्रवेश करने के लिए स्वाध्याय तोरणद्वार है। स्वाध्याय न करनेवाले अपनी योग्यता की डींग हाँकते हैं किन्तु स्वाध्यायशील उसे पवित्र गोपनीय निधि मानकर आत्मोत्थान के लिए उसका उपयोग करते हैं। उनकी मौन आकृति पर स्वाध्याय के अक्षय वरदान मुसकाते रहते हैं। और जब वे बोलते हैं, तो साक्षात् वाग्देवी उनके मुखमंच पर नर्तकी के समान अवतीर्ण होती है। स्वाध्याय के अक्षरों का प्रतिबिम्ब उनकी आँखों पर लिखा रहता है और ज्ञान की निर्मलधारा से स्नात उनकी वाङ्माधुरी में सरस्वती के प्रवाह पवित्र होने के लिए नित्याभिलाषी होते हैं। एक महान् तत्त्वद्रष्टा, सफल राजनेता और उत्तम सन्त स्वाध्याय-विद्यालय का स्नातक ही हो सकता है। स्वाध्याय एकान्त का सखा है। सभी स्थानों में सहायक है। विद्वद्गोष्ठियों में उच्च-आसन प्रदान करानेवाला है। जैसे पैसा-पैसा डालने पर कोषवृद्धि होती है, उसीप्रकार बिन्दु-बिन्दु विचार संग्रह करने से पाण्डित्य की प्राप्ति होती है। शब्दों के अर्थ कोषों में नहीं, साहित्य की प्रयोगशालाओं में लिखे हैं। अनवरत स्वाध्याय करनेवाला शब्दों के सर्वतोमुखी अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। स्वाध्याय करनेवाले की आँखों में समुद्रों की गहराई, पर्वत-शिखरों की ऊँचाई और आकाश की अनन्तता समायी होती है; वह जब चाहता है, तब बिना तैरे, बिना आरोहण-अवगाहन किये उनकी सीमाओं को बता सकते हैं। स्वाध्याय का तपःसाधना के रूप में सेवन करनेवाला उससे अभीष्ट लाभों को प्राप्त करता है।

यद्यपि स्वाध्याय से आत्माभिमुखता की ओर प्रवृत्ति होती है और उसे आत्मोपलब्धि का साधन भी कहा जाता है; तथापि प्रत्येक स्वाध्यायी निश्चितरूप से आत्मा को प्राप्त करता है –ऐसा नहीं माना जा सकता। जैसे **पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्** –पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धुआँ उठ रहा है। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है किन्तु जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ धूम है– यह सर्वथा सत्य नहीं, क्योंकि निर्धूम पावक में धूम नहीं होता।' अतः यह सम्भव है कि स्वाध्यायादि द्वारा आत्मा का साक्षात्कार किया जा सके, परन्तु निश्चय ही स्वाध्याय आत्मोपलब्धि का कारण होगा— यह नहीं कहा जा सकता। प्रत्युत अनुभवी व्यक्तियों ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'शास्त्रों की अपार शब्दराशि को पढ़ने से क्या शिवपुर मिलता है? अरे! तालु को सुखा देनेवाले उस शुष्क पाठ से क्या? एक ही अक्षर को स्वपर-भेद-विज्ञान बुद्धि से पढ़, जिससे मोक्ष-प्राप्ति सुलभ हो।'

**बहुयइं पठियइं मूढ पर, तालु सुक्कइ जेण।**
**ऍक्कुजि अक्खर तं पढहु, शिवपुर गम्मइ जेण॥**

एक दक्षिण भारतीय कवि ने भी लिखा है–

**हलवु ओदिदरेनायतु गिरिय सुत्तिदरेनायतु,**
**पिरिद लांछन तोहरेनायतु, निजपरमात्मन्।**

**ध्यानवनरियदे नरिकूगि बलली सत्तंते॥** –रत्नाकर (कन्नड़ कवि)

**अर्थ**– बहुत अध्ययन करने, तीर्थक्षेत्र (पर्वतादि) की प्रदक्षिणा करने तथा धर्म विशेष के चिह्न धारण करने से क्या लाभ? यदि स्व-परमात्मभाव का ध्यान नहीं किया, तो उसके अभाव में ये बाह्य रूपक वृक के अरण्यरोदन के समान ही हैं।

**सर्वेभ्यो यद्व्रतं मूलं स्वाध्यायः परमं तपः।**
**यतः सर्वव्रतानां हि स्वाध्यायो मूलमादितः॥**
**स्वाध्यायाज्जायते ज्ञानं ज्ञानात्तत्वार्थसंग्रहः।**
**तत्त्वार्थसंग्रहादेव श्रद्धानं तत्त्वगोचरम्॥**
**तन्मध्यैकगतं पूतं तदाराधनलक्षणम्।**
**चारित्रं जायते तस्मात्त्रयीमूलमयं मतम्॥** –सिद्धान्तसार, 11/20-22

समस्त व्रतों का मूलव्रत 'स्वाध्याय' है। यह परम तप है। सम्पूर्ण व्रतों का यह आदि मूल है। किस प्रकार है, इसका वर्णन करते हैं–

स्वाध्याय से ज्ञान प्रकट होता है, ज्ञान से जीवादिक तत्त्वार्थों का संग्रहण होता है और उस तत्त्वार्थ-परिज्ञान से तत्त्वविषयक श्रद्धान उत्पन्न होता है। रत्नत्रय के मध्य में सम्यग्ज्ञान की स्थिति है। वह सम्यग्ज्ञान स्वाध्याय का परिणाम है। ज्ञानाराधना का लक्षण स्वाध्याय ही है। सम्यग्ज्ञान से ही सम्यक्चारित्र उत्पन्न होता है। इसप्रकार यह स्वाध्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मूल है।

**प्रशस्ताध्यवसायस्य स्वाध्यायो वृद्धिकारणम्।**
**तेनेह प्राणिनां निन्द्यं संचितं कर्म नश्यति॥**
**संवेगो जायते यस्मान् मोहध्वान्त-विनाशकः।**
**मोहादपगतानां हि क्व संसारः क्व तत्फलम्॥**
**स्वाध्यायेन समं किंचिन्न कर्मक्षपणक्षमम्।**
**यस्य संयोगमात्रेण नरो मुच्येत कर्मणा॥**
**बह्वीभिर्भवकोटीभिर्व्रतात् यत्कर्म नश्यति।**
**प्राणिनस्तत्क्षणादेव स्वाध्यायात् कथितं बुधैः॥** –सिद्धान्तसार, 22/23-26

**अर्थ**– स्वाध्याय प्रशस्त-परिणामों की वृद्धि में कारण है। उन प्रशस्त-परिणामों से प्राणियों का निन्दनीय संचित कर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है। स्वाध्याय से मोहान्धकार का विनाशक 'संवेग' (संसारभय) उत्पन्न होता है और जहाँ मोह का क्षय हो गया, वहाँ संसार कहाँ और उसका फल (भवगति) कहाँ? स्वाध्याय के समान कर्मनिर्जरा के लिए अन्य कोई साधन नहीं है, जिसके सम्पर्कमात्र से मनुष्य कर्म से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अनेक जन्मों में किये गये व्रत से जिन कर्मों का प्रणाश होता है, उसके विषय में विद्वानों ने कहा है कि स्वाध्याय से तत्क्षण ही कर्मक्षय हो जाता है।

**पदार्थांस्थूलसूक्ष्मांश्च यन्न जानाति मानवः।**
**तज्ज्ञानावृत्ति माहात्म्यं नात्मभावो हि तादृशः॥**
**आजन्ममृत्युपर्यन्तं तपः कुर्वन्तु साधवः।**
**नैकस्यापि पदस्येह ज्ञानावृत्तिपरिक्षयः॥**
**सर्वशास्त्रविदो धीरान् गुरूनाश्रित्य कुर्वतः।**
**स्वाध्यायं तत्क्षणादेव पदार्थानवगच्छति॥**
**तपोवृद्धिकरश्चासौ स्वाध्यायः शुद्धमानसैः।**
**कथ्यतेऽनेकधा तावदतीचार-विशुद्धितः॥** –सिद्धान्तसार, 11/27-30

**अर्थ**– मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के विषय में नहीं जानता है, वह ज्ञानावरण का ही प्रभाव है। वास्तव में आत्मभाव वैसा (ज्ञान रहित) नहीं है। उस ज्ञानावरण का क्षय स्वाध्याय से होता है, जिससे आत्मा को पदार्थ-विषयक परिज्ञान होता है। साधुजन जन्म से मृत्यु-पर्यन्त भले ही तप करते रहें, किन्तु स्वाध्याय के बिना एक पाद ज्ञानावरण का भी परिक्षय नहीं हो पाता है। जो सम्पूर्ण शास्त्रविद्, धैर्य गुणयुक्त गुरुजनों का आश्रय लेकर स्वाध्याय करते हैं, वे शीघ्र ही पदार्थों को जान लेते हैं। यह स्वाध्याय तप में वृद्धिकारक है। इससे अतिचार-विशुद्धि होती है। शुद्ध हृदय आचार्यों ने इसे अनेक प्रकार से कहा है।

**चित्तमर्थनिलीनं श्चच्चक्षुरक्षरपंक्तिषु।**
**पत्रेऽस्य संयमः साधोः स स्वाध्यायः किमुच्यते॥**
**श्रद्धावान् यदि सत्साधुः स्वाध्यायं कुरुते सदा।**
**परः स्याद् ध्यानवान् वेगात् स याति परमां गतिम्॥** –सिद्धान्तसार, 11/32-32

स्वाध्याय से चित्त और इन्द्रियों का निरोध होकर एकाग्रता की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय के समय चित्त तो पदार्थों में मग्न रहता है और नेत्र पत्र पर लिखित अक्षर-पंक्तियों के पाठ में एकाग्र रहते हैं। इसप्रकार साधु के लिए संयम का साधन यह स्वाध्याय है। इसकी प्रशंसा किन शब्दों में की जा सकती है? यदि श्रद्धावान् श्रेष्ठ मुनि सदैव स्वाध्याय में उपयोग लगाता है, तो वह उत्कृष्ट ध्यानसिद्धि को प्राप्त करता है एवं परमगति को पाता है।

**न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो, न गांगमम्भो न च हारयष्टयः।**
**यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः, शमाम्बुगर्भाः शिशरा विपश्चिताम्॥**
–बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, शीतलजिनस्तोत्रम्, 46

चन्दन और चन्द्रमा की रश्मियाँ शीतल नहीं हैं, गंगा का जल और हार (मोती की मालाएं) भी वैसे शीतल नहीं हैं, जैसी हे महामुने ! आपकी निर्दोष वाक्यरश्मियाँ हैं, जिनमें शम का शीतल जल मिला हुआ है और जो विद्वानों के लिए शीतलता उत्पन्न करनेवाली हैं। ❖❖

# अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग

**यावति विन्द जीवो।** —कातन्त्र, 4/6/9/799

**अर्थ**— यानि जब तक जीता है तब तक पढ़ता है।

**णं चाभीक्ष्ण्ये द्विश्च पदं।** —वही, 4/6/5/797

## प्रकाश से दृष्टि, प्रकाश से अभय

अज्ञान तिमिर है और ज्ञान आलोक। अज्ञान मृत्यु है और ज्ञान अमरता। अज्ञान विष है और ज्ञान अमृत। अज्ञान का आवरण रहते मनुष्य किसी बात को जान नहीं सकता। अन्धकार में चलने वाला किसी कूप-वापी-तड़ाग में गिर सकता है, किसी विषधर नाग पर पाँव रख कर विषकीलित हो सकता है और आगे का पथ न सूझने के कारण मार्गच्युत भी हो सकता है, परन्तु जिसने दीपक हाथ में लिया है वह सुखपूर्वक पथवर्ती कील-कण्टकों से अपनी सुरक्षा करता हुआ गन्तव्य ध्रुवों को पा लेता है; इसीलिए प्रकाश या आलोक प्राणियों को प्रिय प्रतीत होता है। पूर्व दिशा से आलोक-किरण के दर्शन करते ही पक्षी आनन्द-कलरव करने लगते हैं; नीड़ छोड़कर विस्तृत गगन में उड़ चलते हैं; क्योंकि प्रकाश से उन्हें दृष्टि मिलती है, अभय मिलता है।

ऋषियों ने 'ऋग्वेद' में उषा की स्तुति की है, क्योंकि उसी के अरुणगर्भ से सूर्य का जन्म होता है। वे अंजलिबद्ध होकर परमात्मा की प्रार्थना करते हुए याचना करते हैं— **तमसो मा ज्योतिर्गमय** (हे प्रभो! ले चल हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर); क्योंकि प्रकाश ही पदार्थों के साक्षात्कार में सहायक है। त्यागियों की चर्या प्रकाश की उपस्थिति में ही होती है। जब तक प्रकाश नहीं होता, उन्हें गमनागमन-निषेध है। 'ईर्या समिति' के पालन में आलोक सहायक है। यह आलोक जब आत्मनिरीक्षण में प्रवृत्त होता है, तब 'ज्ञान' कहलाता है। मनुष्य घट-पटादि पदार्थों को जैसे सूर्यालोक अथवा कृत्रिम प्रकाश (दीपकादि) द्वारा जानता है, वैसे ही वह **मृण्मयोऽयं घटः, तन्तुमयोऽयं पटः** (यह घट मृत्तिकारूप तथा यह वस्त्र तन्तु-समूह रूप है) इसे ज्ञान द्वारा जानता है। जिसे ज्ञान नहीं है, वह घट तथा पट को देख कर भी उनके विषय में अपरिचित है। इसलिए जिसे जन्मना जिज्ञासावृत्ति मिली

है, जिसमें शोध-चिन्तन की अभिलाषा जागृत है, वह ज्ञान उपासना द्वारा ही वस्तुस्वरूप का निर्णय करने की उत्कण्ठा रखता है। मानव-शरीर में सभी अंग महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु नेत्रों का स्थान सर्वोपरि है। यदि नेत्र नहीं हैं, तो शरीर का भार पहाड़ हो जाता है। एक चरण की दूरी कोस भर लगने लगती है। संसार के रोचक विलास, पुष्पावलि के चित्ताकर्षक रंग, राजमार्ग पर अपने पैरों से निःशंक चंक्रमण—सभी अदृष्ट होकर जीवन को शून्यता से भर देते हैं। वह अपने प्रियजनों का मुख नहीं देख सकता, स्वाध्याय नहीं कर पाता और हाथ-पैर होते हुए पंगु हो जाता है। यही दयनीय स्थिति उसकी है, जो ज्ञान-नेत्रहीन है।

**हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायते भृशम्।** –आत्मानुशासन 146 –कुबुद्धि मनुष्य हितमार्ग को छोड़कर तथा अहितमार्ग को अंगीकार कर अनेक दुःख उठाता है। सम्यग्ज्ञान-वंचितों के भाग्य में विपरीतार्थ-दर्शन-वृत्ति ही प्रातिस्विक रूप में प्राप्त है।

ज्ञानवान् के चरणों में कुण्ठा की अगति नहीं होती। वह पदार्थों के आभ्यन्तर एवं बाह्य—उभयस्वरूप को जानने से अपने द्वारा क्रियमाण व्यवहार तथा निश्चय में संशय-रहित होता है। भर्तृहरि ने विद्या तथा ज्ञान से वंचितों को मनुष्य शरीरधारी मृग (पशु) कहा है। इतना ही नहीं, वे तो यहाँ तक कहते हैं कि 'दुर्गम वनों में वनचरों के साथ कालक्षेप करना तो ठीक है परन्तु महेन्द्र के स्वर्ग में भी मूर्खों की संगति में रहना उचित नहीं।' (–नीतिशतक) प्रशस्त जीवन की कला, जीवित रहने का फल, आनन्द के मार्ग, आत्मपरमात्म-परामर्श ग्राह्य-अग्राह्य-वस्तु-विज्ञान, निराकुलता इत्यादि की सम्प्राप्ति ज्ञान बिना संभव नहीं। चाहे कोई विद्वान् का शिष्य बने, परन्तु 'मूर्खों का गुरु' पद स्वीकार न करे। यह मोह भी अज्ञान से परिचालित है।

## ज्ञान : कुछ घर से, कुछ बाहर से

अज्ञानी व्यक्ति नदी में पाँव रखता है, तो डूबने का भय है; यदि यज्ञवेदी पर बैठता है, तो जल जाने का डर है; यदि उसे फल खरीदने भेज दिया जाए, तो वह मधुर फलों को छोड़कर कटु-तिक्त-कषाय खरीद लेगा; क्योंकि न उसे अमृत का ज्ञान है और न विष की परीक्षा। वह हिताहित-ज्ञान से शून्य है; इसीलिए समाज (मनुष्य-जाति) में पाठशालाओं की विधि है। अनेक विषय उसे विद्याशालाओं में पढ़ाये जाते हैं और एक प्रकार से लौकिक ज्ञान प्रदानकर संसास्-यात्रा के लिए उपयुक्त किया जाता है। पशु-पक्षी भी अपने-अपने अपत्यों (संतानों) को जातिगत-ज्ञान की परम्परा प्रदान करते हैं। इसप्रकार कुछ ज्ञान उसे घर से, कुछ बाहर से प्राप्त हो जाता है। यह ज्ञान के विषय में लौकिक अपेक्षा से किया गया सामान्य निर्वचन है।

## ओढ़ा हुआ ज्ञान

**हितानुबन्धि ज्ञानम्** ज्ञान के विषय में यह अत्यावश्यक परामर्श है कि वह

हितानुबन्धी होना चाहिये; क्योंकि इसे आलोक अथवा प्रकाश कहा है। प्रकाश अग्नि से, सूर्य से और दीपक से भी मिलता है। यदि कोई दीपक से पदार्थ-दर्शन के स्थान पर अपने वस्त्र जला ले, तो यह उसका दुरुपयोग होगा। यदि विज्ञान से विध्वसंक-प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण किया जाता है और निर्माण अथवा मानव-कल्याण में उसको विस्मृत किया जाता है, तो यह दीपक लेकर कुयें में गिरने के समान होगा।

इसे ही कहते हैं—**हेयोपादेयविज्ञान**। यदि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भी इतनी उपलब्धि नहीं हुई, तो शास्त्रपाठ 'शुकपाठ' ही रहा। **व्यर्थं श्रमः श्रुतौ** कहते हुए क्षत्रचूड़ामणिकार ने इसकी भर्त्सना की है। वस्तुतः जिसने अन्न को अपना रस, रक्त, माँस बना लिया है, उसी ने आहार का परिणाम प्राप्त किया है; किन्तु जिसके आमाशय में अजीर्ण-दोष है, वह उदर में रखने मात्र से अन्नभुक्ति के आरोग्य-परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। जो ज्ञान को ऊपर से ओढ़कर घूमता है, उसके उत्तरीय को कभी कोई उतार ले सकता है; परन्तु जिसने ज्ञान को स्वसम्पत्ति के रूप में उपार्जित किया है, उसे कोई छीन नहीं सकता; अतः ज्ञानोपार्जन में ज्ञान की पवित्रता के साथ-साथ उसे अपने से अभिन्न प्रतिष्ठित करने की महती आवश्यकता है। जब अग्नि और उष्णता, जल और शीतलता के अविनाभावी-सम्बन्ध के समान गुण और गुणी एकरूप हो जाते हैं, तभी उनमें अव्यभिचारिभाव का उदय होता है। ज्ञानी और ज्ञान भी आधाराधेय मात्र न रहकर प्राण-सम्पत्ति होने चाहिये। ऐसे ज्ञान की उपासना में मनुष्य को शास्त्राग्नि में प्रवेश करना पड़ता है। 'विदग्ध' वही होता है, जो सुवर्ण के समान आगम-वह्नि-विशुद्ध हो। यदि ज्ञान-प्राप्ति में अपने को तपाया नहीं, श्रम तथा तप की अग्नि की साक्षात् उपासना नहीं की, तो वह ज्ञान 'अदुःख-भावित-ज्ञान' है। ज्ञान को तप द्वारा पाने से यह आगे तप्त नहीं होता, ज्ञान में संसार के सभी दुःखों का चिन्तन कर लेने पर ज्ञान दुःखों से परित्राण करने में समर्थ होता है। कच्चा कुम्भ जैसे जलस्पर्श से विगलित हो जाता है, वैसे कोरा ज्ञान दुःख की आँच में दग्ध हो जाता है; अतः परिपक्व ज्ञान-प्राप्ति का उपाय-चिन्तन करना चाहिए।

यह ज्ञान मनुष्य-भव में ही हो सकता है, अतः प्राप्त करने में आलस्य नहीं रखना चाहिये। आचार्य गुणभद्र ने 'आत्मानुशासन' (94) में कहा है कि 'प्रज्ञा (ज्ञान) दुर्लभ है और यदि इसे इस जन्म में प्राप्त नहीं किया, तो अन्य जन्म में यह अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि अन्य जन्म मनुष्य पर्यायवान् हो, यह लिखित प्रमाण पत्र नहीं है; अतः एक जन्म का प्रमाद कितने इतर जन्मों के अन्तर विशोधनीय हो, यह अनिर्वचनीय है। धीमानों ने इसी हार्द को लक्ष्य में रखते हुए कहा है– **प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि** अर्थात् प्राणान्त होना ही मृत्यु नहीं है, प्रमाद ही मृत्यु है। अप्रमत्त को मृत्यु एक बार आती है; परन्तु प्रमादी प्रतिक्षण मरता है। **प्रमादे सत्यधःपातात्** यही कहता है।

## परिग्रहों का विसर्जन

प्रमाद की उर्वरभूमि मोह है। मोह के उदय से राग-द्वेष का उदय होता है। राग-द्वेष को ज्ञानवह्नि ही दग्ध कर सकती है। मोह-व्रण की चिकित्सा के लिए ज्ञान का शल्योपचार आवश्यक है। इसीप्रकार अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए मोहतरु का निर्मूलन अपेक्षित है। शास्त्राध्ययन करने पर भी मोहावस्था का कुहम (तम, अन्धकार) अन्तःकरण में विद्यमान है, तो पुस्तकों के पृष्ठ उलटने का श्रम किस काम का? **बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः।** ज्ञान का वास्तविक लाभ सांसारिक विभुताओं का विस्तार करने की योग्यता नहीं है। देखा जाता है कि भौतिक वैभव तो अज्ञानतिमिरान्धों के पास भी प्रचुर है। ये **देवागमनभोयानचामरादिविभूतियाँ** तो मायावियों के निकट भी हैं, किन्तु यह महत्त्व का सूचन नहीं है। ज्ञानी तो उसे कहना होगा, जिसने आत्महित को जान लिया है और शरत्काल में अपने सुन्दर पंखों का परित्याग करनेवाले मयूर के समान परिग्रहों का स्वतः विसर्जन कर दिया है।

कर्मसृष्टि के आदिकाल से समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के शासन का परित्याग कर संन्यासरूप प्रशमैकवृत्ति को अंगीकार करने वाले श्रीवृषभ वर्द्धमानादिकों ने शास्त्रपरिणाम को, बुद्धिसमागम को, विवेकख्याति को इसी आत्महित-प्रवृत्ति में नियोजित करते हुए समग्र विद्यात्मवपुष्मता तथा निरंजन पद प्राप्त किया है। भगवान् की ज्ञानात्मता का विजयी घोष उनके 'विश्वचक्षु' विशेषण में है। 'विश्वचक्षु' अर्थात् जिनके नेत्र विश्व-दृष्टा हैं, जो सर्वज्ञ के ज्ञानभास्वर पुण्याभिधान से लोकविश्रुत हैं; उन्हें 'चतुर्मुख' कहने का यही अभिप्राय है कि उनकी ज्ञानात्मिका दृष्टि यदि सर्वतोदिक् है, तो मुख-विवर्तन कर किसी दिशा विशेष में देखने का प्रयास उन्हें नहीं करना होता। अनन्त ज्ञान ही उनके अनन्त नेत्र हैं।

वास्तव में ज्ञान-विहीन को इन्द्रियाँ भी उपकारक नहीं हो पातीं तथा ज्ञानी नेत्रों की सहायता के बिना भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष करते रहते हैं। 'उपनिषद्' की भाषा में कहा गया है कि— **कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्** संसार के प्रायः सभी प्राणी अपनी इन्द्रियों को बहिर्मुख रखते हैं तथा बाहरी जगत् का आनन्द लेते हैं। उनमें कोई धीर पुरुष ऐसा भी होता है, जो अपनी इन्द्रियों की इस बहिर्वृत्ति का निरोध कर उसे अन्तर्मुख करता है तथा आत्मस्थित होकर अमृतपान करने में समर्थ हो जाता है। **उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले।** इस स्वात्माराम स्थिति को आत्मलीनावस्था में सर्वज्ञ ही प्राप्त करते हैं।**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**— उस परमात्मा को न कोई कार्य है और न इन्द्रियाँ हैं। उनका अन्तरंग एवं बहिरंग आत्मा है। उन्होंने आत्मभिन्न समस्त पौद्गलिक विभावों का परित्याग कर दिया है। जैसे सर्प ने कंचुकी उतार फैंकी हो, जैसे हिमशिलाओं ने अपने तुषारकिरीट को उतार दिया हो, जैसे चन्दनकाष्ठ ने अपने-आपको दग्धकर

नामरूपात्मकता का विसर्जन कर दिया हो, उन्हें ही ज्ञान की वास्तविकता प्राप्त हुई, ऐसा कहना चाहिये। आचार्यश्री समन्तभद्र ने आगमपरम्परागत ज्ञान का निरूपण करते हुए कहा है कि वह ज्ञान अद्‌भुत क्षमतावान है। पदार्थ को जानने में वह उस वस्तु की, न तो एक कला न्यून करके जानता है और न अधिक बखानता है। वह ज्ञान उसे विपरीतार्थ में भी परिणत नहीं करता तथा सन्दिन्ध-अवस्था भी नहीं रखता। उसी ज्ञान को नैयायिक 'प्रमाण' नाम से पुकारते हैं। क्योंकि 'प्रमाण' हित की प्राप्ति में तथा अहित के निवर्तन में समर्थ है, उसे यथार्थ ज्ञान कहा जा सकता है। महात्माओं के वचन इसी ज्ञान को लक्ष्य करते हैं। पंडित दौलतरामजी ने 'छहढाला' में मुनियों के वचन को ज्ञान-सम्पन्न प्रतिपादित करते हुए कहा है कि–

**जग सुहितकर सब अहितहर श्रुतिसुखद सब संशय हरैं।**
**भ्रमरोगहर जिनके वचन मुखचन्द्र से अमृत झरैं॥**

वे वचन संसार का हित करनेवाले, अहित-निवृत्ति में सहायक, कर्णप्रिय, समस्त संशयों का उच्छेद करने में समर्थ तथा भ्रान्तिरूप महारोग के हरण करनेवाले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका शब्द-प्रवाह मानो मुख-रूप इन्दु से अमृत की बिन्दुयें टपक रही हों। इस प्रचलित अर्थ से अलग यह पद भगवती जिनवाणी का भी वर्णन करता है। पण्डितजी ने 'जिनके वचन' कहते हुए यही विशेषार्थ ध्वनित किया है कि भगवान् जिनेन्द्र के वचन ही संसार के हितकारी है। अहितपराङ्मुख, श्रुति (कर्ण) को सुखदायी तथा समस्त संशय-विप्लावक हैं। वे ही भ्रमरोग हरनेवाले (चतुरशीतिलक्ष योनियों में परिभ्रमण के महारोग का मोक्षमार्ग द्वारा विनाश करने में कुशल) हैं तथा दिव्यध्वनि से अमृतवर्षी हैं। यह पद 'हेयोपादेयविज्ञान' के समस्तार्थ को द्योतित करते हुए जिनेन्द्र-वचन को सुहितकर तथा अहितहर—हिताहित-प्राप्ति-परिहारात्मक निरूपित करता है।

## ज्ञान-दीप की प्रतिष्ठा

क्रिया क्रियाजनित-परिणामों से ही प्रशंसित होती है। गौ यदि शरीर से सुन्दर है, किन्तु दोग्ध्री नहीं है, तो उसका कायिक चारुत्व अभिनन्द्य नहीं होता; अर्थात् जैसे धेनु का रूप उसके क्षीरवर्षी स्तन हैं, नुकीले शृंग नहीं; वैसे ही ज्ञान का फल अज्ञाननिवृत्ति है। यदि ज्ञानवान् और अज्ञ व्यक्तियों की क्रियायें समान हैं, उनमें ज्ञान ने अवरता और प्रवरता की भेद-रेखायें प्रसूत नहीं की हैं, तो वह अनियोजित ज्ञान है। **न हि वह्निमहं जानामीति ब्रुवन् तद्दाहशक्तिं प्रतिपद्यते न वा गुडमाचक्षाणो माधुर्यं स्वदते** किसी ने दूर से देखकर कह दिया कि मैं अग्नि को जानता हूँ, तो क्या उसने उसके दाहकत्व का स्पर्श भी किया है? अथवा कोई गुड़ का नाम ले ले, तो क्या गुड़निष्ठ मधुरता का अनुभव हो जाता है?

हेयोपादेय पदार्थों को जानकर यदि कोई उन्हें अँगुलिपर्वों पर गिन देता है,

तो उसे 'ज्ञानखसूची' कहना संगत होगा। ज्ञान के नाम से आकाश की ओर मुख उठाकर तारे गिननेवाले निरे ज्ञानखसूची नहीं तो क्या हैं? ज्ञानार्जन का अभिप्राय है तन्मय हो जाना। जब वह्नि और उष्णता के समान ज्ञान और ज्ञानी में एकीभाव हो, तब ज्ञान चरितार्थ समझना चाहिये। जलता हुआ दीपक देखकर कोई यह प्रश्न नहीं करता कि ''क्या यह दीपक जल रहा है?'' **प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्** –हाथ कंगन को आरसी क्या; जिसने आत्मप्रदेश में ज्ञानदीप की प्रतिष्ठा की है, उसे देखकर दृष्टा को स्वतः प्रतीति होनी चाहिये कि वह किसी ज्ञानदीपित शक्ति के समक्ष उपस्थित है। इसे ही तो कहते हैं **मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं**; ऐसे मुनि महाराज, जो वाणी से उच्चारण किये बिना साक्षात् मोक्षमार्ग का अपने देह से ही निरूपण करने में समर्थ हों।' इन्द्र जिनकी वीतराग-मुद्रा को सहस्र नेत्रों से अपलक देखकर थके नहीं। यह अधीत-स्वाध्याय का फल होना चाहिये, अन्तर्निविष्ट ज्ञान-ज्योति की चैतन्य-शलाका का प्रतिभासी उन्मेष होना चाहिये।

## ज्ञानाग्नि में सर्वसमर्पण

जब अग्नि में काष्ठ डाला जाता है, तब अग्नि उसके नामरूप का हरण कर लेती है और 'अग्नि' इस स्वराज्य की एकमात्र नवीन संज्ञा से उसका सम्बोधन करती है। वह काष्ठ बाहर-भीतर अग्नि हो जाता है। ज्ञानाग्नि में जिसने अपना सर्वसमर्पण कर दिया, उसे 'अवाग्विसर्गं' की योग्यता अवश्य पानी चाहिए। कोई काष्ठ अग्नि में जाकर काठ नहीं रह जाता; फिर ज्ञान समर्पित व्यक्ति अभीक्ष्ण उपयोग द्वारा तन्मय क्यों नहीं हो?

निर्धूम अंगार की ज्योति समस्त अग्नि से मिलती हुई होती है। काष्ठों की पृथक् जातियाँ वहाँ विलीन होकर निःशेष हो जाती हैं। ज्ञानाग्नि से समस्त कर्मेन्धनों को जला देनेवाले परमात्मा रूप ही हो जाते हैं। आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि ''हे भव्य ! लोकपंक्ति में आने की इच्छा न रखते हुए शास्त्र को वैसा पढ़ो तथा प्रसिद्ध कायक्लेश के उपायों का आश्रय लिये बिना ही शरीर को भी उतना शुष्क कर लो कि दुर्जेय कषाय-विषयों पर विजय पा सको; क्योंकि मुनि तप और शास्त्रस्वाध्याय-फलित ज्ञानार्जन का परिणाम शम (सर्वथा शांतिभाव में स्थिति, अशेष आकुलता-परिहाण) को ही मानते हैं।'' अर्थात् शास्त्रपाठ कर लोग उसका प्रदर्शनरूप उपयोग करने लगते हैं, वे प्रतिपद बताते हैं कि ''मैंने अमुक शास्त्र पढ़ा है, अमुक मुझे कंठस्थ है'' तथा अपना कायक्लेश तो करते हैं; तथापि लोकों के समक्ष यह भी डिण्डिम-घोष प्रकारांतर से करते रहते हैं कि ''मैं तनूदरी (अल्पाहार, उपवास आदि) की ओर विशेषरूप से अवधान रखता हूँ।''

वास्तव में तप और शास्त्रस्वाध्यायरूप क्रियायें बहिरंग प्रदर्शन का प्रत्याख्यान करती हैं। उनका प्राप्तव्य तो अन्तःशांति है। शमैकवृत्तिधनों का वह उपास्य-मार्ग

है। शास्त्र पढ़कर लोकपंक्ति में खड़े होनेवाले कभी सच्चे स्वाध्यायी नहीं हो सकते; क्योंकि उनके आत्मतोष का साधन लोकपंक्ति है, ऊँचे मंच पर पाँच विद्वानों में बैठने से उन्हें सुख प्रतीति होती है। इसका प्रकारान्तर से यह अर्थ हुआ कि शास्त्राध्ययन के समय उन्हें आनन्द की अनुभूति नहीं होती। ऐसी स्थिति में तो कहना चाहिये कि जैसे वारांगना अपने को बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से सज्जित कर उससे तब तक सन्तुष्ट नहीं होती, जब तक उसका कोठे पर प्रदर्शन न कर ले। उसीप्रकार वह व्यक्ति जो ज्ञान को उसी पण्यवीथियों में खींच ले जाना चाहता है, तथा वहाँ प्राप्त 'वाह-वाह' से अपने स्वाध्याय को सिद्ध मानता है, वह भूल में है और गोपनीय मणि को अल्पमूल्य पर बेचकर सुख मानता है।

'ऋग्वेद' में इसी आशय को स्पर्श करती हुई एक ऋचा में कहा गया है कि विद्या ब्रह्मज्ञानी के पास आकर बोली– "मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी निधि हूँ।" ब्रह्मज्ञानी ने पूछा– "अम्ब! तुम्हारी रक्षा किस प्रकार करूँ?" सरस्वती ने बताया– "गुणों में दोषदर्शी, शठ, मिथ्याभाषी, इन्द्रियलोलुप व्यक्ति को मुझे मत देना। ऐसा करने से मैं वीर्यवती बनूँगी।"

अहो ! ज्ञान देने से पूर्व गुरु को ज्ञान लेनेवाले की परख करनी चाहिये। अपात्र को दिया गया दान मद्यपान अथवा द्यूत की भेंट भी हो सकता है; परन्तु लोग खट्टी छांछ करने के लिए तो पात्र-अपात्र का विचार रखते हैं और ज्ञान-संपत्ति को फटी हुई पॉकेट में पैसों की तरह रास्ते में बिखेरते चलते हैं; इसीलिए विद्या (ज्ञान) अपने वास्तविक फल में शून्य हो गयी। नौका पानी में ही स्थिर रहती है, मैदानों में निकलकर लोगों का आवाहन नहीं करती।

जिसे पार उतरना हो, वह स्वयं तट पर आकर शुल्क देता है। पुस्तक का मूल्य मात्र व्यवसाय के दृष्टिकोण से ही नहीं रखा जाता, उसे आवश्यक हाथों तक पहुँचाना भी उसका उद्देश्य होता है। ज्ञान अग्नि है, अग्नि का धर्म स्वाकारवृत्ति प्रदान करना है। यही ज्ञान का फल है। यह 'ज्ञान' रत्नत्रय के मध्य में विराजमान महामणि है। 'इन्द्रिय-रूप तस्कर इसे चुराने के लिए प्रतिपल उद्यत हैं। यहाँ मोहनिद्रावशीभूत होने से काम नहीं चलेगा। अहर्निश जागते रहना होगा।' प्रातःकाल के एक भजन में किसी ने बहुत सुन्दर प्रबोध-गीत गाया है–

**उठ, जाग मुसाफिर! भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।**
**जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है॥**

प्रायः लोग शैया से तो प्रातःकाल देर-सवेर उठ ही जाते हैं; परन्तु सायंकाल रात्रि होते-होते पुनः शयन-कक्षों में पहुँच जाते हैं। उन्हीं अशित-भुक्त विषयों का अपरिवर्तित दैनिक आस्वादन करते-करते यम-मंदिर के दीप मार्ग दिखाने आ पहुँचते हैं।

इसप्रकार भौतिक रात्रि तो प्रतिदिन अस्त होती रहती है; परन्तु अध्यात्म-दृष्टि

से जीवन-पर्यन्त सवेरा नहीं हो पाता। सूर्य के प्रकाश में तो लौकिक तिमिर के नाश का अनुभव सभी करते रहते हैं, तथापि आत्मप्रकाश का प्रभाव बहुत कम व्यक्ति देख पाते हैं।

ज्ञान ही वह सूर्य है जिसके आलोक में आत्मा को अनस्तमित (कभी अस्त न होने वाले) दिन की प्रतीत होती है। यह ज्ञान-रत्न जिसके पास हो, वह प्रमाद की शैया पर क्षणभर भी सो जाए, तो उसके लुटने का भय रहता है। फकीर तो कहीं भी सोये, उसकी फटी गुदड़ी को चोर नहीं लगते, परन्तु रत्न रखनेवाले की मूर्च्छा उसी के लिए हानिप्रद हो सकती है।

## तीन त्याज्य, तीन ग्राह्य

प्रसमिद्ध (दीप्त) अग्नि की ज्वाला हवन-कुण्ड के ऊपर (बाहर) निकल कर आस-पास उपासीनों को अपनी सत्ता का भान कराने लगती है। इसीप्रकार अन्तःकरण में विराजमान ज्ञान-ज्योति आकृति पर प्रतिफलित होने लगती है। ज्ञानाकारवृत्ति की उस सिद्ध (निष्पन्न) अवस्था में आनन्द की अविरल पयस्विनी आत्म-समुद्र में अवतीर्ण होती है और नेत्र उसके प्रकाश से छिन्न-संशय आलोक से प्रदीप्त हो उठते हैं। उस ज्ञान से साम्यावस्था का प्रादुर्भाव होता है, जिसे अहिंसा-शक्ति के रूप में विश्व अनुभव करता है। **अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः** (पातंजल योगदर्शन) अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उस अहिंसक के समीप प्राणियों में वैरत्याग की भावना का उदय हो जाता है। तब मृगी सिंहशिशु का दुलार करने लगती है और गौ-वत्स के समान बाघपोत से वात्सल्य जताने लगती है। यह सहज शत्रुओं का पारस्परिक मैत्रीभाव है और जो स्वभावतः मित्र हैं उनमें तरंगित होने वाले स्नेह-व्यापार का तो वर्णन कहाँ किया जा सकता है? यह अहिंसक परिणाम दुरारूढ़ ज्ञान-तप की सिद्धि से ही संभाव्य है। ज्ञानी के नेत्र विषय-कषाय-परिछिन्न नहीं होते। उनमें विश्वमैत्री के मणिदीप जलते हैं। सकलार्थ-सिद्धियों की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान केवल लौकिक साध्यों की उपलब्धि में ही सहायक नहीं, उसकी पराकाष्ठा तो सर्वज्ञत्व में है। **णत्थि परोक्खं किंचि वि** सर्वज्ञ से परोक्ष कोई पदार्थ नहीं है। ज्ञान का सर्वातिशायी परिणाम सर्वज्ञता में समाहित है और सर्वज्ञता का बीज कर्मक्षय में है। कर्मक्षयार्थं तुषमाष-रूप भेदविज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में तपस्वी के लिए तीन उपादेय और तीन त्याज्यों का निरूपण करते हुए लिखा है– जो विषयों की आशा से अतीत है, आरम्भ-त्यागी तथा परिग्रह-रहित है (इन तीनों को त्याग चुका है) एवं ज्ञान, ध्यान और तप में अनुरक्त है (इन तीनों पर दत्तावधान है), वह तपस्वी विशिष्ट है, तपस्वियों में श्रेष्ठ है। यहाँ ज्ञान को प्रमुख बताया गया है; क्योंकि ज्ञानपूर्वक किया गया

उपवास ही व्रत है, ज्ञानपूर्वक परित्यक्त वस्त्रादि परिग्रह ही ग्रंथि-विमोक्ष है, ज्ञानपूर्वक परिसोढ़ परीषह ही तितिक्षा है। यदि इनमें ज्ञानानुपूर्वी न हो, तो वह उपवास अन्न अप्राप्तिजन्य बुभुक्षा है, वह निर्वस्त्रता प्रमाद अथवा अभाव है और वह परीषह कायरता मात्र है।

## अभीक्ष्णता : ज्ञान के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया

साधारणतः होने वाली मृत्यु तथा विधिपूर्वक ली गयी 'सल्लेखना' में ज्ञान-संयोग ही मुख्य विभेदक-रेखा है। ज्ञान द्वारा ही धर्म मार्ग-प्रभावना की जा सकती है— **ज्ञानतपोदानजिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना।** —सर्वार्थसिद्धि, 6/24

धर्म के प्रकाशन में, अधर्म के निर्मूलन में, हितानुबन्धि-उपदेश में, ज्ञान मुख्य-सहायक है। इसीलिये 'सर्वार्थसिद्धि' में साधु के लिए सम्यग् ज्ञानाराधन में नित्य युक्तता को 'अभीक्ष्णज्ञानोपयोग' से अभिहित किया गया है। **अभीक्ष्णं तु मुहुर्मुहुः** जीवादिपदार्थस्वतत्त्व-विषय में पुनः-पुनः चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करना अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग है। **जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तता अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगः** —सर्वार्थसिद्धि, 6/24 जिसप्रकार गौ आदि पशु भुक्त शस्यादि का विश्राम के समय रोमन्थन (चर्वित-चर्वण) करते हैं, वैसे ही उस क्रिया द्वारा अशित— भुक्त पदार्थों का रसमय परिपाक प्राप्त करते हैं, वैसे ही अधीत विद्या का क्रियासमभिहार (पौनःपुन्य) से मंथन करना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग से श्रुतदृढ़ता की प्राप्ति होती है। जिसप्रकार गाय को बाँधने का खूँटा एक ही चोट में गहरा नहीं धँसता, उसे बार-बार हिला-हिलाकर ठोंककर सुदृढ़ किया जाता है, उसीप्रकार ज्ञान को ध्रुव करने की प्रक्रिया 'अभीक्ष्णता' में है। विद्या के विषय में किसी ने बहुत मार्मिक सूक्ति लिखते हुए कहा है— विद्या (ज्ञान) सौ बार के अभ्यास से आती है, सहस्र बार किये गये अभ्यास से स्थिर होती है और यदि उसे सहस्र बार सहस्र से गुणित किया जा सके तो वह इस जन्म में तथा जन्मान्तर में भी साथ नहीं छोड़ती। सतत अभ्यास का नाम ही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। **पनिहारिन की लेज सौं सहज कटै पाषाण,** बार-बार शिला पर सरकती हुई रज्जु पत्थर को भी काट देती है।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के मूल में अविच्छिन्न आत्मध्यान की भावना है; क्योंकि ज्ञानोपयोग के अभाव में मन को संभालना कठिन हो जाता है। **श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्** —'यह मन वानर है, चंचल है, अतः अपनी चंचलता को छोड़ेगा नहीं' —ऐसा विचारकर इसे शास्त्रवृक्ष के स्कन्धदेश पर अवरोहण करने का अजस्र क्रम दे दिया जाए, तो यह उसी में लगा रहेगा।

**अभ्यासेन तु कौन्तेय** कहते हुए गीता में मनोनिग्रह का उपाय अभ्यास को बताया गया है। अभीक्ष्णता अभ्यास का ही नामान्तर है। **अज्झयणमेव झाणं** सूत्र

में 'एव' पद अभीक्ष्णता का ही बोधक है। **धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवो पि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः**— सोमदेव, यशस्तिलकचम्पू: –धर्म, शास्त्र तथा धन का लवसंग्रह भी कालान्तर में समुद्र समान बन जाता है। अतः **क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्** क्षण-क्षण से विद्योपार्जन होता है, ऐसा विचारते रहना चाहिए। ज्ञान को आत्म-सम्पत्ति बना लेने के पश्चात् सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं उसमें समाहित हो जाते हैं– **सयं अट्ठा णाणट्ठिदा सव्वे** –प्रवचनसार, 35

## आत्मा में सब कुछ

ज्ञान-की पिपासा कभी शान्त नहीं होती। ज्ञान प्रतिक्षण नूतन है, वह कभी जीर्ण या पुराना नहीं पड़ता। स्वाध्याय, चिन्तन, तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि उपायों से ज्ञान-निधि को प्राप्त किया जाता है। जो चिन्तन के समुद्र पी जाते हैं, स्वाध्याय की सुधा का निरंतर आस्वादन करते रहते हैं। संयम पर सुमेरु समान अचल— स्थिर रहते हैं, वे ज्ञान-प्रसाद के अधिकारी होते हैं। ज्ञानवान् सर्वज्ञ हो जाता है। दर्पण में जैसे बिम्ब दिखता है, वैसे उनकी आत्मा में सब कुछ झलकने लगता है।

## ज्ञानाराधना में डूबे हुए लोग

ज्ञान के पथिकों का मार्गदर्शन स्वयं भगवती सरस्वती करती है। न्यायशास्त्र के वैदिक विद्वान् कणाद महर्षि के विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वे हर समय ग्रंथावलोकन में दत्त-चित्त रहते थे। एक दिन मार्ग में चलते-चलते पुस्तक पढ़ रहे थे कि किसी कूप में गिर पड़े; परन्तु वहाँ भी गिरते ही उठ बैठे और पुस्तक पढ़ने लगे। उनकी विद्यानिष्ठा से भगवती प्रसन्न हुई और प्रकट होकर कहा– क्या चाहते हो? महर्षि ने कहा– मार्ग में चलते समय पढ़ सकूँ, इसलिये पैरों में दो आँख लगा दो। तब से उनका नाम 'अक्षपाद' हो गया।

ऐसे ही एक अन्य विद्वान् हुए हैं, जिनका नाम 'वाचस्पति' था। बीस वर्ष तक एक दार्शनिक व्याख्या-ग्रंथ लिखते रहे और घर में उपस्थित पत्नी का भी उन्हें पता नहीं चला। बीस वर्ष बाद ग्रन्थ-समाप्ति पर उन्हें ज्ञान हुआ कि बीते वर्षों में निरन्तर कष्ट सहनकर ग्रन्थ-लेखन में निराकुलता देने वाली यह मेरी पत्नी है। उन्होंने पत्नी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए ग्रन्थ का नाम 'भामती' रखा— जो उनकी उस साध्वी पत्नी का नाम था— और उसे अमर कर दिया। आज वैदिक दर्शनधारा के विद्वान् वाचस्पति को कम और 'भामती' को अधिक जानते हैं। ज्ञानाराधना में डूबे हुए लोग भोजन का स्वाद भूल जाते हैं; दिन-रात का भान भूल जाते हैं। पदार्थ-तत्त्व-जिज्ञासा में वे तल्लीन हो जाते हैं। उन्हीं के सामने वस्तुस्वरूप व्यक्त होता है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की महिमा का सर्वथा वर्णन कर सकना कठिन है।

## देहरी-दीपक

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का शास्त्रीय अर्थ है– जीवादि पदार्थ-रूप स्वतत्त्वविषयक सम्यग्ज्ञान में निरंतर लगे रहना। 'अभीक्ष्ण' शब्द का अर्थ है निरन्तर, बार-बार, अभीक्ष्णं तु मुहुर्मुहुः (अमरकोष) और ज्ञानोपयोग के समास-भेद से दो अर्थ हैं– 1. ज्ञान का उपयोग तथा 2. ज्ञान और उपयोग अथवा ज्ञानपूर्वक आत्मा का उपयोग। ज्ञान-चेतना और दर्शन-चेतना। ज्ञान जीव का लक्षण है। दर्शन के साथ ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। दर्शन-ज्ञान के अनुसार उपयोग अर्थात् योग का सामीप्य-चारित्र-पालन होता है। इसप्रकार ज्ञानोपयोग यह शब्द सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रतिपादक है। जैसे, भवन की देहली पर धरा हुआ दीपक प्रकोष्ठ के भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है, वैसे ज्ञानोपयोग शब्द दर्शन और चारित्र का समाहार करता है। फलितार्थ यह हुआ कि दर्शन-ज्ञान-चेतनायुक्त जीवन (आत्मा) निरन्तर अपने चारित्रात्मक उपयोग में लगा रहे।

## बिना ज्ञान चारित्र व्यर्थ

यद्यपि जीव ज्ञान-चेतनात्मक है, तथापि उसका ज्ञानपरक उपयोग यदि नहीं किया जाये, तो सक्रिय हुआ मनोव्यापार व्यक्ति के लिये अनर्थ-परंपराओं की सृष्टि करने लगेगा; अतः जैसे खंगधारा को तेज किया जाता है, वैसे आत्मतत्त्व-विषयक नित्य निमग्नता के लिए ज्ञान का उपयोग करते रहना ही आत्मोपलब्धि का मार्ग है। सम्यग्दर्शन का फल सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञान से परिशीलित है। बिना ज्ञान के चारित्र व्यर्थ है। **क्लिश्यन्तां स्वयमेव... ज्ञानं ज्ञानगुणं बिना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते नहि।** (समयसार कलश, 142) –यह श्लोक पुकार-पुकार कर कहता है कि चारित्र का पालन ज्ञानपूर्वक होना चाहिये। अन्यथा अज्ञान से, प्रमाद से, उन्माद से कोई नग्न हो जाये और संयोग से उसे मोरपंख और कोई तुम्बी पड़ी मिल जाए, तो उन्हें उठाकर वह महाव्रती निर्ग्रन्थ तो नहीं बन जायेगा। दिगम्बर-मुद्रा (वीतराग मुद्रा) उसी के मानी जायेगी, वही अष्टविंशति मूलगुणों का पालक है, जो गुरु-परम्परा से दीक्षित है।

## सर्वोच्च स्थिति

**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**— गीता में कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं है। स्व-पर-विवेक, हेयोपादेय-विज्ञान, आत्मरति तथा परविरति ज्ञानोद्भव होती है। इसी विचार से महाव्रती साधु अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में लगे रहते हैं। सर्वज्ञ शब्द ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति है। ध्यानाग्नि में सब कर्म क्षणमात्र में भस्म हो जाते हैं और वह ध्यानाग्नि ज्ञान-रूप काष्ठ से प्रकट होती है।

## अन्धकार में नहीं डूबता

स्वाध्याय ज्ञानोपयोग का व्यवहारमार्ग है और मैं शुद्ध, मुक्त परमात्मा हूँ। आत्मस्वरूप हूँ, वह ज्ञानोपयोग का निश्चय परिणाम है। जैसे हम ग्रन्थ के अक्षरों को अर्थ रूप में परिणत कर उपयोगी बना लेते हैं, वैसे ज्ञान से विश्व के समस्त पदार्थ अपने वास्तविक स्वभाव में प्रतीत होने लगते हैं। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी अज्ञान के अन्धकार में नहीं डूबता; क्योंकि ज्ञानोपयोगरूप सूर्य को जाग्रत रखता है।

## अविचल ज्ञान-निष्ठा

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग आत्मशान्ति और निराकुलता उत्पन्न करता है। ज्ञानोपयोगी को बाहरी भान भूल जाता है। संस्कृत-व्याकरण के कर्त्ता महर्षि पाणिनि शिष्यों को पढ़ा रहे थे। उसी समय एक शेर आ गया। शिष्यों ने भयभीत हो कर भागते हुए कहा– "आचार्य, व्याघ्र-व्याघ्र!" परन्तु पाणिनि भागे नहीं। उन्होंने 'व्याघ्र' शब्द की मूल-निरुक्ति प्राप्त की। उन्होंने कहा– **व्याजिघ्रति इति व्याघ्रः** जिसकी सूँघकर पहचानने की शक्ति प्रधान हो, उसे व्याघ्र कहते हैं। इधर वे शब्द के सुन्दर भावात्मक अर्थ में खोये हुये थे कि व्याघ्र उन्हें खा गया। चाहे सर्प, व्याघ्र, हाथी किसी का भी भय उपस्थित हो, जो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में लगे हुए हैं उन्हें ज्ञान से व्यतिरिक्त कुछ नहीं सूझता। उनकी सामयिक, समाधि, ज्ञाननिष्ठा पर्वतों के विस्फोट से भी विचलित नहीं होती।

## संयम : अचंचल मनःस्थिति

मन, वचन और काय-संयम से ज्ञान का अकम्प-दीपक जलता है। जो इन तीनों को त्रिवेणी-संगम नहीं दे सकता, उसके चचंल मन की आँधियाँ ज्ञान-दीपक को निर्वापित करने का प्रयत्न करती रहती हैं। सद्-असद् का विवेक ज्ञान द्वारा ही संभव है। संसार में भी ज्ञान का अभीक्ष्ण उपयोग करना होता है। माता, भगिनी, पत्नी, सुता इत्यादि के साथ साक्षात्कार होते ही ज्ञानोपयोग से व्यवहार-स्थिरता उत्पन्न होती है। ज्ञानशून्य को 'पागल' कहते हैं। इस लोक तथा परलोक में मार्गदर्शक ज्ञान ही है। जैसे सूर्य की उपस्थिति में सभी पदार्थ दिखाई देने लगते हैं और अन्धकार में नहीं सूझते, वैसे ज्ञानबल से भौतिक-आत्मिक विज्ञान की उपलब्धि सुगम हो जाती है। भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त होने से ही कैवल्य (मुक्ति) की प्राप्ति हुई। दिव्यध्वनि सर्वज्ञ की सर्वोत्तम ज्ञान-घन-गर्जना ही तो है। **त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्या** –इत्यादि यह जैनागम की सिद्ध-मान्यतायें गम्भीर ज्ञान-गवेषणा के ही परिणाम हैं।

❖❖

# जल का आधार घट, ज्ञान का आधार सरस्वती

जैनधर्म की संस्कृति एवं कला बहुत प्राचीन है– ऐसा सभी साहित्यकार, शास्त्रकार एवं विद्वद्गण स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन की प्राचीनता का सर्वप्रमुख कारण है उसकी कला, सिद्धान्तों की प्रामाणिकता, वस्तु-स्वरूप का स्पष्टीकरण, जैनाचार्यों के विचारों की एकरूपता, अरिहन्तों से गणधर तथा गणधरों से मुनियों की अविच्छिन्न उपदेश-परम्परा।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव सरस्वती देवी की आराधना करते हुए कहते हैं कि मैं उस श्रुतज्ञानरूपी महासमुद्र को भक्ति से युक्त होकर सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ, जो अरिहन्त द्वारा कहा गया है एवं गणधरों द्वारा सम्यक् प्रकार से रचा गया है। यथा–

**अरिहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।**
**पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा॥** –श्रीश्रुतभक्ति, 2

जैनदर्शन में अरिहन्तों की वाणी को जिनवाणी, सरस्वती, भारती, शारदा एवं श्रुतदेवी आदि सोलह नामों से पुकारा जाता है। यथा–

**प्रथमं भारती नाम द्वितीयं च सरस्वती।**
**तृतीयं शारदा देवी चतुर्थं हंसगामिनी॥**
**पंचमं विदुषां माता षष्ठं वागीश्वरी तथा।**
**कुमारी सप्तमं प्रोक्ता अष्टमं ब्रह्मचारिणी॥**
**नवमं च जगन्माता, दशमं ब्राह्मिणी तथा।**
**एकादशं तु ब्रह्माणी, द्वादशं वरदा भवेत्॥**
**वाणी त्रयोदशं नाम, भाषा चैव चतुर्दशम्।**
**पंचदशं श्रुतदेवी, षोडशं गौर्निगद्यते॥** –सरस्वतीनामस्तोत्रम्, 4-7

**अर्थ**– प्रथम नाम भारती है, द्वितीय सरस्वती। शारदा देवी उनका तृतीय नाम है और चतुर्थ हंसगामिनी।। 4।। विदुषी, वागीश्वरी, कुमारी, ब्रह्मचारिणी— ये उनके पंचम, षष्ठ, सप्तम और अष्टम नाम हैं।। 5।। नौवाँ नाम जगन्माता, दशवाँ नाम ब्राह्मिणी, ग्यारहवाँ नाम ब्रह्माणी और बारहवाँ नाम वरदा है।। 6।। तेरहवाँ नाम वाणी, चौदहवाँ नाम भाषा, पन्द्रहवाँ नाम श्रुतदेवी, सोलहवाँ नाम गौ है। इस

प्रकार ये सरस्वती देवी के सोलह नाम हैं।

कोशकारों ने भी सरस्वती के अनेक नाम व उनकी स्पष्ट विवेचना की है–

**ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग् वाणी सरस्वती।** –अमरकोश, 1/6/1

व्याख्या– ब्राह्मी द्वारा लोक में प्रचारित होने से ब्राह्मी, भारत में बोली जाने से 'भारती', मुख से उच्चार्यमाण होने से 'भाषा', शब्दार्थों का निगरण करने से 'गीः' अथवा 'गिरा', उच्चरित होने से वाक्, शब्दार्थ के संवनन से 'वाणी' तथा गतिशील होने (सरकने) से 'सरस्वती' कहलाती है।

**ब्राह्मी भाषा ब्राह्मणी गौर्गिरा गीर्वाणी वाचा वाक् सरस्वत्यपीडा।**
**भारत्युक्ता शारदा शब्ददेवी, भेद्यधीनं वाङ्मयं तद्विकारे॥**

–कोषकल्पतरुः, धी. 55

**अर्थ**– ब्राह्मी, भाषा, ब्राह्मणी, गौः, गिरा, गीः, वाणी, वाचा, वाक्, सरस्वती, इडा, भारती, शारदा आदि नामों से शब्ददेवी कही जाती हैं, उनके ही विभिन्न रूप वाङ्मय की सृष्टि करते हैं।

**वाग्देवी शारदा ब्राह्मी भारती गीः सरस्वती।**
**हंसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु वः॥**

–हर्षकीर्ति : शारदीय नाममाला 1/2

**अर्थ**– वाग्देवी, शारदा, ब्राह्मी, भारती, गी, सरस्वती, हंसयाना, ब्रह्मपुत्री नाम वाली (देवी) सदा आप लोगों को वर प्रदान करनेवाली हो।

पाठकगणों को यह स्पष्ट करना उचित है कि जो यहाँ सरस्वती आदि नाम हैं, वे जिनवाणी के पर्यायवाची नाम हैं। ये सरस्वती आदि नाम चार प्रकार के (देवाश्चतुर्णिकायाः–भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्य एवं वैमानिक) देव-देवियों में किसी भी देव-देवी का नाम नहीं है। यहाँ पर जो सरस्वती शब्द का सम्बोधन है, वह एकमात्र भगवान् की वाणी का आकार-प्रकार व रूप देने के लिए एक प्रतीकात्मक चित्र अंकित किया गया है। प्रतिमा, मूर्ति, चित्र के माध्यम से अरिहंतों की वाणी द्वादशांग को स्पष्ट किया गया है। यथा–

**बारह-अंगगिज्झा वियलियमलमूढ दंसणु त्तिलया।**
**विविह वर चरण भूसा, पसियदु सुददेवदा सुचिरं॥**

–महाबन्ध मंगलस्मरण, ज्ञानपीठ, भाग 1

**अर्थ**– बारह प्रकार के अंग (द्वादशांग) जिससे ग्रहण होते हैं, जिससे समस्त प्रकार के कर्ममल और मूढताएँ दूर होती हैं– इस प्रकार के सम्यग्दर्शन की जो तिलक स्वरूप है, विविध प्रकार के श्रेष्ठ सदाचरण रूपी भाषा से युक्त है, जिसके चरण विविध प्रकार के आभूषणों से मण्डित हैं– ऐसी श्रुतदेवी दीर्घकाल तक मेरे

ऊपर प्रसन्न हो।

इसी बात को आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक (पृष्ठ 361) में स्पष्ट किया है–

**बारह अंगंगिज्जा दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।**
**चोद्दसपुव्वाहरणा ठावे दव्वाय सुददेवी॥ 1॥**

**अर्थ**– बारह अंगों (द्वादशांग) को ग्रहण करने वाली, सम्यक्दर्शन को तिलक स्वरूप धारण करने वाली, सम्यक्चारित्र रूपी वस्त्र को धारण करने वाली एवं चौदह पूर्वों को धारण करने वाली सरस्वती देवी का ध्यान करना चाहिए।

**आचारशिरसं सूत्रकृतवक्त्रां सुकंठिकाम्।**
**स्थानेन समवायांगव्याख्याप्रज्ञप्तिदोर्लताम्॥ 2॥**

**अर्थ**– आचार जिनका सिर है, सूत्रकृत जिनका मुखमण्डल है, जो स्थानांग रूपी सुन्दर कण्ठ वाली है, समवायांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति जिनकी दो सुन्दर भुजाएँ हैं।

**वाग्देवतां ज्ञातृकथोपासकाध्ययनस्तनीम्।**
**अंतकृद्दशसन्नाभिमनुत्तरदशांगत: ॥ 3॥**

**अर्थ**– ज्ञातृकथांग तथा उपासकाध्ययनांग रूपी स्तनयुगल वाली वाग्देवता, अंतकृद्दशांग और अनुत्तरोपपादिकांग ही जिनकी सुन्दर नाभि है।

**सुनितम्बां सुजघनां प्रश्नव्याकरणश्रुतात्।**
**विपाकसूत्रदृग्वादचरणां चरणाम्बराम्॥ 4॥**

**अर्थ**– प्रश्नव्याकरणांग ही जिनके सुन्दर नितम्ब एवं सुन्दर जघन (जंघा) हैं, विपाकसूत्रांग तथा दृग्वाद (दृष्टिवाद) जिनके चरण हैं और जो चरणरूपी अम्बर (वस्त्र) धारण करनेवाली है।

**सम्यक्त्वतिलकां पूर्वचतुर्दशविभूषणाम्।**
**तावत्प्रकीर्णकोदीर्ण-चारुपत्रांकुरश्रियम् ॥ 5॥**

**अर्थ**– सम्यकत्व का तिलक धारण करनेवाली, चौदह पूर्वों का आभूषण धारण करनेवाली, प्रकीर्ण एवं कोदीर्ण रूपी सुन्दर पत्रांकुर जिनकी शोभा है।

**आप्तदृष्टप्रवाहौघद्रव्यभावाधिदेवताम् ।**
**परब्रह्मपथादृप्तां स्यादुक्तिं भुक्तिमुक्तिदाम्॥ 6॥**

**अर्थ**– जिनेश्वर देव ने जिन सभी द्रव्यों को सभी पर्यायों को देखा है, उन सभी पर्यायों की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती देवी हैं, अर्थात् इनके आश्रय से सभी पदार्थों की सभी अवस्थाओं का ज्ञान होता है। यह परब्रह्म अर्थात् मोक्षमार्ग का अवलोकन करने तथा लोगों को स्याद्वाद का रहस्य बताने वाली सांसारिक सुख एवं मोक्ष को देने वाली हैं।

**सर्वदर्शनपाखंडदेवदैत्यखगार्चिताम्।**
**जगन्मातरमुद्धर्तुं जगदत्रावतारयेत्॥ 7॥**

**अर्थ**– आप सभी दर्शनों अर्थात् मतान्तरों के लोगों, पाखण्डी, देव, दैत्य, विद्याधर आदि से पूजित विश्व की माता हैं। हमें जगन्माता की स्तुति करनी चाहिए।

## श्रुतदेवी सरस्वती का स्वरूप

जिनवाणी के साथ 'देवता' और 'भगवती' शब्दों का प्रयोग मात्र आदरसूचक है। सरस्वती (स+रस्+वती) पद का प्रयोग मात्र जिनवाणी के रूप में हुआ है और उस जिनवाणी को रस से युक्त मानकर यह विशेषण दिया गया है।

मथुरा से उपलब्ध जैन स्तूप की पुरातात्त्विक सामग्री में विश्व की अभिलेखयुक्त प्राचीनतम जैन श्रुतदेवी सरस्वती की प्राप्ति हुई है। जैन परम्परा में बहुत ही सुन्दर सरस्वती प्रतिमाएँ पल्लू (बीकानेर) और लाड़नूँ आदि से उपलब्ध हैं, जो 9वीं, 10वीं शती के बाद की हैं।

जैनागम में जैनाचार्यों ने सरस्वती देवी के स्वरूप की भगवान की वाणी से तुलना की है। यथार्थतः सरस्वती देवी की प्रतिमा द्वादशांग का ही प्रतीकात्मक चिह्न है। ग्रन्थ प्रतिष्ठासारोद्धार में जैन सरस्वती देवी के सम्बन्ध में निम्न श्लोक उपलब्ध है–

**वाग्वादिनी भगवति सरस्वती, ह्रीं नमः इत्यनेन मूलमन्त्रेणवेष्टयेत्।**
**ओं ह्रीं मयूरवाहिन्यै नमः, इति वाग्देवतां स्थापयेत्॥**

जैनाचार्य वीरसेन ने भी सरस्वती देवी को जयदु सुददेवता से सम्बोधन कर यह प्रमाणित कर दिया कि जो जैनागम में चार प्रकार के देव-देवियों का वर्णन है, उसमें श्रुतदेवी कोई देवी नहीं है, वरन् जिनेन्द्र भगवान् की दिव्यध्वनि स्वरूप श्रुतदेवी सरस्वती है। कहा भी है–

**जिनेश्वरस्वच्छसरःसरोजिनी, त्वमंगपूर्वादिसरोजराजिता।**
**गणेशहंसव्रजसेविता सदा, करोषि केषां न मुदं परामिह॥**

–श्री पद्मनन्दि-पंचविंशतिका, आचार्य पद्मनन्दि, 15/21

**अर्थ**– हे माता! हे सरस्वती! तुम जिनेश्वर रूपी निर्मल सरोवर की तो कमलिनी हो और ग्यारह अंग चौदह पूर्व रूपी कमल से शोभित हो और गणधर रूपी हंसों के समूह से सेवित हो; इसलिए तुम इस संसार में किसको उत्तम हर्ष की करने वाली नहीं हो?

अध्यात्मयोगी आत्मस्वरूप के अमर गायक आचार्य कुन्दकुन्ददेव श्रुतभक्ति/सरस्वती की स्तुति करते हुए अपने निज भावों को शब्दाक्षर द्वारा इस प्रकार लिपिबद्ध करते हैं–

**सिद्धवरसासणाणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।**
**कादूण णमोक्कारं, भत्तीए णमामि अंगादिं॥**

**अर्थ**– जिनका अहिंसामय उत्कृष्ट जैनशासन लोक में प्रसिद्ध है तथा जो (घातिया और अघातिया रूप अष्ट) कर्मों के चक्र से मुक्त हो चुके हैं, ऐसे सिद्धों को नमस्कार कर भक्तिपूर्वक द्वादशांग रूप सरस्वती (बारह अंगों) को मैं आचार्य कुन्दकुन्द नमस्कार करता हूँ।

**इच्छामि भंते! सुदभत्ति काउस्सग्गो कदो तस्स आलोचेदुं, अंगोवंग-पइण्णए-पाहुड-परिकम्म-सुत्त-पढमाणुओग-पुव्वगद-चूलिया चेव सुत्तत्थवथुदि धम्मकहादियं णिच्चकालं अञ्चेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगदिगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होदु मज्झं॥**

**अर्थ**– मैंने जो श्रुतभक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया है, उसकी (मैं) आलोचना करना चाहता हूँ। अंग, उपांग, प्रकीर्णक, प्राभृत, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका तथा सूत्र, स्तव, स्तुति तथा धर्मकथा आदि की नित्यकाल अर्चना करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, उन्हें नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान् के गुणों की संप्राप्ति हो।

इसी बात को आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक (पृष्ठ 361) में श्रुतदेवी सरस्वती का स्तवन करते हुए कहा है–

**निर्मूलमोहतिमिरक्षपणैकदक्षं, न्यक्षेण सर्वजगदुज्ज्वलनैकतानम्।**
**सोषेस्व चिन्मयमहो जिनवाणि नूनं, प्राचीमतो जयसि देवि तदल्पसूतिम्॥ 1॥**

**अर्थ**– हे जिनवाणी! निराधार मोहरूपी अन्धकार के विनाश में निपुण, अन्धकार से समस्त जगत् की मुक्ति कर प्रकाशित करने में निपुण चिन्मय (ज्ञान) को अवश्य फैलाओ। हे देवी सरस्वती! इसीलिए अल्प प्रकाशित प्राची दिशा का (अपने ज्ञानालोक से) विजय कर रही हो।

**आभवादपि दुरासदमेव, श्रायसं सुखमनन्तमचिंत्यं।**
**जायतेद्य सुलभं खलु पुंसां, त्वत्प्रसादत इहाम्ब नमस्ते॥ 2॥**

**अर्थ**– हे माँ सरस्वती! संसारी लोगों को आजन्म अत्यन्त दुर्लभ एवं अचिन्त्य अनन्त सुख आपकी प्रसन्नता से सुलभ हो जाते हैं, अतः आप को नमस्कार है।

**चेतश्चमत्कारकरी जनानां, महोदयाश्चाभ्युदयाः समस्ताः।**
**हस्ते कृताः शस्तजनैः प्रसादात्, तवैव लोकाम्ब नमोस्तु तुभ्यम्॥ 3॥**

**अर्थ**– हे माँ! लोगों के चित्त में चमत्कार पैदा करनेवाले समस्त श्रेष्ठ अभ्युदय आपकी कृपा से भद्रपरिणामी लोग प्राप्त करते हैं, अतः आपको नमस्कार है।

**सकलयुवतिसृष्टेरम्बचूडामणिस्त्वं ,**
**त्वमसि गुणसुपुष्टे धर्मसृष्टेश्च मूलं।**
**त्वमसि च जिनवाणि स्वेष्टमुक्त्यङ्ग मुख्या,**
**तदिह तव पदाब्जं भूरिभक्त्या नमाम:॥ 4॥**

**अर्थ**– हे माँ! आप संसार की समस्त युवतियों में सर्वश्रेष्ठ हो, आप गुणों से परिपुष्ट हो, धर्मसृष्टि की मूल हो, आप जिनवाणी हो, कैवल्यबोध का मुख्य साधन हो। आपके चरणकमलों में अतिशय भक्ति के साथ प्रणाम करता हूँ।

**इति श्रुतदेवीस्तवनं पठित्वा प्रतिमोपरि पुष्पांजलिं क्षिपेत्।**

**अर्थ**– इस प्रकार देवी स्तवन का पाठ करके भगवती सरस्वती की प्रतिमा पर पुष्पांजलि समर्पित करें।

इसप्रकार द्वादशांग स्वरूप सरस्वती देवी का स्वरूप जिनागम में वर्णित है। सर्वत्र सरस्वती देवी की जो आराधना है, वह श्रुतपूजा है। पं. आशाधरसूरि विरचित पूजापाठ प्रारम्भ (पृष्ठ 153) में सरस्वती देवी की प्रतिष्ठा की विधि में सरस्वती की भक्ति करते हुए अपने निर्मल भावों को इसप्रकार प्रकट किया है–

**स्याद्वादकल्पतरुमूलविराजमानां, रत्नत्रयांबुजसरोवरराजहंसी।**
**अंगप्रकीर्णकचतुर्दशपूर्वकाया, मार्हंत्यसद्गुणमयीं गिरमाह्वयामि॥**

**अर्थ**– स्याद्वाद रूपी कल्पवृक्ष के मूल में विराजमान रत्नत्रय रूपी कमलों के सरोवर की राजहंसी, चतुर्दश अंग प्रकीर्णक (द्वादशांग रूप सरस्वती) शरीर वाली, अर्हद् के सद्गुणों से युक्त वाणी का मैं आह्वान करता हूँ।

अभिधानराजेन्द्रकोश में श्रुतदेवता के प्रसाद की चर्चा निम्न गाथा द्वारा उद्धृत की गई है– **सुददेवता भगवदी, णाणावरणीय कम्मसंघायं।**
**तेसिं खवेदु सययं जेसिं सुदसायरे भत्ति॥**

अर्थात् जिनकी श्रुतसागर (द्वादशांग) में भक्ति है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म के समूह को श्रुत देवता सरस्वती सतत रूप से क्षीण करे।

उपर्युक्त विषय का आशय यह है कि प्रत्येक मन्दिर में तीर्थंकरों की प्रतिमा, उनकी यक्ष-यक्षिणी एवं द्वादशांग की प्रतीकात्मक सरस्वती देवी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। यह कथन व्यक्तिवाचक नहीं वरन् आगम का कथन है, जैसाकि यतिवृषभ आचार्य ने ग्रन्थराज तिलोयपण्णत्ति में जिनमन्दिर के स्वरूप का कथन किया है, यथा–

**सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण्हसणक्कुमारजक्खाणं।**
**रूवाणि य जिणपासे मंगलमट्ठविहमवि होदी॥**

–आचार्य नेमिचन्द्र, त्रिलोकसार, गाथा 988, पृष्ठ 753

इस पर पंडितप्रवर टोडरमल जी का भावार्थ निम्नानुसार है– ''जिनप्रतिमा के निकट इन चारिनि (चारों) का प्रतिबिम्ब होइ है। यहाँ पर प्रश्न– 'जो श्रीदेवी तो धनादिरूप है और सरस्वती जिनवाणी है, इनका प्रतिबिम्ब कैसे होय है?' ताका समाधान– श्री और सरस्वती –ये दोऊ लोक में उत्कृष्ट हैं, तातैं इनका देवांगना का आकाररूप प्रतिबिंब होइ है। बहुरि दोऊ यक्ष विशेष भक्त हैं। तातें तिनके आकार हो हैं। अरु आठ मंगलद्रव्य हो हैं।''

जिनमन्दिर के स्वरूप और उसकी व्यवस्था को भी जैनाचार्यों ने इसप्रकार स्पष्ट किया है–

**सिरिसुददेवीण तहा सव्वाण्हसणक्कुमारजक्खाणं।**
**रूवाणि पत्तेक्कं पडि वर रयणाइरइदाणिं॥**

–आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति 188

प्रत्येक प्रतिमा के प्रति उत्तम रत्नादिकों से रचित श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वाह्न व सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ रहती हैं।

सरस्वती देवी की आराधना, पूजा, विनय आदि यथार्थ में जिनेन्द्र भगवान् की आराधना ही है। कहा भी है–

**ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।**
**न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयो:॥**

–सागारधर्मामृत, पं. आशाधरसूरि, 44

**अर्थ**– जो श्रुतदेवी (सरस्वती) की पूजा करते हैं, वे जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हैं, क्योंकि केवली भगवान ने श्रुतदेवी में और जिनेन्द्र की पूजा में कुछ भी अन्तर नहीं कहा है।

आचार्य मनीषियों ने शास्त्रों की रचना करते समय मंगलाचरण आदि में सरस्वती, भारती, शारदा, वाग्देवी एवं ब्राह्मी आदि के नामों से जो स्तुति, वंदना, नमस्कार आदि किया है, वह वस्तुतः जिनोपदेश, श्रुतज्ञान अथवा केवलज्ञान की प्राप्ति स्वरूप किया गया है। नमस्कार का प्रयोजन अष्टकर्मों का क्षय रूप एवं अष्टगुणों की प्राप्ति है। जैनाचार्यों, विद्वानों और कवियों द्वारा अनेक स्थानों में सरस्वती देवी से मंगलरूप एवं प्रार्थनापरक स्तुति की है। यथा–

**ॐकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिन:।**
**कामदं मोक्षदं देवमोंकाराय नमो नम:॥**
**अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंका:।**
**मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्॥**

**अर्थ**– बिन्दुसंयुक्त ऊँकार (ॐ) का योगी नित्य ध्यान करते हैं। यह काम (सांसारिक सुख) को एवं मोक्ष (आध्यात्मिक सुख) को देने वाला है। भगवती

सरस्वती ने निरन्तर बरसने वाले शब्दरूप जलधरों से समस्त संसार के मालिन्यरूप कलंक (दुर्लाञ्छन) को प्रक्षालित कर दिया है। मुनियों ने इसी वाग्देवता द्वारा तीर्थों की उपासना की है। वह सरस्वती देवी हमारे पापों का हरण करे।

**अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः।**
**अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥**

—आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार-कलश, 1/2

**अर्थ**— जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप को झलकाती है तथा जिसमें वस्तु के अनन्तधर्मों को बतलाया गया है, वह अनेकान्तमयी सरस्वती मूर्ति नित्य प्रकाश करे।

**सर्वज्ञं तमहं वन्दे परं ज्योतिस्तमोपहम्।**
**प्रवृत्ता यन्मुखाद्देवी सर्वभाषा सरस्वती॥**

—कातन्त्र रूपमाला, आचार्य शर्ववर्मा, पृष्ठ 22

**अर्थ**— उन सर्वज्ञ की वन्दना करता हूँ, जिनकी उत्कृष्ट ज्ञानरूपी ज्योति अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करती है, जिनके मुख से सर्वभाषात्मक सरस्वती देवी प्रवृत्त हुई।

**नमस्तस्यै सरस्वत्यै विमलज्ञानमूर्तये।**
**विचित्रा लोकयात्रेयं यत्प्रसादात् प्रवर्तते॥**

—कातन्त्र रूपमाला, आचार्य शर्ववर्मा, पृष्ठ 1

**सरः प्रसरणं सर्वज्ञानमया मूर्त्तिरस्या अस्तीति सरस्वती तस्यै। विगतं मलं यस्मात्तद्विमलं। ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानं विमलं च तत् ज्ञानं च विमलज्ञानम्। विमलज्ञानमेव मूर्त्तिर्यस्याः सा विमलज्ञानमूर्त्तिः तस्यै।**

**अर्थ**— विमल ज्ञान की साक्षात् प्रतिमा उस भगवती सरस्वती को नमस्कार हो, जिसकी प्रसन्नता प्राप्त कर यह अद्भुत संसार-यात्रा प्रवर्तित हो रही है।

**टीकार्थ**— सरः का अर्थ है प्रसरणशीलता और सभी प्रकार के ज्ञान स्वरूप मय जो मूर्ति है, वही सरस्वती है। जिसका मल अर्थात् अज्ञान नष्ट हो गया हो, उसे विमल कहते हैं, जिससे किसी वस्तु के बारे में जानकारी प्राप्त होती है, उसे ज्ञान कहते हैं और दोष रहित ज्ञान ही विमल या निर्मल ज्ञान कहा जाता है। विमलज्ञान ही जिसका स्वरूप है उसे ही विमलज्ञानमूर्त्ति कहा गया है और वही भगवती सरस्वती हैं, जिन्हें यहाँ नमस्कार किया गया है।

**चंचच्चंद्ररुचं कलापिगमनां यः पुंडरीकासनां,**
**संज्ञानाभयपुस्तकाक्षवलयप्रावारराजोज्ज्वलां ।**
**त्वामध्येति सरस्वति त्रिनययां ब्राह्मे मुहूर्ते मुदा,**
**व्याप्ताशाधरकीर्तिरस्तु च महाविद्यः स वन्द्यः सतां॥**

—सरस्वतीकल्पमन्त्र, आचार्य मल्लिषेण, 9, पृष्ठ 40

**अर्थ**– जिसकी कांति प्रकाशमान चन्द्रमा के समान है, मयूर पर जिसकी सवारी है, कमल जिसका आसन है, जिसके हाथ में ज्ञानमुद्रा है, एक हाथ में शास्त्र है, एक हाथ में अक्षमाला है, एक हाथ प्राणियों को अभयदान दे रहा है, जो श्रेष्ठ उत्तरांग (दुपट्टा चादर) पहने हुए हैं। सरस्वती का जो ब्राह्म मुहूर्त में ध्यान स्मरण करता है उसकी कीर्ति दशों दिशाओं में फैलती है। वह महान् विद्वान् हो जाता है और सज्जनों द्वारा अभिनन्दनीय होता है।

**प्रणम्य तां जगत्पूज्यां गुरुंश्च देवीसरस्वतीम्।**
**यस्याः प्रसादमात्रेण स्याद् रुद्रोऽपि कवीश्वरः॥**
**सुप्रसादं चतुष्कस्य लिखितां दुण्ढिकामिमाम्।**
**करोतु मे महायोगिध्यायां परमेश्वरी॥**

–धनप्रभसूरि : चतुष्क व्यवहार ढुण्ढिका

**अर्थ**– जगत्पूज्या और सरस्वती देवी को नमस्कार कर प्रसन्नमयी चतुष्क (कातन्त्र व्याकरण) की इस ढुण्ढिका टीका को मैंने लिखा है, जिसकी कृपा मात्र से रुद्र भी कवीश्वर हो गया। वह परमेश्वरी ध्यान करने पर मुझे महायोगी बनाए।

**प्रणम्य शारदां देवीं ज्ञाननेत्रप्रबोधिनीम्।**
**शार्ववर्मिकसूत्राणां प्रक्रियां च क्रमाद् ब्रुवे॥** –मेरुतुंगसूरि : बालावबोध

**अर्थ**– ज्ञाननेत्रों को खोलने वाली शारदा देवी को प्रणाम कर मैं आचार्य शर्ववर्मा के सूत्रों की प्रक्रिया क्रम से कहता हूँ।

**सरस्वत्याः प्रसादेन काव्यं कुर्वन्ति मानवाः।**
**तस्मान्निश्चलभावेन पूजनीया सरस्वती॥ 1॥**
**श्रीसर्वज्ञमुखोत्पन्ना, भारती बहुभाषिणी।**
**अज्ञानतिमिरं हन्ति, विद्या बहुविकासिनी॥ 2॥**

–नित्य पाठावलि, सरस्वतीनामस्तोत्रम्

**अर्थ**– सरस्वती देवी की कृपा से विद्वज्जन काव्यरचना में कुशल होते हैं, इसलिए अटल भक्तिभाव से वह सरस्वती देवी सदा पूज्य है। जो सरस्वती देवी श्री वीतराग-सर्वज्ञ प्रभु के मुखकमल से उत्पन्न हुई है, जो अनेकभाषा रूप है और जिससे अनेक विद्याओं का उदय हुआ है, वह सरस्वती देवी भव्यजीवों के अज्ञान-अन्धकार का नाश करती है।। 1-2।।

**सरस्वत्याः प्रसादेन रच्यतेऽमरकीर्तिना।**
**भाष्यं धनञ्जयस्येवं बालानां धीविवृद्धये॥**
**यद्यपि धनञ्जयो (येनो) क्तो भावो वक्तुं न शक्यते।**
**तथाऽप्यहं प्रवक्ष्यामि वाग्देव्याश्च प्रसादतः॥**

–नाममाला, धनञ्जय कवि, अमरकीर्ति विरचित भाष्य, 2-3/1

**अर्थ**– धनंजय द्वारा विरचित नाममाला का भाष्य बालकों की बुद्धि के विकास हेतु भगवती सरस्वती की कृपा से अमरकीर्ति द्वारा रचा जा रहा है। यद्यपि धनंजय के भावों को प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, फिर भी वाग्देवी की प्रसन्नता से मैं कहूँगा।

**सरः प्रसरणमस्त्यस्याः सरस्वती।** –नाममाला, 104

**अर्थ**– सरः का अर्थ है प्रसरणशीलता और प्रसरण से युक्त होने के कारण ज्ञान की देवी को सरस्वती कहा गया है, क्योंकि जिस तरह जल-वायु का प्रवाह होता है, उसी प्रकार ज्ञान का भी प्रवाह होता है।

**जहि संभव जिणवर-मुहकमल। सत्तभंग-वाणी जसु अमल॥**
**आगम-छंद-तक्क वर वाणि। सारद सद्द-अत्थ-पय-खाणि॥ 1॥**
**गुणणिहि बहु विज्जागमसार। पुठि मराल सहइ अविचार॥**
**छंद बहत्तरि-कला-भावती। सुकइ 'रल्ह' पणवइ सरसुती॥ 2॥**

–महाकवि रल्ह, जिनदत्तचरित्र

**अर्थ**– जो जिनेन्द्र भगवान् के मुखरूपी कमल से प्रकट हुई है, जिसकी सप्तभंगमयी वाणी है, जो आगम, छंद एवं तर्क से युक्त है –ऐसी शारदा शब्द, अर्थ एवं पद की खान है। जो गुणों की निधि एवं विद्या तथा आगम की सार-स्वरूपा है, जो स्वभावतः हंस की पीठ पर सुशोभित है, जिसे छंद एवं बहत्तर कलाएँ प्रिय हैं– ऐसी सरस्वती को 'रल्ह' कवि नमस्कार करता है।

**यस्याः संस्मृतिमात्राद् भवन्ति मतयः सुदृष्टपरमार्थाः।**
**वाचश्च बोधिविकलाः सा जयतु सरस्वती देवी॥**

–अभिधानराजेन्द्रकोश, 7/33

**अर्थ**– जिसके स्मरणमात्र से बुद्धि परमार्थ का दर्शन करने में समर्थ होती है और वाणी ज्ञानधारा से परिपूर्ण होती है, उस सरस्वती देवी की जय हो।

**नमः श्रीवर्द्धमानाय, श्रीपार्श्वप्रभवे नमः।**
**नमः श्रीमत्सरस्वत्यै, सहायेभ्यो नमो नमः॥**

–अभिधानराजेन्द्रकोश, 7/33

**अर्थ**– श्री वर्द्धमान भगवान की जय हो, श्री पार्श्वनाथ भगवान् की जय हो। श्री सरस्वती देवी को नमस्कार है, अन्य सहायकों (आचार्यों, मुनियों, साधु-सन्तों) को बार-बार नमस्कार है।

जैनेतर मनीषियों ने भी सरस्वती देवी का वर्णन किया है। वे ऐसी सरस्वती देवी को नमस्कार करते हैं, जो अज्ञान-तिमिरनाशक, ज्ञानसंवर्धिनी एवं दिव्य गुणों से पूर्ण है। **भारतीले सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे।**
**ता नश्चोदयत श्रिये॥** –ऋग. 1/24/188/8, द्वि. अष्टक

**सायण-** हे भारति! भरतः आदित्य तस्य सम्बन्धिनी भारती। तादृशि द्युलोक-देवते! हे इले! भू देवि! हे सरस्वति! सरः वाक् उदकं वा। तद्वत्यंतरिक्षदेवते तादृशि देवि। एताः क्षित्यादिदेवताः। एतास्तिस्रः आदित्य प्रभावविशेषरूपा इत्याहुः। यास्तिस्रः सर्वाः वो युष्मान् उपब्रुवे उपेत्य स्तौमि ता यूयं नोऽस्माश्छ्रये संपदे चोदयत, प्रेरयत।

**अर्थ**– भरत अर्थात् अन्तरिक्ष लोक के देव। भरत से सम्बद्ध होने के कारण इसे भारती कहा गया है। अर्थात् हे अन्तरिक्ष लोक में निवास करनेवाली देवीरूपा सरस्वती, इला अर्थात् पृथ्वी देवी, (सरः अर्थात् वाणी अथवा जल और उससे सम्बद्ध देवी अर्थात् वाग्देवी सरस्वती) मैं आप सबको बुलाता हूँ। तुम सब हमें ज्ञान-सम्पदा की ओर प्रेरित करो।

**नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।**
**पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्॥** –लघुसिद्धान्तकौमुदी, 1/1

**अर्थ**– मैं वरदराजाचार्य स्फटिकमणि सदृश निर्मल प्रशस्त गुणों से युक्त देदीप्यमान अथवा दिव्य गुणों से युक्त, सरस्वती देवी को नमन करके पाणिनि मुनि विरचित व्याकरणशास्त्र में प्रवेश के लिए 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

**वर्णाश्चत्वार एते हि येषां ब्राह्मी सरस्वती।**
**विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गताः॥**
–महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म 12/181/15

**अर्थ**– पूर्व में (पहले) ब्रह्मा के द्वारा चार वर्णों की स्थापना की गई थी और जिनके लिए ब्राह्मी लिपि तथा सरस्वती (विद्या) की रचना की थी, वे लोभ के कारण अज्ञानता को प्राप्त हो गए। –महाभारत, पूना, 1954, पृष्ठ 1025

**सरस्वती धृतिर्मेधा ह्रीः श्रीर्लक्ष्मीस्मृतिर्मतिः।**
**पान्तु वो मातरः सौम्याः सिद्धिदाश्च भवन्तु वः॥**
–भरत, नाट्यशास्त्र, 3/87

**अर्थ**– सरस्वती, धृति, मेधा, ह्री, श्री, लक्ष्मी, स्मृति एवं मति रूप सौम्य भाव रखने वाली माताएँ हमारी रक्षा करें और हमें सिद्धियाँ प्रदान करें।

**वाग्देवी शारदा ब्राह्मी भारती गीः सरस्वती।**
**हंसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु वः॥**
–हर्षकीर्ति : शारदीय नाममाला 1/2

**अर्थ**– वाग्देवी, शारदा, ब्राह्मी, भारती, गी, सरस्वती, हंसयाना, ब्रह्मपुत्री नाम वाली (देवी) सदा आप लोगों को वर प्रदान करने वाली हों।

**जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणां।**
**हरति तिमिरराशिं या प्रभा भानवीया॥**

**कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतीया।**
**वितरतु धुतदोषा सार्हती भारती वः॥** —सुभाषितरत्नसन्दोह, 1

**अर्थ**— जो भगवान् भास्कर की किरणें मार्ग के वृक्षों में अन्तर्निहित होकर विशेष आनन्द पैदा करती हैं और अन्धकार समूह का विनाश करती हैं। वही सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करने वाली प्रकाशित भारती जिनेश्वरों की वाणी हमारे दोषों को दूर करने वाली हमें ज्ञान प्रदान करे।

**नारायणं नमस्कृत्य, नरश्चैव नरोत्तमम्।**
**देवीं सरस्वतीश्चैव, ततो जयमुदीरयेत्॥** —देवीपुराण, 1/1

**अर्थ**— स्वयं नारायण और अन्य उत्तम मनुष्य भी देवी सरस्वती को नमस्कार करते हैं, अतः उसकी जय बोलनी चाहिए।

**दधतीं दक्षिणे हस्ते कमलं सुमनोहरम्।**
**अक्षमालां तथान्यस्मिंश्जिततारकं वर्चसम्॥**
**कमण्डलुं तथान्यस्मिन्दिव्यवारिप्रपूरितम्।**
**पुस्तकं च तथा वामे सर्वविद्यासमुद्भवम्॥** —स्कन्दपुराण, 46

**अर्थ**— दाएँ हाथ में सुन्दर मनोहर कमल धारण करती हुई तथा दूसरे हाथ में अक्षमाला तथा बाएँ हाथ में ताराओं से अधिक तेजस्वी कमण्डलु और दूसरे बाएँ हाथ में सर्वविद्या के उद्गमभूत पुस्तक को धारण करती हुई सरस्वती का ध्यान करना चाहिए।

**त्वं सिद्धिस्त्वं स्वधा स्वाहा त्वं पवित्रं मतं महत्।**
**सन्ध्या रात्रिः प्रभा भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती॥** —पद्मपुराण, 5/27

**अर्थ**— हे सरस्वति, तुम ही सिद्धि, स्वधा, स्वाहा हो। तुम ही पवित्र महान् मत हो। तुम ही सन्ध्या, रात्रि, प्रभा, भूति, मेधा, श्रद्धा हो।

**पुष्टिर्धृतिस्तथा कीर्तिः कान्तिः क्षमा तथा।**
**स्वधा स्वाहा तथा वाणी तवायत्तमिदं जगत्॥**
**त्वमेव सर्वभूतेषु वाणीरूपेण संस्थिता।**
**एवं सरस्वती तेन स्तुता भगवती तदा॥** —वामनपुराण, अध्याय 40

**अर्थ**— तुम पुष्टि, धृति, कीर्ति, कान्ति, क्षमा, स्वधा, स्वाहा और वाणी हो। तुमने ही इस जगत् को अपने वश में किया है। तुम ही सभी प्राणियों में वाणी रूप से विराजमान हो। इस प्रकार से भगवती सरस्वती की स्तुति की गई।

**वागधिष्ठातृदेवी सा कवीनामिष्टदेवता।**
**शुद्धसत्त्वस्वरूपा च शान्तरूपा सरस्वती॥**
—संस्कृत-साहित्य में सरस्वती, पृष्ठ 119

**अर्थ**– शान्तरूप सरस्वती ही वाणी की अधिदेवता, कवियों की इष्ट देवता, शुद्धसत्त्व स्वरूप वाली है।

**भारती भारतं गत्वा ब्राह्मी च ब्रह्मण: प्रिया।**
**वागधिष्ठातृदेवी सा तेन वाणी च कीर्त्तिता॥**
**सर्वविश्वं परिव्याप्य स्रोतस्येव हि दृश्यते।**
**हरि: सर: सु तस्येयं तेन नाम्ना सरस्वती॥**

–ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृतिखण्ड, अध्याय 7

**अर्थ**– भारत में होने के कारण भारती, परब्रह्म अर्थात् परमात्मा को प्रिय होने के कारण ब्राह्मी, वाग् की अधिष्ठात्री देवी होने के कारण वाणी नामों से कही जाती है। सरस्वती देवी ने सम्पूर्ण विश्व को स्रोत के समान व्याप्त किया है।'हरि' भगवान ही मूल सर हैं, उनसे निकलने के कारण इन्हें सरस्वती नाम से जाना जाता है।

**आदौ सरस्वती पूजा श्रीकृष्णेन विनिर्मिता।**
**यत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ मूर्खो भवति पण्डित:॥** –ब्रह्मवैवर्त पुराण, अध्याय 3

**अर्थ**– जिनकी कृपा से मूर्ख पण्डित हो जाते हैं, मुनिश्रेष्ठ हो जाते हैं, ऐसी सरस्वती की आदि पूजा नारायण श्रीकृष्ण ने की।

**धातुश्चतुर्मुखीकण्ठशृगटकविहारिणीम् ।**
**नित्यं प्रगल्भवाचालामुपतिष्ठे सरस्वतीम्॥**

**अर्थ**– ब्रह्मा के चारों मुखों के कण्ठ रूपी पर्वत पर विहार करने वाली प्रगल्भ वाणी से परिपूर्ण सरस्वती की मैं नित्य उपासना करता हूँ।

**शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे।**
**सर्वदा सर्वदास्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात्॥**

**अर्थ**– शरत्कालीन कमल के समान मुख वाली शारदा, सभी कामनाओं को पूरा करने वाली मेरे मुखरूपी कमल में सर्वदा श्रेष्ठ निधि का संन्निधान करें।

**करबदरसदृशमखिलं भुवनतलं यत्प्रसादत: कवय:।**
**पश्यन्ति सूक्ष्ममतय: सा जयति सरस्वती देवी॥**

–श्रीसुभाषितरत्नभाण्डागारम्, पृष्ठ 3

**अर्थ**– सूक्ष्म मति वाले कविगण जिनकी कृपा से हाथ में रखे हुए बेर के फल के समान सम्पूर्ण विश्व को देखते हैं, ऐसी देवी सरस्वती की जय हो रही है।

**वचांसि वाचस्पतिमत्सरेण साराणि लब्धुं ग्रहमण्डलीव।**
**मुक्ताक्षरसूत्रमुपैति यस्या: सा सप्रसादास्तु सरस्वती व:॥**

–श्रीसुभाषितरत्नभाण्डागारम्, पृष्ठ 3

**अर्थ**– वाणी के सार को प्राप्त करने की कामना से मानो सम्पूर्ण ग्रहमण्डली

मुक्ताक्षर की माला का रूप धारण करती है, ऐसी सरस्वती आपके ऊपर कृपा करे।

जैन संस्कृति इतिहास में ही नहीं, वरन् ऐतिहासिक भी है, पुस्तकों में ही नहीं, वरन् प्राणों में भी दिखाई देती है। जैन संस्कृति एवं कला का संरक्षण, संवर्द्धन न होने के कारण आज यह ऐतिहासिक धरोहर विलुप्त होती जा रही है। समय-समय पर ऐसे अनेक जैन राजा या जैनधर्म से प्रभावित राजा हुये हैं जिन्होंने जैन संस्कृति एवं उसकी कला का संरक्षण-संवर्द्धन किया है।

भारत के इतिहास में अनेक प्रसिद्ध राजाओं ने जिनभक्ति और वाग्देवी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। मध्ययुग के विद्याप्रेमी और काव्यरसिक शासक राजा भोज भी जिनभक्त थे। 'भूपालस्तोत्र' में उन्होंने कहा है कि जो व्यक्ति श्री तीर्थंकर जिनेन्द्र के चरणयुगल की प्रतिदिन प्रातःकाल स्तुति करता है, जिनदर्शन करता है, उसे मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। वह इस पृथ्वी का राजा होता है और उसे प्रत्येक कार्य में विजय प्राप्त होती है। उसकी सब जगह कीर्ति फैल जाती है, वह सदा आनन्द में मग्न रहता है, उसे वाग्देवी-प्रणीत सभी विद्याएँ प्राप्त होती हैं तथा अन्त में उस धर्मात्मा के भी पंचकल्याणक आदि महोत्सव होते हैं। यथा–

**श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदम्।**
**वाग्देवीरतिकेतनं यरमाक्रीडानिधानं महत्॥**
**स स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदम्।**
**प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनांघ्रिद्वयम्॥**

–भूपालस्तोत्र, जिनचतुर्विंशतिका

कविवर भूधरदास ने 'भूपाल-चतुर्विंशतिका' में भी जिनदेव के दर्शन का माहात्म्य प्रकट करते हुए इसी भावना को व्यक्त किया है कि जिनदर्शन में लक्ष्मी-सुख का वास, सरस्वती का निवास और विजय की आधारभूमि है। यथा–

**श्री सुख-वास-महीकुल धाम, कीरति-हर्षण-थल अभिराम।**
**सुरसुति के रतिमहल महान, जय-जुवती को खेलन थान॥**
**अरुण वरण वांछित वरदाय, जगतपूज्य ऐसे जिन पाय।**
**दर्शन प्राप्त करै जो कोय, सब शिवनाथ सो जन होय॥**

–भूपाल-चतुर्विंशतिका, कविवर भूधरदास, पृष्ठ 416

भावपाहुड़ (आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 151) की संस्कृत-टीका में 'उक्तं च श्रीभोजराजमहाराजेन' उल्लेख मिलता है। श्री श्रुतसागरसूरि ने भोजराज महाराज के 'भूपाल चतुर्विंशति जिनस्तवनम्' के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए 'जिनदर्शन' के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है–

**सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय,**
**द्रष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु।**

**अन्येन किं तदिह नाथ! तवैव वक्त्रम्,**
**त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयम् ॥**

**अर्थ**– हे वृषभनाथ! प्रातः सोकर उठे हुए सत्पुरुष श्रावक और श्राविका को यदि सुमंगल के लिए कोई मांगलिक वस्तु दर्शन करने योग्य है, तो वह दूसरी वस्तु क्या हो सकती है? उसे तीन लोक के मंगलों का घर स्वरूप आपके श्रीमुख का ही दर्शन (पूजन) करना चाहिए। यथा–

**सोकर जागै जो धीमान, पंडित सुधी सुमुख गुणवान।**
**आपन मंगलहेत प्रशस्त, अवलोकन चाहैं कछु वस्त॥**
**और वस्तु देखें किस काज, जो तुम मुख राजै जिनराज।**
**तीन लोक को मंगलथान, प्रेक्षणीय तिहुं जग कल्याण ॥**

–भूपाल-चतुर्विंशतिका, कविवर भूधरदास, 18

जिनदर्शन और सरस्वती आराधना के इस घनिष्ठ सम्बन्ध की साक्षी है– धारा नगरी से प्राप्त वाग्देवी की मनोज्ञ प्रतिमा। इस सरस्वती प्रतिमा का विश्लेषण 'अर्हत् वचन' शोध-पत्रिका, इन्दौर में भी प्रकाशित हुआ है। इस सरस्वती प्रतिमा में जिनेन्द्रबिम्ब, विद्याधर, ज्ञानांकुश, आगम-ताड़पत्र, अक्षमाला, कमण्डलु, भक्त भोजराजा एवं श्रीफल लिये हुए महाकुमार अंकित है। आचार्य सोमदेवसूरि ने सरस्वती और श्रमणमुनि के हाथ में सुशोभित कमण्डलु को अर्थशास्त्र का निदर्शन करने वाला कहा है; क्योंकि इसमें जल आने का द्वार बड़ा और खर्च करने का छिद्र छोटा होता है। आय अधिक और व्यय थोड़ा, यही सुखी जीवन का रहस्य है–

**आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनम्।**

–नीतिवाक्यामृत, सोमदेवसूरि, 18-61

जिनमुखदर्शन और सरस्वती-आराधना के भक्त राजा भोज ने सदैव विद्वत्ता का सम्मान किया है। उनकी घोषणा थी कि–

**चाण्डालोऽपि भवेद् विद्वान्, यः स तिष्ठतु मे पुरि।**
**विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः, स पुराद् बहिरस्तु मे॥**

–भोजप्रबन्ध, बल्लभदेव, 74

चाण्डाल भी यदि विद्वान् हो तो वह मेरे धारा नगर में प्रतिष्ठित हो और यदि ब्राह्मण होते हुए भी मूर्ख हो तो वह मेरे धारा नगर से वह बाहर हो जाये।

❖❖

# शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

जैनाचार्य पूज्यपाद, श्रुतकीर्ति, वीरसेन, कुमारसेन, पात्रकेसरी, सिद्धसेन, दशरथगुरु, मेघनाद, समन्तभद्र एवं जटाचार्य आदि ने वैद्यक संबंधी ग्रन्थ रचकर 'कायशुद्धि' की चिकित्सा का विस्तृत वर्णन किया है। 'कल्याणकारक' ग्रन्थ में उग्रादित्य आचार्य ने भी कुछेक आचार्यों के नाम व उनके द्वारा रचित ग्रन्थों के विषय को उद्धृत किया है। यथा–

**शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्र-**
**स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।**
**काये यो सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां,**
**वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनींद्रैः॥**

–कल्याणकारक, 20-85

अर्थात् पूज्यपाद आचार्य ने शालाक्य (—शिराभेदन) नामक ग्रन्थ बनाया है। पात्रस्वामी ने शल्यतंत्र नामक ग्रन्थ की रचना की है। सिद्धसेनाचार्य ने विष व उग्रग्रहों की शमनविधि का निरूपण किया है। दशरथ गुरु व मेघनाद आचार्य ने बाल रोगों की चिकित्सा संबंधी ग्रन्थ का प्ररूपण किया है। सिंहनाद आचार्य ने शरीर-बलवर्द्धक प्रयोगों का निरूपण किया है।

उग्रादित्याचार्य ने लघुता प्रकट करते हुए कहा है कि श्री समन्तभद्राचार्य ने अष्टांग नामक ग्रन्थ में विस्तृत व गम्भीर विवेचन किया है। उसका अनुकरण कर मैंने यहाँ पर संक्षेप से यथाशक्ति सम्पूर्ण विषयों से परिपूर्ण इस कल्याणकारक को लिखा है। यथा–

**अष्टांगप्यखिलमत्र समंतभद्रैः,**
**प्रोक्तं सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात्।**
**संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या,**
**कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ॥** –वही, 20-86

दिगम्बराचार्यों ने स्वास्थ्य को दो प्रकार से बतलाया है। एक पारमार्थिक स्वास्थ्य और दूसरा व्यावहारिक स्वास्थ्य। ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के नाश से उत्पन्न

अविनश्वर अतींद्रिय व अद्वितीय आत्मीय सुख को पारमार्थिक स्वास्थ्य कहते हैं। देह-स्थित सप्त धातु, अग्नि व वात-पित्तादि दोषों में समता, इन्द्रियों में प्रसन्नता, मन में आनन्द एवं शरीर नीरोग रहना —इसे व्यावहारिक स्वास्थ्य कहते हैं।

स्वास्थ्य का, स्वस्थ न होने का आगम में असाता वेदनीय कर्म को मुख्य कारण बतलाया है और वात, पित्त, कफ में विषमता आदि को बाह्य कारण ग्रहण किया है। इसी प्रकार रोग के शान्त होने में भी मुख्यकारण असातावेदनीय कर्म की उदीरणा व साता वेदनीय का उदय एवं धर्मसेवनादि है।

अंतरंग स्वस्थता के लिए श्रमण व श्रावक को जप-तपादि शुभ/शुद्धोपयोग रूप कार्य करना चाहिए व बहिरंग स्वस्थता के लिए शरीर-विज्ञान का ज्ञान कर कुशल वैद्यकों की सलाह लेकर शुद्ध औषधि पूर्वक कायोपचार कराना चाहिए।

उग्रादित्याचार्य इसी ग्रन्थ में मुनि के लिए कहते हैं–

**आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित्,**
**स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम्।**
**अन्यस्स्वदोषकृतरोगनिपीडितांगो ,**
**बध्नाति कर्म निजदुष्परिणामभेदात्॥** –कल्याणकारक, 20-89

जो विद्वान् मुनि आरोग्यशास्त्र को अच्छी तरह जानकर उसी प्रकार आहार, विहार, निहार रखते हुए स्वास्थ्य-रक्षा कर लेता है, वह सिद्धसुख के मार्ग को प्राप्त कर लेता है। जो स्वास्थ्य-रक्षा-विधान को न जानकर अपने आरोग्य की रक्षा नहीं कर पाता है, वह अनेक दोषों से उत्पन्न रोगों से पीड़ित होकर अनेक प्रकार के दुष्परिणामों से कर्मबंध कर लेता है।

आरोग्य की क्या आवश्यकता है— इस पर पुनः आचार्य कहते हैं–

**न धर्मस्य कर्ता न चार्थस्य हर्ता,**
**न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता।**
**नरो बुद्धिमान् धीरसत्त्वोऽपि रोगी,**
**यतस्तद्विनाशाद्भवेन्नैव मर्त्यः॥** –कल्याणकारक, 20-90

बुद्धिमान् मनुष्य दृढ़मनस्क होने पर भी यदि रोगी हो तो वह न धर्म कर सकता है, न धन कमा सकता है, न मोक्षसाधन कर सकता है अर्थात् रोगी धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चतुः पुरुषार्थ का साधन नहीं कर सकता। वह मनुष्यभव में जन्म लेने पर भी मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है, क्योंकि मनुष्यभव की सफलता पुरुषार्थ प्राप्त करने से ही होती है।

चिकित्सा करने वाला वैद्य कैसा होना चाहिए— इस विषय पर कल्याणकारक-कार ने जो प्रतिपादन किया है वह सभी वैद्यों को ध्यान में रखने लायक है।

**चिकित्सकः सत्यपरः सुधीरः क्षमन्वितः हस्तलघुत्वयुक्तः।**
**स्वयं कृती दृष्टमहाप्रयोगः समस्तशास्त्रार्थविदप्रमादी॥**

—कल्याणकारक, 7-38

वैद्य सत्यनिष्ठ, धीर, क्षमा सम्पन्न, हस्त लाघव युक्त स्वयं औषधि तैयार करने में समर्थ बड़े-बड़े रोगों पर किए गए प्रयोगों को देखा हुआ, सम्पूर्ण शास्त्रों को जानने वाला व आलस्य रहित होना चाहिए।

वैद्य वही सफल होता है जो रोगियों को अपने पुत्र के समान मान कर चिकित्सा करता है। शास्त्रकारों ने कहा कि अज्ञानी वैद्य यदि लोभ व स्वार्थवश किसी की चिकित्सा करता है तो वह रोगियों को मारता है। ऐसे मूर्ख वैद्यों से दूर रहना चाहिए। इस संबंध में उग्रादित्याचार्य का कहना है कि—

**अज्ञानतो वाप्यातिलोभमोहादशास्त्रविद्यः कुरुते चिकित्साम्।**
**सर्वानसौ मारयतीह जन्तून् क्षितीश्वरैरत्र निवारणीयः॥**

—कल्याणकारक, 7-49

अज्ञानी के द्वारा प्रयुक्त अमृततुल्य औषधि भी विष व शस्त्र के समान होते हैं। अज्ञान, लोभ व मोह से शास्त्र को नहीं जानते हुए भी चिकित्सा कार्य में जो प्रवृत्त होता है वह सभी प्राणियों को मारता है। राजाओं को उचित है कि वे ऐसे वैद्यों को चिकित्सा करने से रोकें।

अनेक जैनाचार्यों ने मन, वचन और काय की चिकित्सा के लिए अहिंसात्मक दृष्टि से उपाय व उपचार हेतु अनेक ग्रन्थ लिखे। जैनधर्म अहिंसा-प्रधान होने से उन महाव्रतधारी मुनियों ने इस बात का भी प्रयत्न किया कि औषध-निर्माण के कार्य में किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं होना चाहिए।

आयुर्वेद-ग्रन्थकारों ने वनस्पतियों को औषधि में प्रधान स्थान दिया। पुष्पायुर्वेद में ग्रन्थकार ने अट्ठारह हजार (18,000) जाति के कुसुम (पराग रहित) पुष्पों से ही रसायनौषधियों के प्रयोगों को लिखा है। पुष्पायुर्वेद का निर्माण जैनाचार्यों के सिवाय और किसी ने भी नहीं किया है।

❖❖

# तत्त्वज्ञान और मुनि

**तत्त्वज्ञानविहीनानां नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम्।**

—आचार्य वादीभसिंह, क्षत्रचूड़ामणि 6/18

तत्त्वज्ञान से रहित जीवों का निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बनना भी निष्फल है।

आचार्य वादीभसिंह ने यहाँ एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी सन्देश हम सबको यह दिया है कि तत्त्वज्ञान के बिना तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बनना भी निष्फल है। अतः हमें कोटि उपाय करके भी सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान अवश्य करना चाहिए। मोक्षमार्ग हेतु तत्त्वज्ञान आवश्यक ही नहीं, अत्यन्त अनिवार्य है। उसके बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही सम्भव नहीं है।

तथा यह तत्त्वज्ञान नयज्ञान के बिना नहीं हो सकता, अतः जीवन में नयज्ञान भी अनिवार्य है। समस्त पूर्वाचार्यों ने तत्त्वज्ञान के लिए नयज्ञान की उपयोगिता का सशक्त प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ—

**णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदम्हि।**
**तो णयवादे णिवुणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति॥**
**तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्हि जदिदव्वं।**
**अत्थ गई वि य णय-वाय-गहण-लीणा दुरहियम्मा॥**

—षट्खंडागम 1/1/1/68

अर्थात् तीर्थंकर जिनेन्द्र भगवान के मत से नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए। अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागम को भली प्रकार जान लिया है उसे ही अर्थसम्पादन में अर्थात् नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थ के परिज्ञान करने में प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि पदार्थों का परिज्ञान भी नयवाद रूपी जंगल में अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य अर्थात् जानने के लिए कठिन है।

समयसार एक उच्च कोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ है, फिर भी आचार्य देवसेन ने उसे समझने के लिए नय-प्रमाण के ज्ञान को आवश्यक कहा है। उन्होंने अपने नयचक्र में प्रारंभ में ही समयसार को नय-प्रमाणादि रत्नों का विशाल पर्वत बतलाते हुए नयचक्र के ज्ञान की हार्दिक प्रेरणा प्रदान की है। यथा—

**जिनपतिमतमह्यां रत्नशैलादपापाद्,**
**इह हि समयसाराद् बुद्धबुद्ध्या गृहीत्वा।**
**प्रहतघनविमोहं सुप्रमाणादिरत्नं,**
**श्रुतभवनसुदीपं विद्धि तद्व्यापनीयम्॥**

–आचार्य देवसेन, श्रुतभवनदीपकनयचक्र, पृष्ठ 17

निश्चय से तीर्थंकर भगवान के धर्मरूपी इस पृथ्वी पर समयसार रूपी पवित्र रत्नमयी पर्वत से विवेकबुद्धि के द्वारा अच्छी तरह समझकर घने मोहान्धकार से रहित सम्यक् नय-प्रमाणादि रत्नों से भरे हुए इस समयसार नामक रत्नपर्वत से व्याप्त श्रुतज्ञान रूपी नंदाद्वीप स्वरूप 'श्रुतभवनदीपक' नामवाले नयचक्र को जानो। प्रमाण का अर्थ है–

**प्रमाण**– प्र=उत्कृष्ट, **मा**=अन्तरंग लक्ष्मी केवलज्ञान और बहिरंग लक्ष्मी समवशरण **अण्**=दिव्यध्वनि ही प्रमाण है।

सारांश यह है कि नयज्ञान के बिना शास्त्रों की एक पंक्ति भी ठीक से नहीं समझी जा सकती, अतः सर्वप्रथम नयज्ञान करना चाहिए और फिर उस नयज्ञान से तत्त्वज्ञान करके सम्यक्चारित्र को धारण करना चाहिए। यही जीव के कल्याण की समीचीन विधि है।

वर्तमान में तत्त्वज्ञान/नयज्ञान की स्थिति बड़ी शोचनीय है। अनेक साधु भी इस कसौटी पर असफल सिद्ध हो रहे हैं, जबकि साधुओं को तो विशेष रूप से नयों का ज्ञाता होना चाहिए।

वर्तमान में साधु-समुदाय में जितनी भी कमियाँ दिखाई देती हैं, असल में उन सबका मूल कारण तत्त्वज्ञान/नयज्ञान का अभाव है। ज्ञान क्या है, उसके कितने भेद-प्रभेद हैं, उन सबका क्या-क्या स्वरूप है– इतना ही आज हमारे कुछ साधुओं को मालूम नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो इस सम्बन्ध में यहाँ तक लिख दिया है कि जिसके पास मतिज्ञान के चार भेदों– अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा— की भी सम्पत्ति है मैं उसे प्रणाम करता हूँ। यथा–

**उग्गह-ईहावायाधारणगुणसंपदेहि संजुत्ता।**
**सुत्तत्थभावणाए भावियमाणेहि वंदामि॥**

–आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्यभक्ति, 9

वे आचार्य परमागम अर्थ की भावना से भाव्यमान– अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा नामक चार मतिज्ञान रूपी संपदाओं से संयुक्त होते हैं, उन्हें मैं (कुन्दकुन्द) नमस्कार करता हूँ।

विशेष– अवग्रह का अर्थ आरंभिक ज्ञान है। यह एक तरह का क्रियाशील ज्ञान है।

**मतिज्ञानं चतुर्विधम्।** –लघीयस्त्रय 1/5

अतः यदि हमारे साधु नयज्ञान करके तत्त्वज्ञान करने में लग जाएँ और सम्यक्ज्ञान का अंश भी प्राप्त कर लें तो वे पूजनीय-वंदनीय बन सकते हैं। आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द एवं उमास्वामी आदि समस्त मुनिराज भी अपने तत्त्वज्ञान/नयज्ञान के कारण ही परमपूजनीय माने जाते हैं–

**धरसेनं मुनीन्द्रं च पुष्पदन्तसमाह्वयम्।**
**जिनचन्द्रं कुन्दकुन्दमुमास्वामिनमर्थये॥**

–आचार्य जयसेन, प्रतिष्ठापाठ 316

मात्र दूसरों की चिंता में उलझे रहना ठीक नहीं है। आचार्यों ने परचिंता को अधम से अधम कार्य कहा है– **परचिन्ताऽधमाऽधमा।**

क्योंकि जो दूसरों की आत्माओं का उद्धार करते फिरते हैं, वे प्रायः अपनी आत्मा को भूल जाते हैं। अतः सर्वप्रथम आत्महित करना चाहिए–

**आदहिदं कादव्वं जदि सक्कदि परहिदं पि कादव्वं।**
**आदहिद परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥**

–अनगार धर्मामृत

अन्तिम तात्पर्य यही है कि जीवन में नयज्ञान अत्यन्त अनिवार्य है, उसके बिना कुछ भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। महाकवि कालिदास ने भी 'अर्हत्' को 'नयचक्षुषे' विशेषण देकर उनके नयप्रमाण-ज्ञातृत्व की ओर संकेत किया है–

**अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे।**

–महाकवि कालिदास, रघुवंश 1/55

**नयः शास्त्रमेव चक्षुस्तत्त्वावेदकं प्रमाणं यस्य तस्मै नयचक्षुसे। अत एवार्हते प्रशस्ताय, पूज्यायेत्यर्थः।** –संजीविनी टीका

इससे ज्ञात होता है कि महाकवि कालिदास को भी जैनदर्शन का अच्छा ज्ञान था। वे जानते थे कि नय-व्यवस्था अरिहंतों की, जैनदर्शन की मौलिक विशेषता है।

महाकवि कालिदास ने एक श्लोक और लिखा है जिससे सिद्ध होता है कि कालिदास जैनदर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने 'कुमारसम्भव' में शिवजी के मुख से ऋषियों को निम्नलिखित उपदेश दिलाया है–

**अद्यप्रभृति भूतानामभिगम्योऽस्मि शुद्धये।**
**यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते॥***

–महाकवि कालिदास, कुमारसम्भव, 6-56

**अर्थ**– आज से मैं उसी की शरण को प्राप्त करता हूँ जो सभी जीवों की शुद्धि के लिए बताया गया है, क्योंकि जो अरिहंतों के द्वारा कहा गया है वही वास्तव

*यह श्लोक मुझे अन्तर्राष्ट्रिय ख्यातिप्राप्त विद्वान् डॉ. सत्यव्रत शास्त्री ने बताया है।

में धर्म तीर्थ है।

वर्तमान में जिनकल्पी साधु नहीं होते, स्थविरकल्पी साधु होते हैं, जिनका स्वरूप इसप्रकार है–

**संहणणस्स गुणेण य, दुस्सम कालस्स तह पहावणे।**
**पुर णयर गामवासी, थविरे कप्पे ठिया जाया॥**

–आचार्य देवसेन, भावसंग्रह 127

इस दुषम काल में शरीर के संहनन बलवान् नहीं होते हैं इसलिये वे अनगार किसी नगर, ग्राम व किसी पुर में रहते हैं और अपने तप के प्रभाव से स्थविरकल्पी अनगार कहलाते है।

क्योंकि वास्तव में साधु को जनपद या जंगल में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता–

**थिरकय जोगाणं पुण, मुणीण ज्झाणेसु णिच्चलमणाणं।**
**गाममि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे य ण विसेसो॥**

–आचार्य वीरसेन, धवला, वग्ग., पु. 13, 5, 4, 26 पृष्ठ 67

**अर्थ**– जिन्होंने अपने योगों को स्थिर कर लिया है और जिसका मन ध्यान में निश्चल है ऐसे मुनियों के लिये मनुष्यों से व्याप्त जनपद, ग्राम और शून्य जंगल में कोई अन्तर नहीं है।

ऐसा ही आचार्य शुभचन्द्र ने भी कहा है–

**विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।**
**सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः॥**

–आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, 16/34/854

**अर्थ**– जो अनगार ममता को छोड़कर निःस्पृह हो जाता है वह चाहे जन से शून्य वन-स्थान में एकान्त अवस्थित हो और चाहे जनसमुदाय से व्याप्त किसी नगर आदि में अवस्थित हो, तथा इसी प्रकार से वह चाहे दुःख की अवस्था में हो और चाहे सुख की अवस्था में हो; वह सब ही अवस्था में प्रतिबद्ध से रहित होता है– वह सर्वत्र स्वाधीन सुख का ही अनुभव करता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि हमारे साधुओं को निरंतर शास्त्राध्ययन द्वारा ठोस तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसी से उनका अपना और सम्पूर्ण समाज का हित संभव है। बिना ज्ञान के किसी भी समस्या का समाधान नहीं होगा। ज्ञान से ही सर्व समस्याओं का समाधान होता है।

❖❖

# समय का मूल्य

**कालातिपातमात्रेण कर्तव्य हि विनश्यति** प्रत्येक वस्तु का अपना पृथक् मूल्य होता है। इस संसार में मूल्य रहित कोई वस्तु नहीं। काल का सूक्ष्मतम क्षण भाग ही क्षण-क्षण, संयुक्त होकर मिनट हो रहा है और दिनों में परिणत होता है। ये दिन मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युगों में परिवर्तित होते जाते हैं। काल की यह सूक्ष्म और स्थूल गतिक्रिया है। काल क्षण भाग पर अभी वर्तमान की सत्ता का बोध कराता है और दूसरे ही क्षण अतीत हो जाता है। यह इसका अविच्छिन्न क्रम है जिसमें कभी व्याघात नहीं होता है। वर्तमान के मुक्त गर्भ से अतीत और भोग्य गर्भ से भविष्यत् काल की उत्पत्ति होती है। समय के इस सूक्ष्म रूप को जानने वालों ने मनुष्य को चेतावनी दी है कि वह रूपये-पैसे के समान ही, बल्कि उससे भी अधिक सावधानी से समय का हिसाब रखें। उन्होंने लिखा है–

**क्षणं वित्तं क्षणं चित्तं क्षणं जीवति मानवः।**
**यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः॥**

वित्त क्षण में नष्ट हो जाता है, चित्त की स्थिति क्षण में बदल जाती है और मनुष्य का जीवन-दीप क्षण में बुझ जाता है। काल को कहीं करूणा नहीं है। धर्म की गति क्षिप्रगामिनी है अर्थात् धर्म ही काल पर आरूढ़ होकर धार्मिक का अनुगमन करता है और क्योंकि जीवन क्षण-बुद्बुद् है, धर्मसंचय में दीर्घ-सूत्रता नहीं करनी चाहिए। जहाँ शतायु जीने वाले मनुष्य को क्षणजीवी बताया है, उसका यही आशय है कि जीवित व्यक्ति के परमाणु स्कन्धों में प्रतिक्षण जन्म-मरण की प्रक्रिया संचार कर रही है। जीवन के सौ वर्ष भले रहें परन्तु मृत्यु का तो एक क्षण ही आता है। जो आंधी के उन्मत्त स्पर्श से दीपक के समान प्राणों का देह से अपहरण कर ले जाता है। वह क्षण कभी भी आ सकता है। दस्यु अथवा तस्कर तो रात्रि के तिमिर में किसी का अर्थ हरण करते हैं, परन्तु काल तो निर्भय होकर विश्व के घाट-घाट देखता घूमता है। उसे न करुणा है, न भय। **सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः** जिसकी सत्ता के समक्ष सब कुछ स्मृति शेष रह जाता है, उस महाकाल को नमस्कार है। किसी विज्ञ सूक्तिकार ने कहा है–**प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद्भक्षकः** गये हुए दिन वापस नहीं लौटते, यह काल संसार-भक्षक है। **कालेन कीलितं सर्वम्**– संसार के यावत् पदार्थ काल से कीलित

हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे काल स्पर्श नहीं करता हो। जैसे माला के पुष्प में से सूत्र निकलता है, वैसे ही काल समस्त जड़-चेतन को विद्ध कर स्थित रहता है। काल से जन्म और मरण के स्मृति समयांकन से जाने जाते हैं। दिन और रात्रि समय का चक्कर लगाते हैं। समय से ऋतुओं का आगमन और वर्षों की गणना सम्भव होती है। **कालेन बलिरिन्द्रः कृतः कालेन व्यवरोपितः**—काल ने बलि को इन्द्र बनाया और काल ने ही हटा दिया। **समय एव करोति बलाबलम्** बलवान् तथा निर्बल समय के ही पर्याय हैं। सूर्य प्रातःकाल बलसमृद्ध होता है, उसके ग्रह बलवान् होते हैं और सायंकाल अस्तवेला में वे ही बलवान् मुहूर्त क्षितिज के गर्त में डूब जाते हैं। प्राचीन राजवंशों का इतिहास समय के बलाबल का इतिवृत्त है। जो समय के इस रहस्य को जान लेता है, वह समय का मित्र हो जाता है। उसके कानों में समय शंखध्वनि करता रहता है कि जागो, उठो और अपने भूति कर्मों में (कल्याणकारी कार्यों में) जुट जाओ। **उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु। भविष्यत्येवेति मनः कृत्वा सततमव्यथैः।** —कार्यसिद्धि अवश्य होगी, ऐसा विश्वास रखते हुए व्यथा का परित्याग करो। क्योंकि **अनिर्वेदःश्रियो मूलम्** लक्ष्मी का मूल्य अखिन्नता है। जो विघ्न-बाधाओं से खिन्न होकर कार्य से विरत हो गया, उसे सिद्धि नहीं मिलती। क्योंकि—

**नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न च शश्वत् प्रतीक्षिणः।**
**न च लोकरवाद्भीता न क्लीबा न च मायिनः॥**

जो आलसी हैं, नपुंसक हैं, मायाचारी हैं, लोग क्या कहेंगे—ऐसे विचारमूढ़ होकर कर्तव्यकर्म से विमुख हैं, तथा जो निरन्तर प्रतीक्षा करते रहते हैं कि अभी अच्छा समय नहीं आया जब आएगा तब अमुक कार्य करूँगा, इत्यादि विषम चिन्तन करने वाले कभी सफल नहीं होते, उनके पास अनुकूल समय कभी नहीं आता। वे अवसर का मुख उसी प्रकार देखने को तरसते हैं जैसे बन्ध्या पुत्र को, क्योंकि अवसर स्वयं किसी-किसी भाग्यशाली के पूर्वोपार्जित पुण्य से प्राप्त होता है, अन्यथा उसे पुरुषार्थी स्वयं आगे बढ़कर पकड़ लाते हैं। किसी अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि समय का शिर पीछे से गंजा है। यदि कोई उसके सामने आने पर स्वागत कर ले तो वह उसी का मित्र होकर साथ देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। किन्तु यदि कोई स्वागत के उस दुर्लभ अवसर को चूक जाए तो समय लौट कर चल देता है, क्योंकि वह गंजा है, पीछे से उसे कोई पकड़ नहीं सकता है। इसलिए कुछ लोग क्षण-क्षण को मूल्यवान बनाकर सम्पन्नता के शिखरों पर जा पहुँचे और दूसरे घण्टे और दिवस गिनते हुए सीढ़ियां चढ़ने का अनुकूल मुहूर्त देखते गर्त से अपना उद्धार नहीं कर सके। किसी ने उचित ही परामर्श दिया है कि 'चलती हुई चिऊंटी भी सौ योजन जा पहुँचती है और न चलने पर महा पराक्रमी गरुड़ एक पद भी नहीं पहुँच पाता।

**गच्छन् पिपीलिका याति योजनानां शतान्यपि।**
**अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति॥**

सिद्ध है कि क्रियासिद्धि का निवास पुरुषार्थ में है, समय के साथ चलने में है, न कि समय की प्रतीक्षा करते रहने में। चीनी कहावत है कि 'हज़ार मील लम्बी यात्रा एक कदम से आरम्भ होती है'—हज़ार मील चलने के लिए उठा प्रथम चरण उस मार्ग की दूरी को प्रतिपद न्यून करता जाता है। एक और एक कदम बढ़ाते-बढ़ाते गन्तव्य समीप आता जाता है और साहसी आरोही के चरण दुर्लंघ्य के शिखरों पर पहुँच जाते हैं। जो एक चरण के महत्त्व को नहीं समझता वह गति की समग्रता को नहीं पा सकता।

समय चिन्तामणि है, कामधेनु है, वांछित धन है। उससे कुछ भी मांगो, पा जाओगे। समय श्रमाग्नि में तप कर सुवर्ण बन जाता है, अवसर की सीपी में गर्भ धारण कर मुक्ताफल हो जाता है। दुरधिगम समुद्र को मथकर रत्नराशि निकाल लाता है, संसार में जो कुछ किया गया है तथा किया जा सकता है वह समय के द्वारा ही सम्भव है। यदि समय नहीं है तो कार्य नहीं हो सकता। कार्यसिद्धि के लिए बड़े उपकरण सहायक नहीं होते, उसके लिए समय का लगाना आवश्यक होता है। जो समय पर चूक गया उसे सिद्धि के राजपथ से हटना पड़ता है। एक मिनट विलम्ब से पहुंचने पर गाड़ी चौबीस घण्टों के लिए निकल जाएगी और घण्टे भर पूर्व बैठने से समय का दुरुपयोग होगा। अतः जिस कार्य के लिए जो समय निश्चित है वही समय उसे दो। कोई प्रातःकाल का भोजन सन्ध्यावेला में नहीं लेता, परन्तु ध्यान सामायिक स्वाध्याय के लिए वेला के अतिक्रमण को दोषदृष्टि से नहीं देखता। परन्तु क्रियाएं तो समय-पात्र में ही शोभित होती हैं। कार्यकलापों का कोई न कोई समय निश्चित होता है। **काले पाठः स्तवो ध्यानं शास्त्रे चिन्ता गुरौ नतिः**— इसमें पाठ, स्तवन, ध्यान, स्वाध्याय तथा गुरु-भक्ति सबको समय पर करना उचित कहा है। **नहि अत्यायुषः सत्रमस्ति** आयु बीत जाने पर कोई यज्ञ नहीं किया जा सकता। सब ऑफिस, कार्यालय, दुकान, बाजार, रेलपथ, वायुयान, आकाशवाणी अपने-अपने निर्धारित समय पर क्रियाशील होते हैं। ग्राहक को यदि विश्वास न हो कि अमुक दुकान अमुक समय खुली मिलती है तो वह वहाँ नहीं जाता। विश्वास तथा अभिगमन का आधार समय परवशता है। सूर्य, चन्द्र समय से बंधे हैं। जीवन की प्रशस्ति नियमों मे है। अनियम से व्यभिचार दोष उत्पन्न होते हैं। इसी हेतु से संस्कृत में 'समय' का अर्थ शपथ भी है, प्रण भी है और वेला भी है। समय मानों क्रियमाण कार्यों के साथ अनुबन्ध है, शपथ है। जो कार्य समय पर हो गया, वह प्रशंसित हो गया। यदि 1 तारीख का समाचार-पत्र 2 अथवा 3 को प्रकाशित हो तो समय निकल जाने से वह पर्युषित (बासी) हो जाएगा और उसे पाठक नहीं पढ़ेंगे। वेला का अनतिक्रम मूल्यवान् होने के लिए आवश्यक है।

एक घूँट पानी के लिए तरसकर मरने वाले के शव पर सहस्र कलशों का पानी उलीचना जैसे व्यर्थ है वैसे समय चले जाने पर किया जाने वाला पुरुषार्थ भी फलशून्य हो जाता है। सूख जाने पर कूप से जल की आशा रखना, लुटे हुए धनिक से याचना करना, वर्षाकाल बीतने पर खेत में बीज वपन करना– ये अवसरहत व्यक्तियों के खेद का संवर्धन करने वाले हैं।

जो समय का मूल्य रखता है, समय उसका सम्मान करता है और जो समय खो देता है वह समय में खो जाता है। समय के साथ खेलने वालों से समय भी खेलता है किन्तु समय की धूप (आतप) के साथ लगी हुई छाया को देखकर जो प्रकाश का समय रहते उपयोग कर लेते हैं, उन्हें अन्धकार घिरने पर अकृतित्व, अभाव और अपनी अस्तित्व-समाप्ति का भय नहीं रहता है। किसी नीतिकार ने लिखा है–

**ब्राह्मे समापयेत् पूर्वाम् पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्,**
**एवं कुर्वन्नरो नित्यं सुखनिद्रां समश्नुते।**
**नित्यमनृणशायी स्यान्नित्यं दानौद्यतक्रमः,**
**नित्यमासज्जितं भारं लघु कुर्यादतन्द्रितः॥**

प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में दिन के पूर्वार्ध का कार्य समाप्त कर ले और पूर्वाह्ण में मध्याह्न कार्यों को निबटा ले। ऐसा करने वाला मनुष्य रात्रि में सुखपूर्वक सोता है। मनुष्य को प्रतिदिन ऋण रहित होकर सोना चाहिए और दिनचर्या में किसी से लेने के स्थान पर देने का उपक्रम अधिकतर करना चाहिए। जो कार्यभार आज आ गया उसे तन्द्रारहित होकर नित्य ही लघु (हल्का) करने का अभ्यास करना श्रेयस्कर है। क्योंकि आज का कार्य यदि कल पर छोड़ दिया तो कल का कार्य परसों पर छोड़ना पड़ेगा। इस प्रकार समय-धन ऋण में बदल जाएगा और दैनिकचर्या गतदिवस के ऋण चुकाने में ही समाप्त करनी होगी। मुद्रा का ऋण लौटाने पर चुक जाता है, किन्तु समय का ऋण आयु लेकर निःशेष कर देता है। अतः **श्वः कार्यमद्य कुर्वीत**— आने वाले कल का कार्य आज ही समाप्त कर लेना बुद्धिमान का लक्षण है, क्योंकि **विचारयति नो कालः कृतमस्य न वा कृतम्**– काल यह नहीं विचारता कि अभी किसी ने कार्य समाप्त कर लिया है कि नहीं । उसका आगमन अतर्कित और स्पर्श करुणारहित होता है। वह सहज ही अपना कार्य करने में दक्ष है। राजाओं का कोश, वीरों का बाहुबल, विद्वान की विद्या, नारी के हावभाव, कृपण का हाहाकार, वैद्य की औषधियाँ, मित्रों के आश्वासन, प्रिया का बाहुपाश, पुत्रों की सेवा-परिरचर्या किसी में वह सामर्थ्य नहीं जो काल को द्रवित कर दे। राजा-रंक सभी की जीवन-मणियां काल की मुट्ठी में धूलिकण होकर समायी हैं। काल ने राम को वनवास दिया, श्रीकृष्ण को साधारण व्याध के बाण

से विद्ध किया, सती शिरोमणि सीता को परपुरुषगृहवासिनी बनाया। इसके क्रीड़ा-कौतुकों का अन्त नहीं। धनिक-निर्धन, वीर-कायर, उदय-अस्त सब समय के छन्द हैं। **समय एव करोति बलाबलम्**—बल और अबल समय के सापेक्ष धर्म हैं। जिसने समय के रहस्य को जान लिया वह जीवन का मूल्य पा गया।

संसार जिनके कृतित्वों का फल भोक्ता है, ऋणी है, उन दार्शनिकों विद्वानों, वैज्ञानिकों के पास उतने ही घण्टे-मिनिट और अहोरात्र थे जितने अन्य लोकसामान्यों के पास होते हैं। उन पर कृपा करते हुए समय ने अपने आपको लघु अथवा बृहत् नहीं बनाया। न रातें छोटी हुईं और न दिवस बढ़े –वही चौबीस घण्टों का अहोरात्र, किन्तु उन्होंने इतने ही समय में विलक्षण कार्य किये– रेलें चलाईं, वायुयान उड़ाए, शीततप को नियंत्रित किया, समुद्रों की छाती पर यान तैराये और गुरुत्वाकर्षण को निराद्रित कर चन्द्र तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी पलकों पर स्वप्न बसते थे और निद्रा दूर खड़ी शयन का मार्ग देखती थक जाती थी। भोजन की थाली प्रतीक्षा में पर्युषित होती रहती थी और रात्रि-दिन अपनी गति पर आते-जाते रहते थे। न उन्हें अपनी सुधि थी और न परिवारों की। उनके चिन्तन किसी शोध में खोये रहते थे और आंखें अपनी कल्पना को साकार करने में लगी रहती थी। अर्जुन के लक्ष्य के समान उनके समक्ष सम्पूर्ण वृक्ष, पल्लव और चिड़िया नहीं, केवल चिड़िया की आंख होती थी, जिसे वह देखते थे। जब लोग निशीथोत्तर प्रवहमान शीतल पवन का सुख स्पर्श लेते सोये रहते हैं, कुछ कर गुजरने की धुन रखने वालों की नींद उड़ जाती है। 'सूआ-पालक चूका'–गली में सब्जी बेचने वाले से भी उन्हें प्रबोध के स्वर सुनाई देते हैं, वे इनका अर्थ करते हैं— सोया पल भर तो चूका और उसी क्षण उठकर कार्य में लग जाते हैं। उन्हें जगाने के लिए कर्तव्य- पथ पर आरूढ़ करने के लिए बड़े-बड़े शंख फूंकने की, प्रबोधपाठावली पढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती है, उनका सचेत अन्तर्मन ही प्रेरणा होता है। राजहंस को मानसरोवर का मार्ग स्वयं परिचित होता है तथा पवनवेग से चलने वाले अश्व चाबुक की मार खाने का स्वभाव नहीं रखते। महासत्त्वों का मनोबल, उत्साह और अधर्षित धैर्य ही उन्हें सिद्धियों के समीप ले जाता है। उन्हें प्रतीक्षण किसी-न-किसी क्षेत्र से आमन्त्रण-आह्वान मिलते रहते हैं कि आइये यह कार्य अपूर्ण है, यह कार्यक्षेत्र अनदेखा है, ये पंक्तियां अजानी हैं, आपका अप्रतिहत उत्साह इन्हें पूर्ण करेगा, देखेगा तथा जानेगा। समय-प्रतीक्षक व्यक्तियों के सामने रात-दिन अनेक आयोजन, कार्य-सिद्धियाँ होती रहती हैं, परन्तु वे पहचान नहीं पाते, उन्हें देख नहीं सकते और सोचते रहते हैं कि कब प्रभात होगा। कमल खिलेगा और सम्पुट में बन्द भँवरा उड़ने का मार्ग पायेगा। परन्तु गजराज आकर उसे प्रतीक्षक के आशा-कमल को तोड़ देता है पैरों से कुचल डालता है। प्राण-भ्रमर देह-कमल को छोड़कर उड़ जाता है। रात भर के स्वप्नों

का सब चिन्तन चिता की राख बनकर उड़ (बिखर) जाता है। किसी नीति-धुरन्धर ने प्रबोध दिया है कि–

**करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया।**
**मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम्॥**

जीवन भर सोचते बैठे रहे कि अमुक कार्य कल कर लूँगा, परन्तु कल मर जाऊँगा, यह एक बार भी नहीं सोचा। श्री हनुमान जी जब समुद्र-लंघन कर रहे थे तब मैनाक पर्वत ने उन्हें थोड़ी देर विश्राम करने को कहा। हनुमानजी ने उत्तर दिया– मुझे आज ही लंका पहुँचना है, अतः मार्ग में क्षण भर भी विश्राम नहीं ले सकता। **न स्थातव्यमिहान्तरा** (—वा. रामायण)। ऐसे अथक पुरुषार्थी ही गन्तव्यों की श्री से परिणीत होते हैं। आचार्य सोमदेव ने लिखा है– **धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः** –धर्म, शास्त्र तथा धन का प्रतिदिन लव-संग्रह भी एक दिन सागर के समान प्रचुर पुष्कल हो जाता है। अकर्मण्य तथा समय को न पहचानने वाले मनुष्य मांसवृक्ष है, जो अपने ही स्थान पर खड़े-खड़े वसन्त की बहारों को पुकारते रहते हैं। किन्तु धीमानु पुरुष प्रतिदिन अपने कार्यों की मानस-दैनन्दिनी रखते हैं। वे प्रति सायं लिखते हैं कि आज का दिन कैसा बीता। रहंट के समान रात्रि-दिवस के रूप में डूबता-निकलता मनुष्य यह तो सोचे कि मै रिक्त हूँ कि भरा।

**प्रत्यहं पर्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।**
**किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैस्तथा॥**

जिसने स्वयं अपना पर्यालोचन करना सीख लिया, उसे अनुशासन की आवश्यकता नहीं। उठते हुए सूर्य के साथ जो उठ खड़ा होकर उद्यमार्थ नहीं चल देता, उसे सौभाग्यों की उषा के दर्शन नहीं मिलते। सूर्य की सहस्रों किरणें घर-घर में प्रवेश कर जगत् को शय्या का त्याग करने के लिए कहती हैं, परन्तु जिस करभ (ऊँट) को कंटक ही पसन्द है वह प्रभात की हरी दूब दूसरों के लिए छोड़ कर सोया रहता है। इसी हेतु से कहा गया है– जो सोता है वह खोता है। **चरैवेति चरैवेति**–समय गतिशील है। चलते रहो, चलते रहो, नहीं तो पीछे रह जाओगे। सूर्य पूर्व से उठकर पश्चिम पहुँच चुका होगा और तुम अभी घर से निकलने की तैयारी कर रहे होंगे। निकलते-निकलते रात्रि हो जायेगी तो मार्ग की पगडण्डी जीवन से भटक कर श्मशान की ओर मुड़ जाएगी। अतः समय के कदम दबाते चलो, समय की आँख भांपते बढ़ो, काल को अकेला मत छोड़ो, उसे अपने साथ रक्खो, नहीं तो घात करेगा।

**सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुंचति श्रीरपि चक्रपाणिम्।**

जो सूर्योदय और सूर्यास्त में सोता रहता है उसे लक्ष्मी छोड़ कर चली जाती

है। **दीर्घसूत्री विनश्यति** आलसी नष्ट हो जाता है।

किसी ने कहा है–

**टिक टिक करती घड़ी सभी को मानो यह सिखलाती है।**
**करना है सो जल्दी कर लो, घड़ी बीतती जाती है॥**

समय को मूल्यवान कहने वाले लोग इसी भाषा में वार्तालाप किया करते हैं। एक दुकानदार से एक ग्राहक ने कहा– इस पैंसिल को कितने मूल्य में बेचोगे? दुकानदार ने उत्तर दिया– एक रूपये में। ग्राहक ने पुनः पूछा– आप कम से कम कितने में देंगे? दुकानदार ने कहा– अब सवा रुपये में। ग्राहक बोला–मजाक छोड़िये, इसकी सही कीमत ले लीजिए। दुकानदार ने घड़ी देखते हुए कहा– आप जितनी बार मोल भाव करते हुए मेरा समय लेते रहेंगे, पैंसिल का मूल्य बढ़ता ही जाएगा। समय को व्यर्थ न खोने वाले व्यक्ति ही आगे बढ़ते हैं। श्री उन्हीं का वरण करती है जो कांटों पर पथ पार करते हैं। गुदगुदे गद्दे का कोमल स्पर्श चाहने वालों के द्वार खड़ी दरिद्रता प्रवेश के क्षण देखती रहती है।

**समय महाधन क्रियाशील का, समय ज्ञानधन यतियों का।**
**समय सदा मूल्यांकन करता, कृतियों और अकृतियों का॥**

–वैदर्भी महाकाव्य

जिन्होंने श्वेतश्मश्रुओं और वार्धक्यजनित कुब्जता में समय की दीर्घता को देखा है वे उसके बाहरी स्थूल द्रष्टा है, क्योंकि **न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः**–इस बात से कि सिर के बाल श्वेत हो गये हैं, कोई वृद्ध (मान्य) नहीं हो जाता है। तुषार को ओढ़ कर सभी पत्थर हिमालय नहीं बन जाते। वृद्ध वही हो पायगा जिसने समय का अध्ययन, मनन, चिन्तनादि में सदुपयोग किया है। अन्यथा बालचापल्य की सीमा से जिनका मानस बहिर्भूत नहीं है, उन (वयःप्राप्त, पक्व अवस्था वाले) लोगों को ज्ञानवृद्धों से ऊपर मानना होगा। इस दृष्टि से वृद्धत्व की वास्तविक स्थिति पाने के लिए केवल वयःसापेक्ष होना आवश्यक नहीं; ज्ञानोपासना, तत्त्वाधिगम तथा आचार-वैशिष्ट्य अपेक्षित है। **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।**– समाज में श्रेष्ठ पुरुष के आचरण का सामान्य जन अनुकरण करते हैं और उसके द्वारा प्रमाणित को प्रमाण मानते हैं। वह श्रेष्ठ पुरुष महामुनि शुकदेव के समान कोई बालक भी हो सकता है और सत्तर वर्षीय वृद्ध भी नहीं हो सकता है। इस मान्यता के लिए बालक हो अथवा वृद्ध, वही पात्र है जिसने समय का सतत साहचर्य किया है। जिसने एक-एक रवि के उदय-अस्तों में समय की बहुमूल्य सम्पदा को नहीं देखा, उसके पास यदि धन-वैभव का अतिभार हो तो भी उसकी दरिद्रता में किसे सन्देह हो सकता है? शतवार्षिक आयु प्राप्त कर जिसने समय का पर्याप्त लाभ नहीं लिया, उसने चलनी में अमृत भरने की चेष्टा की, विरल

अंजलि में गोरस-पान किया और नेत्रों को मीलित रखकर अन्धचेष्टा की। किसी नीतिकार की सूक्ति है कि जो बिना प्रयोजन उन्मार्ग में एक कौड़ी का व्यय भी नहीं करता और सुवर्ण मुद्रा के समान उसका संचय किया करता है, समय आने पर वह कोटि मुद्राओं का व्यय करे तो भी लक्ष्मी उस पर कृपावती बनी रहती है–

**यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नां, समाहरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।**
**कालेन कोटिष्वपि मुक्तहस्तं, तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥**

–सुभाषित

वस्तुतः मनुष्य को स्मरण रखना चाहिये कि काल को पुरुषार्थ से ही जीता जा सकता है और विद्या को विनम्र होकर प्राप्त किया जाता है। **पौरुषेण जयेत् कालं विद्यां विनयसम्पदा**–क्योंकि आयु का कोई विश्वास नहीं। जिन श्वासों के तन्तु ही अदृश्य है उन्हें बाँध रखने का उपाय क्या है? वे तो किसी भी क्षण अलक्ष्य हो सकते है। इस महत्त्व को हृदयंगम करने वालों ने अनुभव किया है कि–

**आयुः क्षणलवमात्रं न लभ्यते हेमकोटिभिः क्वापि।**
**तद् गच्छति सर्वमृषतः काधिकाऽस्त्यतो हानिः॥**

अहो! आयु अतिमूल्य है, मूल्य से परे है। संसार की विपणी में सर्वस्व मिल सकता है, परन्तु आयु नहीं मिल सकती। कोई वैद्य डॉक्टर हकीम इसकी वृद्धि का उपाय नहीं जानता। **सुर-असुर नराधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दलेते। मणि मंत्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावे कोई।** (छहढाला, दौलतराम) कोटि स्वर्ण देकर भी आयु का क्षण नहीं खरीदा जा सकता है। यह अमूल्य है। यदि इसे यों ही गंवा दिया तो इससे बढ़कर हानि क्या हो सकती है?

कदाचित् नदी का प्रवाह लौट सकता है, पतझड़ के पश्चात् वसन्त का पुनरागमन हो सकता है, घटीयन्त्र की शलाका (सूई) बारह घण्टे के अनन्तर पुनः उसी अंक पर लौट आ सकती है, पुनः-पुनः उसी पूर्व क्षितिज पर सूर्य का प्रत्यावर्तन हो सकता है, किन्तु गया हुआ समय, अतिक्रान्त मुहूर्त फिर नहीं लौटता। **प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः।** पवनवेग अश्व और लोकान्तरगाही विमान उसकी क्षिप्रता का अनुधावन नहीं कर सकते हैं। उसकी गति की उपमा क्षिप्रगामी आंधी से नहीं दी जा सकती, उसके महत्त्व को अतौल मणिरत्नों की सम्पदा से नहीं आंका जा सकता। वह अपने आप में सर्वोत्तम है, अनुपम—अद्वितीय है। संसार की समस्त वस्तुओं का मूल्यांकन समय करता है। एक समय साधु भिक्षा के लिए अंजलित-पाणि होता है और एक समय वही आशीर्वाद की मुद्रा में वरदानों की वृष्टि करता है। समय पर बरसने वाला मेघ कृषि को स्फीत करता है और समयातिक्रमण पर वह उसके विनाश का कारण हो सकता है। ठंडे लोहे पर घनों की चोटें व्यर्थ हैं।

मनुष्य के अध्ययन, अर्थोपार्जन, श्रम तथा विश्राम सभी के लिए एक समय निश्चित होता है। यह जीवन समय में विभक्त है। व्यर्थ समय खोने वालों को समय स्वयं ही अग्नि में जलाकर भस्म कर देता है।

सूर्य को उदय रथ पर आरूढ़ देख कर संसार अपने समय को निश्चित करता है, क्योंकि वह वेलापति है, समय के संकेत को सूईयाँ उसकी रश्मियों में गतिशील हैं। सत्य है, जो धुन के धनी हैं, लगन के पक्के और साहस के भण्डार हैं, ध्रुव सूची (कम्पास) के समान समय उनका मुख देखता रहता है। किन्तु जो आलसी हैं, समय उनके ऊपर से ढलते सूर्य के समान निकल जाता है और ऐसे दीर्घसूत्री व्यक्ति जब कुछ करने के बांधनूं बांधते है तब तक जीवन की सन्ध्या घिर आती है और मृत्यु के महातिमिर में वे मिट जाते है। इसीलिए रात्रि की काली चादर फैलने से पूर्व सारे काम निबटा डालो, कहीं ऐसा न हो कि एक दिन के लिए छोड़ा हुआ काम किसी दूसरे जन्म के लिए शेष रह जाय।

महान् व्यक्ति बड़े उदार होते हैं। वे इस संसार में विपुल यश, धन-वैभव, बल आदि उपार्जित करते हैं तथा दोनों हाथों उसे संसार को दान में देते हैं। किन्तु समय-दान में वे बहुत कृपण होते हैं। सामान्य लोग हंसी-ठठ्ठे में मनोविनोद में चलचित्र-दर्शन आदि में समय को जिस प्रकार अपव्यय के गर्त में डालते हैं, वे उसे सोच भी नहीं सकते हैं। मणिबन्ध (कलाई) पर बंधी हुई घड़ी से अधिक वे हृदय में स्पन्दन करती हुई प्राणघटिका की टिकटिक पर अधिक सावधान रहते हैं, क्योंकि उसकी गति समाप्त होने पर फिर चाबी नहीं दी जा सकती है। **विन्दुभि:पूर्यते घट:** –बूंद-बूंद जल भरहिं तड़ागा– के उदाहरण को वे क्षण-क्षण बचाकर चरितार्थ करते हैं। ऐसे लोग चौराहों पर नहीं देखे जा सकते, उन्हें थियेटर –सिनेमाहाल की भीड़ में नहीं पाया जा सकता है। वे किसी ताम्बूलिक की हाट पर पान की गिलौरियां कपोल-गह्वरों में दबाए नहीं दिखते। उनका द्वन्द्व तो समय के साथ-साथ चलता है। वे रात-दिन समय-मन्दिर की घंटियां बजाते समयमातृका के क्षण-पत्र पलटते काल-देव की स्मितधारा में नहाते अपने को कृतार्थ करते हैं। क्योंकि जो समय की ध्वजा को अपनी श्वास-वायु से ऊपर लहराता है उसे कृतज्ञ होकर समय कीर्ति प्रदान करता है। समय के साथ मित्रता रखने वालों ने यहाँ दोनों हाथों रत्न उछाले, मणिवर्षा की, सुख लूटा, आनन्द बाँटा और जाते हुए उत्तम लोकों का पाथेय साथ ले गए। **आयुर्गच्छति पश्यत: प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनं** प्रतिक्षण आयु समाप्ति की ओर जा रही है, यौवन बीतकर वार्धक्य आ रहा है। इसे समझने को नीतिकार कहते हैं–

**अंजनस्य क्षयं दृष्टवा वल्मीकस्य च संचयम्।**
**अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मभि:॥**

कज्जल की डिबिया में से बहुत स्वल्प परिमाण में अंगुलि के अग्रभाग पर

लेकर उसे आंखों में लगाया जाता है और इस अल्प मात्रा में लेते-लेते एक दिन कज्जल की डिबिया रिक्त हो जाती है। इसी प्रकार चींटे वल्मीक का निर्माण करते हैं और पृथ्वी में बिल बनाकर एक-एक कण मुंह में भरकर बाहर रखते जाते हैं, थोड़े समय में वहाँ मिट्टी का ढेर लग जाता है। यह कज्जल की समाप्ति और वल्मीक का निर्माण थोड़ा-थोड़ा व्यय-संचय करने का परिणाम है। इस रहस्य को जानकर बुद्धिमान् अपने अहोरात्र का उपयोग दान, अध्ययन तथा सत्कर्मों में करते हैं। **अस्तं व्रजन् रविर्नित्यमायुरादाय गच्छति**– डूबता हुआ सूर्य प्रतिदिन प्राणिमात्र की आयु का अंश लेकर जाता है, एतावता ज्ञानवान् वह है जो अजर-अमर बुद्धि रखकर विद्योपार्जन करता है, धनार्जन में नहीं लगा है किन्तु मृत्यु किसी भी क्षण आकर कण्ठावरोध कर सकती है– यह विचार कर धर्म का प्रतिक्षण आचरण करता है। हितोपदेश मे विष्णु शर्मा की उक्ति है कि–

**अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।**
**गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥** –मित्रलाभ, हितोपदेश

वास्तव में संग्रह क्षण-क्षण का ही किया जाता है। एक साथ कलश नहीं भरता और एक प्रहार में पर्वत नहीं टूटते। निरन्तर बिना श्रान्त हुए उद्यम में लगे रहने से ही सम्पदाओं की प्राप्ति हो सकती है।

जैन दर्शन में 'समय' नाम आत्मा का है। इस 'समय' को ही जानना मनुष्य भव का सर्वोत्तम फल है। उपनिषदों में भी **आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** कहकर आत्मा को ही परमश्रेय कहा है। समयसार ग्रन्थ की रचना करते समय आचार्य कुन्दकुन्द ने **नमः समयसाराय** लिखा है। टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि ने व्याख्या मात्र 'परम विशुद्धि रूप' फल की प्राप्ति बताई है– **मम परम विशुद्धि.....भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः।** –इसप्रकार संसार से मुक्ति **समयवेदिता** से ही सम्भाव्य है। मुनि महाराज अभीक्ष्णज्ञानोपयोग द्वारा समय को ही जानते हैं। **अयमेव हि कालोऽसौ पूर्वमासीदनागतः** –यही वह काल है, सुवेला है जो पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुआ था– ऐसा मानने वालों ने प्रगति के पंचांग नहीं देखे, यात्राओं के मुहूर्तों की प्रतीक्षा नहीं की और अपने प्रयत्नों को उत्साह से व्यतिरिक्त किसी बंधन में नहीं बाँधा। क्या सूर्योदय के समय किसी दिन भद्रा नहीं होती, परिधयोग नहीं आता, परन्तु इनके आने पर भी रवि के मंगल-अभियान कभी रुकते हैं क्या? **मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्**– कार्यशील मनस्वी दुःखों, सुखों की परवाह नहीं करता। उन्हें तो अपने कार्य की धुन रहती है–

**दिनं वा रात्रिर्वा प्रखरतपनो वा हिमरुचिः**
**कुशानां वीथिर्वा मृदुलनवदुर्वांकुरपथः**
**सुदूरं पार्श्वे वा वसतिरिति नानाऽकुलधियो**
**न जायन्ते कर्मस्वविरत निमग्ना हि सुधियः॥** –सुधाशतकम्

दिन है अथवा रात्रि, सूर्य का प्रखर ताप है अथवा शीतल इन्दुरश्मियां, मार्ग में कुशों (दर्भों) की वीथि है अथवा कोमल दूर्वांकुर, गन्तव्य समीप है या दूर– इस प्रकार की आकुलता उत्पन्न करने वाली बुद्धि कार्य में दत्तावधान सुधी जनों को खिन्न नहीं कर सकती। उनके पास एक तुलादण्ड (तराजू) है जिसके रात्रि और दिन दो पल्ले हैं। उनमें एक ओर क्षण तथा दूसरी ओर कार्य समतुलित हो रहे हैं। ऐसा नहीं होता कि क्षण धरे-धरे पर्युषित हो जाएँ और कार्य क्षण-रहित होकर मूल्यवर्जित हो उठे।

**कवीन्द्रों ने गाया, मुकुट पहनाया नियति ने,**
**झुकाया सम्मानस्तिमितशिर धन्या प्रकृति ने।**
**लगाया माथे को तिलक उनके कालभट ने,**
**जिन्होंने अश्रान्त श्रमित दुलराया समय को॥** –सूक्तिसुधाकर

कवीन्द्र उनका यशोगान करते है, नियति उन्हें मुकुट पहनाती है, प्रकृति भी उनके सम्मान में नतशिर हो झुक जाती है और काल जैसा सुभट उनके मस्तक पर तिलक लगाता है, जो अश्रान्त होकर समय को दुलारते है, प्यार करते हैं।

**विजेता दुर्गाणां प्रथमगणनीयः सुकृतिनाम्,**
**प्रणेता शास्त्राणां नवभणिति दक्षोऽथ सुधियाम्।**
**स्वयं क्षेता नानाभवजनितकर्माभिधमहा-,**
**रिपूणां जायेत क्षणविभवसंख्याननिपुणः॥** –सुधाशतकम्

वह कठिनताओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, पुण्यवानों मे प्रथम गणनीय हो जाता है, शास्त्रों के निर्माण में सामर्थ्य पा जाता है तथा पण्डित-सभाओं में नूतन सूक्तियाँ कहने में दक्ष हो जाता है, अनेक जन्मों से साथ लगे कर्मशत्रुओं का क्षय करने में सक्षम हो जाता है, जो क्षण-क्षण के मूल्य को पहचानने में निपुण होता है।

यह समय कामदुधा धेनु है, इसकी सेवा से मनचाहा वरदान मिल सकता है। एक-एक ईंट रखने से महान् भवन का निर्माण यदि संभव है तो एक-एक क्षण का मूल्यांकन करने से उन्नति के उच्चशिखरों का स्पर्श सुनिश्चित है। उठो समय को पहचानो। जीवन का प्रत्येक क्षण मंगलमय है, उसे क्रिया-बहुल कर सुखी जीवन की आधारशिला रखो।

❖❖

परिशिष्ट

# सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची


अंगुत्तर-अट्ठकथा
अंगुत्तरचतुक्कनिपात
अतीत का अनावरण (आ. तुलसी)
अथर्ववेद
अथातो घुम्मकड़जिज्ञासा (राहुल सां.)
अध्यात्मकमलमार्तण्ड (राजमल)
अध्यात्मकल्पद्रुम
अनगारधर्मामृत (आशाधर)
अमृताशीति (योगीन्दु)
अमितगति-श्रावकाचार
अशोक अभिलेख
अष्टाध्यायी (पाणिनी)
आईने-अकबरी
आचारसार (वीरनंदि)
आत्मख्याति (अमृतचंद्र)
आत्मानुशासन (गुणभद्र)
आदि तीर्थंकर ऋषभदेव (कामताप्रसाद)
आदिपुराण (जिनसेन)
आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द)
आप्तमीमांसा (समंतभद्र)
आर्यिका-रत्नमति-अभिनन्दनग्रन्थ
आलापपद्धति (देवसेन)
आवश्यकचूर्णि
आवश्यक निर्युक्ति
औपपातिकसूत्र
इन्द्रध्वज
इन्द्रनंदिसंहिता
इष्टोपदेश (पूज्यपाद)
उड़ीसा में जैनधर्म
उड़ीसा में जैनधर्म (लक्ष्मीनारायण साहू)
उत्तरपुराण (गुणभद्र)
उमास्वामी-श्रावकाचार
ऋग्वेद
एकीभावस्तोत्र (वादीराज)
कठोपनिषद्
कथाकोष (हरिषेण)
कल्याणकारक (उग्रादित्य)
कल्याणालोचना
कबीर-ग्रन्थावली
कसायपाहुड (गुणधर)
कातन्त्रन्यास (उग्रभूतिभट्ट)
कातन्त्ररूपमाला (शर्ववर्मा)
कातन्त्रवृत्ति (भावसेन)
कादम्बरी (वाणभट्ट)
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
काव्यादर्श (दण्डी)
कुन्दकुन्द प्राभृत (पं. कैलाशचन्द्र)
कुमारसंभव (कालिदास)
कुवलयमाला (उद्योतनसूरि)
कौशीतकी ब्राह्मण
क्रियाकलाप
क्षत्रचूड़ामणि (वादीभसिंह)
गणितसारसंग्रह (महावीराचार्य)
गीता-भाष्य
गीत-वीतराग (चारुकीर्ति)
गुरु-ग्रन्थ-साहिब
गोम्मटसार (नेमिचन्द्र)
चउपत्नमहापुरिसचरिउ
चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि)
चतुष्कव्यवहार ढुंढिका (धनप्रभ)
चरकसंहिता
चारित्रचक्रवर्ती (सुमेरुचन्द्र)
चारित्रसार (चामुण्डराय)
चिन्मयचिन्तामणि (कल्याणकीर्ति)
छहढाला (दौलतराम)
छांदोग्योपनिषद
छेदपिण्ड (इन्द्रनन्दि)
छेदशास्त्र (इन्द्रनन्दि)

जंबूसामिचरिउ (रइधू)
जंबूसामिचरिउ (वीर)
जंबूस्वामिचरित्र (राजमल)
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पद्मनन्दि)
जयधवला (वीरसेन)
जसहरचरिउ (पुष्पदंत)
जातकतिलक (श्रीधर)
जिनसहस्रनाम (जिनसेन)
जिनचतुर्विंशतिका (भूपाल)
जिनदत्तचरित्र (गुणभद्र)
जिनसहस्रनामभाष्य (आशाधर)
जीवंधरचम्पू (हरिचंद्र)
जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह
जैनध्वजगीत (मिश्रीलाल)
जैन साहित्य का इतिहास (कैलाशचन्द्र)
जैनेन्द्रप्रक्रिया (पूज्यपाद)
ज्ञानपीठ-पूजांजलि
ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र)
ज्ञानेश्वरी
णायकुमारचरिउ (पुष्पदंत)
तच्चवियारो (वसुनन्दि)
तत्त्वसार (देवसेन)
तत्त्वानुशासन (रामसेन)
तत्त्वार्थराजवार्तिक (अकलंक)
तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागर)
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (विद्यानन्द)
तत्त्वार्थसार (अमृतचन्द्र)
तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामी)
तत्त्वार्थसूत्रभाष्य
तात्पर्यवृत्ति (नियमसार)
तात्पर्यवृत्ति (प्रवचनसार)
तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ)
तैत्तरीय तैशो त्रिपिटक
त्रिपिटक
त्रिभंगीसार (तारणस्वामी)
त्रिलोकसार (नेमिचन्द्र)
दशभक्ति (कुन्दकुन्द)
दशभक्ति (पूज्यपाठ)
दर्शनपाठ
दानशासन (वासुपूज्य)
देवशास्त्रगुरुपूजा (द्यानतराय)
देवीपुराण (वेदव्यास)
द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र)
द्वात्रिंशतिका (सिद्धसेन)
द्वात्रिंशतिका (अमितगति)
धम्मपद
धर्मपरीक्षा (अमितगति)
धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र)
धवला (वीरसेन)
नयचक्र (माइल्लधवल)
नाट्यशास्त्र (भरत)
नाममाला (धनंजय)
नियमसार (कुन्दकुन्द)
नियमसार-टीका (पद्मप्रभ)
निर्वाणकांड (पूज्यपाद)
नीतिवाक्यामृत (सोमदेव)
नीतिशतक (भर्तृहरि)
नीतिसार (इन्द्रनन्दि)
न्यायबिन्दु
न्यायविनिश्चय (अकलंक)
पंचसंग्रह
पंचाध्यायी (राजमल)
पउमचरिय (विमलसूरि)
पज्जुण्णचरिउ (सिंह कवि)
पण्णवणा (मलयगिरि)
पद्मनन्दिपंचविंशति
पद्मपुराण (रविषेण)
पद्मपुराण (वेद व्यास)
परमात्मप्रकाश (योगीन्दु)
पाणिनीसूत्र
पाण्डवपुराण (शुभचन्द्र)
पार्श्वनाथचरित (सकलकीर्ति)
पासणाहचरिउ (विबुध श्रीधर)
पुण्यास्रवकथाकोश (रामचन्द्र)
पुराणसारसंग्रह (सकलकीर्ति)
पुरुदेवचम्पू (अर्हत्दास)
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (अमृतचन्द्र)
पूजा-पाठ (आशाधर)
पूजा-पाठ (अप्पा शास्त्री)
पूजन-पाठ-प्रदीप (हीरालाल)
पूजन-पाठ-प्रवीन
प्रतिक्रमणसूत्र
प्रतिष्ठातिलक (नेमिचन्द्र)
प्रतिष्ठापाठ (जयसेन)
प्रतिष्ठापाठ (वसुबिन्दु)
प्रतिष्ठाप्रदीप

प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधर)
प्रमाणसंग्रह (अकलंक)
प्रबोधचन्द्रोदय
प्रवचनसार (कुन्दकुन्द)
प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र)
प्राचीन भारत और नागरिक शास्त्र (रामप्यारी)
बारह भावना (भूधरदास)
बालावबोध (मेरुतुंग)
बृहत्कल्पसूत्र
बृहद्द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र)
बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका (ब्रह्मदेव सूरि)
बृहद्प्रतिक्रमणसूत्र
बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र (समंतभद्र)
बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्रह्मवैवर्तपुराण (वेदव्यास)
भक्तामरस्तोत्र (मानतुंग)
भगवती आराधना (शिवकोटि)
भगवद्गीता
भद्रबाहुसंहिता
भरतेश वैभव
भविसयत्तकहा
भागवतपुराण (वेदव्यास)
भारत का प्राचीन इतिहास
भारत-भारती (मैथिलीशरण)
भारत में संस्कृति एवं धर्म (एम.एल. शर्मा)
भारतीय इतिहास और संस्कृति (विशुद्धानन्द)
भारतीय दर्शन (वाचस्पति गैरोला)
भावनासार
भावपाहुड (कुन्दकुन्द)
भावसंग्रह (देवसेन)
भूपालचतुर्विंशति (भूधरदास)
भोजप्रबन्ध (वल्लभदेव)
मज्झिमनिकाय
मनुस्मृति
महापुराण (पुष्पदंत)
महापुराण (जिनसेन)
महाबंध (पुष्पदंत)
महाभारत (वेदव्यास)
मानसार
मुण्डकोपनिषद्
मुद्राराक्षस (शूद्रक)
मूलाचार (वट्टकेर)
मृच्छकटिक (विशाखदत्त)
मेरुमंदरपुराण (वामन)
मोक्षमार्गप्रकाशक (टोडरमल)
यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव)
यशोधरचरित (वादिराज)
युक्त्यनुशासन (समंतभद्र)
योगदर्शन (पतंजलि)
योगवाशिष्ठ
योगसार (योगीन्दु)
योगसारप्राभृत (अमितगति)
रघुवंश (कालिदास)
रघुवंश टीका
रत्नकरण्ड (समन्तभद्र)
रत्नाकर शतक (रत्नाकर)
रयणसार (कुन्दकुन्द)
राजतरंगिणी (बिल्हड़)
लघीयस्त्रय (अकलंक)
लघुतत्त्वस्फोट (अमृतचन्द्र)
लघु सिद्धान्त कौमुदी (वरदराज)
वरांगचरित (जटासिंह नन्दि)
वर्ण तथा फल (पूज्यपाद)
वाक्यपदीय (भर्तृहरि)
वामनपुराण
वाल्मीकि रामायण
विमलनाथपुराण (कृष्णदास)
विविध तीर्थकल्प (जिनप्रभसूरि)
विशेषावश्यकभाष्य
विष्णुपुराण (वेदव्यास)
वैदर्भी महाकाव्य
व्याकरणशास्त्रेतिहास (लोकमणि दहाल)
व्रततिथिनिर्णय (सिंहनन्दि)
शान्ति की शपथ (हरिवंशराय बच्चन)
शारदीयनाममाला (हर्षकीर्ति)
शास्त्रसारसमुच्चय (माघनन्दि)
शिलालेख (फिरोजशाह कोटला)
शिलालेख (श्रवणबेळगोला)
शिशुपालवध (माघ)
शिष्यहितान्यास
श्रीपालचरित्र (सकलकीर्ति)
श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र (विद्यानन्द)
श्रीमज्जिनेन्द्रपूजाविधानम्
श्रुतभवनदीपक नयचक्र (देवसेन)
श्रुतभक्ति (कुन्दकुन्द)
श्रेणिकपुराण (शुभचन्द्र)

षट्खण्डागम (पुष्पदंत भूतबलि)
संगीत-समयसार (पार्श्वदेव)
संदेशरासक (अद्दहमाण)
संस्कृति के चार अध्याय (रामधारीसिंह दिनकर)
सत्यशासनपरीक्षा (विद्यानन्द)
सन्मतिसूत्र (सिद्धसेन)
समयसार (कुन्दकुन्द)
समयसार कलश (अमृतचन्द्र)
समयसार नाटक (बनारसीदास)
समाधिभक्ति (पूज्यपाद)
समाधितन्त्र (पूज्यपाद)
सरस्वतीकल्प (मल्लिषेण)
सरस्वतीनामस्तोत्र
सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद)
सागारधर्मामृत (आशाधर)
सामायिक पाठ (अमितगति)
सायणभाष्य
सावयधम्मदोहा (योगीन्दु)
सिद्धभक्ति (कुन्दकुन्द)
सिद्धभक्ति (पूज्यपाद)
सिद्धसेनबत्तीसी
सिद्धान्तसार (नरेन्द्रसेन)
सिद्धिविनिश्चय (अकलंक)
सिद्धिविनिश्चयवृत्ति (वादिराज)
सुधाशतक
सुभद्रानाटक (हस्तिमल)
सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति)
सुभाषितरत्नभाण्डागार
सुदर्शनचरित्र (विद्यानन्द)
सुप्रभातस्तोत्र
सूक्तिमुक्तावली (सोमप्रभ)
सूक्तिसुधाकर
सूपशास्त्र
सूरसागर (सूरदास)
स्कंदपुराण (वेदव्यास)
स्थानांगसूत्र
स्याद्वादसिद्धि (वादीभसिंह)
हजरत ईसा और ईसाई धर्म (सुन्दरलाल)
हरिवंशपुराण (जिनसेन)
हितोपदेश
A comparative history of Jainism (AK Chaterji)
Ancient India (Mc. Crindle)
Dr. Berner's Travel in Mugul Empire
History of India (A. Smith)
Indian Philosophy (Radhakrishnan)
Indus Civilization (P.R. Deshmukh)
Jainism in Bihar (P.C. Roy Chaudhary)
Life of the Buddha (E.I. Thomas)
Mohan-Jo-Daro
Musium Report (J. Stevenson)
Outlines of Jainism (J.L. Jaini)
Sind Five Thousand Years Ago
Ta Indica (Megasthniz)
Taxila (Sir John Marghel)
The Indus Script (Mahadevan)
Science of Comparative Religion (J.B.S.R. Forlong)
Studies in South Indian Jainism

**कोशग्रन्थ**

अंग्रेजी हिन्दी शब्दकोश
अनेकार्थनाममाला
अभिधानराजेन्द्रकोश
अमरकोश
अर्धमागधी कोश
कोशकल्पतरु
नाममाला (धनंजय)
न्यायकोश (भीमाचार्य)
पद्मचन्द्रकोश
पाइयसद्दमहण्णव (गोविन्ददास)
भार्गव डिक्शनरी
शारदीयनाममाला
संस्कृत-हिन्दी-कोश (आप्टे)
हिन्दी-विश्व-कोश (नगेन्द्र नाथ वसु)
Encyclopaedia Britanica
Oxford Hindi English Dictionary

**पत्र-पत्रिकाएँ**

अहिंसावाणी (अलीगंज)
कल्याण (हरिद्वार)
जैन सिद्धान्त भास्कर (आरा)
नवनीत (हिन्दी मासिक, मुम्बई)
मानक-हिन्दी-कोश (रामचन्द्र वर्मा)
राष्ट्रदूत (साप्ताहिक) (जयपुर)
हरिजन (महात्मा गांधी)
Modern Review (Calcutta)
Plutarch
Strabo
Sunday Standard

सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्य श्रीविद्यानन्दजी मुनिराज का

# संक्षिप्त जीवनवृत्त

| | | |
|---|---|---|
| **जन्म नाम** | : | सुरेन्द्र उपाध्ये |
| **पिता** | : | श्री कल्लपा उपाध्ये |
| **माता** | : | श्रीमती सरस्वती उपाध्ये |
| **जन्म तिथि** | : | 22 अप्रैल 1925 |
| **जन्म स्थान** | : | शेडवाल (कर्नाटक) |
| **प्रारम्भिक शिक्षा** | : | शान्तिसागर आश्रम (शेडवाल) |
| **प्रारम्भिक व्यवसाय** | : | कृषि |
| **क्षुल्लक दीक्षा** | : | 15 अप्रैल 1946 परमपूज्य आचार्य श्रीमहावीरकीर्ति जी मुनिराज द्वारा तमदड्डी (कर्नाटक) में |
| **नामकरण** | : | क्षुल्लकश्री पार्श्वकीर्ति वर्णी |
| **मुनि दीक्षा** | : | 25 जुलाई 1963, परमपूज्य आचार्यरत्न श्रीदेशभूषण जी मुनिराज द्वारा दिल्ली में |
| **नामकरण** | : | मुनि श्री विद्यानन्द |
| **उपाध्याय दीक्षा** | : | 17 नवम्बर 1974, परमपूज्य आचार्यरत्न श्रीदेशभूषण जी मुनिराज द्वारा दिल्ली में |
| **नामकरण** | : | उपाध्याय श्रीविद्यानन्द मुनि<br>बीसवीं शताब्दी के प्रथम उपाध्याय |
| **एलाचार्य दीक्षा** | : | 17 नवम्बर 1978, दिल्ली में |
| **नामकरण** | : | एलाचार्य श्रीविद्यानन्द मुनि |
| **सिद्धान्तचक्रवर्ती उपाधि** | : | 6 नवम्बर 1979, चतुःसंघ द्वारा प्रदत्त इन्दौर में |
| **आचार्य पदारोहण** | : | 28 जून 1987, परमपूज्य आचार्यरत्न श्रीदेशभूषणजी के आदेशानुसार चतुःसंघ द्वारा प्रदत्त दिल्ली में |
| **नामकरण** | : | आचार्यश्री विद्यानन्द मुनिराज |